ॐ

श्री वीतरागाय नमः



# अनुभव संजीवनी

(पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनमेंसे प्रवाहित चिंतन कणिकाएं)



प्रकाशक
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रकाशक :
श्री वीतराग सत्‌साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी, पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग
भावनगर-३६४००१

प्राप्ति स्थान :
श्री वीतराग सत्‌साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
५८०, जूनी माणेकवाडी, पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग
भावनगर-३६४००१
फोन : ४२३२०७

प्रथमावृत्ति : ४-१२-२००० (पू. भाईश्री शशीभाईकी ६८वी जन्मजयंती)
प्रत : १०००/-
पृष्ठ संख्या : ३८+५७० = ६०८
मूल्य : रु. १५०/-

डिजाइनींग :
पूजा इम्प्रेशन्स
प्लोट नं. १०७५/A
मातृछाया-४, आंबावाडी
भावनगर - ३६४००१
फोन : (०२७८) ४२३४७०

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
१५/C, बंसीधर मिल कंपाउन्ड,
बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४
फोन : (०७९) २१६७६०३

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

# પુરુષાર્થમૂર્તિ પૂ. નિહાલચંદ્રજી સોગાની

# प्रकाशकीय निवेदन

इस दुषमकालमें जहाँ एक ओर अनादिकालसे अनंत-अनंत जीवराशि सुखकी आशामें, दुःखको प्राप्त होती हुई, समस्त लोकमें परिभ्रमणको प्राप्त होती आयी है, तो दूसरी ओर शासन नायक अंतिम तीर्थाधिनाथ श्री महावीरस्वामीसे प्रवाहित सदोपदेशसे मार्गको प्राप्त हुए अनेक आचार्य भगवंतों और ज्ञानियों द्वारा अखण्ड मोक्षमार्ग भी सदैव जीवंत रहा है। इस आधि, व्याधि और उपाधिरूप त्रिविध तापाग्निमें तप्तायमान होकर भावमरण कर रहे जीवोंके लिए कल्पवृक्षकी शीतल छायासमान इस "अनुभव संजीवनी" ग्रंथका प्रकाशन करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। यह ग्रंथ सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनके साररूप विभिन्न विषयों सम्बन्धित चिंतन कणिकाओंका अनमोल संग्रह है। जिसे दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह ग्रंथ पूज्य भाईश्रीका "ज्ञानवैभव" है। आज मुमुक्षुसमाजको यह रत्नराशि भेंट करते हुए हमें बहुत खुशी हो रही है। पूज्य भाईश्रीकी ज्ञानदशाकी विलक्षणताओंकी अभिव्यक्ति कर रही यह अजोड़ ग्रंथ-रचना एक ऐतिहासिक ग्रंथ रचना साबित होगी।

संपूर्ण निर्दोष होकर परिपूर्ण सुखकी प्राप्तिका उपाय हर हमेश रहस्यमय ही रहा है। तथापि श्रुतलब्धिको प्राप्त धर्मात्माओंकी प्रत्येक ग्रंथ रचनामें यह रहस्य प्रगट होता आया है। परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीका वचनामृत "शास्त्रमें मार्ग तो कहा है, परन्तु मर्म तो सत्पुरुषके हृदयमें छिपा है"- इस वचनके अनुरूप अध्यात्मयुग प्रवर्तक, शासन दिवाकर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा इस मर्मका रहस्योद्‌घाटन अध्यात्म जगतमें एक क्रांति ले आया। अंधकारमें जहाँ सत्य डूब रहा था, वहाँ मोक्षमार्गके स्तंभ बनकर उन्होंने मार्गको जीवंत रखा और भरतक्षेत्र पर महान् उपकार किया। पूज्य गुरुदेवश्रीने ४५-४५ साल तक सत्य सुखकी प्राप्तिके उपायरूप अमृतवर्षा की है। उनकी पवित्र वाणीके स्पर्शसे प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चंपाबहनने १८ सालकी कम उम्रमें कल्याणमूर्ति सम्यक्‌दर्शनको प्राप्त कर लिया और पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी जैसे धर्मात्माने, सीमंधर स्वामीके लघुनंदनकी वाणीको एक ही प्रवचन सुनकर आत्मसात कर लिया और पूज्य गुरुदेवश्रीकी वचनदिव्यताको प्रसिद्ध किया।

ऐसे-ऐसे समर्थ महापुरुषोंके पावन सानिध्यमें रहकर, उनकी भक्ति करते-करते जिन्होंने स्वयंको गुप्त रखा और अपनी साधनाको अखण्डरूपसे साधते रहें, इतना ही नहीं परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीकी वाणीमें रही आशय एकरूपताकी जिन्होंने प्रसिद्धि की, ऐसे पूज्य भाईश्रीके साधनामय जीवनका बेजोड़ सबूत -

यह "अनुभव संजीवनी" ग्रंथ है। पूज्य भाईश्रीका विस्तृत जीवन परिचय इसी ग्रंथमें अन्यत्र प्रसिद्ध हुआ है, जो कि किसी भी मुमुक्षुके लिए अवश्य प्रेरणारूप एवं बोधस्वरूप है।

इस ग्रंथमें प्रायः अवक्तव्य ऐसे भेदज्ञानकी विधिके रहस्यमय विषयको, स्वयंकी अनुभव प्रधान शैलीसे पूज्य भाईश्रीने लेखनीमें व्यक्त किया है, जिससे उनकी असाधारण लेखनी व श्रुतलब्धिकी प्रतीति आती है। उनके ४५ वर्षके साधनाकालके दौरान प्रवचन व तत्त्वचर्चा द्वारा अनेक मुमुक्षुओंके एवं विद्वानोंके संपर्कमें आये थे, अतः वर्तमान जीवोंकी योग्यताके अनुरूप छोटी-मोटी उलझनें व अनेक दोषों सम्बन्धित उपायका अनुभव पद्धतिसे मार्गदर्शन इस ग्रंथकी विशेष उपकारिताको प्रसिद्ध करता है। यह ग्रंथ किसी भी सत्यके खोजी जीवको आत्मश्रेयसाधनाके पथ पर जानेमें प्रवल अवलंबनरूप रहेगा, यह बात निःसंशय है।

अनेक शास्त्रोंका गहन अभ्यास, सत्पुरुषोंका समागम व स्वयंकी अनुभव प्रधानता - इन तीनोंका त्रिवेणी संगम इस ग्रंथमें देखनेमें आता है। सत्संग, सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगका महत्त्व, प्रयोजन-अप्रयोजनभूत विषयकी छँटनी, भक्ति, यथार्थता, भेदज्ञान, ज्ञानदशा, सत्पुरुषकी पहचान इत्यादि अनेक विषयोंका इस ग्रंथमें प्रतिपादन हुआ है। वैसे तो इस ग्रंथमें अनेकानेक विषयोंका समावेश हुआ है, परन्तु मुमुक्षुजीवको अपने प्रयोजनभूत विषयके अध्ययनमें सहूलियत रहे इस हेतुसे विषय अनुसार वर्गीकरण अन्यत्र दिया है। यह वर्गीकरण भी पूज्य भाईश्रीने ही करवाया है, जो कि "संतोंने मार्गको सुगम व सरल किया है" - इस वचनामृतकी प्रतीति कराता है।

इस ग्रंथके प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशिका विवरण अन्यत्र दिया गया है। इस ग्रंथके हिन्दी अनुवादमें साहित्यिक भाषाका प्रयोग नहीं हुआ है, परन्तु मूल गुजराती भाषाके हो सके उतने शब्दोंको और आशयको यथावत् रखनेका प्रयास हुआ है। अतः यदि हिन्दी अनुवादमें कहीं भाषाई त्रुटियाँ लगे तो पाठकवर्ग क्षमा करें। इस ग्रंथका सुंदर प्रूफ रीडिंगका कार्य करनेमें जिन-जिन मुमुक्षुओंका सहयोग मिला है, इनके हम आभारी है। इस ग्रंथके सुंदर मुद्रणकार्यके लिये भगवती ऑफसेट, अहेमदाबाद और सुंदर टाइपसेटिंगके लिये पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगरके हम आभारी हैं।

अंततः इस ग्रंथका स्वलक्षी अध्ययन, अनादिसे मरणतुल्य सुषुप्त चेतनाको अनुभवामृतका पान कराके, जैसे संजीवनीसे नया जीवन मिलता है, वैसे सम्यक्‌ज्ञानरूपी दिव्य चेतनाको जरूर उजागर कर देगा। मुमुक्षुजीव इस ग्रंथमें संकलित सुखी होनेकी चाबीरूप चिंतन कणिकाओंसे बनायी गई संजीवनीमालाका पारायण करके अवश्य अखण्ड मोक्षमार्गको प्राप्त हो, ऐसी भावना भाते है। जिनका उपकार अविस्मरणीय है और जिनके गुणग्राम करने

# 'अनुभव संजीवनी'का वर्गीकरण
## विषयानुसार अनुक्रमणिका

| क्रम | विषय | | वचनामृत नंबर |
|---|---|---|---|
| १ | आत्मजागृति | : | १२,१३,२८,८८,१२३,६३१ |
| २ | आत्मरस-अनात्मरस | : | १६,४३१,१८७१ |
| ३ | असगता | . | २९ |
| ४ | अज्ञानका स्वरूप | : | ३४,३५,३६,६७,५२,५३,६१,८७,९०,९१ |
| ५ | अतरदृष्टि | : | ३९,१०१ A, |
| ६ | अहभाव | : | ७७,७८,७९,९६ |
| ७ | अनेकान्त | : | १२५,१३३,३२०,३२१,४६६,४६७,४८८,८९२ |
| ८ | ओघसंज्ञा | : | २०८,२४५,५०१,९१६,१३०७,१३६१,१५१४, |
| ९ | अनुकंपा | : | २८५,१०६२ |
| १० | अवलोकन | : | ४९९,६२३,८१९,८८७,८९६,९१३,९१९,१०४०, ११४१,११८४,१२०८,१२२०,१२३१,१३०५,१४१८, १४६५,१४७२,१४८८,१५६३,१६६५,१६६८,१६७२, १९८४, १९८७, १९८९, १९९०, २०१२, २०३१, २०३४. |
| ११ | अतरात्मवृत्ति | : | ३३७, |
| १२ | अतर अभ्यास | : | १९४६, १९४७, १९५५, १९८०, २०२०, २०२७, २०३९, २०४२, २०४४ |
| १३ | अनतानुवधी | . | ५०२, १९५६. |
| १४ | आज्ञाकारिता | . | ५३९,५४०,५८३,५९६,१०३३,११२२,१४८४, १५२०,१५२१,१५२६,१५७७,१६१६,१७३९,१८३२ |
| १५ | असत्संग | : | ५९९, |
| १६ | अभिप्रायका महत्त्व | . | ८४५,९५४,९५६,९६३,९७३,९७४,१००७, १००८,११०६,११२०,१२६१,१४४३,१४५८,१४६९, १५४४,१५६१,१६५५,१६९२,१७२९,१७४६,१७६१, |

प्रसंगसे करें।

गरमीका मौसम चल रहा है, आकाशमें सूर्य तेज धूपके साथ गरमी फैला रहा है। ऐसी तीव्र धूपमें स्कूलके मैदानमें आर.एस.एसकी परेड चल रही है। परेडके दौरान इस बालकका अत्यंत तृषाकी वजहसे कंठ सूखने लगा, फिर भी नियमका पालन चुस्ततासे करनेका दृढ़ निश्चय होनेसे यह बालक किसीको बोला नही। एक ओर चिलचिलाती धूप और दूसरी ओर कठोर परिश्रम, ऐसी परिस्थितिमें सूखा हुआ कंठ जैसे मानो पाणीका एक-एक बूँदके लिए पुकार कर रहा हो, तब ऐसेमें परेड करीब-करीब पूरी होनेके पहले बालक चक्कर खाकर गिर पड़ा, लेकिन अपनी चुस्तता व निश्चयको नहीं छोड़ा। देखिये। इस बालककी चुस्तता और दृढ़ मनोबल।
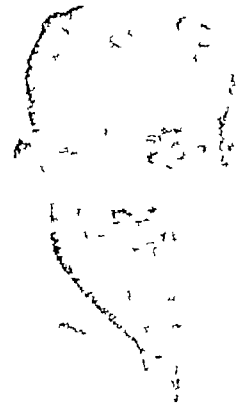
बालकुमार शशीकांत
(उम्र - १४ साल)

कुमार शशीकांतकी स्वंतत्र विचारधारा व अनुभव प्रधानताके दर्शन भी निम्न प्रसंगसे करने योग्य है। १४ सालकी उम्र है, युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी जैसे महाप्रतापी सत्पुरुष राणपुरमें पधारे है। कुमार शशीकांतको उनके आत्मकल्याणकारी मंगल प्रवचन सुननेकी उत्कंठा जगी और प्रवचन सुनने जाता है। प्रवचनमें पूज्य गुरुदेवश्रीने फरमाया कि 'देखो। आत्मामें ज्ञान स्वयं हो रहा है, यह ज्ञान वाणीसे उत्पन्न नही होता, नाहि गुरुसे उत्पन्न होता है, परन्तु स्वयं ही उत्पन्न हो रहा है' - यह बात सुनते ही 'देखो' ऐसा शब्दप्रयोग हुआ था, इसलिए यह कुमार शशीकांतने अंदरमें देखा तो उसे मालूम पड़ा कि, 'सचमुच, मेरा ज्ञान भी स्वयं, सहज उत्पन्न हो रहा है।' देखा। पूर्वसंस्कारवश अनुभवपद्धति कैसे जागृत हो जाती है। ऐसे-ऐसे तो अनेक सद्‌गुण संपन्न कुमार अब युवावस्थामें प्रवेश करता है।

युवावस्था :

असाधारण बुद्धिमत्ताके कारण पढ़ाईमें बहुत-बहुत तरक्की करनेके विचार आने लगे और एफ.आर.सी.एस (लंडन) डॉक्टर बननेकी तीव्र महत्त्वाकांक्षा चलने

हुआ जाये ? ये जन्म-मरण क्यों ? जन्म-मरणका आत्यंतिक वियोग किस विधिसे हो सकता है ? ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न उनके हृदयमें छा गये। ऐसी अंतरंग स्थितिके दौरान सत्संगकी शुरूआत हुई और हररोज प्रातःकाल करीब ४-०० बजे सत्संगमें जाना शुरू किया। एक और कृपालुदेवके ग्रंथका अध्ययन और दूसरी और अंतरंग परिणामोंकी ऐसी स्थिति ।

सुबह ४-००बजे एकांतका समय है। कड़ाकेकी ठंडमें सारा विश्व भावनिद्रा व द्रव्यनिद्रामें सो रहा है, तब जन्म-मरणकी समस्याका उपाय खोजनेके लिए निकला हुआ यह धीर-वीर आत्मा, गंभीर व शांत चालसे चलते-चलते सत्संगमें जा रहा है। तब बगलके गाँवसे आधी रातको निकला हुआ एक किसान अपनी बैलगाड़ीमें शहरसे कूड़ा (खाद) इकट्ठा करने चला आ रहा है। उसे देखकर उन्हें विचार आया कि, इतनी तुच्छ वस्तुकी प्राप्तिके लिए भी यह किसान कितना परिश्रम व प्रतिकूलताओंको भोगता है । जब कि मै तो जगतका सर्वोत्कृष्ट कार्य करने निकला हूँ तो इसके लिए चाहे कितनी भी कीमत यदि चुकानी पड़े तो इसमें क्या विशेषता है ? बस। फिर तो इस-इस प्रकारकी मंगल सुविचारणा और आँखसे अविरत बहती अश्रुधाराको कौन रोक सके ? कोई रोकना भी चाहे तो रोक नही सके ऐसी हृदय द्रावक वेदनाके बीच अंतरंगका शुद्धिकरण हुआ और हृदयसे तीव्र वेदना सहित ध्वनि निकल पड़ी...
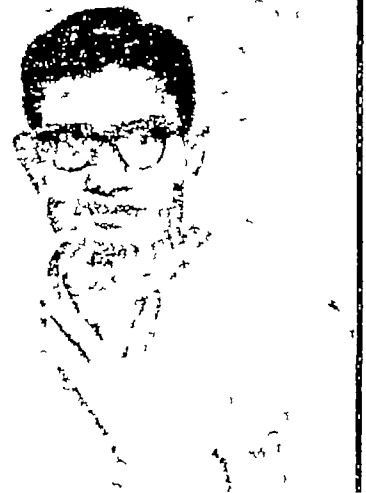
निजस्वरूपके वियोगवश छायी हुई उदासीनता

"हे प्रभु । हे प्रभु । शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ,
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ।।
अनन्तकाळथी आथडयो, विना भान भगवान,
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान।।
अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय,
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ?"

बोझ तले दबी हुई परिणति मुक्तताका अनुभव करने लगी। अनुपम अमृत आस्वादसे परिणति तृप्त हुई। अहो ! धन्य है इस अजोड पुरुषार्थको ! धन्य है इनकी पवित्र साधनाको !

**युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं अन्य धर्मात्माओंका प्रत्यक्ष समागम :**

सुवर्णपुरी सोनगढ़में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा उपदिष्ट प्रवचनोंके संकलनको प्रकाशित कर रही मासिक पत्रिका 'आत्मधर्म' के ४-५ अंक किसी मुमुक्षु द्वारा मिले उसका अभ्यास किया। जिससे पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रत्यक्ष समागम करनेकी प्रेरणा हुई। तत्पश्चात् सोनगढ़में पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन सुननेका प्रथम प्रसंग बना। प्रवचनके बाद हुआ ऐसा कि, पूज्य गुरुदेवश्रीके पूछने पर इनके साथमें जो मुमुक्षुभाई थे, उन्होंने इस तरह पहचान करवाई कि 'ये भाई वैष्णव है, लेकिन जैनधर्ममें अच्छा रस रखते हैं' - यह सुनते ही पूज्य गुरुदेवश्री बोले "हमारे यहाँ तो कोई वैष्णव भी नही है और नाहि कोई जैन है, हमारी दृष्टिमें तो सब आत्मा ही आत्मा है।" ये समदृष्टि भरे पूज्यश्रीके वचन सुनकर, उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और बादमें प्रवचन सुननेका प्रसग बढ़ता गया। प्रथम ४-५ प्रवचन परीक्षादृष्टिसे और चिकित्सावृत्तिसे सुने, जिससे इस निष्कर्ष पर आये कि 'ये तो कोहिनुर हीरा है, इसमें परीक्षा करनेकी जरूरत ही कहाँ है।' फिर तो पूज्य गुरुदेवश्रीका आत्मज्ञानीके रूपमें स्वीकार होने पर अधिक से अधिक उनका सत्संग मिले, ऐसी भावना रहने लगी। पूज्य गुरुदेवश्रीके जिनमार्ग प्रभावनाके उदयको देखकर इनका भी ऐसा अभिप्राय बना कि, 'यदि इस अलौकिक जग-हितकर मार्गकी प्रभावना करनेमे 'पेट पर पाटा बाँधकर अर्थात् (खाना कम खाकर भी समर्पण करना पड़े) तो भी मंजूर है, लेकिन प्रभावना करनी चाहिए' देखिये तो सही ! इन्हें कैसी अद्भुत मार्गभक्ति प्रगट हुई है !!

परम प्रेमसभर सान्निध्य

૪૦૬, ૪૧૭, ૪૨૯, ૪૩૨, ૪૩૫, ૪૩૭, ૪૪૦, ૪૪૨, ૪૪૫, ૪૫૪, ૪૫૯, ૪૭૪, ૪૭૫, ૪૭૭, ૪૮૯, ૪૯૦, ૪૯૩, ૪૯૫, ૪૯૭, ૪૯૮, ૫૦૪, ૫૦૬, ૫૦૭, ૫૧૦, ૫૧૩, ૫૧૬, ૫૨૨, ૫૨૬, ૫૨૮, ૫૩૩, ૫૪૪, ૫૪૮, ૫૫૦, ૫૫૩, ૫૫૫, ૫૬૨, ૫૬૫, ૫૬૭, ૫૭૯, ૫૮૦, ૫૮૨, ૫૮૬, ૫૮૭, ૫૯૫, ૫૯૭, ૬૦૯, ૬૧૦, ૬૧૨, ૬૧૬, ૬૧૮, ૬૧૯, ૬૨૦, ૬૨૪, ૬૨૫, ૬૩૦, ૬૩૨, ૬૩૬, ૬૪૪, ૬૪૭, ૬૫૦, ૬૫૧, ૬૬૦, ૬૬૧, ૬૬૨, ૬૭૯, ૬૮૧, ૬૮૨, ૬૮૫, ૬૯૨, ૭૦૨, ૭૦૫, ૭૦૭, ૭૧૦, ૭૧૧, ૭૧૩, ૭૧૭, ૭૨૩, ૭૨૫, ૭૩૮, ૭૪૨, ૭૪૩, ૭૬૧, ૭૬૫, ૭૬૬, ૭૬૭, ૭૭૩, ૭૭૭, ૭૭૯, ૭૮૫, ૭૮૬, ૭૮૭, ૭૯૩, ૭૯૬, ૭૯૯, ૮૦૦, ૮૦૧, ૮૦૬, ૮૦૭, ૮૧૩, ૮૧૫, ૮૧૬, ૮૨૧, ૮૨૩, ૮૨૪, ૮૨૬, ૮૨૮, ૮૩૨, ૮૩૪, ૮૪૦, ૮૪૨, ૮૪૫, ૮૪૭, ૮૫૦, ૮૬૩, ૮૬૫, ૮૬૯, ૮૯૨, ૯૦૨, ૯૦૯, ૯૧૦, ૯૧૫, ૯૧૮, ૯૩૫, ૯૪૧, ૯૪૬, ૯૪૭, ૯૫૨, ૯૫૮, ૯૬૧, ૯૬૯, ૯૭૬, ૯૮૪, ૯૯૦, ૯૯૩, ૧૦૦૪, ૧૦૧૦, ૧૦૧૨, ૧૦૨૦, ૧૦૩૪, ૧૦૪૮, ૧૦૪૯, ૧૦૫૬, ૧૦૬૧, ૧૦૬૫, ૧૦૭૭, ૧૦૮૨, ૧૦૯૦, ૧૧૦૨, ૧૧૦૪, ૧૧૩૬, ૧૧૪૦, ૧૧૭૩, ૧૧૭૫, ૧૧૭૭, ૧૧૮૯, ૧૧૯૯, ૧૨૩૫, ૧૨૪૧, ૧૨૬૪, ૧૩૦૪, ૧૩૦૬, ૧૩૧૬, ૧૩૧૯, ૧૩૪૧, ૧૩૪૮, ૧૩૫૨, ૧૩૭૨, ૧૩૭૬, ૧૩૮૬, ૧૩૯૭, ૧૪૦૩, ૧૪૧૬, ૧૪૧૭, ૧૪૨૦, ૧૪૨૧, ૧૪૨૨, ૧૪૨૪, ૧૪૨૬, ૧૪૩૦, ૧૪૩૧, ૧૪૩૭, ૧૪૪૯, ૧૪૫૧, ૧૪૫૯, ૧૪૭૩, ૧૪૮૯, ૧૫૧૨, ૧૫૧૭, ૧૫૨૮, ૧૫૨૯, ૧૫૩૨, ૧૫૩૫, ૧૫૪૦, ૧૫૪૧, ૧૫૪૩, ૧૫૪૫, ૧૫૫૨, ૧૫૬૯, ૧૫૭૦, ૧૫૮૦, ૧૫૮૭, ૧૬૧૨, ૧૬૧૪, ૧૬૨૧, ૧૬૨૨, ૧૬૨૫, ૧૬૨૬, ૧૬૯૩

प्राचीन ताड़पत्रीका निरीक्षण
(मुडबिद्री- इ.स.१९९७)

शास्त्र खोजका कार्य किया। तथापि उनकी भावना अनुसार यह कार्य श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट द्वारा आज भी चालू है।

श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, द्वारा हिंदी और गुजरातीमें प्रकाशित हो रही मासिक पत्रिका 'स्वानुभूतिप्रकाश' को उन्होंने अपूर्व मार्गदर्शन दिया। इस पत्रिकाके द्वारा मुमुक्षु समाज तक अध्यात्म तत्त्व पहुँचे ऐसी भावना पूर्वक इसका निःशुल्क वितरण भी उन्हींके अनुग्रहसे हो रहा है।

महा प्रयाण :

दि. २१-३-१९९९, चैत्र सुदि चौथ रविवारके दिन नित्यक्रम मुताबिक शामका सत्संग पूरा किया। किसीको मालूम न था कि आजकी रात कितनी क्रूर होगी। रात्रीको १:३० का वक्त है, हृदयमें दर्द शुरू हुआ। वेदना बढ़ती ही गई फिर भी परिवारवाले सामने थे, उन्हें अंदाज नहीं आने दिया। स्वयं अपने पुरुषार्थमें लगे रहे। उनके छोटे लड़के पंकजभाईसे पूज्य बहिनश्री व पूज्य गुरुदेवश्रीके बारेमें बातें करने लगे। भीतरमें आत्मस्वरूपके प्रति पुरुषार्थका ज़ोर बढ़ता चला, बाहरमें उपकारी श्री गुरुके स्मरण करते गये। अशाता जैसे गौण हो गई और आत्मिक पुरुषार्थने बल पकड़ा। डॉक्टरोंकी सूचना अनुसार उन्हें अस्पताल ले गये। अस्पताल पहुँचने पर परिस्थिति और भी बिगड़ी, तब अंतरमें खयाल आ गया था कि अब इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव छोड़नेकी घड़ी आ पहुँची है। तब इतनी तीव्र वेदना होने पर भी खुद ध्यानमें पद्मासनमें बैठ गये। नमस्कार हो ! ऐसे प्रचंड पुरुषार्थीको ! आजीवन की हुई अखण्ड आत्मसाधना अंतिम क्षणोंमें आविर्भूत हुई। असाता वेदनीको गौण करके इससे उपेक्षित होकर उपयोग अंतर्मुख हुआ। सामान्य ज्ञानवेदनके आविर्भाव पूर्वक प्रदेश-प्रदेशसे स्वसंवेदनका रसास्वादन हुआ। पुरुषार्थने स्वरूपका बहुत ज़ोरसे अवलंबन लिया, उपयोग सर्वसे भिन्न होकर स्वरूपमें ही लग गया। अनन्त

હે જીવ! ત્રિલોકનાથ જૈનપરમેશ્વરની પ્રદત્ત નિધિ હાથ લાગી છે, જેનાથી શાશ્વત કલ્યાણનો ઉપાય સહજમાત્રમાં પ્રાપ્ત થઈ, અત્યારે જ પરમશાંતિનો અનુભવ થાય તેમ છે, તો પછી કયા કારણથી તેની ઉપેક્ષા થાય ?-ઉપેક્ષા કરાય? Sunday 24

સર્વ ઉદ્યમથી જિનાજ્ઞા ઉપાસનીય છે. સ્વયંપ્રભુ આનંદઘન છે, નિર્વિકલ્પે આનંદઘન છું. સહજ બેહદ પ્રત્યક્ષ, અત્યંત પ્રત્યક્ષ છુ - તેવો હું સ્વસંવેદન ગોચર છું. અગાધ અમૃતસાગરમાં નિમગ્ન છું. કેવળ અતઃતત્વ હોવાથી સંપૂર્ણ અંતર્મુખ છું. પરિપૂર્ણ હોવાથી સર્વથા નિરાલંબ નિરપેક્ષ છું.

—૧૧૫૬.

---

○ કુટુંબ પ્રતિબંધ મિથ્યાત્વને દૃઢ કરે છે. જેથી પ્રાપ્ત પરમ સત્સંગ નિષ્ફળ જાય છે. સત્સંગના ચાહક જીવો કુટુંબની ચાહના મૂકી શકે છે તત્વજ્ઞાનનો અભ્યાસ કરવાવાળા જીવનુ, પ્રાય, ~~આ મુખ્ય~~ પરિણમન = દુર્ગતિના કારણરૂપ આ મહાદોષ પ્રતિ ધ્યાન નહિ જતુ હોવાથી, તે અભ્યાસ નિષ્ફળ જાય છે. બહારમા વ્યવસાયઆદિથી નિવૃત્તિ લઈ, મોક્ષમાર્ગ પામવા, કોઈ જીવ ધર્મ પ્રવૃત્તિ કરે છે, આવી એક બાજુ સુંદર હોવા છતા, બીજી બાજુ કુટુંબ પ્રતિબંધક પરિણામોનો પાકો; ધર્મ પ્રવૃત્તિના ઘાસના પુળાને ચાવી જાય છે, અને અંધ જનની સાહજ જીવને તેની કાંઈ ખબર પણ પડતી નથી!! કુટુંબીઓ પ્રત્યે પોતાપણાથી સ્નેહ તે કુટુંબ પ્રતિબંધ છે. સંસારમા તે સાવ સાધારણ (Normal) થઈ ગયેલ છે, જેથી તેની ભયંકરતાનો જરાપણ ખ્યાલ, તત્વના અભ્યાસી જીવોને પણ, આવતો નથી! સ્વલક્ષના અભાવમાં, જીવ વંચનાબુદ્ધિએ ઉક્ત પ્રકારે, દુર્લભ મનુષ્ય ભવ મિથ્યાત્વને ટાળ્યા વિના જ ગુમાવે છે.!!!

— ૧૮૦૫.

---

⊙ એક મૃત્યુના પ્રસંગથી બચવામાટે જીવ કોઈપણ કિંમત ચુકવવા તૈયાર થાય છે. પરંતુ અનંત જન્મ-મરણથી છૂટવા માટે નજીવા બહાના કાઢે, તે અનંતી વિપરીતતા નથી ? ખરેખર (ઈમાનદારીથી) જેને છૂટવું હોય તેને આખું જગત ગૌણ થઈ જાય, અને એક આત્મહિત જ મુખ્ય થાય: છૂટવાનો કામી હોય તે છૂટવાની કોઈ તક જતી ન જ કરે.

— ૧૨૩૩.

ॐ

नमः सिद्धेभ्य

# अनुभव संजीवनी

(पूज्य भाईश्रीके अगाध मंथनमेंसे प्रवाहित चिंतन कणिकाएं)

मई - १९८५

मुमुक्षुजीवको स्वयंका योग्यपना होवे, उसकी विचारणा करनी चाहिये । जिसका मुख्य साधन सत्संग है ।

(१)

✲

समाधिमरण, समाधिजीवनके कारण होता है । जिसका समाधिमरण होता है उसको भवांतरमें प्राप्त होता है - यह निःशंक है ।

(२)

✲

ज्ञानरस / आत्मरसके अभावमें पुण्यका रस अथवा क्षयोपशमका रस तीव्र हुए बिना नहीं वैसे परिणाम पापानुबंधी परिणाम हैं । अतः ज्ञानी पुन्योदय / प्रशस्तभावों, (अनुकूलता) - प्रति उदास है - और प्रतिकूलतामें पुरुषार्थको सहज बढ़ाते है / बढ़ता है।

(३)

✲

देहात्मबुद्धि तीव्र होने पर चिंताके कारण जीव ज्योतिषादिके प्रति झुकावमें आता है, जो आत्मभावनासे विरुद्ध है । आत्मार्थीको देहादि संयोगकी ऐसी चिंता नहीं होती कि जिसके आत्मभावनाका नाश हो ।

(४)

✲

इस आत्माको देखकर हरकोई अनोखी शांतिका अनुभव कर रहे है। यह शूरवीर आत्माका आगमन अनन्त तीर्थंकर जिस मार्ग पर चले है, उस मार्ग पर चलनेके लिए हुआ है। अहो! धन्य है इस भूमिको! और धन्य है इनके माता-पिताको! फिर जन्म लेना ही न पड़े, इसके लिए जिसने जन्म धारण किया है। चंद्रकी चांदनी जिस तरह शीतलता फैलाती है और भूमिको श्वेत करती है, वैसे त्रिविध तापाग्निसे आकुल-व्याकुल होकर मृगजल पीनेके लिए दौड़ रहे क्लेशित आत्माओंको शीतलता प्राप्त करानेवाले और दोषकी कालिमाको धोकर पवित्र व श्वेत दशाकी प्राप्ति करानेवाले इस बालकका नाम भी 'शशीकांत' रखा गया।

बाल्यावस्था :

अपने मूल वतन राणपुर गाँवमें बालकुमार शशीकांतकी नयनरम्य चेष्टाएँ देखकर सभी मन ही मन मलक रहे है। स्वयंकी निर्दोष चेष्टाओसे लोगोके मन हरनेवाले इस बालकुमारका जीवन सानंद व्यतीत होने लगा है। अभी से यह बालकुमार नीडर, पापभीरु, गुण-ग्राही, स्वतंत्र विचारक और आदर्श विचारधारा रखता है। असाधारण बुद्धिमत्ताके कारण स्कूलमें प्रायः प्रथम या द्वितीय क्रम पर उत्तीर्ण हो रहा है। करीब ९-१०सालकी उम्रमें दादाजी द्वारा धार्मिक संस्कारका सिंचन शुरू हुआ। वैष्णव कुटुम्बमे जन्म हुआ होनेसे रामायण, गीता, महाभारत, भागवत इत्यादि ग्रंथका पठन करने लगा। बहुत तेज़ स्मरणशक्तिके कारण देखते ही देखते इस बालयुवकने श्रीमद् भगवत् गीताके दो-तीन अध्यायके संस्कृत श्लोक तो कंठस्थ कर लिए। यह बालयुवक प्रत्येक कार्य चुस्तता व दृढ़ मनोबलपूर्वक कर रहा है। अरे । यह तो अलौकिक आत्मा ! जो आत्माकी साधना करनेवाला है, वह सामान्य बालककी कोटिमें कैसे आयेगा ? बालककी चुस्तता व दृढ़ मनोबलके दर्शन हम निम्न लिखित

राणपुरका घर - जहाँ बचपन व्यतीत हुआ

स्वभावका परिचय ही आत्माकी पहचान, विश्वास, प्रतीति व अनुभवका कारण है ।
(२३)

※

यथार्थ सत्संगकी प्राप्ति सर्वकालमें दुर्लभ रही है । उसमें भी इस कालमें तो दुर्लभसे है । ऐसा सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी फलवान नहीं होता है - इसके कारणों हैं :-

(१) पूर्वमें ग्रहण किया हुआ / निश्चय किया हुआ मिथ्याअभिप्रायका आग्रह (रहता हो, तो...)

(२) जीवको सत्समागम की उपासना अत्यंत गरजवान होकर करनी योग्य है । उस प्रकारके गरजभावका अभाव स्वच्छंदके सद्भावके कारण होता है ; इसलिये प्राप्त सत्संग फलवान नहीं होता ।

(३) सत्पुरुषोंका बोध असिधारा समान है । परन्तु दर्शनमोहके बलवानपनेके कारण सत्समागममें सुने हुए / धारणामें लिये हुए बोधका परिणमन नहीं होता, जिसको यहाँ प्रमाद (प्रमादकालमें सुननेको मिलता हुआ बोध निरस / निरुत्साहित भावसे श्रवण होता है । - अत: परम प्रसन्न चितसे सत्का श्रवण होने योग्य है) कहनेमें आता है । ऐसी परिस्थितिमें साधारण तत्त्व विचार और मंदकषायकी प्रवृतिमें समय व्यतीत हो जाता है किंतु सत्संगका फलवान होना उसमें नहीं बनता अर्थात् आत्मा बोधको प्राप्त नहीं होता।

(४) इन्द्रिय विषयोंके प्रति सहज निरसता - सत्समागमके कालमें होनी चाहिये क्योंकि सत्समागम तो अतीन्द्रिय चैतन्य रस - निर्विकार स्वभावकी भावनाका आविर्भाव होनेका प्रसंग है फिर भी विषयोंकी उपेक्षा अगर नहीं होती (है तो) सुखबुद्धिसे तीव्र दर्शनमोह / आसक्ति चल रही है, जो कि सत्संगको सफल होने नहीं देती,

(५) सत्संगमें एकनिष्ठा व अपूर्व भक्तिका जितने अंशमें अभाव होता है उतने अंशमें सत्संगकी असफलता होती है । (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक : ६०९ पर आधारित) (२४)

※

जब मन संदेह - शंका युक्त हो तब द्रव्यानुयोगका विचार करने योग्य है । मन जब प्रमादी हो जाय तब चरणानुयोग, कषाययुक्त हो जाय तब कथानुयोग, और जड़ - सुस्त हो जाय तब करणानुयोगका विचार कर्त्तव्य है । इस प्रकार चारों अनुयोगका सद्उपयोग करें ।
(२५)

※

लगी। परन्तु प्रारब्ध कुछ और ही था। (उन्हें तो भवरोगके वैद्य बनना था!) इसलिए उन्हे कुटुम्बकी आर्थिक परिस्थिति अत्यंत कमजोर होनेसे युवावयमें प्रवेश होते ही मेट्रीक तक अभ्यास पूर्ण करके पिताजीके व्यवसायमें जुड़ना पड़ा। उनकी कार्यकुशलता, बुद्धिमत्ता व प्रामाणिकताको देखकर उनके एक स्नेही द्वारा बम्बई जैसे बड़े प्रवृत्तिक्षेत्रमे जानेकी प्रेरणा मिलने पर एक बड़े कमीशन एजंटके वहाँ नौकरीमें लग गये।

उम्र - १९ साल

इसी अरसेमें बम्बईमें विरमगामके श्री दोशी किरचंद लक्ष्मीचंदकी सुपुत्री, चंद्रावतीके साथ उनकी सगाई हुई। इन्हीं दिनोंमें पांडुरंग शास्त्रीजीको सुननेका प्रसंग पड़ा और तत्त्वज्ञान सम्बन्धित रस जागृत हुआ। महात्मा निश्चलदासजी कृत श्री विचारसागर ग्रंथ पढ़नेमें आया, इस वांचनसे तत्त्वविचार और मंथन तीव्रतासे चलने लगा। अतरंगमें ऐसी परिस्थितके दौरान सम्यक्ज्ञानका अनुसरण करे वैसा दृष्टिकोण साध्य करनेका उनका अभिप्राय बना, वह इसप्रकार कि, 'चाहे किसी भी प्रसंगमे उस परिस्थित सम्बन्धित मेरा निर्णय यथार्थ ही हो, वैसा दृष्टिकोण मुझे प्राप्त कर लेना चाहिए।' इस विषयमें निरंतर चिंतन-मंथन चलने लगा।

शुरूसे ही आदर्शकी मुख्यतावाली विचारधारा, तत्त्वज्ञानका रस, कुलधर्मका अपक्षपात, मध्यस्थता, तथापि सांप्रदायिक धर्मका आकर्षण व अंधश्रद्धाका अभाव इत्यादि सद्गुण समेत जैनदर्शनके प्रति उन्हें किस प्रकार आकर्षण हुआ, यह भी दर्शनीय है।

एक वक्त बम्बईमें दुकान पर बैठे थे, तब साथमे काम कर रहे एक सद्गृहस्थने सामनेसे चलकर हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। तब उन्होंने सआश्चर्य क्षमा माँगनेका कारण पूछा, तो उन्हे मालूम पड़ा कि जैनधर्ममें इसप्रकार सालभरमें एकबार जो-जो भूल हुई हो, चाहे नहीं हुई हो, इसके लिए क्षमा माँगी जाती

है, जब कि हुआ नहीं है / यहाँ राग जाननेमें आते वक्त रागके प्रति सहज उदासीनता वर्तती है- ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है । (४२)

※

स्वरूप परिणति सहज होनेके पूर्व 'सर्व उद्यमसे' स्वरूपकी सावधानी तीव्ररूपसे आये तो ही परिणति सहज होती है । (४३)

※

विचारदशाके कालमें सत्यको समझनेकी जिज्ञासा व सत्यका स्वीकार करनेकी तैयारीवाली भूमिका होनी चाहिये । (४४)

※

अंतर्मुख चित्तकी विचारधारामें परिणमन करनेवाला ज्ञान (जब) स्वयं अपने आधारसे (लक्षणसे) स्वरूपका यथार्थ निर्णय करता है - (तब) वहाँ अनंत सामर्थ्यवंत पूर्ण स्वरूपका अवभासन होता है । उसमें सदा "मैं ऐसा ही हूँ" -इसतरहसे "स्वरूपकी अपूर्व महिमाके उछाले आते रहते है" और परिणतिमें स्वरूपका घूटन हुआ करता है (अस्तिरूपसे) ऐसी स्वरूपकी लय होती है इसलिये (नास्तिमें) समस्त जगतके प्रति उदासीनता - निरसपना आ जाता है । पूर्वकर्मके उदयके कारण कहीं भी जुड़ना पड़े तो वह बोझरूप लगता है । अथवा अनुकूलतामें जुड़ना भी सुखरूप नहीं लगता, विकल्प मात्र दु:खरूप लगते हैं ।

यहाँ पर इस स्वरूपकी लय तीव्र होती है तब ध्येयमूत, लक्ष्यमें आये हुए स्वरूपमें अंतरसावधानी बढ़ जाती है । उसरूप सहज पुरुषार्थ वृद्धिगत होता हुआ परम सत्/ प्रत्यक्ष सत्के दर्शनमें सफल होता है । भावभासनसे सन्मुखता होती है । दशाकी दिशा बदलना - वह अपूर्व है । (४५)

※

साधकको स्वरूपके अभेद वेदनकी जो परिणति है वह बाह्य संयोगोंमें प्रवृत्तिके कालमें भी भिन्नता रहनेका साक्षात् कारण है। उसमें स्वरूप रस / चैतन्य रसकी मुख्यता बहुत है, इसलिये परद्रव्य - भावमें अत्यंत नीरसपना सहजरूपसे हो जाता है (करना नहीं पडता) (४६)

※

गुणकी रुचि, निर्दोषताकी रुचि जिसको होती है उसको स्वभावकी रुचि प्रगट होती है क्योंकि स्वभाव गुणमय / गुण निधान है । आत्माका स्वाभाविक पुरुषार्थ ऐसी रुचिके कारण उत्पन्न होता है । करूँ-करूँ - ऐसा कृत्रिम भाव वह पुरुषार्थका स्वरूप नहीं है, और इसमें

ग्रंथके कुछएक पन्ने वे देखने लगे तो उन्हे लगा कि, यह तो कोई तत्त्वज्ञान विषयक ग्रंथ है। फिर तो विशेष अभ्यास करने पर ग्रंथकार कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके वचनामृतोसे वे अत्यंत प्रभावित होते गये। कृपालुदेवकी मध्यस्थताको देखकर उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। स्वयंके तत्त्वज्ञानकी रुचिको पुष्टि मिलने लगी। फिर तो क्या कहना । अंतरंगमे अतृप्त परिणतिको मानो जैसे कोई विश्रांतिका स्थान मिल गया ।।

इस ग्रंथको पढ़नेके पश्चात् उन्हे ऐसा लगा कि, जैनदर्शनमे जीव और जड़ परमाणुका विज्ञान है और दोनों पदार्थके निमित्त-नैमितिक संबंधकी जितनी असर जीव लेता है, उतनी सुख-दुःखकी उत्पत्ति होती है। यदि इस सुख-दुःखकी समस्याका उपाय मिल जाये तो हमेशके लिए बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाये, ऐसा उन्हे लगा। इस आकांक्षा सहित जैनदर्शनकी गहराईमें जानेका अत्यंत रस उत्पन्न हो गया। गुण-दोषकी चर्चा, पदार्थका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, नय, प्रमाणकी पद्धतिसे सुव्यवस्थित प्रतिपादनको देखकर उनके हृदयमें जैनदर्शनकी सर्वोत्कृष्टता अंकित हो गई। अनन्तकालसे चल रहे जन्म-मरण और इसके दुःख व क्लेशसे छूटनेका एक मात्र उपाय आत्मज्ञान है, इस बात पर ध्यान गया। अतः यदि ज्ञानी मिलते हो तो सातवे पाताल तक जानेके लिए मै तैयार हूँ, इस अभिप्राय सहित कोई आत्मज्ञानीका सान्निध्य पाकर अपने सभी परिणामोंका निवेदन करके मार्गदर्शन पानेका सर्वप्रथम मंगल विचार उन्हे आया। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके सत्संगके महत्त्व विषयक उन्हे यथार्थ मूल्यांकन आया और सत्संगकी तीव्र भावना रहने लगी। फिर तो कहावत है कि "जहाँ चाह है, वहाँ राह है" - वैसे उनकी भावना सफल हुई और एक धर्मप्रेमी मुमुक्षुके वहाँ सत्संगकी सुमंगल शुरूआत हुई।

**निज परमात्माके वियोगकी वेदना व तड़पन :**

कृपालुदेव - "श्रीमद् राजचंद्र" ग्रंथका अत्यंत गहन अवगाहन चल रहा है, और इसमेसे सुख-दुःखकी समस्याका उपाय मिलनेकी संभावना दिखने पर इस समस्याको सुलझानेके लिए उनका हृदय इसकी गहराईमे जाने लगा। सच्चा सुख कहाँ है ? दुःखकी निवृत्ति कैसे हो ? सर्व प्रकारसे दोषसे निवृत्त कैसे

। (६) धैर्यवान होते हैं। (७) मुक्तिके इच्छुक अर्थात् उद्यमी होते हैं। (८) स्वभावकी अतिशय महिमा होती है। (९) जनपदका त्याग करके साधनामें मग्न रहते हैं। (५८)

न :- (१) प्रज्ञाछेनी अंतरमें पटकनेके लिए ज्ञान और रागकी सूक्ष्म संधि कब अर्थात् ।दभूमिकामें ज्ञात हो ? (२) किस प्रकारसे प्रज्ञाछेनी कार्य करती है ? (३) प्रज्ञाछेनीका क्या है ?

माधान :- (१) 'स्वभावमें ही रस लगे' और अन्य सर्व नीरस लगे, तब ही अंतरकी ांधि ज्ञात होती है । अर्थात् जब स्वभावका रस उत्पन्न होता है तब ही विभाव व ५ बीचका भेद / भिन्नत्व ज्ञात होता है । परन्तु ऐसा नहीं बनता कि परमें तीव्र रुचि / और उपयोग अंतरमें प्रज्ञाछेनीका कार्य करने लगे । यह वैज्ञानिक परिस्थिति है ।क्ष प्रयोगसे/अनुभवसे समझमें आये ऐसा है । (बहिनश्रीके वचनामृत - १९७)

२) ज्ञान और राग साथ-साथ (एक समयमें) होने पर भी स्वभाव भेद मालूम होने पर ज्ञान होते है । स्वभाव-विभावका भेद स्व-को (वेदनसे) ग्रहण करने पर जाननेमें आता सके अलावा जाननेमें नहीं आते । निजमें निजको अवलोकनमें लेनेसे उपयोग शुद्ध । इस वचनके अनुसार निज वेदनके अवलोकनसे - वेदनका माने सामान्य ज्ञानका व होकर प्रगट स्व-संवेदन रस उत्पन्न होता है ।

३) प्रज्ञाछेनीका स्वरूप :- जो ज्ञान सूक्ष्म होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रिकाली ध्रुव स्वभावका करे वह प्रज्ञाछेनी है । अर्थात् अंतर्मुख होनेवाली ज्ञानकी पर्याय प्रज्ञाछेनीका कार्य करती (५९)

⁂

## सितम्बर - १९८५

ष्टि स्वरूपकी होने पर, दृष्टिका ज़ोर और ज्ञानमें अभिप्रायका (ज्ञानका) बल ऐसा है कि 'मैं तो सदा पूर्ण वीतराग स्वरूप हूँ' उस वक्त भी उत्पन्न होनेवाले रागादि व ज्ञानमें भिन्न ज्ञात तो होते हैं परन्तु वे अपने पूर्ण वीतराग स्वरूपसे विरुद्ध जातिके होते हैं । और उसके उत्पन्न होनेमें मेरा कर्तृत्वका भाव / कर्तापना, करवानेका भाव ,मोदन - कुछ भी नहीं है । क्योंकि उन-उन भावोंके होनेके समय भी मै तो प्रत्यक्षरूपसे हूँ वैसा ही पूर्ण वीतराग रहता हूँ - थोड़ा भी इन भावोंके साथ मिल नहीं जाता । (६०)

⁂

रप्रवेशभाव जो है वह परमें निजका अवलोकन (अहंभाव) अर्थात् अनुभव है । जो

'निज दोषका अत्यंत पश्चाताप हुए बिना पवित्रताकी शुरूआत नहीं होती' - इस सिद्धांत अनुसार अनन्तकालसे चले आ रहे निजदोषका अत्यंत तीव्र पश्चाताप व निज परमात्मस्वरूपके वियोगकी वेदनासे पीड़ित उनका हृदय तीव्र आकुल-व्याकुल रहने लगा। इसप्रकार इस वेदनासे संसारकी उपासनाका अभिप्राय मिटा और अंतःकरणकी अत्यंत शुद्धि हुई।

पूर्णताका लक्ष्य :

उपरोक्त वेदनाके कारण उत्पन्न हुई उदासीनतासे बाहरमे कही पर रस नही आता, जिसके कारण जीवन रसविहीन हो गया। एकमात्र आत्मकल्याण कैसे हो ? बस! एक ही धून लगी रहती। उनके अंतरंगको देखे तो कुटुम्बकी कमजोर आर्थिक परिस्थिति होने पर भी अनेक प्रकारकी भौतिक सुख सम्बन्धित लौकिक महात्वाकांक्षाओका हृदयसे त्याग हुआ। उस वक्त एक क्षणके लिए भविष्यकी चिंताका विचार आ भी गया तो इस पुरुषार्थी जीवने उसे ठोकर मार दी और शुद्ध अंतःकरणसे आत्मकल्याण कर ही लेना है, ऐसे निश्चयका जन्म हुआ और अंतरंगमे एक लयसे इस महान् सिद्धिकी उपलब्धिके लिए कार्यशील हो गये। देखिये ! कैसा अद्भुत संवेग प्रगट हुआ है !! जिसप्रकार बादलको देखकर सूर्य वापिस नही मुड़ता और नदीका पानी बीचमें पड़े हुए पथ्थरकी छाती चीरता हुए आगे बढ़ता है - वापिस नहीं मुड़ता, वैसे दृढ़ निर्धारपूर्वक चल रहे इनके परिणामोको अब विश्वकी कोई भी ताकत रोक सकती है क्या ?

जीवनमे सिर्फ एक ही लक्ष्य / ध्येय हो गया। जीवनमें संपूर्ण शुद्धिकी उपासना करते-करते चाहे कैसी भी अग्नि परीक्षामेसे गुजरना पड़े फिर भी आत्मकल्याण शीघ्रतासे कर ही लेना है, ऐसा भाव बार-बार रहा करता है। असाधारण निश्चय शक्ति एवं परमार्थके लिए प्रतिकूल प्रियजनोके विपरीत अभिप्रायके सामने अटल रहनेकी, नाहिंमत नहीं होनेरूप वज्रसमान हिंमतके साथ लड़ना और फिर भी निर्दोष वृत्तिके साथ अनादिसे चले आ रहे अज्ञान-अंधकारसे निकलनेके लिए इनकी खोज शुरू हुई। ऐसे असाधारण निश्चयके साथ आगे बढ़ रहा यह आत्मा न तो सिर्फ उलझनमें उलझा रहता है, नाहि प्रमाद करता है, बल्कि अत्यंत धीरज व गंभीरता समेत मार्ग ग्रहण करनेके प्रयत्नमे लगा है।

अध्यात्म तत्त्वमें वास्तवमें जिसे रस आया हो उसे तत् सम्बन्धित बाह्य प्रतिष्ठा (धार्मिक जगतकी प्रतिष्ठा) की चाहना नहीं होती । मानकी रुचिवालेको आत्माकी रुचि नहीं होती। अध्यात्मका यथार्थ प्रकारका रस जिसे नहीं है, उसे संयोगोंकी रुचि है । (जगतमें धनके लालची होते हैं वैसे ।) (८०)

※

चैतन्यरस सर्वोपरी रस है - अमृतरस है, जिसका आविर्भाव होने पर सर्व प्रकारके विभावरस फीके पड़ जाते हैं, क्योंकि विभावरससे स्वभावरसमें अनंत शक्ति ज्यादा है। (८१)

※

जब अनंत (निर्विकार चैतन्य) सामर्थ्य स्वरूपके भासनमात्रमें विकारका वाष्पीकरण होने लगता है - विभावकी जड़ कटने लगती है; तो फिर साक्षात् अनुभवमें - वेदनमें मुक्ति अनन्यभावसे हो उसमें कोनसा आश्चर्य ? (८२)

※

निजपद आरामका धाम - विश्रामधाम है । उसे भूलकर - छोड़कर आराम कहाँसे मिले ? उसे भूलकर आहारसे तृप्ति कैसे हो ? सिर्फ आकुलता अनुभवमें आती है। - उसे भूलकर अन्य (मित्रादि) संगसे हूँफ कैसे मिले ? सिर्फ संयोगकी आकुलतामें भ्रांतिसे हूँफ माननेमें आती है । (८३)

※

मित्र - परिवार आदि संयोगोंकी मिठास ज्ञानीको उत्पन्न नहीं होती क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे जीव (द्रव्यदृष्टि होनेसे) मात्र चैतन्यमूर्ति दिखाई देते हैं । और उनके देहादि पुद्गल इतने गौण हो जाते है कि जैसे मानो दिखते ही नहीं । (८४)

※

साधककी पर्यायका विकारांश स्वरूपमानरूपी लगामके कारण अत्यंत मर्यादामें होता है। वह विभावअंश मर्यादामें उत्पन्न होकर वहीं का वहीं कमजोर होता हुआ व्ययको प्राप्त होता है; और ज्ञानबल बढ़ता जाता है । मुक्त भावकी मस्ती वास्तवमें अलौकिक है । दूसरेको इसका खयाल नहीं आता । (८५)

※

महा आनंदकंदसे - निज स्वरूपसे, दूसरा क्या अधिक है ? कि जिसको छोड़कर तू अन्यका ध्यावन करता है ? (अनुभव प्रकाश) (८६)

※

उपयोगको विश्रांतिका स्थान मिल गया। जन्म-मरणकी जटिल समस्याका उकेल आ गया। फिर तो विश्वमें ऐसी कोनसी शक्ति है कि, जो इस पुरुषार्थको रोक सके या उपयोगको निज परमात्मासे अलग रख सके ? निज स्वरूपसे अन्य-अलग नही रह सकती। वर्तमान पर्यायने स्वरूपके साथ अनन्य होनेके लिए पूरी शक्तिसे पुरुषार्थ उठाया।

आत्मसाक्षात्कार :

इन्ही दिनोमे श्री दीपचंदजी कासलीवाल कृत `अनुभवप्रकाश' ग्रंथ इनके हाथ लगा। अब इसमे रहे वचन अनुसार स्वरूप लक्ष सहित भेदज्ञानका प्रयोग चल रहा है। `अनुभवप्रकाश' ग्रंथके गहन अभ्यासपूर्वक रसास्वादन करके ज्यो एक पानीदार अश्व उसके मालिकके एक ही इशारे पर तेज रफतारसे दौड़ने लगता है, त्यो इस पूर्व संस्कारी आत्माके अंतरंग परिणमनमें अप्रतिहत भावसे पुरुषार्थकी धारा बहने लगी।

२१ सालकी उम्र है। बाहरका दिखाव एकदम साधारण होने पर भी भीतरमें इस आत्माको अब निज परमात्मपदका पता लग चुका है, यह किसीके अंदाजमें आना भी मुश्किल है। १०० रुपिये तनखाकी नौकरी करते हुए भी इस भव्य आत्माको ऐसा लगता है कि `मै परमेश्वर हूँ' और `तीनलोकका नाथ हूँ' अंतरंग परिणति पलट गई और स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थपूर्वक भेदज्ञान धारावाहीरूपसे चलने लगा। वह कैसे ? कि,

पूर्वकर्म अनुसार शुभाशुभ भाव और क्रमशः उदयके प्रसंग है; उन सबसे मै ज्ञानमय होनेसे भिन्न हूँ - ऐसा समभावपूर्वक - स्वका ज्ञानरूप वेदन करनेका पुरुषार्थ चल रहा है। प्रति क्षण, प्रसंग - प्रसंग पर इस प्रकारका पुरुषार्थ चालू है। ज्ञानमें स्व-अस्तित्वका ग्रहण वेदनपूर्वक होनेसे चिद्रस उत्पन्न हुआ यह चिद्रस सहजरूपसे परिणतिमें मिला। परिणति उपयोगको बार-बार अपनी ओर खींचने लगी। - वारंवार इसी भेदज्ञानके अभ्यासके फलस्वरूप निर्विकल्प स्वरूपके आश्रयसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ और आत्माके प्रदेश-प्रदेशसे स्वसंवेदनज्ञान और अपूर्व आनंदका अनुभव हुआ...। जन्म-मरणकी श्रृंखला टूट गई, और परिणतिमें आनंदकी बाढ़ आयी जिसके साथ अनादिकालसे कर्तृत्वके

'ज्ञानमें' स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है और लक्ष्य वहाँसे खिसकता नहीं । ऐसे लक्ष्यपूर्वक स्वभावकी महिमा सहित चलता हुआ घोलन तीव्र आत्मरसको उत्पन्न करता है । वहाँ सूक्ष्म विकल्प है, फिर भी उसके पर लक्ष्य नही होता - उसकी उपेक्षा रहती है, वहाँ संयोगोंकी उपेक्षा तो सहज ही है । ध्येयभूत स्व-स्वरूपके ऊपर बारंबार 'यही मैं' - ऐसे उपयोगमें - जोरसे अवलंबन आता है । सहज आता है । इस तरह सहज पुरुषार्थ और सहज भेदज्ञानकी यहाँ से शुरूआत होकर वह स्वानुभवमें परिणमित हो जाती है । इस तरह स्वरूपकी सच्ची पहचान होने पर, जगतके पदार्थ व शुभभावकी महिमा (जो कि अनादिसे थी) वह मिटती है । अपूर्व अतीन्द्रिय सुखकी तुलनामें बाह्यभाव - द्रव्य दुःखके कारणरूप - निमित्तरूप लगते हैं - पुण्यका उदय तुच्छ भासित होता है । (९८)

※

आत्माकी पहचान सम्बन्धित :-

* आत्मा उपयोग लक्षणवंत है ।

लक्षण-लक्ष्य - स्वभावसे सदृश व वस्तुपनेसे अभेद है । उसकी प्रसिद्धि स्वसंवेदनसे है। पहचान होनेपर लक्ष्यकी मुख्यता और लक्षणकी गौणता सहज हो जाती है । लक्ष्यकी मुख्यतामें (प्रमाणके विषयभूत वस्तु) पूरी वस्तु (वैसी की वैसी) टिकती हुई, परिणमन करती हुई दिखती है । अत: द्रव्य, गुण, पर्यायका आभास / कल्पना नहीं होती । स्वभाव सन्मुखतामें आत्मस्वरूप निरावरण / प्रगट है, ऐसा ज्ञात होता है । 'यह मैं प्रत्यक्ष ऐसा - सिद्ध स्वरूपी हूँ' ऐसे भासनसे, आत्मवीर्यकी स्फुरणा हो जाती है। और (जैसे-जैसे) आत्मआश्रयका बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान स्वरूपको सुस्पष्टरूपसे ग्रहण करता है, साथ ही साथ आत्माके दूसरे गुण भी खिलने लगते हैं । जितना पुरुषार्थ उग्र - उतनी शुद्धि विशेष - और तेज़ीसे, ऐसा वस्तुका स्वरूप है । वस्तु स्वरूप महा आश्चर्यकारी, अनुपम व अद्‌भुत है । (९८-A)

※

केवलज्ञानमें विस्मयका अभाव है, क्योंकि प्रथम एक समयमें तीन काल - तीन लोक जाननेमें आ जाते हैं । इसलिये किसी भी द्रव्यकी कोई भी पर्यायके बारेमें ऐसा क्यों ? ऐसा विस्मयभाव उत्पन्न नहीं होता । ऐसे केवलज्ञान स्वभावको जिन्होंने वर्तमान श्रद्धा-ज्ञानमें लक्षगोचर किया है, वैसे सम्यक्‌दृष्टि जीवको भी श्रुतज्ञानमें विस्मयका अभाव होता है । भावश्रुतज्ञानमें भी तीन काल - तीन लोकको परोक्षरूपसे जाननेकी शक्ति है, अत: सम्यक्‌श्रुत भी स्वभावसे गंभीर व अचंचल है । दूसरे जीवोंकी व पुद्‌गलोंकी अनेक चित्र-विचित्र अवस्थाएं जानने, पर भी क्षोभ नहीं होनेके पीछे इस सिद्धांतका ग्रहण है । (९९)

पूज्य गुरुदेवश्रीसे आत्मीयता बढ़ती चली जिसमे स्वयंकी परिणतिके रसको पुष्टि मिल रही थी। यह देखकर उनके साथ कईबार एकांतमें चर्चाका प्रसंग बनने लगा। दो ज्ञानीपुरुषके बीच कैसी ज्ञानगोष्ठि चलती होगी !! पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचनके दौरान वात्सल्यपूर्ण संबोधन और खास सूक्ष्म विषयके स्वाध्याय वक्त एक-दूसरेका स्मरण - ये इन दोनोके बीच रहे अद्वितीय प्रेमकी प्रतीति कराता है। एक प्रभावशाली युगपुरुषके प्रेम सानिध्यमें सुदीर्घकालीन योग संप्राप्त होनेसे `सोनेमे सुहागा' जैसी परिस्थिति बन गई।

पुनः जिन्होने पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका दिव्य वाणीके प्रथम चमत्कारिक स्पर्शसे ही विश्वकी उत्तमोत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर ली थी, ऐसे पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीके समागममे आना हुआ। पाँच साल तक इनके घनिष्ट परिचयमें रहे, जिसमे पूज्य सोगानीजीकी उग्र अध्यात्म परिणतिके उन्होने बहुत समीपतासे दर्शन किये और अपनी अध्यात्मदशाको आविर्भूत किया। इस दृष्टिकोणसे पूज्य सोगानीजीका भी उपकार भासित होता था। पूज्य सोगानीजीकी चिर विदाय बाद, उनके पत्रो और तत्त्वचर्चाका संकलन करके `द्रव्यदृष्टिप्रकाश' जैसे अध्यात्मके उच्च कोटिके ग्रंथका उन्होंने प्रकाशन किया। इस तरह पूज्य सोगानीजी जैसे एकावतारी, अद्वितीय महापुरुषके अक्षरदेह द्वारा उनकी तीव्र ज्ञानदशाका मुमुक्षु समाजको दर्शन कराकर मुमुक्षु समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया।

बादमें पूज्य गुरुदेवश्रीकी सभामें धर्मकी शोभारूप पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनके प्रत्यक्ष परिचयमे रहनेका सौभाग्य भी उन्हे संप्राप्त हुआ। पूज्य बहिनश्रीकी सेवा, भक्ति व समर्पणका अपूर्व लाभ भी उन्होने लिया। इस दुषमकालमे कि जहाँ एक धर्मात्माका योग होना भी मुश्किल है, वहाँ इस भव्यात्माको तीन-तीन धर्मात्माओंका प्रत्यक्ष समागम मिला, यह इनकी सत्संगकी अलौकिक भावनाका ही फल है। इस तरह सारा जीवन प्रगाढ़ सत्संग एवं ज्ञानियोंकी भक्तियुक्त बना।

प्रभावना योग :

पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रभावना योगको देखकर स्वयंको जो प्रभावना संबंधित

अनंत महिमावंत आत्मस्वरूप है । अरे ! पूर्ण केवलज्ञानादि पर्यायकी भी जिसे अपेक्षा नहीं, ऐसा परम निरपेक्ष आत्मस्वरूप है । ऐसे निज स्वरूपकी एकाकार भावनावानको भी अन्य कोई अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसे निज स्वरूपकी दृष्टिके बिना, अन्य द्रव्य-भावमें मुख्यता होती है - स्वरूपदृष्टिमें तो स्वयं `स्वरूपमात्र' - `ज्ञायकमात्र' के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। (११०)

✻

जिस स्वसन्मुख भावमें आत्मस्वरूप प्रगट - सहजप्रत्यक्षरूप है, उस भावमें प्रत्यक्षता सहित (के साथ) अभेदता सधती है; अतः उस भावमें परोक्षताका सहज अभाव होता है; अर्थात् वहाँ अद्वैतभावसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता वर्तती है; अतः भावमें निजरस - आत्मरस उत्पन्न होता है । अहो ! अनंत शांत सुधा सागरका परम आदरभाव - वही महा विवेक है - परमपदका विवेक / आदर होनेमें अन्य विकल्प कैसा ?

परमात्मपद प्रतिके उल्लसित वीर्यसे दर्शन शुद्धि है अथवा सर्व सिद्धि है । (१११)

✻

कारण शुद्ध पर्यायका स्वरूप :-

(१) प्रत्येक वर्तमानमें कार्य-शुद्ध पर्यायके कारणरूपसे तैयार-मौजूद ऐसा अनंतगुणोंके अभेदभावका `स्वाकार भावरूप' ध्रुवत्व, वह कारण शुद्ध पर्याय है । जो कि द्रव्यके अनंत सामर्थ्यको प्रसिद्ध करती है । वह इस तरह :-

जिस ध्रुवके वर्तमानका अवलंबन लेने पर यदि केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धता प्रगट होवे तो द्रव्यका त्रिकाल सामर्थ्य कितना अनंत व गंभीर ।।

(२) समुद्रके पानीमें ऊपरका तरंगवाली सपाटीका अस्थिर दल पूरा होनेके बाद नीचे स्थिर दल शुरू होता है । उस स्थिर दलकी ऊपरकी सपाटीके दृष्टांतसे, पर्यायके उत्पाद-व्ययसे पार गहराईमें - अंतरमें अन्वयरूप वर्तमान ध्रुवत्वका अवलोकन करना, अवलंबन लेना।

(३) जीवके त्रिकाली स्वरूपमें केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्ध पर्यायोंके कारणरूप त्रिकाल रही हुई पर्यायपरिणमन शक्तिका वर्तमान - वह कारणशुद्ध पर्याय है ।

श्रीमद् पद्मप्रभमलधारी देवने उसे पूजित पंचमभाव परिणति कहा है / समादर किया है। (११२)

✻

सविकल्पदशामें, जिस वक्त निज अभेद निर्विकल्प चैतन्य स्वरूपका `यथार्थ निर्णय' होता है, तब निर्विकल्प स्वरूपकी अत्यंत मुख्यता वर्तती है इसलिये उस जीवका निर्विकल्पदशाका

भूमिकासे आगे बढ़कर मोक्षमार्ग पर्यंत पहुँचनेके क्रमका, स्वयंकी मौलिक अनुभवपूर्ण शैलीमे सुव्यवस्थित प्रतिपादन करके सारे मुमुक्षु जगत पर अविस्मरणीय उपकार किया है। वर्तमानमें करीब ५००० प्रवचनोंकी ऑडियो केसेट भावनगरमें उपलब्ध है। भारतमे व विदेशमें भी जिनमार्गकी प्रभावनाका कार्य उन्होंने किया है।

इसके अलावा स्वयंकी प्रायोगिक शैलीमे 'निर्भ्रांतदर्शनकी पगडंडी, प्रयोजन सिद्धि, तत्त्वानुशीलन-१-२-३, मुमुक्षुता आरोहण क्रम, सम्यक्‌दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदका अमृत पत्र, परिभ्रमणके प्रत्याख्यान, आत्मयोग' इत्यादि ग्रंथोकी रचना की तथापि 'अनुभव संजीवनी' कि जिसमें स्वयंके अंतर मंथनसे स्फुरित वचनामृतोंकी समर्थ रचनासे जन्म-मरणकी जटिल समस्याका हल करनेके लिए अति उपकारी मार्गदर्शन दिया है। तथापि उन्होंने 'ज्ञानामृत' 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' 'परमागमसार' 'भगवान-आत्मा,' 'विधि विज्ञान,' 'दूसरा कुछ न खोज,' 'धन्य आराधना,' 'अध्यात्म पराग,' 'जिण सासणं सव्वं' इत्यादि अनेक ग्रंथ संकलन और विवेचनके रूपमें मुमुक्षु जगतको दिये है।

पूर्वमें अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके पंच परमागम व अन्य परमागमो पर हुए विशिष्ट प्रवचनोको ध्वनिमुद्रित केसेट परसे अक्षरसः पुस्तकारूढ प्रकाशित हो, वैसी उनकी विचारधारा और भावनाके फलस्वरूप 'प्रवचन रत्नाकर' भाग १ से ११ प्रकाशित करनेमे उनका बहुमूल्य मार्गदर्शन व योगदान रहा।

पूज्य गुरुदेवश्रीके ४५ वर्षकी प्रवचनवर्षाके सारांशरूप, मक्खनरूप १४३ प्रवचनोका प्रकाशन भी उन्हीके निर्देशनसे 'प्रवचन नवनीत' भाग-१,२,३, प्रकाशित हुए, भाग-४ का काम चालू है।

श्रुत भक्ति :

महान दिगम्बर आचार्यो रचित अनेक प्राचिन परमागम जो उपलब्ध नही है, इसकी खोज हेतु श्री कुंदकुंद कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट के अंतर्गत उन्होने तामिलनाडु और कर्णाटकमे शास्त्रोंकी खोज की।

जर्मन युनिवर्सिटीके साथ इन प्राचिन शास्त्रोंकी खोज हेतु प्रयास किया, तथापि इग्लेड, फ्रास, जर्मनी, इत्यादि स्थलमें प्रसिद्ध लायब्रेरीयोंकी मुलाकात भी उन्होने ली। भारतमे रही अन्य संस्थाओके साथ मिलकर भी उन्होने प्राचिन

'अत्यंत भक्ति' सहित समागम किया जाता है तो ही सत्पुरुषका बोध परिणमित होता है। और सत्समागममें भक्तिपूर्वक समर्पित होनेसे इन्द्रियों तरफकी वृत्ति शिथिल हो जाती है और तब निजहितका भाव बलवान होता है । इस प्रकार पर विषयका रस - जड़का रस, सत्संग सफल होनेमें प्रबल अवरोधक - प्रतिबंधक कारण है ।

(५) अपूर्व भक्तिका अभाव :- सत्संगके दाता, ऐसे ज्ञानी - परमपुरुष - परमात्माके प्रति अपूर्व भक्तिके अभावके कारण ही आगे कहे हुए चारों प्रकारके दोष सहज उत्पन्न हो जाते है । जिसे अपूर्व भक्ति वर्तती है वह जीव संसार तिर जाता है । अतः ज्ञानीके योगको परम हितकारी जानते हुए, परमप्रेमसे, सर्वार्पणबुद्धिसे, सर्व संयोगोंको गौण करके उस योगकी उपासना कर्त्तव्य है । और तो ही ज्ञानीसे प्राप्त बोधका परिणमन होता है, अन्यथा परिणमन नहीं हो सकता (बल्कि) सिर्फ शुष्क धारणा रह जाती है, यह वस्तुस्थिति है । वास्तवमें तो ज्ञानीपुरुषकी पहचान होने पर पात्र जीवको इस प्रकारकी अपूर्व भक्ति जागृत हो ही जाती है, हुए बिना नहीं रहती । ऐसी भक्ति जो है वह सिर्फ प्रशस्त रागवृद्धिरूप नहीं है परन्तु प्रगट सत्का ही मूल्यांकन है, जिसके कारण दर्शनमोह दृढ़ हो ऐसे दोष उत्पन्न ही नहीं होते, बल्कि दर्शनमोह गल जाये, ऐसी परिणामकी परिस्थिति हो जाती है - यह सत्संगमें सन्निहित महान रहस्य है । इसीलिये तो सभी ज्ञानियोंने अपने अनुभवसे जगह-जगह सत्संगका महत्त्व प्रदर्शित किया है । जिसको विवादका विषय बनाकर खिंचना बिलकुल योग्य नहीं है । (१२२)

⁂

पर विषयमें सुखका अनुभव होना वह कल्पित है, झूठ है । वहाँ वास्तवमें सुख अथवा आनंद नहीं होता फिर भी, आभास होता है । उसमें झूठा आनंद माना जाता है । यह सिद्धांत किसी भी कक्षाके कषायकी मंदतावाले परिणामको भी लागू होता है। निजहितके प्रयोजनके दृष्टिकोणवाले जीवको झूठे - कृत्रिम आनंदमें खुद धोखेमें नहीं आ जाये उसकी सतत जागृति - सावधानी प्रसंग-प्रसंग पर, कार्य-कार्यमें रहनी ज़रूरी है क्योंकि उसमें आध्यात्मिक नुकसान है । (१२३)

⁂

सम्यक्ज्ञान महाविवेकको धारण करके, स्व-पर प्रकाशक परिणमनमें, स्वविषयमें और परविषयमें निम्न प्रकारसे परिणमन करता है ।

स्वरूपको अभेद अनुभवरूप, महामहिमावंत जानकर सर्वोत्कृष्ट उपादेयरूप - चैतन्यरसरूप स्व-आश्रय भावसे सहज परिणमन करता है ।
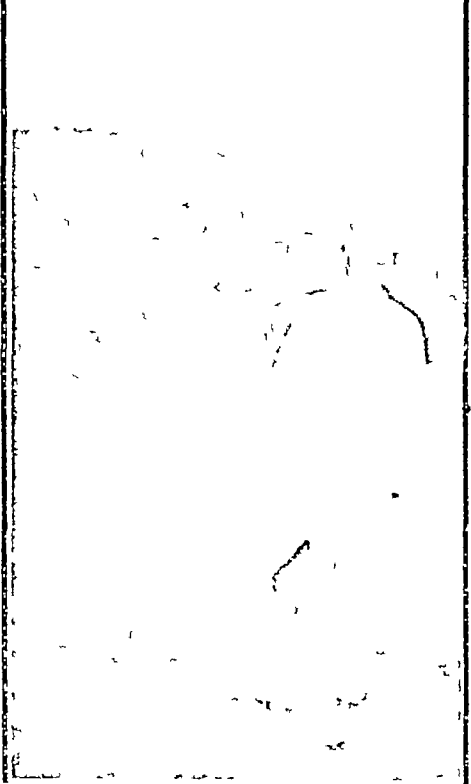
कर्मोकी निर्जरा हुई। बाहरमें डॉक्टर अपना काम करते गये, मुमुक्षु असहाय बनकर अपने प्राणसे भी प्यारे श्रीगुरुको देखते रहे ! अंततः चैत्र सुदि ५ दिः २२-३-१९९९, प्रातः ४:१५का समय है, उन्होंने मृत्यु महोत्सव मनाकर अपना एक भव कम किया और अपने पूर्णताके ध्येयके समीप पहुँचे। मुमुक्षुओके लिए नहीं चाहने पर भी यह भयानक परिस्थिति सामने आ गई और पंचमकालने मुमुक्षुओंके सर्वस्वको लूट लिया। भीतरमे देह और आत्माकी भिन्नताका अनुभव और बाहरमे भी देह और आत्माकी भिन्नतारूप वास्तविकता खड़ी हो गई। सब मुमुक्षु अपने-अपने प्राणकी आहुति देने तैयार थे कि शायद इसीके बदलेमें श्री गुरु इस धरा पर शाश्वत रहे। लेकिन...

मुमुक्षुओके जीवन आधार, मुमुक्षुओंको निःसहाय, अनाथ छोड़कर चले गये। क्या कुदरतको यह स्थिति मंजूर नही है कि, ऐसे दिव्यपुरुष शाश्वत इस धरा पर बिराजमान रहें? क्या कुदरत इतनी निष्ठुर भी बन सकती है ? क्या कालको जरा सी भी दया नहीं आयी और मुमुक्षुके प्यारे परमेश्वरको छीन लिया ? ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्नो व असमाधानके बीच सारे मुमुक्षुवृंदकी आँखोंसे अविरत अश्रुधारा बहती रही। इस विराट व्यक्तित्वका वियोग मुमुक्षुओंके लिए एक वज्रपात बन गया। मुमुक्षुओं अवाचक नेत्रोंसे स्वयंके श्रीगुरुकी कारमी विदायको देखते रहे। दूर-दूर तक फैली हुई अमाप क्षितिजोंमे स्वयंकी आभा फैलाते हुए इस विश्वविभूतिका महा प्रयाण हुआ।

- उपकृत मुमुक्षुवृंद

卐

नास्तिसे :- अनादि अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरुप, उसका अभाव करनेकी विधिका अनेक भेदोंसे निरुपण है ।

इस तरह अस्ति-नास्तिसे सूक्ष्म आत्माका तत्त्व अर्थात् प्राप्तिकी रीत प्रकाशित की है। (१३३)

※

पुद्गल पर्याय प्रति जीवका रस-विभावरस जितनी मात्रामें प्रवर्तता है, वह पर्यायको बहिर्मुख रहनेमें - होनेमें कारणभूत है; और अंतर्मुखका पुरुषार्थ होनेमें बाधक अर्थात् अवरोधक - प्रतिबंधक है । विभावरससे अधिकमात्रामें स्वभावका - चैतन्यका रस उत्पन्न हुए बिना पर्याय अंतर्मुख नहीं हो सकती । इस तरह बाहरमें अटकनेमें कषायरस - रागरस मुख्य है । अत: परमागममें इस रसको ही `बंध तत्त्व' बताया है । चलते परिणाममें उसका यथार्थ अवलोकन होनेसे वह रस मंद पड़ता है, वहाँ फिर स्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश होता है । (१३४)

※

शास्त्र वचन - वाचक है ; आत्मस्वभाव वाच्य है । ज्ञानमें ज्ञानरस उत्पन्न होनेसे वाच्यकी यथार्थता सिद्ध होती है । अगर वाच्य ज्ञानमें आये फिर भी ज्ञानरस - आत्मरस उत्पन्न नहीं हो, तो वह ज्ञान परलक्ष्यी उधाड़रुप है, जो कार्यकारी नहीं होता । वहाँ प्राय: अन्यथा कल्पना होती है । यथार्थतामें / स्वलक्ष्यमें चैतन्यरस उत्पन्न होता ही है, क्योंकि :-

`द्रव्यश्रुतके सम्यक् अवगाहनसे श्रद्धागुणज्ञता प्राप्त होती है, जिससे परमार्थ सधता है' अथवा `द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन भावश्रुतको साधता है।' उपरोक्त सिद्धांत स्व. श्री दिपचंदजी [का]सलीवालके `अनुभव प्रकाश' शास्त्रजीमें है । यह निमित्त-उपादानकी पारमार्थिक संधि है। (१३५)

※

ज्ञानपर्यायमें ज्ञानवेदन सदा प्रगटरुपसे रहा है । वेदन अपेक्षासे ज्ञानमें अन्य द्रव्य-भावका [वे]दन होना असंभव व अशक्य है; फिर भी `परप्रवेशभावके कारण परभाव व परद्रव्यका वेदन [खु]दको हो रहा है ऐसे अध्यासके कारण' यह प्रगट वेदन तिरोभूत हो जाता है अर्थात् ``परज्ञेयके [सा]थ ज्ञानकी एकता परप्रवेशभावके कारण होनेसे'' स्वयंका वेदन ज्ञानमें मौजूद होने पर भी [उ]स अनुभवको पकड़ सकता नहीं । अर्थात् वेदनका (उपयोगमें) ग्रहण नहीं हो सकता। वास्तवमें [जो] प्रगट वेदन ही स्वसंवेदन स्वरूप है - निज ज्ञानरुप है; परन्तु वह परप्रवेशभावका अभाव [हो]नेपर, जो कि एकमात्र भेदज्ञानके अभ्याससे होता है, आविर्भूत होता है । तब (उपयोगमें) [नि]जवेदनके वेदन उपरांत लक्ष्यभूत ज्ञानरुप वस्तुको अनंत सामर्थ्यरुप व अनंत महिमावंत जानता

अगाध मथनके साररुप सजीवनी के मगल दर्शन

(पू भाईश्री के स्वहस्ताक्षरोमें)

स्वकी अपेक्षासे पर है अर्थात् स्व-परपना परस्पर अपेक्षित है; अपेक्षा रखकर - अपेक्षापूर्वक - विविक्षा होती है - उस विविक्षासे वस्तुसिद्धि है। और निज ज्ञानसे स्वरूपानुभव है। (१४७)

❋

'मै ज्ञानमात्र हूँ' - इस प्रकार 'ज्ञानमात्र' भावमें अंतर सावधानीपूर्वक ज्ञानसे निजप्रत्यक्ष ज्ञानमय अस्तित्वका ग्रहण होना - वह प्रयोग है । इस प्रकारका प्रयोगाभ्यास साधकको अंतरमें चलता रहता है; उसमें 'ज्ञानमात्र'का विकल्प अथवा रटन करते जाना, ऐसा प्रकार - (वह प्रयोग) नहीं है । विकल्पसे अस्तित्वका ग्रहण भी नहीं हो सकता, जब कि ज्ञानकी प्रत्यक्षतासे व वेदकतासे ज्ञानमय सत्ताका अनुभव, सूक्ष्म अंतर अवलोकनसे सधता है । कुछ भी 'करना' ऐसा करूँ-करूँ का विकल्प तो उपाधिरूप है । पुरुषार्थमें बाधकरूप है । विकल्पसे निरपेक्ष अर्थात् विकल्पसे पर / आगे जाकर ऐसा अवलोकन होना वह प्रयोग है । प्रयोगमें पुरुषार्थ है । प्रयोग पुरुषार्थसे होता है । विकल्पसे - रागसे कार्यसिद्धि नहीं है । पुरुषार्थसे ही कार्यसिद्धि है । (१४८)

❋

निर्विकल्प समाधिरूप धर्मध्यान होनेके लिये ज्ञेयरूप पदार्थोंमें 'इष्ट-अनिष्टबुद्धि' मिटनी आवश्यक है । स्वयं - आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप है, अन्य पदार्थ सिर्फ ज्ञेयरूप है, कोई भी पदार्थ ज्ञानके लिये इष्ट-अनिष्ट नहीं है, ऐसा वस्तु - स्वरूप है; इस प्रकार ज्ञान सिर्फ जानने तक सीमित रहकर और ज्ञेयको 'मात्र ज्ञेय' के स्थानमें जानने पर अन्य पदार्थ ज्ञानमें इष्ट - अनिष्टरूप भासित नहीं होते; इसके कारण 'इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक' के राग-द्वेष नहीं होते; और विकल्प जाल मिटती है । और विकल्परस मिटनेसे धर्मध्यान होता है; धर्मध्यान होने पर निजानंदकी उत्पत्ति होती है । वीतरागी ज्ञानभाव - ज्ञाता-दृष्टाभाव होने पर परका प्रतिबंध मिटनेसे, स्वरूपकी समाधि उत्पन्न होती है - स्वरूपमें लीनता होती है; निराकुलता उत्पन्न होती है; कि जिसकी बराबरीमें इन्द्रादि संपत्ति रोगवत् (उपाधि) भासित होती है । उदयमें जुड़नेसे तो दुःख होवे ही होवे । (१४९)

❋

आकुलतारूप दुःखका मूल अनादि अज्ञानरूप भ्रमभाव है । इस भ्रमभावसे ही अनात्मा (देह व राग) का अपने रूपमें अनुभवका अभ्यास चल रहा है । ऐसे विपरीत अभ्यासके कारण स्वयंका गुणनिधान परमपदरूप स्थान दिखता नहीं; अर्थात् विपरीत अभ्यासका अभाव हो, तब खुदका गुणनिधान परमपदरूप स्थान दिखनेमें आये, और भववासनाका विलय हो; तब जगतके नव निधानरूप विध-विध भोग-उपभोग सम्बन्धित सुख झूठ भासित होवे - कल्पित
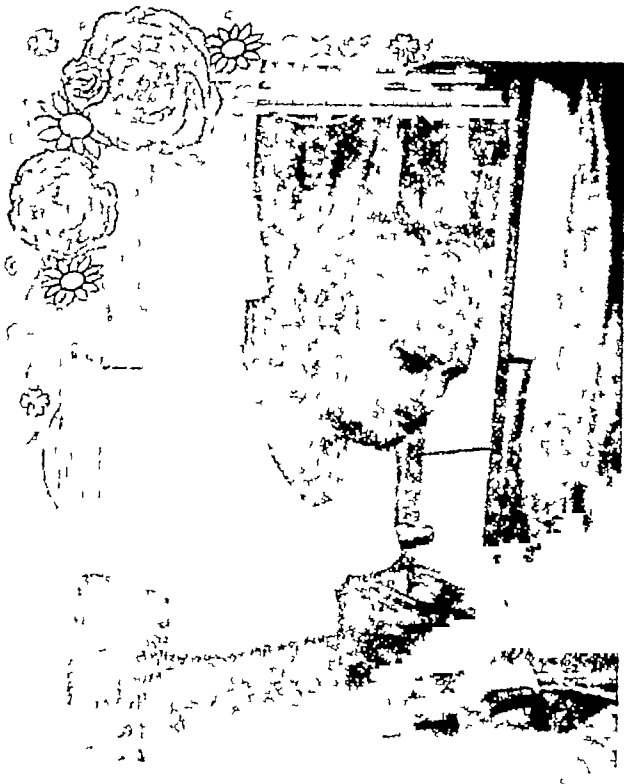
(३२) एकांत प्रिय : एकांत-प्रियता हो (अनेक अर्थात् बहुजन परिचय आत्मसाधनाको प्रतिकूल निमित्त है । )

(३३) आहार-विहारमें वैराग्य / नियमितता : आहार, विहार व निहारमें नियमित हो, जिसके कारण देहाश्रित बाह्यभाव नियमित (मर्यादित) हो; जिसका रागरस मंद हुआ हो, उसको यह सहज साध्य है; उपरोक्त विषयमें रागरसके कारण अनियमितता सहजरूपसे प्रवर्तमान रहे, ऐसा प्रकार नही हो, क्योंकि आत्मार्थी सहज वैराग्यवान होता है ।

(३४) खुदकी गुरुताको दबानेवाला : आत्मार्थी जीव सामान्य मनुष्यसे विशेष योग्यतावान होनेके बावजूद भी मान-प्रसिद्धिसे दूर रहना चाहता है, अत: स्वयंकी महत्ताको छिपाता है और वह भी कृत्रिमता किये बिना छिपाता है ।

(३५) मुक्तपनेका मूल्यांकन : मोक्ष एवं मोक्षमार्गकी महत्ता वास्तविकरूपसे समझमें आयी होनेसे (चारोंगतिके सर्व दु:खका अभाव व अनंत समाधि सुखकी प्राप्ति व प्राप्तिके साधनकी कीमत (मूल्यांकन) समझकर आदरबुद्धि उत्पन्न हुई हो ।)

(३६) जागृतिपूर्वकके अवलोकनसे नीरसता : आत्मजागृति उत्पन्न हुई हो, अर्थात् जागृतिपूर्वक निजभावोंका अवलोकन सूक्ष्मरूपसे होनेसे पररस - रागरस कम हुआ हो।

(३७) प्रयोजनके लक्षसे शास्त्र वचनोंका अवगाहन : शास्त्रमें आनेवाले सर्व प्रकारके न्याय व अनेक अपेक्षित कथन, एवं कथनकी विविध प्रकारकी विविक्षाओंको - उन सभीको आत्महितके प्रयोजनके लक्षपूर्वक समझनेकी पद्धत्ति हो । (जिससे विपर्यासपना या अन्यथापना समझमें नहीं हो।)

(३८) उदय प्रसंगोंमें निरुत्साह (छटपटाहटके वशात्) : स्वकार्यके लिये छटपटाहट होनेके कारण, अन्य उदयमान प्रसंगोंमें निरुत्साही भावसे जुड़ता हो ।

(३९) गति नि:शंकता : गति नि:शंकता आई हो, अर्थात् आगामी भवोंमें नीच गति (नर्क या तिर्यंच) होनेके संबंधमें शंका भी नहीं पड़ती हो, एवं स्वयंकी (मुक्ति-दशाकी) योग्यताके बारेमें जो नि:शंक हो ।

(४०) सुखाभासका ज्ञान, आश्रयबुद्धि-वासनाके टलनेका कारण : अन्य द्रव्य-भावमें सुखकी कल्पनाका स्वरूप समझमें आया हो, अत: उसकी निवृत्ति हेतु (सावधान) प्रयत्नवान हो, कि जिसके कारण जगतके किसी भी पदार्थमें सूक्ष्मरूपसे भी सुखकी कल्पना (वासना) नहीं रहे, अथवा किसी भी इन्द्रियविषयकी अपेक्षा परिणतिमें नहीं रहा करे, एवं शुभ परिणामोंमें अथवा शाता वेदनीके उदयकालमें आश्रयबुद्धि रह नहीं जाये ।

(४१) स्वच्छंदका अभाव : स्वच्छंद महादोष है, जो आत्मार्थीकी भूमिकाका नाश करनेवाला

हो ।

(१५४)

※
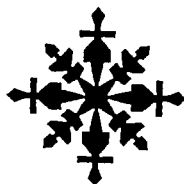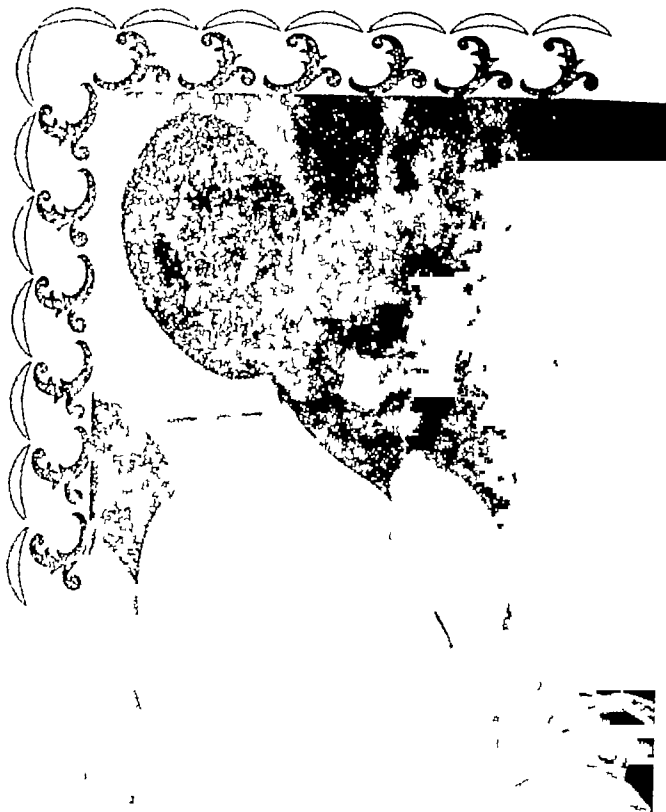
दिसम्बर - १९८५

मुमुक्षुजीवको आत्मस्वरूपकी महिमाके भाव होना स्वाभाविक है। परन्तु स्वरूपकी पहचान बिना - सिर्फ ओघे-ओघे महिमा हो तो वह कार्यकारी नहीं है । पहचान - भावभासन रहित स्वरूप महिमाके कर्त्तव्यकी समझसे, कृत्रिमतावाले भावसे भी जो महिमा होती है वह भी कार्यकारी नहीं है । परन्तु स्वरूपके यथातथ्य प्रतिभासके कारण आत्माकी महिमा उत्पन्न होना स्वाभाविक है । वहाँ स्वरूपकी मुख्यता होने पर स्वरूप सम्बन्धी विकल्प/ राग बढ़े - रहे, तब तक शुद्धनयका पक्ष है । यह नयपक्षका विकल्प अनादिसे चली आ रही एकत्वबुद्धिके सद्‌भावके कारण सम्यक् उत्पत्तिमें - निर्विकल्प होनेमें - बाधक है । अत: वैसे रागकी वृद्धि भी इच्छनीय नही है, परन्तु ज्ञानमें विकल्पकी आड़ बिना अवभासित होनेवाला महिमावंत स्वरूप, अपूर्व आत्मलक्षको उत्पन्न करता है । वहाँ शुद्धस्वरूपके लक्षसे ज्ञानबल वृद्धिगत् होता है, विकल्पका बल टूटता जाता है । वह स्वरूपकी सच्ची महिमा है । अर्थात् सूक्ष्म विकल्प होने पर भी उस पर लक्ष नहीं होता। एक ज्ञानमात्रमयपनेसे - व्याप्य व्यापक भावसे - ज्ञानके बलसे स्वयंका रागरहित अनुभव होने पर बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागकी उत्पत्ति सहज बंध हो जाती है । अर्थात् वीतरागस्वरूपकी महिमाका विकल्प / राग उत्पन्न होनेके बावजूद भी और महिमा बढ़ने पर भी, राग बढ़ता नहीं है बल्कि टूटता है । क्योंकि रागसे भिन्नपनारूप भेदज्ञान वृद्धिगत होकर रागको मिटाता है । वीतरागस्वरूपके लक्षसे उत्पन्न पुरुषार्थसे राग मिटता है ।

(१५५)

※

विपरीतके परिहारपूर्वक अविपरीतपनेकी - यथार्थपनेकी - सिद्धि अर्थात् उपलब्धि है। नौ तत्त्वके श्रद्धानकी परिभाषामें यह प्रकार प्रसिद्ध है । वहाँ ऐसा स्पष्ट किया है कि :-

विपरित अभिनिवेष रहित नौ तत्त्वका श्रद्धान, वह यथार्थ श्रद्धान है, उसमें अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि अथवा एक तत्त्वमें अन्य तत्त्वका अध्यास (अन्यथा भासित होना) वह मिथ्याश्रद्धा, विपरीत अभिनिवेषको प्रदर्शित करता है । वैसे ही शास्त्रज्ञानकी यथार्थता - आत्मलक्षपूर्वक शास्त्रका अध्ययन होता है उसमें है ।

ऐसा यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होने पर कुदेवमें देवबुद्धि, लाभबुद्धि नहीं होती और सर्वज्ञदेवके प्रति अनादर, अविवेक अथवा निषेध नहीं आता । कोई भी लौकिक कारणसे निषेध आनेसे गृहीत मिथ्यात्वका दोष उत्पन्न होता है ।

पूर्वग्रहके कारण यथायोग्य महिमा नहीं आती । इसलिये धर्मबुद्धिवान जीवको यानी कि आत्मार्थी जीवको - ज्ञानीका अन्यज्ञानीके प्रति निर्देश परम उपकारी हो जाता है । (१५९)

※

आत्माके गुणोंका परिणमनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है । यद्यपि प्रत्येक गुण स्वयं अनंत शक्तिमय है, परन्तु परस्पर निमित्त भी होते हैं । अथवा कोई-कोई गुणस्थानमें अविनाभावसे सुमेलपूर्वक परिणमन हो ऐसा वस्तुका स्वरूप है, उसमें द्रव्यकी अखंडता कारणभूत है ।

यद्यपि वस्तु स्वरूपसे, तीनोंकालमें सभी साधकजीवको धर्मका मूल - ऐसा सम्यक्दर्शन समान है, और दृष्टिका विषय भी सभीको एक सरीखा है, साथमें सम्यक् पुरुषार्थका परिणमन भी अविनाभावीरूपसे होता है, फिर भी पुरुषार्थ सबका एक सरीखा नहीं होता, ऐसा पुरुषार्थका परिणमन स्वतंत्र है । पुरुषार्थके अनुरूप सभी गुण खिलते हैं - अर्थात् सभी गुणका विकास होनेमें पुरुषार्थ निमित्त है, अत: पुरुषार्थके संबंधमें गहन गवेषणा कर्त्तव्य है । (१६०)

※

मुमुक्षुको पुरुषार्थकी मंदताके कारण अगर शुद्धोपयोगमें नहीं पहुँच सके तो शुभ परिणाम हो जाते हैं, परन्तु उस प्रकारसे उत्पन्न शुभका आग्रह नहीं होता, तथापि वैसे शुभभाव उच्चकक्षाके होनेके बावजूद भी उसमें रुकनेकी चाह भी नहीं होती। इस परिस्थितिमें भावना प्रधान परिणमन होनेसे, मुमुक्षुका हृदय भावनासे भीगा हुआ होता है । और वह पापसे भयभीत होता है इसलिये शुभसे हटनेके प्रयत्नमें, स्वच्छंदभावसे परिणमन नहीं करता। (१६१)

※

सत्पुरुषके वचनमें आत्महित होनेका पूरा निमित्तत्त्व होता है । लक्ष्य-स्वरूपका बोध होनेमें वह अचुक (अवश्य) निमित्तभूत होता है । अगर जीवकी तथारुप पात्रता अर्थात् योग्यता हो तो अवश्य कार्यसिद्धि होती है । अहो ! निजपूर्ण वीतराग स्वभावके प्रति जोशपूर्वक प्रगटित ऐसी वाणी !! ऐसी वाणी अमोघ - रामबाण ही होवे न ! वह निष्फल कैसे जाय ? उसकी सफलताके साथ कुदरत बंधी हुई है, अत: यह वाणी भी (व्यवहारसे) पूज्य है। (१६२)

※

सामान्यत: संयोगकी अनुकूलतामें जीव खुशी होता है और प्रतिकूलतामें दु:खी होता है - ये दोनों प्रकारके भाव - पापभाव है । अत: हर्ष-शोकको क्रमश: इष्ट-अनिष्ट मानकर जीव दुर्गतिमें जाता है, जो कि पापका फल है । (१६३)

※

अनादिसे जीव रागका आधार लेकर परिणमन कर रहा है । 'मै ज्ञानमात्र हूँ' - उस

है । परन्तु ज्ञान प्रगट होनेके पहले, यथार्थ भूमिकामें, और सम्यक्ज्ञान होनेके बाद भी, देव-गुरु-शास्त्रकी महिमा, स्वाध्याय आदि होते हैं, फिर भी उन-उन शुभरागके कर्तृत्वका स्वीकार न होना, उस प्रकारका संतुलन, प्रयोजनकी तीक्ष्ण दृष्टिवानको सहज रहता है; जब कि निश्चयाभासीको संतुलन नहीं रहनेसे देव-गुरु-शास्त्रादिके प्रति अविनय हो जाता है, और व्यवहारभासीको शुभराग व बाह्यक्रियामें वजन / रस बढ़ते हुए कर्तृत्व हो जाता है । एवं उभयाभासीको दोनों दोष (क्रमशः) होते रहते हैं । (१७२)

✻

आत्माके अनंतगुणोंमें, प्रधान गुण ज्ञान है, अथवा आत्मा ज्ञान प्रधान अनंतगुणमय है क्योंकि :-

(१) प्रथम स्वरूपकी पहचान ज्ञानसे होती है; तब दर्शनमोह अति मंद होनेका कारण बनता है ।

(२) ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावकी पहचानपूर्वक उत्पन्न भेदज्ञान ही एकमात्र स्वानुभूतिका कारण है, जिसमें रागसे भीन्न ज्ञानकी मुख्यतामें स्वभाव / अस्तित्वका ग्रहण (अनुभव) करनेका प्रयत्न - प्रयोग - अभ्यास चलता है ।

- इस प्रकार विधिके क्रममें ज्ञानसे ही शुरूआत है, यह सूचित करते हुए - श्री समयसारमें आचार्य भगवंतने `ज्ञानमात्र' से आत्माको व `प्राप्तिकी विधि' को दिखाया है । और अनेकान्त - स्याद्वादकी सिद्धि भी `ज्ञानमात्र' से की है । (१७३)

✻

दृष्टिका - श्रद्धाका परिणमन सूक्ष्म है, वह मिथ्यात्वकी दशामें समझमें नहीं आता - पकड़में नही आता, अतः `विधिके क्रममें' ज्ञायकभावके अभ्यासकी उपेक्षा करके (जब कि ज्ञायक ध्रुव है) ध्रुवका ज़ोर (पहचान बिना, ओघे-ओघे) दृष्टिको सम्यक् करनेके हेतुसे देना चाहे, तो उसमें ध्रुवके विकल्पका / रागका ज़ोर बढ़ेगा, लेकिन दृष्टिका ज़ोर उत्पन्न नहीं होगा । इसीलिये कहा है कि : ज्ञायकताका अभ्यास करनेसे ज्ञानमें दृष्टिका विषय ग्रहण होनेसे, दृष्टिका सम्यक् प्रकारसे ज़ोर बढ़ता है । तत्पश्चात् दृष्टिके ज़ोरमें आगे बढ़ना होता है।

"सम्यक्त्वम् वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्,
तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात"
- ४०० (पंचाध्यायी - उत्तरार्ध) (१७४)

✻

अनुभूति होनेके बाद अनुभवी जीवको `दृष्टिका ज़ोर' परिणमनमें जितना ज्यादा रहे उतनी

आत्माके लिये अहितरूप भावोंके होने पर, घबराहट होना वह पात्रताका लक्षण है।

※

जगतकी रचना देखते हुए जीवको (तत्त्वदृष्टिके अभावमें) उलझन, आकुलता व असमा
हो अथवा असत्यका आग्रह हो - ऐसी है ।

※

अनंतकालसे स्वरूपका (स्वभावका) परिचय नहीं होनेसे विभाव सहज हो चुका है। अ
सुदीर्घकाल पर्यंत सत्संगमें रहकर 'बोध भूमिकाका' सेवन होने पर 'विभावकी साधारणता' छू
और तब स्वरूपकी सावधानी प्राप्त होवे । (श्रीमद् राजचंद्रजी) (७)

※

किसी भी उदयप्रसंगमें तीव्र रसपूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो, अथवा अधिक चिंतापूर्वक प्रवृत्ति
नही हो, ऐसा करना या होना, वह ज्ञानीपुरुषके मार्गमें प्रवेश करनेका द्वार है । ऐसा तभी
हो सकता है कि जब सर्व उदयप्रसंग 'आत्मासे सब हीन / भिन्न ही' ऐसे निश्चित हुए हो
और उसकी कीमत अभिप्रायमें से चली गई हो - वरना उदयभावका रस उत्पन्न हुए बिना
नहीं रहता; जो कि आत्मरसके लिये प्रतिबंधक है - विभावरस स्वभावरसको उत्पन्न होने नहीं
देता । (८)

※

शास्त्रकी धारणारूप ज्ञानसे हित सधता नही (किन्तु) अनुभवज्ञानसे हित सधता है।
(९)

※

(जब) तीव्र रसपूर्वक परमें स्व-पना हो जाता है तब 'पात्र जीवको' घबराहट सा उत्पन्न
हो जाता है । जैसे बहुत बड़ा गुन्हा / नुकसान हो जाने पर घबराहट हो जाती है उस
प्रकारसे । (१०)

※

ॐ

भेदज्ञानकी विधि :- पूर्वकर्मके अनुसार शुभा-शुभभाव व क्रमशः वैसे उदयप्रसंग है। उन
सभीसे मै ज्ञानमयरूप होनेके कारण भिन्न हूँ - इसप्रकारसे समभावसे "स्वका वेदन ज्ञानरूपसे
करना ।" क्षण-क्षणमें, प्रसंग-प्रसंग पर इस प्रकारका अभ्यास करने योग्य है। ज्ञानसे / स्वसे
रागकी भिन्नताका अनुभव होनेमें, ज्ञानसे ज्ञानका (स्वका) एकत्व होना वह मुख्य बात है ।
ज्ञानमे स्व - अस्तित्वका ग्रहण - वेदन होनेसे सहजरूपसे चिद्रस उत्पन्न होता है। यह

परुरुचिका पोषण होनेसे, अविवेकका जोर बढ़ता है अर्थात् विवेक निर्बल होता है। मिथ्या ज्वर आता है । अतः अगर निजहितके उपयोगसे स्वरूपको सँभाले (तो) विवेक सबल होवे, तो निज निधिका विलास होवे । (अनुभव प्रकाश) (१८६)

✻

मोक्षमार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्रका एकपद स्वरूप होनेसे मोक्षमार्गके प्रकरण सम्बन्धित, किसी एक गुणको सर्वथा भिन्न कार्यरूप नहीं देखना । सर्वथा एककी जुदाई करके, महत्व देनेसे अयथार्थता होती है - क्योंकि अनुभवमें वैसा है नहीं, सब साथमें है । अनुभवमें तो अभेदता, निर्विकल्पता अनुभवमें आती है । वस्तुस्थितिमें भी अभेदता ही है । (१८७)

✻

## मार्च - १९८७

आत्मामें रहे हुए अनंत सुख / अनंत आनंदको लक्ष्यमें लेने योग्य है, वारंवार लक्ष्यमें लेने योग्य है । वीतराग भावनासे शुद्धोपयोगको धारण करके उसमें लीन रहने योग्य है । 'ब्रह्मसरोवर आनंद सुधारससे पूर्ण है ।' (अनुभव प्रकाश) (१८८)

✻

अध्यात्मदशा महिमावंत होनेसे सत् शास्त्रोंमे उसकी भी महिमा गायी है । परन्तु यह लक्ष्यमें रखने योग्य है कि, सन्मार्गमें स्थित महात्माओंने त्रिकाली ध्रुव स्वरूपके ज़ोरमें उस महिमाको गाया है । इसलिये जब मुमुक्षुको अध्यात्मभावोंकी महिमा आये, तब पर्यायकी बातोंमें / विषयमें इस प्रकारसे रस नहीं आना चाहिये कि जिसके कारण त्रिकाली ऊपरका ज़ोर छूट जाय अथवा रहे नहीं । जबकि त्रिकालीका ज़ोर ढीला / मंद तो नहीं होना चाहिये परन्तु तीव्र होना चाहिये। यह इस विषयकी यथार्थता है । जिसको अध्यात्मदशाकी महिमा आती है परन्तु त्रिकालीका ज़ोर नहीं आता, उसको अयथार्थरूपसे अध्यात्मकी महिमा आ रही है - जिसमेंसे व्यामोहकी उत्पत्ति होनेका संभव है - प्रायः (व्यामोह) हो जाता है, अथवा अनादिका दर्शनमोह नहीं टूटता। यथर्थतामें तो त्रिकालीके लक्ष्यसे त्रिकालीके ज़ोरमें अध्यात्मदशाकी महिमा रहती है - होती है । (१८९)

✻

प्रश्न :- ज्ञान प्रतीतिका कारण किस प्रकारसे है ?

समाधान :- जब तक ज्ञान परोक्ष प्रमाण आधारित रहता है तब तक निःशंकता उत्पन्न नही होती। परन्तु विचारसे आगे जाकर स्वभावका प्रत्यक्ष अवलोकन - अपनेमें / ज्ञानमें अपने स्वरूपका अवलोकन प्रतीतिका कारण होता है, और प्रतीति सहितका ज्ञान पुरुषार्थका उत्पादक -

कारण महापुरुषोंके वचनोंका भाव यथातथ्य भासित होता है। जिन वचनोंका आधार अनंतगुण निधान ऐसा परमसत् है, उन्हें नमस्कार हो !! (१६)

※

सम्यक्‌श्रद्धान वह निर्मल आत्मपरिणाम है जो कि संयमकी वृद्धिका कारण है। (श्रीमद्‌जी) (१७)

※

परम पवित्र परमात्माके अंतर अवलंबनमें शुद्ध आत्मस्थिति होती है - हो जाती है। ऐसे महात्माको बाह्य अवलंबनमें "पारमार्थिक श्रुत" और इन्द्रियजय / वृत्तिजयकी सुदृढ़पने उपासना होती है । (श्रीमद्‌जी) (१८)

※

परिणाममें मंद पुरुषार्थ हो तब, महापुरुषोंके अद्‌भुत आचरणको स्मरणमें लेना योग्य है - अत: सहज ही मंद परिणाम मिटे और वीर्योल्लास बढे । (१९)

※

निवृत्तिमें निजहितके उपयोग (सावधानी / लक्ष्य) पूर्वक सत् श्रुतके अध्ययनसे आत्मभावकी पुष्टि करना । (२०)

※

जीवको अनादिसे विषय - तृष्णाका रोग है - महारोग है । जिसे आत्माका सहजसुखका/ अनुभव / स्वसंवेदनरूप आस्वादन ही शांत कर सकता है । तीनोंकालमें यही एक इलाज है । (२१)

※

प्रतीतिके अनुसार उपयोगकी प्रवर्तना है । इसलिये जीवको चल-अनित्य पदार्थकी प्रतीति 'मै पनेसे' होनेसे, उपयोग निरंतर चलरूप (चंचलतावाला) रहा करता है । अत: स्थिरत्व हो नहीं सकता; तद्‌उपरांत अचल (नित्य) पदार्थकी प्रतीति नहीं हो सकती । "अचल पदार्थकी सम्यक्‌प्रतीति उपयोगके स्थिरत्वका कारण है," जिससे वास्तविक शांति प्राप्त होती है । विपरीत प्रतीतिके कारण उपयोग भी भटकता रहता है । जो अशांति व दु:खका अनुभव कराता है । प्रतीति अनुसार ज्ञान व आचरण होता है; फिर भी वैसी सम्यक् प्रतीति होनेके लिये ज्ञान आराधनाके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। अत: जीवको ज्ञान - आराधनाका प्रीतिपूर्वक आराधन कर्त्तव्य है । (२२)

※

भी सिद्धांत नहीं टूटता, अथवा विपर्यास नही होता, बल्कि वस्तुस्वरूपको व्यक्त करनेका उनका अद्‌भुत सामर्थ्य बहुमान / भक्ति होने - उत्पन्न होनेका कारण बनता है ।

कदाचित् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व विद्यमान जीवोंकी योग्यता विशेषके कारण शैलीमें फ़र्क दिखे तो भी ज्ञानीके वचनोंमें शंका करने योग्य नहीं है । (२०३)

※

साधकपना, पुण्य व उसके फलसे निरपेक्ष है । क्योंकि साधक उससे भिन्न पड़कर अंतरमें विचरते हैं। वह मार्ग निरालंब है, अत: उनके पूर्वकर्मके उदयकी बराबरी दूसरे संसारी जीवोके उदयके साथ करना उचित नहीं है । अर्थात् उदयकी बराबरीका दृष्टिकोण भूलसे भरा हुआ - गलत रास्ते पर ले जानेवाला है । और वैसा दृष्टिकोण रहनेसे ज्ञानीकी निरपेक्ष - निस्पृहतापूर्ण अंतरदशाका परिणमन पहचाननेमें नहीं आ सकता।

ज्ञानी उदयके आधारित नही है, बल्कि अंतर ध्रुवधामका उन्हें आधार है । अत: उस प्रकारको लक्ष्यमें रखते हुए मूल्यांकन करने योग्य है, नहीं कि पुण्य-पापके दृष्टिकोणसे। (२०४)

※

### सितम्बर - १९८७

`सत्संगकी उपासना नित्य कर्त्तव्य है' - ऐसी जो सत्पुरुषकी सीख, जीवको अत्यंत हितकारी एवं गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाली है । वर्तमान दुषमकालमें असत्प्रसंगका घिराव विशेष है । जीव सहज मात्रमें कुसंगकी असरमें आ जाता है कि जिसके कारण दीर्घकाल पर्यंत सेवन किया हुआ सत्संग निष्फलताको प्राप्त होनेमें देर नही लगती। आराधनाके लिये तो अपूर्व पुरुषार्थ चाहिये । उसकी निरंतर लगन ही आवश्यक है। (२०५)

※

### अक्टूबर - १९८७

मुमुक्षुजीव अगर तत्त्वज्ञानका अभ्यास करे उसमें वस्तु स्वरूपको समझकर स्वाभिमुख होनेका प्रयत्न, अंतर अवलोकन द्वारा, शुरु नहीं करें तो धारणा ज्ञानमें शुष्कता उत्पन्न हो जाती है और इसलिये हित नहीं सधता बल्कि प्राय: अहित होनेका बनता है - यह लक्ष्यमें लेने योग्य है । (२०६)

※

### नवम्बर - १९८७

उदयमें जुड़ना वह बंधमार्ग और स्वभावमें जुड़ना वह मोक्षमार्ग - ऐसा बंधमार्ग तथा मोक्षमार्गका संक्षेप नियतरूपसे है । विवेकसे परमहित होता है और पुरुषार्थकी उत्पत्तिका कारण भी वही

जगतमें मोहासक्तिके निमित्त, वैभव - विलासके स्थान जिनको अंत:करणमें विशेष- विशेष वैराग्यके उत्पादक (निमित्त) होते हैं, अहो । ऐसे वस्तुस्वरुपके ज्ञानवान सर्व महात्मा वंदनीय है ।

(२६)

※

ध्यान - वह आराधनाका उत्कृष्ट अंग है, ऐसा सर्व सम्मत है । परमपदका ध्यान परमपदकी प्राप्तिका अनन्य कारण है - ऐसा जो ध्यान है वह सत्पुरुषोंके चरणकमलकी विनयोपासनाके बिना हो नहीं सकता । - यह उत्कृष्ट रहस्यमय निर्ग्रंथ वीतराग प्रवचन है। (२७)

※

इस संसारकी जंजाल विषम परिणामोंका निमित्त है, ऐसे इस संसारके प्रसंगोमें, स्वरूपकी अपेक्षा अपनी भिन्नताका अवलोकन करते हुए / अनुभव करते हुए समता रहे, वही आत्मचिंतन है।

(२८)

※

अनेकान्त - वस्तुको परसे असंग दिखाता है । और स्व-रूप `सत्' दिखाता है। स्वतंत्र वस्तुके असंगपनेकी `स्वतंत्र श्रद्धा' असंगपनेकी खिलवटका उपाय है । अर्थात् `असंग स्व-तत्त्व' की श्रद्धा असंग पदको प्रगट करती है । असंगताके संपूर्ण विकासका मूल `असंगतत्व' की श्रद्धा है ।

(२९)

※

महान संतमुनिश्चरोने अंतरमें प्रवाहित स्वभाव-अमृतको परमागमोंमें प्रवाहित किया है। शांत परिणामसे परिषहका वेदन करते हुए `परम सत्' को जीवंत रखा है । पवित्र धर्म / मार्गको इस कालमें टिकाए रखनेमें आकाशके स्तंभ बनकर - गजब का कार्य किया है । अहो ! उनके कथनमें केवलज्ञानकी / पूर्णताकी भनक सुनाई देती है । पद - पदमे अत्यंत गंभीर रहस्य भरा है । इसके संस्कार भी अपूर्व चीज है; पुरुषार्थ चलने लगे वह तो समीप मुक्ति-गामी है - अल्पकालमें उसका मोक्ष होता ही है। (३०)

※

आत्मार्थीको देह छूटनेके संबंधमें खेद नहीं होता । उसकी स्वभावकी रुचि इस खेदको दूर करती है अथवा वह अपने प्रयत्नमें (धूनसे) लगा हुआ है; वहाँ किसी भी प्रकारसे देहकी चिंताका अवकाश नही है । (३१)

※

`नयपक्षके विकल्प रहित, एकाकार मेरा स्वरूप है, ऐसा प्रथम दृढ़ रहना चाहिये' - निःशंक

(१०) वह इस प्रकारसे - "मेरे दर्शनज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है।" (प्रत्यक्षता) / वेदनसे अवलोकनसे ज्ञानप्रकाश, माने ज्ञान वेदन करके पूर्णकी प्रतीति करने पर निर्विकल्प आनन्द हो - वह सुख है। ज्ञानवेदनसे प्रत्यक्षताको बारंबार प्रतीतिमें लेनेसे पुरुषार्थ प्रगट होकर स्वसंवेदन आविर्भूत होता है।

(११) 'मै हूँ' ऐसी परिणति द्वारा आत्मा प्रकट होता है। 'मैं हूँ' पनेकी मान्यता स्वपदका साधन है। 'मै-मै' परिणामोंने स्वपदकी आस्तिक्यता की।"

(१२) "चित्परिणति चिद्में रमनेपर आत्मानन्द उत्पन्न होता है।"

२४-२-१९८७

(१३) "निजपदका आस्तिक्य होनेपर अनुपमपदमें लीनता हुई।"

(१४) "मोहके विकारसे (परमें सुखकी भ्रांतिसे) अपना पद सुझता नहीं है।"

दर्शनमोहके कारण परमें सुखकी भ्रांति होनेसे निजसुख दिखता नहीं है। सत्पुरुषके चरणसेवनसे जब दर्शनमोह जाता है, तब निज परमात्मपदको पाये, अनुभव करे - ऐसा भक्तिका प्रताप है; जगतमें यह ज्ञान गुप्त रहा है, फिर भी जिसको समझमें आता है - वह प्रत्यक्ष अमृतको पीकर अमर हो जाता है।

(१५) खास विधि संक्षेपमें : "मेरा ज्ञान (वही) मै हूँ। पर विकार (परके अनुसरणसे होनेवाला भाव) पर है। जहाँ-जहाँ जानपना वहाँ-वहाँ 'मै' ऐसा दृढ़भाव सम्यक्त्व है। वह सुगम है।"

(१६) "जो स्वरूपरस (आत्मरस) अपने स्वभावमें है उस स्वभावको निज उपयोगमें योग्य स्थानरूप करे।" अर्थात् उपयोग द्वारा 'उपयोगमें रहे, स्वभावमें' मै-पना हो - वह अभेदभावरूप योग्य स्थान है, जिससे आत्मरस उत्पन्न होता है।

(१७) "अपने अवलोकनमें अखण्ड रसधारा बरसती है।"

स्वानुभवमें अमृतरस-चैतन्यरस-आनंदरस बरसता है। अखण्ड स्वभावके आश्रयसे स्वभावरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं।

२५-२-१९८७

(१८) "लोकालोकको जाननेकी शक्ति ज्ञानकी है, उसमें जितना स्वसंवेदन हुआ, (उतना) स्वज्ञानकी विशुद्धताका अंश होनेसे हुआ। उस ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिमें अनुभव किया। (उस ज्ञानने सर्वज्ञपनेका अपनेरूपमें अनुभव किया) जितना ज्ञान शुद्ध हुआ, उतना अनुभवमें सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावके वेदनसे ऐसा (शुद्ध) हुआ। सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावमें आनन्द बढ़ा। ज्ञानकी विशुद्धताको ज्ञानके बलका प्रतीतिभाव कारण है।' 'एकदेश स्वसंवेदन सर्व स्वसंवेदनका अंग है (वह) साक्षात्

(दुःखमय होनेसे) तीव्र दुःख लगे तब ही विकल्पसे हटकर निर्विकल्प स्व-रूपमें निर्विकल्प हुआ जाता है । परन्तु रागके पक्षपातीको उसकी खबर भी नहीं होती । उसको सिर्फ रागकी कीमत है । वीतरागता / निर्विकल्पता अर्थात् धर्मकी कीमत उसको नहीं है । रागके पक्षपाती जीवने वीतरागताका स्वरूप जाना नही है, पहचाना नहीं है । (३७)

*

स्वभावके भासनसे सहज उत्पन्न स्वभाव प्रतिका झुकाव - तद्‌रूप पुरुषार्थके साथ 'सर्व उद्यम' 'पूरा प्रयास'का अभिप्राय होनेसे - पर्याय स्वभावाकाररूप हो जाती है - वह स्वभावकी प्राप्ति है । अर्थात् स्वभावरूप हुई अवस्थाका अनुभव है, वहाँ स्वभाव दृष्टि प्रगट होती है।
(३८)

*

स्वभावदृष्टि माने क्या ? कि पर्यायमें विकार होने पर भी अपनेमें (स्वभावमें) उसका अभाव कहते हैं, अर्थात देखते है - श्रद्धते हैं- प्रतीत करते है, और अविकारी स्वरूपकी मौजूदगीको देखते है - यह अंतरदृष्टिका लक्षण है । ऐसी स्वभाव दृष्टिकी बात वैसे दृष्टिवानको ही समझमें आती है। धारणावालेको उसमें विरोध भासित होता है। (३९)

*

ज्ञानमें परद्रव्य प्रतिमासित होने पर भी स्वरूप अवलोकनमें ज्ञानी निपुण (कुशल) है । अतः उनका ज्ञान विशुद्ध है । अर्थात् स्वरूप अस्तित्वका (परिणती द्वारा) वेदन करते करते परका जानना होता है । वह ज्ञान पूर्णताके विकासके पंथ पर है । भवभ्रमणका अभाव करके ज्ञानी उसमें (जीवन) जीते है। पुर्णताका अनुभव करता हुआ - पूर्ण होकर जीता है।
(४०)

*

रागका एकत्व छूटनेकी विधि : भिन्न ज्ञानस्वभावका वारंवार अभ्यास कर्त्तव्य है । अनन्त स्वभाव सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर, अहंपनेसे स्वरूपको देखनेके पुरुषार्थसे रागका एकत्व छूटता है - यह भेदज्ञान है । (४१)

*

'में ज्ञायक मात्र' उसरूप धारा / परिणतिमें रागादि भाव परस्वरूप भासित होते हैं। ऐसा राग सम्बन्धित ज्ञान वह भूतार्थके आश्रयसे होता है । इसलिए स्वयं विकाररूप नहीं होता । ऐसा अनुभवमें आता है। ज्ञान कभी रागरूप नहीं होता, परन्तु स्वयंकी सावधानीका अभाव होनेसे, रागके प्रतिभासके कालमें अध्यासितरूपसे रागरूप होता हुआ अनुभवमे आता

पर मिलता है।

वीतराग जिनदेवकी मुद्रामें अंतर्मुखी स्वसंवेदन भावके दर्शन करनेसे, निज स्वसंवेदनरूप
अपने स्वरूपकी भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये लोकमें जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम शाश्वत एवं
कृत्रिम (प्रतिमाकी) स्थापनाकी परंपरा अनादिसे है। उसमें उपर्युक्त पारमार्थिक रहस्य रहा है।

(३५) "इस स्थापनाके निमित्तसे तीन काल, तीन लोकमें भव्यजीव धर्म साधते हैं, इससे
स्थापना परम पूज्य है। `द्रव्यजिन' द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य हैं । इससे भावीनयसे पूज्य
हैं।"

(३६) "अनंत गुणात्मक वस्तु तथापि ज्ञानमात्र ही है।"

आत्मा-वस्तुमें अनंत गुण होनेके बावजूद भी आत्मा `ज्ञानमात्र' ही है। ऐसा कहनेमें गूढ़
रहस्य रहा है। समयसारजी आदि अनेक ग्रंथोमें आत्माको `ज्ञानमात्र' कहा है।

"इत्यादि अनंतशक्ति सुनिर्भरोपि, `ज्ञानमात्र' नयतां न जगति भावम्।"

(समयसार-कलश-२६४)

उक्तप्रकारसे कहा है क्योंकि :-

(A) ज्ञानलक्षणसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है, और स्वरूपनिश्चय होने पर आत्मसन्मुखता
होती है। और ज्ञान द्वारा अस्तित्व ग्रहण होता है, परसे व रागसे भिन्नता होती है।

(B) ज्ञान द्वारा स्वसंवेदनरूप स्वानुभव ज्ञानमें ही होता है। एवं परिणतिमें भी ज्ञानवेदन
प्रधान है और द्रव्यकी प्रतीतिका कारण बनता है।

(C) ज्ञानके सिवा दूसरे किसी भी गुणके परिणमनको लक्षणके स्थानमें रखकर स्वरूपकी
पहचान नहीं हो सकती। क्योंकि अज्ञान अवस्थामें वस्तु-स्वभावका प्रसिद्ध, अविकृत, साकाररूप,
वेदनरूप परिणमन दूसरे किसी भी गुणका नहीं होता है।

(D) पुन: सर्व गुणोंके परिणमनमें ज्ञानकी उर्ध्वता है। अत: ज्ञानकी प्रधानता अबाधित
है।

(E) अंतर सावधानीरूप पुरुषार्थके परिणमनमें भी "ज्ञानमात्र" से निजका अवलंबन मोक्षमार्गमें
रहे साधक जीव पलकमें लेते हैं - अत: साधन है।

१२-३-१९८७

(३७) "अपने स्वरूपको प्राप्त करनेका उपाय, अपना उपयोग है।"

यहाँ पर भी ज्ञान साधन है, ऐसा कहा है। आत्मा उपयोग स्वभावी है। वह वर्तमान
उपयोगसे स्वभावमें आनेसे शुद्धता होती है। - रागादिमलका नाश होता है। जैसे-जैसे उपयोगकी
शुद्धि विशेष हो, वैसे-वैसे मोक्षमार्गमें वृद्धि होकर ऊपर चढ़ता जाय-यह जिनेन्द्र परमात्माक

अभी स्वभाव लक्षमें आया नही होनेसे अनन्य रुचि भी प्रगट नहीं है। स्वभावकी रुचिको मात्र स्वभाव ही रुचता है, अनन्य कुछ भी रुचता ही नही । इसलिये रुचिवंत (स्वभावको) प्राप्त कर लेता है, नहीं प्राप्त करें ऐसा कैसे बन सकता है ? (४७)

※

स्वरूपप्राप्तिके पहले, तद्अनुरूप विचारदशा होती है । इसलिये ही कहा है कि 'विचारदशाके बिना ज्ञानदशा नहीं होती ।' 'ज्यां प्रगटे सुविचारणा त्यां प्रगटे निज-ज्ञान' (श्रीमद् राजचंद्रजी)। यह विचारदशा कैसी ? कि जिसके फलसें आत्मज्ञान प्रगट होता है? उसका तो खयाल भी नही हो और ऊपर-ऊपरसे जीव शास्त्र पढकर / सुनकरके कल्पना करता है । परन्तु इसतरहसे आत्मज्ञान प्रगट नही होता । यथार्थ स्वरूपकी अंतर्मुखी - निजलक्षी विचारणा तो निजहितके प्रयोजनकी मुख्यतावाली होती है । जागृति उसका मुख्य लक्षण है । जिससे पर-प्रतिके रस - पररसमें कमी आती है और स्वरूप रस / आत्म रसका घूटन होता है - अगर कभी पररसमें तीव्रता हो जाय - तो भी उस वक्त क्षोभ उत्पन्न हो आता है, तो ही दिशा बदलनेका अवकाश है, इत्यादि प्रकारसे सुविचारणा होती है । उसमे आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है वह एकमात्र आत्मार्थके लिये ही करना है, ऐसा लक्ष उसे किसी भी उदयके कार्यमें फँसने नही देता बल्कि वह गहरी विचारणापूर्वक अंतर खोज करके प्रयत्नपूर्वक स्वरूपका निर्णय करता है।

स्वरूपप्राप्तिकी अंतरकी गहराईमें से उत्पन्न भावना; उस भावनाकी सफलता होनेके लिए सच्ची लगन, पूरी-पूरी छटपटाहट... इत्यादि सुविचारणाके मुख्य अंग हैं, कि जिसके कारण उपयोगमें स्वभावको पकड़नेकी सूक्ष्मता व तीक्ष्णता आती है ।

अनुकूलताके पौद्‌गलिक सुख (?) में मोह वशात् अकुलानेवाला व प्रतिकूलतामे जोरसे पुरुषार्थ करनेवाला मुमुक्षु वर्तमान पात्र है । गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखका ध्येय होनेसे, जिसको भौतिक वैभव / विषयोंका महत्व न रहे, उसको ही स्वभावकी महिमा आती है। सत्पुरुषकी/ सत्संगकी महिमा आती है । जगतकी महिमा नहीं आती ।

'ज्ञायक'के लक्ष्यसे ही आगे बढा जाता है । अतः तद्अनुसार प्रयत्न चालू रखता हो। पुनः सत्संग / सत्पुरुषके प्रति अर्पणता 'सर्वार्पणबुद्धि' से हो । जैसे कि सत्पुरुष ही प्रगट परमात्मा हो !! ऐसा प्रत्यक्ष-योगमें भक्ति-विनयका प्रकार हो, तब बोधबीज योग्य भूमिका आती है । अनंतकालमें सत्पुरुषका समागम होने पर भी, निष्फल जानेका कोई खास कारण है तो वह यही है कि जितनी मात्रामें सत्समागममें विनयान्वित होना चाहिये उसमें, (प्रयोजन यथार्थ रुपसे समझमें नहीं आया होनेसे,) क्षति रही है, अतः वह सत्पुरुषका बोध परिणमित नहीं

'पर्यायमात्र मै नहीं हूँ, मैं तो ध्रुव परमस्वभाव हूँ' - ऐसे अंतर तत्त्वके ऊपर जोर जाते ही पर्याय सहजरूपसे अंदरकी ओर ढल जाती है - यह विधिका रहस्य है। (२२६)

※

सत्-श्रुतमें जगह-जगह पर, जीवके दोष टालनेके प्रयोजनसे व गुण प्रकट करनेके प्रयोजनसे बोध-वचन विधि-निषेधरूपमें कहे हैं; परन्तु सर्व कषायादि दोषोंसे बड़ा दोष 'पर्यायमें एकत्व' अर्थात् मिथ्यात्वरूप पर्यायबुद्धि है। उन सभी दोषोंका अभाव होनेका प्रयोजन - सिद्ध होनेके लिये, परिणामके अभाव स्वभावमें - त्रिकाली ध्रुवमें मैं-पनेसे स्थापन होना चाहिये, द्रव्य स्वभावकी दृष्टि होनी चाहिये, कि जिसमें विधि-निषेधके विकल्पका विलय हो जाय और परिणाममात्रका कर्तृत्व नाश हो, परिणाम प्रतिका रस मिटे, एकत्व मिटे। उस प्रकार द्रव्यभावसे विधि-निषेधके द्वंद्वका अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टा भावसे स्थिरत्व सहज हो, वह है। (२२७)

※

फरवरी - १९८८

पर्यायमें संतुष्टपना पर्यायबुद्धि / दर्शनमोहको तीव्र करता है, इसलिये 'किसी भी प्रकारसे' ऐसा नहीं होना चाहिये। अथवा मुमुक्षुजीवको इसके प्रति जागृत रहना आवश्यक है। क्योंकि कोई भी पर्यायमें अटकना नहीं है - ऐसी सत्पुरुषकी सिख है - आज्ञा है। जब तक पर्यायमें ठीकपना रहता है तब तक स्वभावका अवलंबन नहीं आ सकता।

मुमुक्षुजीवको तत्त्वविचारकी भूमिकामें भी - उदयके कालमें, पर्यायार्थिक नय-विचारसे सिर्फ विकल्पसे समाधान होनेसे यदि संतुष्टपना रहता हो, और मंद कषाय होनेसे पर्यायमें संतुष्टपना आ जाता हो तो अटकन खड़ी होकर दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। अतः वैसे प्रकारमें (विचारसे) समाधान होने पर - स्वभाव-लक्ष्यी प्रयत्न होना आवश्यक है, जिससे पुरुषार्थ धर्म प्रगट हो। उक्त समाधान अथवा तत्त्व विचारणाके किसी भी प्रकारके समय 'स्वभाव प्रत्ययी प्रयास' अथवा स्वभावका लक्ष्य चालू ही रहना चाहिये, वरना प्रयास/लक्ष्य रहित परिणमनको साधन माननेकी भूल होनेकी संभावना बहुत है। जहाँ साधनकी भूल होती है वहाँ इष्ट साध्य सधता ही नहीं। यह सर्वकालमें अफर सिद्धांत है। (२२८)

※

मार्च - १९८८

तत्त्व-विचारवाले मुमुक्षुजीवको, महत्वपूर्ण विधिदर्शक, इस बातका ध्यान खिंचने जैसा है कि :- सिर्फ विचार करते रहनेसे स्वरूपकी जागृति नहीं आती, बल्कि स्वरूपको मै पनेसे ग्रहण करनेसे जागृति रहती है - आती है। क्योंकि विचारमें वस्तु परोक्ष रहती है, जबकि ग्रहण

अंतरंगमें प्रकाशमान है, फिर भी परकी एकत्वबुद्धिरूप अज्ञानमें जीव उसको सर्वथा चुक जाता है । (समयसारजी गाथा : ४९)

(५२)

※

स्वभावकी ओरके जोर बिना शास्त्रका जानपना - विभाव व परके प्रति ज़ोरवाला होनेसे वह यथार्थ जानपना नहीं है । अतः उसके फलमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न नहीं होती ।

(५३)

※

स्व-तत्त्वका वास्तविक निर्णय स्व-सन्मुख ज्ञानमें होता है । स्वानुभवके प्रयत्नवान जीवको चलते हुए विकल्पका लक्ष्य छोड़कर स्वभावकी महिमापूर्वक स्वभावके लक्षमें उग्रता लाना वह (कर्त्तव्य) है । (पू. गुरुदेवश्री)

(५४)

※

प्रत्यक्ष प्रकाशमान, परम शुद्ध, निरावरण, ज्ञानानंदघन, ध्रुव, परमपद, परम महिमास्वरूपकी आत्मभावनासे उपादेयता होती है - उपासना होती है । और यही जिनेश्वरकी आज्ञा है ।

(५५)

※

अहो ! यह आत्मतत्त्व, अनंत आश्चर्यकारी महान अद्भुत गुणोंकी निधि (खजाना) है; कि जिसका लक्ष्य होने पर अन्य कुछ भी नहीं सुहाता । स्वभाव संबंधी विकल्पसे भी हटनेकी जिसकी तैयारी / योग्यता होती है, वह अत्यंत मंद कषायमें भी अटके बिना स्वभावके लक्ष्यसे आगे बढता है ।

(५६)

※

अगस्त - १९८५

उच्च स्तरके व्यवहारिक परिणमनके प्रति भी उदास भावसे रहना योग्य है । अन्यथा उसका रस आये बिना रहेगा नही । व्यवहारकी मिठासका वेदन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है - यह मिठास जहर है । आनंद-अमृत स्वरूप आत्माकी मुख्यता- महिमा होनेमें / आनेमें अपूर्णता-व्यवहार सहज ही गौण हो जाता है ।

(५७)

※

स्वरूप ध्यानी कैसे होते हैं ? कि जिसको वस्तुका (१) यथार्थ स्वरूपज्ञान होता है। (२) जो सहज वैरागी होते हैं - अर्थात् दुःख लगनेसे रागसे विरक्त होते है । (३) इन्द्रिय-मन जिनके वशमें होता है । (४) अचंचल चित्त / उपयोगवाले होते हैं। (५) प्रमाद रहित

अवरोधक है। सच्ची आत्मभावना हो तो उसमें गिनती नहीं होती। (२४३)

※

व्यवहार परत्वे किसी भी तरह, किसीके संबंधसे (धार्मिक क्षेत्रमें) लाभ लेनेका स्वप्नमें भी इच्छनीय नहीं है। (वह दर्शनमोहके आवरणका कारण है।)

मुमुक्षुके पुरुषार्थका Back ground (पार्श्वभूमि) तो यह है कि, थोड़े कालका एक जन्म (भव) प्रारब्ध अनुसार पसार कर लेना; उसमें दीनता करनी उचित नहीं है - ऐसा दृढ़ निश्चय रखने योग्य है। अन्यथा पुरुषार्थ उठेगा ही नहीं। सर्व प्रसंगमें सहज भावसे प्रवर्तन करनेका अभ्यास हो, तो निवृत्ति रहे, अन्यथा प्रवृत्ति / उपाधि मोल लेनी पड़े। इस प्रकारकी दशाके लिये बार-बार प्रयत्न करे तो भव-उदासीपना सिद्ध हो। (२४४)

※

लोकसंज्ञा एवं ओघसंज्ञाकी वृद्धि होने पर, परमार्थके विषयमें जीवको कल्पना होने लगती है। ऐसी कल्पना वास्तविक वस्तुस्वरूपसे विपर्यासरूप है, भवके कारणरूप है। अत: ओघसंज्ञाकी निवृत्तिके लिये जागृत रहकर पुरुषार्थ कर्त्तव्य है। प्रमादमें ओघसंज्ञा चालू रहे - वह हानिकारक है। लोकसंज्ञा तो प्रत्यक्ष ज़हर ही है। (२४५)

※

जून - १९८८

ज्ञानीका उपजीवन अर्थात् देहादिक संबंधी बाह्यप्रवृत्ति पूर्वकर्म अनुसार होती है। ज्ञानको (स्वरूपको) प्रतिबद्धता हो, ऐसा कुछ भी वे नही करते - करनेके प्रसंगकी इच्छा भी नहीं है। स्वरूप-अप्रतिबद्धताके लिये जो भी पूर्वकर्म अनुसार उदय हो वह उन्हें सम्मत है। ऐसा दृढ़ निश्चय जिन्हें स्वरूपआश्रित हुआ है उन्हें नमस्कार हो । (२४६)

※

जिसका दर्शनमोह बलवान होकर वर्तता है और इस कारणसे जो प्रत्यक्ष ज्ञानी - सत्पुरुषसे विमुख वर्तते है, ऐसे जीवोंको सत्पुरुषकी अवज्ञा बोलनेका निमित्त हमारे कारणसे नहीं हो, इतना उपयोग (सावधानी) रखकर प्रवर्तन करना योग्य है, बेसावधानीको (इस विषयमें रखना) दोष जानना।

सत्पुरुषका अवर्णवाद करना, उसमें उत्साहित होना, वह जीवके अनंत संसार बढ़ जानेका कारण है। जब कि सत्पुरुषके गुणग्राम करना, उसमें उत्साहित होना, उनकी आज्ञा पर 'सरल परिणामसे' उपयोगपूर्वक चलना - वह अनंत संसारके नाशका कारण है। - यह अनंत तीर्थंकरोंने कही हुई बात है। (कृपालुदेव) (२४७)

निजावलोकन होने नही देता । ज्ञानमें/स्वमें निजका अवलोकन - वेदन होनेसे उपयोग शुद्ध होता है ।

परमें / अनुकूलतामें; सुखबुद्धि/अनुभव वही परका स्व-पनेसे ग्रहण व पररस उत्पन्न होनेका मूल है । वही स्वभावका घातक भाव है - जहर है; जो कि भ्रांतिसे मीठा लगता है । कल्पनासे दुःखमें मीठासकी कल्पना की है । (६१)

※

मुमुक्षुजीवको भी 'स्वयं सत् परमानंदमय है' ऐसा दृढ़ नहीं रहे तो बाह्य शातामें ठीक लगता है; जो कि पुरुषार्थ उत्पन्न होनेमें अवरोधक कारण है - अटकनेका स्थान है - योग्यताको रोकता है । उदयमें सावधानी जो है वह स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देती । वह लक्ष्यमें (तीक्ष्णतासे) रहना चाहिये । (६२)

※

प्रत्यक्ष सत्-पुरुषसे विमुख रहना अथवा उपेक्षित रहना - वह प्रगट अनंतानुबंधीका कषाय है । (६३)

※

शुद्धात्मामें मग्नताका अभिलाषी जीव, असंगताको चाहता है - बाहरमें संगका राग असंगतत्वके लिये विसंगत है / अनुकूल नहीं है। 'अशुभयोगका रस' तो तीव्र मलिनताका उत्पादक होनेसे असंग स्वरूपका भासन होनेमें निश्चितरूपसे अवरोधक बनता है। (६४)

※

जो सुखस्वरूप नहीं है, जो अनित्य है और जो शरणभूत नहीं हो सकते है, ऐसे (अन्यत्वभावरूप) भिन्न पदार्थ जीवको, प्रीतिका कारण क्यों होते है ? - वह सतत अंतर खोजपूर्वक विचार करने योग्य है अर्थात् जाँच करने योग्य है । (६५)

※

जीव सर्वत्र अकेला ही है । भवांतर अकेलेका ही होता है, अर्थात् देहकी संयोगरूप जन्मावस्था, देहत्यागरूप मरणतुल्य दुःखावस्था आदिमें जीव अकेला ही दुःख भोगता है । सम्यक् पुरुषार्थ करके स्वभावको पाकर जीव अकेला ही मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त होता है । (६६)

※

अहो । सारा जगत, भले ही विविधता सभर तो है फिर भी, अपने आपसे शून्य (खाली) ही देखनेमें आता है; फिर उसमें आकर्षण क्यों ? उसका आश्चर्य किस लिये ? कुतूहल किस

एवं सुख जुटानेका मिथ्या-वृथा प्रयत्न करते है और वैसे परिणाम स्वगुणके घातक होनेसे, दुर्गुण होनेसे, दुःख - आकुलताके उत्पादक हैं। मानका परिहार करनेके लिये सत्पुरुषके प्रति सर्व समर्पणबुद्धि - परम दैन्यत्व वह अति सुंदर एवं सुगम उपाय है। सहजमात्रमें उपरोक्त दोनों प्रकारके महादोषका अभाव करके परमसुख स्वभाव ग्रहण होनेकी योग्यताका रहस्य इसमें है। (२६१)

※

रागमें दुःख नहीं लगनेमें - एक न्यायसे ठीकपनेसे रागकी अनुमोदना वर्तती है। (अतः) उसमें रागका कर्तृत्व सिद्ध होता है। - ऐसा प्रकार स्वरूपके प्रति पुरुषार्थके अभावके कारण, 'ज्ञानमात्र' की वृत्तिका झुकाव / जागृति नहीं होनेके कारण, मुमुक्षुको रहता है, जो कि योग्य नहीं है। (२६२)

※

आत्मद्रव्य मेचक - अमेचक स्वरूप है। उसमें मेचकता उपादेय नहीं है। मेचकको अमेचक उपादेय है; कि जिससे मेचकभाव शुद्ध - सम्यक्तवको, शांतताको प्राप्त होता है। मेचक अंग चलित परिणामरूप है, उसको अमेचक अंगका अवलंबन ही इष्ट है, अन्यथा उसमें अशांति, मलिनताकी उत्पत्ति रोकी नहीं जा सकती। (२६३)

※

परमार्थकी वास्तविक इच्छा - भावनाका लक्षण यह है कि जीव सभी उदय प्रसंगसे उदास हो जाय, अगर ऐसा नहीं हो तो, आत्महितकी सच्ची, अंतरकी भावना ही नहीं है - यह वास्तविकतामें आये बिना कभी कल्याण हो जाय ऐसा बन ही नही सकता। (२६४)

※

### सितम्बर - १९८८

त्रिकाल निरावरण निज परमात्मतत्त्वका ध्यान, वही भगवान अर्हंत परमेश्वरके मुखारविंदसे प्रवाहित दिव्यध्वनिका सार है, तथापि उस दिव्यध्वनिके परिज्ञानमें कुशल ऐसे चार ज्ञानधारी गणधरदेव रचित सकल श्रुत - सिद्धांतके अर्थसमूहरूप सर्वस्व सार अथवा रहस्य है। (२६५)

※

स्वानुभवके लिये अनुभवश्रेणीकी कार्यपद्धति ही अनुकूल है, अथवा साधन है जो कि अंतरक्रिया है, जब कि वांचन-विचार आदि बाह्यक्रिया है। इस कार्यपद्धतिका प्रकार 'निजावलोकन'

भासित होती हैं; जैसे कि 'यह सबकुछ' मेरे साथ हमेशा रहनेवाला है; अत: उसका तथारूप रस - परिणति बन जाती है; जबकि उससे विरुद्ध -

ज्ञानदशामें पुण्य-योगसे बाह्य-वैभवमें ज्ञानी होते हैं तो उसमें, खुदकी नित्यतापूर्वक - अनित्यताका भान उन्हें रहता हैं । अत: उनको इसमें रस नहीं आता, बल्कि ज्ञानपरिणति यथावत् रहती है । (७४)

✻

अक्टूबर -१९८५

जानपनारूप ज्ञान सर्व जीवकी दशामें सामान्य है, फिर भी सर्वको विवेकबुद्धि एक सरीखी नहीं होती । परिग्रहबुद्धि अर्थात् परिग्रहका ममत्व जहाँ अभिप्रायपूर्वक होता है वहाँ अविवेककी परंपरा शुरू हो जाती है । अत: ज्ञानियोंने परिग्रहबुद्धिको 'अविवेककी खान' कही है, जिसमे से सर्वदोष पनपते है । (७५)

✻

शुभाशुभ परिणामके कालमें बहिर्मुख भावोंमें वेग तीव्र होनेसे, एवं दर्शनमोहके कारण, जीव निज अवलोकनमें प्रवर्तित नही हो सकता, तब आत्मस्वरूप सम्बन्धित विकल्प भी बेकार जाते हैं और जीव पुण्य-पापमें सावधान होकर - रहकर क्लेशको प्राप्त होता है। परन्तु जागृत आत्मार्थीको दर्शनमोहका रस कम होनेसे वह अवलोकनमें आकर राग रसको तोड़ता है । (७६)

✻

चैतन्य सामान्य अभंग अंग है । - 'अनुभव प्रकाश' [पर्याय (चैतन्य विशेष) भंग-अंग है] भंग अंगमें अहंबुद्धि दु:ख / आकुलताको उत्पन्न करती है । (७७)

✻

'स्वरूपसे पूर्ण हूँ' - जैसे ही यह अनुभव हुआ कि तब पर्यायका कर्तृत्व उड़ जाता है । तब पर्याय सहज शुद्ध होने लगती है, तब कहीं पर भी कर्ताबुद्धि नहीं होती - यही स्वभावबुद्धि है । (७८)

✻

स्वरूपके विचारसे आगे बढ़कर, निज अखण्ड शुद्ध स्वरूपको देखनेसे, स्वयं ही त्रिकाल पूर्णानंदसे भरपूर निर्विकार दिखाई देता है कि जिसमें विकार कर सके / हो सके ऐसी कोई गुंजाइश ही नही है । अहो । शुद्ध चैतन्यके सिवा कुछ भी अपनेरूपमें दिखाई नही देता । (७९)

- उत्कृष्ट है, (जबकि) चारों अनुयोगका आशय अध्यात्मका निरुपण करनेका - स्थापित रनेका है। अतः इस हेतुके वश रहकर, आगमका अवगाहन कर्त्तव्य है। इसलिये अध्यात्मकी द्धिके लिये आगमज्ञान यथावत् रहकर, गौण होकर निरूपित करना - वह सम्यक् है। दृष्टांत त्रिकालीध्रुवकी उपादेयतामें - अहंबुद्धि होनेके हेतुसे, सर्व पर्यायको (प्रमत्त - अप्रमत्त) परद्रव्य, रभाव कहनेमें द्रव्यानुयोगका सिद्धांत - पर्याय स्वद्रव्यका अंश है - यथावत् रहते हुए ज्ञानमें ौण है, - इसतरह आगम-अध्यात्मका संतुलन रहना वह सम्यक्मार्गकी सूक्ष्मता है। राग, जीव- र भाव होने पर भी उसके निषेधकालमें, रागको पुद्गल कहते वक्त भी ज्ञानीको संतुलन हता है।

(८) उत्सर्ग-अपवाद : साधकका परिणमन उत्सर्ग-अपवादकी मैत्रीरुप होता है। सिर्फ वीतरागता ही उपादेय होनेसे उसकी सिद्धिके हेतु सिद्धांत / उत्सर्ग है, फिर भी शुद्धिके मंद पुरुषार्थके कारण साधकको विकल्प हो जाता है, जो अपवाद मार्ग है। उसमें अशुभसे बचनेके लिये शुभरागरूप प्रवर्तन भी होता है। इस तरह परिणामका संतुलन गवाँये बिना, साधक उग्र पुरुषार्थमें प्रवर्तते हुए शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशामें आरुढ़ होकर मोक्षमार्गमें आगे बढते है।

(९) ज्ञान-पुरुषार्थ : परमतत्त्वका आश्रय - स्वभावके ज़ोरमें आता है । स्वभाव पर ज़ोर जाना, वही स्वरूपज्ञानकी वास्तविकता है, अन्यथा द्रव्य, गुण, पर्याय सम्बन्धित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादि पर्यायमात्रके आश्रयको छुड़ानेके लिये समर्थ नहीं है - बल्कि स्वभावका ज़ोर ही पर्याय आश्रितपना छुड़ाता है । लेकिन स्वभावके प्रति ज़ोर देनेमें कृत्रिमता नहीं हो, यह ध्यानमें रखने योग्य है । वास्तविकरुपसे तो स्वभावकी पहचान (भावभासन / लक्ष्य) पूर्वक यदि स्वभावके प्रति ज़ोर - (वीर्य) उछले तो कल्पना नहीं होती और उस प्रकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायरुप वस्तुका स्वरूपज्ञान और त्रिकाली स्वभाव प्रतिका ज़ोर - दोनोंमें संतुलन बना रहता है ।

जिस जीवको वस्तुस्वरूपमें कल्पना होती है, उसको त्रिकालीके प्रति सहज वीर्य (पुरुषार्थ) नहीं उछलता । यदि वह कृत्रिम ज़ोररुप, विकल्परूप / भावरूप प्रवृत्ति करे तो भी वह स्वभावके समीप नहीं आता, और उसको उपर्युक्त स्वरूपज्ञान व त्रिकालीका ज़ोर देनेके बीच संतुलन नहीं रह पाता परन्तु एकांत हो जाता है । (उसको ही एकांत अर्थात् आभास कहनेमें आता है।)

वस्तुस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना हो जानेका कारण :- जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, अथवा असत्‌संगकी प्रीतिरूप परिणाम होना - वह है। दुःख - वह कल्पनासे उत्पन्न होनेवाला

जीव व्यर्थ ही पर चीजको अपनी मान मानकर झूठी हौंश करता है - पुद्गलका र लेता है, परको मुख्य करता है । भ्रमणासे झूठी कल्पनामें रत होकर खुशी होता है । त वहाँ स्वरूपकी सावधानीका अंश भी नही है । खुद तीनलोकका नाथ होने पर भी नी पदमें स्व-पना मानकर व्याकुल हो रहा है । ऐसी स्थितिमें चैतन्यरस उत्पन्न नहीं हो सकता (श्री अनुभव प्रकाश)

(८७

※

व्यवसाय आदिमें जुड़ना पड़ता हो, तब उसमें उत्साह / रस नहीं बढ़े ऐसी जागृति/ सावधानी रहनी आवश्यक है । जिससे कि निवृत्तिकालमें उस उदयभावका रस आड़े नहीं आये ।

(८८)

※

आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है 'वह सबकुछ आत्मार्थके लिये ही करना है'- ऐसी बुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक उसकी सब प्रवृत्ति होती है । उक्त अभिप्रायकी दृढ़ताके कारण अंतरलक्षमें निजहितकी जागृति विशेषरूपसे उत्पन्न होती है । अतः परभावकी भिन्नताका कार्य सावधानीपूर्वक होनेमें यहाँ अंदरमें सुगमता होती है । ऐसी भावभूमिकामें संशोधक जीव 'स्वरूप निर्णय' करता है । संसारी जीव सभी उदयमें अनुकूलता- प्रतिकूलताको मुख्यता देकर वेदनमे उलझे हुए पड़े है। आत्मार्थी जीव उदयमें इष्ट-अनिष्टपनेसे निवर्तता हुआ अर्थात् निवर्तनके पुरुषार्थमें लगा हुआ है, निजहितकी अपूर्व लगनसे लगा हुआ है, उसका निजहित अवश्य होगा ही ।

(८९)

※

परपदार्थमें सुखके अनुभवको 'भ्रांति' जानना, उस भ्रांतिरूप दशाको रोग-महारोग जानना।

(९०)

※

दुःख - वह कल्पनामेंसे उत्पन्न हुआ भाव है । वस्तुके स्वरूपज्ञानके आधारसे दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती, पुनः निज स्वरूपमें तो दुःख है ही नहीं - वह तो अनंत आनंदमय है। लेकिन जीव आनंदमय ऐसे स्वस्वरूपके विस्मरणके कारण, बेभानपनेके कारण - कोई न कोई प्रकारसे कल्पनामें घिरा हुआ दुःखका अनुभव करता है । अर्थात् भ्रमसे स्वयंको दुःखी मानकर दुःखका अनुभव करता है ।

(९१)

※

स्वभावसे मै पूर्ण निर्दोष / परम पवित्र हूँ, अंशमात्र दोष होनेका अवकाश मेरेमें नहीं

...ने पर भी, अनादिसे पर्याय स्वतंत्ररूपसे संसाररूप, अनेकरूप हो रही है। जब स्वभावके ...विभावरूप परिणमन करनेके सामर्थ्यके आधिन भी संसार अवस्था नहीं होती है (तो परके ...आधिन होनेकी अथवा परका खुदके आधिन होनेकी पर्याय-अपेक्षित बात तो बहुत दूर की ...।) इस प्रकार पर्यायकी स्वतंत्रता जाननेसे...

(१) पराधिनताके अज्ञान-अभिप्रायसे होनेवाले राग-द्वेष मिटते हैं,

(२) जो पर्यायकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, वह द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिबंधक अभिप्रायका दोष मिटता है।

(३) पर्यायकी गौणता होकर, मै पनेसे त्रिकाली स्वभावकी मुख्यता पर्याय - उपेक्षितपनेसे हो सकती है। - यह पर्यायमें हो रहे एकत्वको मिटानेके लिये महत्त्वपूर्ण न्याय है।

इसतरह अध्यात्मके प्रयोजन वश, अक्रिय स्वरूपदृष्टिमें परिणाम स्वयं अपने षट्कारकसे परिणमन करते हुए जाननेमें आते हैं। पर्यायके स्वतंत्रता धर्मको अच्छी तरह दिखानेके लिये पर्यायके षट्कारकरूपी धर्म भी कहनेमें आते हैं, वहाँ कथंचित् अभिन्नतारूप वस्तुके बंधारणका संतुलन ज्ञानमें बना रहे कि जिससे एकांत नहीं हो, वह प्रकार यथार्थ है। प्रमाणके पक्षवालेको पर्यायका कर्तृत्व मिट नहीं सकता। (२७५में लिया है) (२८६)

❋

ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानवेदनमें त्रिकाली शुद्ध-ध्रुवका अवलंबन सहज रहता है। दोनों संलग्न है। वही स्वसंवेदनकी वास्तविकता है। ज्ञानस्वभावके अवलंबनसे स्वसंवेदनका आविर्भाव हो जाता है, तब आत्मा ही ज्ञानवेदनामें वेदनमें आता है। वास्तवमें तो ज्ञानवेदन द्वारा स्वभाव प्रत्यक्ष होकर, भावसे (स्वरूप) अभेदता सधती है - ऐसा अध्यात्म-विधिका रहस्य सिर्फ स्वानुभव गोचर है। विकल्प - विचारसे - तर्कसे अगोचर है। (२८७)

❋

पू. गुरुदेवश्रीने 'क्रमबद्धपर्याय' के सिद्धांतकी स्थापना ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यसे की। ज्ञायक स्वरूपके लक्ष्य बिना - इस सिद्धांतका ग्रहण यथार्थरूपसे नही होता। कर्तावुद्धिरूप मिथ्यात्वके नाशके लिये यह अलौकिक न्याय-सिद्धांत है, जो सर्वज्ञताका स्वीकार, पर्याय मात्रकी उपेक्षा, (पर्यायका लक्ष्य / महत्त्व छुड़ानेका प्रयोजन है।) इत्यादि अनेक प्रयोजनभूत विषयके स्वीकारसे संलग्न है। सातिशय श्रुत-समुद्रमेंसे अनेक सम्यक् न्यायोंका प्रतिपादन पू. गुरुदेवश्रीने इस सिद्धांतकी पुष्टि हेतु किया है, जो वंदनीय है। (२८८)

❋

निजस्वरूपके अनुभव-ज्ञानको 'ज्ञानचेतना' कहते हैं। परन्तु शुद्धोपयोगसे संक्रांतिको पाया

सत्‌श्रुत (श्रवण) होने पर भी अगर उदयकालमें सावधानीमें फर्क नहीं पड़ा - तो श्रवण हुआ ही नहीं है । भावपूर्वक श्रुत (श्रवण)से परकी सावधानीमें फर्क पड़ता ही है, सावधानी कम होती ही है - ऐसे भावसे श्रवण किये बिना आत्मभावका, स्वरूपलक्ष्यपूर्वक स्व-रससे घोलन नहीं होता, अत: मुमुक्षुजीवको आत्मप्राप्ति - सत्‌की प्राप्तिकी इच्छा होने पर भी सफल नहीं होती । यह वारंवार विचारने - अवगाहन करने योग्य है, जिससे आत्मार्थता उत्पन्न हो।

(९६ A)

※

आत्मार्थी जीवका जीवन / परिणमन 'आत्मलक्ष्य' पूर्वक होता है; अत: चलते परिणमनमें इष्ट - अनिष्टपना होनेसे उसमें (स्वयंका) विभावरस उत्पन्न होता है जिसका अवलोकन - सूक्ष्म अवलोकन उसको रहता है - इस अवलोकनके कारण कषायरसकी मात्रा बढ़ नहीं सकती, बल्कि घटती जाती है । अर्थात् कषायरस मंद होता जाता है। जब आत्मलक्ष्यसे विभावरस गलता है तब समकितकी पूर्व भूमिका तैयार होती है जिसमें दर्शनमोह मंद होता है । ज्ञान भी स्वरूपकी पहचान कर सके उतना निर्मल होता है, धीरा व गंभीर होता है, और स्वभावकी जागृति उत्पन्न होती है । तद्‌उपरांत अध्यात्मके सम्यक् न्यायमें रस / रुचि वृद्धिगत होते हैं । और अनंत नय (न्याय)के अधिष्ठाता ऐसे स्व-द्रव्यका ग्रहण सुलभ होता है ।

जो शास्त्रोंका पठन करने पर भी, आत्मार्थी नहीं है, उसको परिणमनमें विपरीतताका वेग बहुत है । उसका दर्शनमोह बलवान है । और ज्ञानका क्षयोपशम बहुत होनेके बावजूद भी उसका ज्ञान स्थूल है । अत: वह चलते हुए परिणमनमें कषायरसका अवलोकन करनेके लिये समर्थ नहीं है -जागृत भी नहीं है । जब कि मूलमें वहाँ आत्मलक्ष्य नहीं है ।

अत: ऐसा फलित होता है कि स्वरूपलक्षी यथार्थ पुरुषार्थमें विभावरस - अवरोधक तत्व होनेसे उसका जानना - अवलोकन होना आवश्यक है ।

यहाँ जागृति माने 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी अंतर सावधानी - ऐसा जानना-समझना। शब्दार्थकी समझ करनेके बजाय भावके अनुभवका अवलोकन करनेमें ज्ञानको गहराईमें ले जाकर समझना चाहिये ।

(९७)

※

पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत करनेवाले - जोरसे आरंभ करनेवाले जीवको चलते हुए प्रगट परिणाममें, ज्ञानक्रियामें, ज्ञानस्वभावका (गुणके गुणका) अवलोकनपूर्वक संशोधन चलने पर, उसमें कषायके अभाव स्वभावका भासन होता है अर्थात् (ज्ञान) 'मै निराकूल सुखरुप सदाय हूँ' - ऐसा निर्णय होता है; उसमें अपने अनंत ज्ञान व अनंत सुखका प्रतिभास है । जिसके कारण

है। परन्तु व्यवहार साधन / बाह्य साधन पर तत्सम्बन्धित रसके कारण ज़ोर (महत्व) देनेवालेको द्रव्यस्वभावका ज़ोर (महत्व) नहीं आता, अंतर स्वभावका रस उत्पन्न नहीं होता। यह मुमुक्षुजीवको खास लक्ष्यमें रखने योग्य है। (द्रव्यदृष्टिप्रकाश - १४७) (३००)

※

एक समय-वर्तमान समयकी पर्याय / भावके पीछे अनंतर क्षेत्रमें वस्तु-स्वभावका दल प्रत्यक्ष मौजूद है, साक्षात् है, अतः सिर्फ उसका विकल्प नहीं करते हुए असंख्य प्रदेशमें व्याप्य-व्यापक भावसे तन्मय होकर, तद्रुप होकर, उत्साहित वीर्यसे स्वानुभव कर्त्तव्य है।

(द्रव्यदृष्टिप्रकाश - २३२) (३०१)

※

ध्रुव स्वभावकी जागृतिमें, शरीरसे लेकर सारा जगत स्वप्न जैसा लगता है। अनंतज्ञान व अनंतसुखसे सदा मै भरपूर हूँ - फिर क्या चाहिये ? चिंता कैसी ? भय कैसा ? विकल्प किसका !! स्वप्नवत् जगतका मूल्य कितना ? (३०२)

※

'द्रव्य स्वभाव - निजस्वरूप' समस्त निर्ग्रंथ प्रवचनका रहस्य है, धर्मध्यानसे लेकर शुक्लध्यान पर्यंत अनन्य कारण है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे वह स्व-रूप प्रतिभासित होता है। समस्त प्रकारकी विविक्षाओंमें - यह परमतत्त्वकी मुख्यता अपेक्षित है। और तो ही विभिन्न विविक्षाएं यथार्थ है। ज्ञानीके सर्वकथनका यह (आंतर)ध्वनि (Under Tone) होता है। विद्वतामें जैसे ही इस मूल बातका वज़न - अपेक्षाको लेकर कम होता है कि विपर्यास उत्पन्न होता है। (३०३)

※

मुमुक्षुजीवके लिये 'सत्संग' वह अमृत है; जिससे मुमुक्षुकी आत्मरुचि अथवा गुणरुचिको पोषण मिलता है। वर्तमान कालमें असत्संग प्रसंगका घिराव बहुत है, ऐसी परिस्थितिमें अचिंत्य जिसका महत्व है, ऐसे सत्संगका मूल्य किसी भी तरह नहीं हो सके - ऐसा है। प्रतिपक्षमें कुसंग मुमुक्षुके लिये ज़हर है। अगर इससे बचनेमें नहीं आये तो सद्विचारबलका नाश होकर अनेक दोषोंकी परंपरा खड़ी हो जाये। विपरीत रुचिको प्रसिद्ध करनेवाला, कुसंग करनेका भाव कृत-कारित अनुमोदनासे नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये - इस दृष्टिसे किसीका भी संग विचार करके करना चाहिये। इस विषयमें अगंभीरतासे, अविचारीपनेसे प्रवृत्ति बिलकुल होनी नहीं चाहिये। (३०४)

※

यह सिद्धांत है कि 'जिसने आत्माको जाना' उसको दूसरे किसी भी आत्माके प्रति वैरबुद्धि नहीं होती; उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी नहीं, क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे अज्ञानी जीवका सामान्य स्वरूप मुख्य रहता है और उसकी दोषित अवस्था गौणरूपसे जाननेमें आती है । स्वयंके आत्माके जैसा ही सभी आत्माओंका स्वरूप - गुणधाम है । ऐसे ज्ञानमें गुण-सागरके प्रति वैरबुद्धि कैसे हो ?

(१००)

✻

जिस जीवको संयोगकी प्रतिकूलताका डर - भय है, वह जीव संयोगकी अनुकूलताका इच्छुक है । जिस जीवको अपमान / अपकीर्तिका भय है वह जगतकी आबरू / कीर्तिका कामी है । परमें इष्ट - अनिष्टपनेकी बुद्धिसे - जीव उदयमें सावधान रहा करता है, और इसलिये उदयभावसे निवृत्त नहीं हो सकता, फिर भी बाहरमें संयोग - वियोग तो पूर्वकर्मके उदय अनुसार है । जिसका कारण पूर्वमें किये हुए जीवके (अपने ही) शुभा-शुभ परिणाम हैं - जो कि परमार्थसे दुःखरूप है । विचारवान जीव तो अपने (शुभाशुभके) नाशका उपाय करता हे, वह वास्तविक दीर्घ-दृष्टि है - अथवा सत्यदृष्टि है । टुंकी दृष्टिमे जीव, मात्र वर्तमान (उदयको फिरानेकी) प्रवृत्तिमें रत रहता है, इसलिये शाश्वत तत्त्वके प्रति उसका ध्यान नहीं जाता ।

(१०१)

✻

वर्तमान पर्यायमें विकारीभाव वर्तता होनेके बावजूद भी "मै वर्तमानमें ही परिपूर्ण शुद्ध हूँ" ऐसी अपूर्व दृष्टि मूल स्वरूपसत्ताका ग्रहण करे - वह स्वरूपदृष्टिका कार्य है । (१०१A)

✻

पर्यायके लक्ष्यसे 'निर्विकल्प होना है' ऐसी इच्छासे निर्विकल्प हुआ नहीं जाता, परन्तु 'मै स्वभावसे निर्विकल्प ही हूँ और स्वयं स्वसंवेदनरूपसे परिणमन करनेका ही मेरा स्वभाव है । स्वभावसे अन्यथा होना अशक्य है' - ऐसा स्व-आश्रय होने पर कार्य होवे, ऐसी वस्तुस्थिति है ।

(१०२)

✻

स्वरूपके यथार्थ भावभासनमे, परिणमन पर बहुत गहरी असर होती है ।:-

लक्ष्य :- ज्ञानमें स्वरूपका लक्ष्य बंध जाता है - तबसे ज्ञान स्वरूपलक्ष्यी हो जाता है। ज्ञानके लक्ष्यमेंसे स्वरूप छूटता नहीं और परलक्ष मिटता है ।

रुचि :- रुचि अनन्यभावसे स्वरूपके प्रति जागृत हो जाती है । जो कि गुणकी रुचि है । विभाव / अवगुणके प्रति अरुचि हो जाती है ।

प्रधानता है इसलिये प्रमादको छोड़ना चाहिये। (३१५)

※

द्रव्यदृष्टि अर्थात् सम्यक्‌दर्शनका महत्व परमार्थ-अध्यात्ममार्गमें सर्वाधिक निरूपित हुआ है; ऐसा स्पष्टतया: अध्यात्मशास्त्रोंकी शैलीसे मालूम पड़ता है। ये परिणाम सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मस्वभावमात्रको स्वयंकी विशिष्ट कार्य पद्धतिसे विषय करते है - अवलंबते हैं, जैसे मानो अनंतगुण समृद्ध खजाने पर कब्जा करते हो। यह वचनातीत, विकल्पातीत परिणाम बहुत सूक्ष्म है, अतः आचार्योंने एवं सत्पुरुषोंने ज्ञानकी प्रधानतासे उसको बतलानेका-समझानेका प्रयास किया है। तद् उपरांत द्रव्यदृष्टिको प्रदर्शित करनेवाले विशिष्टशैलीके विधान भी इस परिणमनके रहस्यका निर्देश करते है। ऐसा जानकर सत् शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ `दृष्टिप्रधान-शैली' से वचन प्रयोग हुए हो, वहाँ-वहाँ अंतरगर्भित रहस्यरूप अध्यात्मतत्त्वकी गहराईमें जानेका प्रयास करना चाहिये। अनुभव पद्धतिसे जीवके परिणाममें रहा हुआ दृष्टिका `वक्कर' जो है वह समझने योग्य है; कि जिससे धर्मात्माका अंतरंग पहचाना जाये - दृष्टिको समझ सके।

रागादि विभाव परिणामसे जीव व्याप्य-व्यापकभावसे परिणमन कर रहा है, फिर भी दृष्टिकी अपेक्षासे वे पुद्गलके परिणाम कहे जाते हैं क्योंकि सम्यक्‌दृष्टिको उसका स्वामित्वभावसे स्वीकार नहीं है अथवा सम्यक्‌दृष्टिको रागादिभाव नहीं है, इसलिये बंध नहीं है इत्यादि जो प्रसिद्ध बातें हैं उसमें दृष्टिका परिणमन दिखानेका उद्देश्य है अर्थात् दृष्टि सम्यक् होते ही `स्वभावसे रागादि किये नहीं जा सकते, ऐसे स्वयंके अकर्तापनेका स्वीकार व अनुभवसे, खुद रागादिमें प्रसरता नहीं है - ऐसा परिणमन वर्तता है। स्वभावकी सर्वस्वपनेसे ऐसी पकड़ जो विशिष्ट प्रकारसे दृष्टिमें होती है उसका उक्त प्रकारके कथनोंमें संकेत होता है। (३१६)

※

रागादि विभाव आत्मभाव नहीं है बल्कि अन्यभाव है, फिर भी मोहके कारण आत्मभावरूप वेदनमें आता है, ऐसा प्रकार छोड़कर, ज्ञानका स्व-रूपमें अनुभव करनेसे मोह (राग वह मैं - ऐसा मिथ्या अनुभव) उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अपूर्व आत्म-सुख उत्पन्न होता है। श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य कहते है कि, "यावत् ज्ञानम् ज्ञानम् न भवति, तावत् रागद्वेषम् द्वयम् उदयते। (समयसार कलश - २१७) (३१७)

※

किसी भी विभावको ग्रहण नहीं करनेका ज्ञानका अविचल स्वभाव है। ऐसा ज्ञान अंतरंगमें स्वभावसे ही महिमावंत है, जिसका मिथ्यात्व - दर्शनमोहके कारण जीव अवलोकन नहीं करता है; अगर जीव सम्यक् अवलोकन करे अर्थात् ज्ञान स्वयंको जैसा है वैसा देखे, तो दर्शनमोहका

आत्मानुभवी पुरुषोंके द्वारा प्रवाहित हुए वचन अर्थात् सत्शास्त्रों अनुभवरससे लिखे गये होनेसे उसमें अनुभवकी गहराई होती है । उन वचनोंका अनुभवके दृष्टिकोणको मुख्य रखते हुए अवगाहन करने योग्य है; वरना उनके भाव - वाच्य, ज्ञानगोचर नहीं हो सकते । अनुभवके दृष्टिकोणको लागू करनेसे भाव भासित होता है । शास्त्रवांचनकी रीत भी गहरी व रहस्ययुक्त है। परलक्ष्यी उघाड़वाला स्थूल ज्ञान, इसीलिये शास्त्रके मर्म तक नहीं पहुँच पाता है। पुनः परलक्ष्यी उघाड़में पंडिताई-विद्वताके साथ अभिमान, स्वच्छंद इत्यादि दोष सहज जन्म लेते है । इसलिये भी उससे गुण नहीं होता । आत्मार्थीका शब्दार्थ - भावार्थसे संतुष्ट होना नहीं बनता, बल्कि वह तो अनुभवकी कलाके लिये अत्यंत जिज्ञासु रहता है। (१०६)

※

नवम्बर - १९८५

बोधकला :- निज शुद्ध जीवास्तिकायमें अहंबुद्धि होना, अभेदभावसे लक्ष्य रहा करना। इस प्रकारसे परिणाम बलवान होने पर उपयोग शुद्ध होता है । (१०७)

※

प्रश्न :- ज्ञानीकी पहचान किसको होती है ?

उत्तर :- ज्ञानी, ज्ञानीको पहचान सकते हैं । अपने अनुभवसे, जिनकी वाणीमें अनुभवरस व्यक्त होता है; (एवं) दृष्टि, पुरुषार्थ, इत्यादि प्रकारसे भी साधकदशाकी पहचान होती है । ज्ञानीको अनेकविध अध्यात्मभावोंको पहचाननेकी निर्मलता होनेसे वे अन्य ज्ञानीको पहचान लेते है । सम्यक् श्रुतज्ञानमें बहुत सामर्थ्य है । इसके अलावा - "मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते है" - (श्रीमद् राजचंद्रजी)। इस वचनके अनुसार पात्र जीवको भी ज्ञानीकी दशाकी अंतर प्रतीति अवश्य आ सकती है । जैसे मरीज अपने रोगके निदान, इत्यादिके आधारसे वैद्यके ज्ञानको समझ सकता है वैसे मुमुक्षुजीव, (भवरोगके निदानादि ज्ञानके प्रकारसे) मार्गका खोजी जीव, मार्ग दिखलानेवालेके अनुभव ज्ञानकी सत्यताका निर्णय करके, पहचान सकता है । निःशंक हो सकता है । (१०८)

※

आत्मभावना :- सर्वोत्कृष्ट, परमशांतरसमय, समरस स्वभावी, अनंत सुखधाम, केवल अंतर्मुख, स्वयं अभेद अनुभवरूप हूँ । (अतः समस्त परमें उपेक्षा सहज है ।) (१०९)

※

'तू रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ ।' जगतके समस्त पर पदार्थके प्रतिका आकर्षण छूट जाये व एकमात्र स्व स्वरूपका ही खिंचाव रहा करे, ऐसा परम अद्भुत, आश्चर्यकारी,

है, जिसमें रागरस टूटता जाता है। इस प्रकार रागरस घटने पर अविनाभावीरूपसे दर्शनमोहका
रस भी गलता है। जैसे-जैसे मिथ्यात्व परिणामकी शक्ति हीन होती है, वैसे -वैसे ज्ञानबल
वृद्धिगत् होता है, आत्मरस बढ़ता है और इसके फलस्वरूप दर्शनमोह निर्बल होकर दबने
योग्य यानी कि उपशम होने योग्य स्थिति पर पहुँचता है तब शुद्धोपयोग होता है और शुद्धात्म
स्वरूपके प्रत्यक्ष अनुभवमें स्वरूपकी प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन होता है। (३३१)

✱

श्रीगुरु वारंवार परम करुणासे कहते हैं, क्योंकि जीव अनादिसे अज्ञान-भ्रममें फँसा हुआ
है, दर्शनमोहकी अत्यंत निबिड़ गाँठ पड़ी है, इसलिए स्वपदकी भूल हुई है, अर्थात् स्वरूप
सूझता नहीं है । परपद - देहपदमें निजपद भासित हो रहा है, ऐसी परिस्थितिमें भेदज्ञान
ही एकमात्र उपाय है। भेदज्ञानसे अगर अमृतरस पिया जाये तो अनंत गुणनिधानकी अनंतशक्तिकी
महिमा प्रगट अनुभवगोचर होवे। श्रीगुरुके सर्व कथनका मूल यह है। (३३२)

✱

## मई - १९८९

प्रश्न :- अज्ञान कब तक रहता है ?

उत्तर :- जीव जब तक स्वयंको 'ज्ञानमात्र' स्वरूप नहीं देखता है, तब तक अज्ञान वर्तता
है अर्थात् जब तक ज्ञानमय भावसे स्वयंको नहीं देखता है तब तक जीव दग्धचित्तसे संकल्प-
विकल्पमय होकर अज्ञानरूप प्रवर्तता है। जब कि भिन्न ज्ञानमय भावमें, कोई भी विकल्प रहित
खुद प्रत्यक्ष रहता है, पवित्र सम्यक्ज्ञान ऐसे प्रवर्तता है। (३३३)

✱

शब्दार्थका भाव भासित हुए बिना कथनका अभिप्राय पकड़में नहीं आता - अथवा (उसकी)
पहचान नहीं होती। केवल शब्दार्थ या भावार्थसे 'मैं जिनवचन अनुसार मानता हूँ' ऐसा समझ
लेना नही चाहिये क्योंकि भाव भासित हुए बिना ज्ञानमें अन्यथापना हो जाता है। अत: भावभासनके
लिये हेय-उपादेय तत्त्वोंकी चलते हुए परिणमनमें, प्रयोग करके परीक्षा या जाँच करनी चाहिये -
इस पद्धतिको प्रयोगपद्धति अथवा अनुभवपद्धति कहनेमें आती है। (३३४)

✱

## जून - १९८९

अनंत गुणनिधान प्रभु - स्वमें एकत्वभावसे रहना, और एक समयकी वर्तमान पर्याय, राग
व परमें एकत्व नहीं करना - यह सर्व उपदेश / बोधका संक्षेप (सारांश) है। तदर्थ पुरुषार्थ
अपेक्षित है। (पुरुषार्थीको पुरुषार्थ-पर्यायमें अहंभाव नहीं होता, वजन / जोर नहीं जा सकता।

काल पक गया है । क्योंकि अब वह जीव विकल्पमें अटकेगा नहीं, उसको विकल्पकी मुख्यता नहीं रहेगी; अब वह शीघ्र विकल्पका वमन कर देगा अथवा उसके विकल्पका अब शीघ्र वमन हो जायेगा । जिसने निर्विकल्प शुद्धात्माका भावनामें व ज्ञानलक्षणसे ज्ञानमें यथार्थ निर्णय किया, उसको निर्विकल्पताका अवसर आ चुका है। (११३)

※

विधि :- अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे देखनेसे, जीवको मात्र ज्ञानका-सामान्यका ही अनुभव है । वहाँ जोरसे स्वपना होनेसे अनेक ज्ञेयाकार व पर्यायत्व गौण हो जाते हैं; `स्वभावका आश्रय' लक्ष्यके कारणसे हो जाता है। स्वभावके आश्रयमें द्रव्य-पर्यायके भेद सहज ही निरस्त हो जाते हैं; क्योकि स्वभाव द्रव्य-पर्याय भेदसे निरपेक्ष है। स्वभाव अनुभय स्वरूप है ।

(११४)

※

प्रथम विभावसे / रागसे ज्ञानकी भिन्नताके प्रयोग द्वारा अंतरंगमें भेदज्ञान होना चाहिये; कि जिसमें ज्ञानकी मुख्यतासे ज्ञानसे ज्ञानका एकत्व होता है । एक समयकी प्रगट शुद्ध पयार्य - त्रिकाली स्वभावसे भिन्न होने पर भी, स्वयं स्वभावका अवलंबन लेती है; विभावकी तरह उस भावका भी क्षय करनेका प्रयोजन नही है । सिर्फ अवलंबनका (आश्रयका) स्थान वह शुद्ध पर्याय नहीं है - उतना ही प्रयोजन हे, अत: रागका अवलंबन (स्वभावके अवलंबनपूर्वक) छूटनेका प्रथम कर्त्तव्य है । - यह विधिका क्रम है । विधि - क्रममे फर्क पड़नेसे मार्ग बदल जाता है अथवा मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है । मिथ्यादृष्टिको शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होनेसे, उसको उससे भिन्न पड़नेकी विधिका प्रारंभ करनेका प्रश्न नहीं रहता । (११५)

※

शास्त्रका परलक्ष्यी क्षयोपशमज्ञान भी प्राय: बाधक होता है । इस प्रकारके ज्ञानके विकासमे, आत्माकी शुद्धताका विकास मानना या आत्मज्ञानका विकास हुआ मानना, वह भ्रम है। स्वलक्षसे हुआ शास्त्र अध्ययन यथार्थ ज्ञानका कारण होता है । परलक्ष्यी ज्ञानमें शुष्कता अथवा अभिमान, अथवा स्वच्छंद आदि दोषोंकी (उत्पत्ति) की संभावना रहती है। (११६)

※

लौकिक समाजकी तो नहीं, बल्कि धार्मिक समाजमें भी `प्रतिष्ठा - कीर्ति मिले तो ठीक' ऐसी अपेक्षा रखे, वैसा आत्मार्थी नहीं होता । प्रतिष्ठा - कीर्तिकी अपेक्षा होने पर आत्मार्थीपना नहीं रहता; `आत्मा' वैसा नहीं है । वास्तवमें तो विकसित होती हुई अवस्थाकी भी स्वरुपमें (को) अपेक्षा नहीं है । जहाँ सर्वोत्कृष्ट द्रव्य पर दृष्टि है वहाँ शुद्ध पर्याय पर भी दृष्टि

परमात्मस्वरुपकी अगर धून चड़े, तो स्वरुप प्रगट हुए बिना नहीं रहता, वरना इसके (ऐसी धून) बिना प्रगट नहीं होता। (३४९)

※

जुलाई - १९८९

आत्मस्वरुप-स्वभाव अनंत गंभीर है; स्व-वस्तु जितनी अनंत गंभीर है, उतनी भासित हुए बिना यथार्थ सहज महिमा नही आती - परन्तु (सविकल्पज्ञानमें) स्वयंके स्वभावकी गंभीरता भासित होने पर ही ऐसी महिमा आती है कि वह महिमा वृद्धिगत होकर विकल्पका उल्लंघन कर देती है। विकल्पको आते हुए रोकना नहीं पड़ता, बल्कि विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसे निर्विकल्प भावका आविर्भाव होता है तब सहज अतीन्द्रिय आनंदका स्वानुभव होता है। (३५०)

※

मोहभावका अनुभव करनेवाले संसारी जीवको ऐसा लगता है कि, उसका नाश करना आसान नहीं है। संसारके इस रोगका नाश करनेका उपाय भी ज्ञानी-गुरुके सिवा और कहीं नही है । अतः लोकप्रसिद्ध मान्यता ऐसी है कि यह असाध्य रोग है, इसलिए बहुभाग जीव इसको मिटानेका उपाय है ही नहीं - ऐसे पूर्वग्रहमें रहते हुए - इसके उपायसे दूर रहते है, अनजान रहते है। कुछएक जीव इसका उपाय करने जैसा है - ऐसा सोचते हैं, उसमेंसे कोई वीरल जीव मोहका नाश करता है, फिर भी श्रीगुरुने अनंत कृपा करके मोहका तत्काल (शीघ्र) नाश करनेका उपाय यहाँ ऐसा बताया है कि :- यह आत्मा प्रत्यक्ष है - स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है; उसे देख । उसे देखते ही आत्मसिद्धि है, अर्थात् तत्काल मोहका अभाव हो जायेगा; निश्चित (ही हो जायेगा)। अतः प्रमाद छोड़कर स्वसन्मुख होनेका सतत पुरुषार्थ कर । निर्वाणका कारणभूत ऐसा उपायरुप जिनेन्द्रका जो मार्ग है, उस मार्ग-संपत्तिको प्राप्त ऐसे संतोंको पुनः पुनः वंदन हो। "भाई। तेरा तत्त्व हाजरा हजूर है, उसका लक्ष्य कर ।" (पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी) (३५१)

※

ज्ञानमें रहे हुए ज्ञान-वेदनको सूक्ष्मतासे 'अनुभवके दृष्टिकोणसे अपने रूप देखना' - सर्वकालमें, सर्वप्रसंगमें इस प्रकारके ज्ञानको, जो कि उर्ध्व (मुख्य) है, उसे उर्ध्व ही रखना (गौण होने नही देना।) ज्ञान उर्ध्व होने पर भी (ज्ञेयकी मुख्यताके कारण) गौण होता है वहीं से विपर्यास व मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। (३५२)

※

है । ऐसे सत्संगके निष्फल जानेके कारण निम्न प्रकारसे है :-

(१) मिथ्या आग्रह :- जीवने भूतकालमें अनादिसे मिथ्या अभिप्रायका सेवन किया है । उसका आग्रह सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी नहीं छोड़ना - वह मिथ्या आग्रह है । संक्षेपमें उसका स्वरूप इस प्रकारसे है कि जिस आग्रहके वशात् 'मै मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसी अंतर सावधानी उत्पन्न नही होती, और परकी सावधानीरूप परिणामोंकी अधिकाई - वजन रहा करता है । प्रशस्त क्रिया - परिणामोंका आग्रह भी चैतन्य स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देता, वह (भी) मिथ्याआग्रह है । सर्व प्रकारके मिथ्याआग्रह छूट जानेका निमित्त 'सत्संग' है । फिर भी अगर जीव वहाँ भी मिथ्याआग्रहको नहीं छोड़ता है, तो प्राप्त हुआ सत्संग भी निष्फल जाता है । फिर तो मिथ्याआग्रह छूटनेके लिये और कोई कारण-साधन नहीं रहता।

(२) स्वच्छंदीपना :- दोषितभावोंके पक्षपातमें, दोषमें ममत्व होनेसे स्वच्छंद उत्पन्न होता है । यह स्थिति सत्संगको निष्फल करनेवाली है । दोषितभावके पक्षपातमे दोषकी रुचि काम करती है; अत: उसके अभावका प्रयत्न नहीं होता । इतना ही नहीं बल्कि स्वच्छंदी जीव दोषको गौण करता है अथवा अपेक्षावादके बहाने दोषका बचाव / रक्षा करता है। सर्व अन्यभाव दोषरूप होने पर भी उसमें उत्साहपूर्वक - सावधानीपूर्वक प्रवर्तन करना, यह भी स्वच्छंदका सूक्ष्म प्रकार है । 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वरूपकी सावधानीके अभावमें - उक्त प्रकारसे स्वच्छंदका जन्म होता है । यह दोष तीव्र होने पर मानप्रकृत्ति जोर करती है । तीव्र होने पर देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुष प्रति अविवेक भी होने लगता है । स्वच्छंदी जीवको गुण व गुणवानकी अरुचि होती है । उसकी चाहत उसे नही रहती।

(३) प्रमाद :- 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सतत जागृतिका अभाव व अन्य भावका रस होना - वह प्रमाद है । प्रमादभावमें कषायरस बहुत भरा है इसलिये सत्संगकी असर नहीं होती ।

(४) इन्द्रियविषयकी अपेक्षा : जड़की अवस्थामें सुखबुद्धि-रसबुद्धि - महिमावंतता होने पर उसकी अपेक्षा रहा करती है - तब जीव निज महिमाको, निज सुखको - स्वभावको भूलता है और स्वभावकी उपेक्षामें प्रवर्तता है । 'मै ज्ञानमात्र हूँ" ऐसी स्वयंकी जागृतिके वक्त - इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ सुख रहित भासित होते हैं इसके कारण भी व्यामोह नहीं होता। 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी जागृतिपूर्वक ज्ञानमें-स्वमें इन्द्रियविषयका अभाव भासित होनेसे उसकी अपेक्षावृत्ति-बुद्धि नहीं होती । इन्द्रियविषयकी अपेक्षामें (वासनासे) सत्संगमें प्राप्त बोध नहीं चढ़ता - क्योंकि इन्द्रियविषयके रसमें ज्ञानरसका अभाव है । और ज्ञानमें अर्थात् स्वकी जागृतिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरसमें, इन्द्रियविषयका रस अभावको प्राप्त होता है । जो कि सत्संगका प्रत्यक्ष फल है । सत्पुरुषके प्रति 'अत्यंत भक्ति' विषयवृत्तिके रसको मंद करती है; और

करना चाहिये और ऐसे ही 'ज्ञान' सुखरूप है, उसमें सुख न लगे (भासित हो) तब तक
'मात्रज्ञान'का प्रयत्नपूर्वक अनुभव करना चाहिये। इसी पद्धतिसे ज्ञानके आधारसे ज्ञानस्वभावी
आत्माका भावभासन - पहचान करके, द्रव्य-गुण-पर्यायादि पदार्थोंको पहचानना होगा।
(३६६)

✻

जिस तरह दर्पणमें, दर्पणको नहीं देखते हुए अपने मुखको - रूपको खुद देखता है,
वैसे वीतराग जिनेन्द्रदेवकी वीतरागी मुद्राको देखते हुए - 'ऐसा मै स्वयं ही हूँ'- इस प्रकार
निःसंदेहरूपसे जो अपने निश्चय स्वरूपको देखता है, वह जिनदर्शनके वक्त यथार्थ निज दर्शन
करता है। मोक्षमार्गमें विचरनेवाले धर्मात्मा इस प्रकारके पारमार्थिक आशयसे जिन-प्रतिमाकी
स्थापना करते है।
(३६७)

✻

चैतन्य स्वभावका तेज बेहद है; जो विकल्प अत्यंत चंचल है, संख्यामें बहुत ज्यादा है,
और जिसके आड़े महान चैतन्य सूर्य-तेजका पुंज अनादिसे आच्छादित हो गया है; और जिसकी
इन्द्रजालरूप भूल-भूलैयाँमें जीव दिङ्मूढ़ होकर भ्रमित हो रहा है, ऐसे विकल्परूप तरंग भी
जिसकी स्फुरणा मात्रसे भाग जाते हैं, तत्क्षण लुप्त हो जाते है; ऐसे तेजके पुंजकी - स्वयंकी
महानता कितनी ? अद्भुत से भी अद्भुत !! यह स्फुरणा तो सिर्फ चैतन्य-वीर्यका अंकुर
है ! मूल वस्तु स्वयं तो अनंत शक्तिओंका कंद है । अमाप है, फिर भी ज्ञानमें उसका
नाप आता है ।
(३६८)

✻

अगस्त - १९८९

ग्रंथीभेद होनेके लिये अपूर्व पुरुषार्थ अपेक्षित है। उसमें अध्यात्मतत्त्वकी मुख्यता व प्रधानता
होती है। जो लोग केवल शब्दके गुणदोषमें अटकते हैं, वे अध्यात्मतत्त्वको नहीं समझ सकते।
पुनः जो लोग शास्त्रका केवल युक्तिपूर्वक ही विचार करके-समझ करके संतुष्ट होते हैं, वे
भी सद्गुणको प्रगट नहीं कर सकते; किन्तु आत्मभावनासे परिणति होने पर प्राप्ति होना सुगम
है, ऐसे भावनावानको अध्यात्म प्रधान वचन, भावनावृद्धिके निमित्तभूत होते है, जिसके कारण
अंतरभेद होता है।
(३६९)

✻

जगतमें मृत्युको सर्वाधिक दुःखदायक प्रसंग जानकर, उसका अति दुःखमयरूपसे अनुभव
किया जाता है; परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा तो ऐसा जानते है, कि ये प्रसंग विशेषरूपसे आत्महित

परपदार्थ व राग ज्ञानमें प्रतिबिंबित होने पर, भिन्नरूप, उपेक्षाभावसे, निर्मूल्य व नीरस, परिणामसे सहज जाननेमें आते हैं - (वैसे) परिणमन करता है । अत: वह परसे निवृत्त होता हुआ विज्ञानघन होता जाता है - यह सम्यक्ज्ञानका स्वरूप है । (१२४)

✵

द्रव्यानुयोग आत्माके 'एकत्व-विभक्त' स्वरूपको दिखाता है । अभेद स्वभावका लक्ष्य करनेका परम गंभीर विषय द्रव्यानुयोगमें है । निश्चय अध्यात्मके उपदेशकी प्रधानतासे दया - दानादि परिणामोंका उसमें निषेध आता है, उसमें स्वभाव दृष्टि करानेका हेतु है। स्वभावकी अभेदताको साधनेके हेतुसे द्रव्यानुयोग अनुसार गुण-पर्यायके भेदोंका निरूपण है । (जो कि व्यवहारनयके विषयभूत समस्त सिद्धांत हैं) उस भेदको निरस्त करनेकी शैलीसे अध्यात्मकी प्रधानता कराई है, (जिससे) अभेदता सधती है । यथार्थतामें ऐसी दृष्टिकी प्रधानताके बारेमें संशय या अनादर भाव नही होता, बल्कि विशेष आदर - महिमाके भाव होते हैं । इसके बावजूद द्रव्य, गुण, पर्यायका भेदरूप निरूपण, जो कि आगम अनुसार है, वह भी उनके ज्ञानमे सप्रमाण रहता है । जरा सी भी अन्यथा कल्पना नही होती। ऐसा संतुलन रहना वह इस विषयकी गंभीरता है । अर्थात् सम्यक् एकांत व अनेकांत है ।

(१) इस विषयमें अयथार्थता उत्पन्न होती है तब किसीको द्रव्य, गुण पर्यायके भेद निरूपक सिद्धांतोंकी मुख्यताका एकांत वर्तता है । जो फिर अभेदता साधक वचनोंके प्रति गौणता अथवा अनादर उत्पन्न कराता है । वहाँ भेदका जानपना मुख्य करके अध्यात्म दृष्टिकी गौणता होती है । जो कि यथार्थ नहीं है ।

(२) जब कि कोई तो अध्यात्म प्रधान (ज्ञानी - आचार्योंके) विधानोंकी मुख्यता करते हैं, उसमें निहित आशयकी गंभीरताको ग्रहण नहीं करके (क्योंकि अध्यात्म तत्त्व ज्ञानमें भासित नहीं हुआ है।) अभेदता साधनेके प्रयोजन एवं पुरुषार्थको प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि कल्पनासे द्रव्यका-पदार्थका स्वरूप अन्यथा ग्रहण करते हैं जिसके कारण गृहीत मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है । वे सिर्फ अध्यात्म कथनकी शैलीके रागमें रत रहते हैं, लेकिन (वे) अध्यात्मभावमें परिणमन नहीं करते, जो कि यथार्थ नहीं है ।

कथनशैलीका राग मुख्य होने पर - पुद्गलरस, विकल्पका रस बढ़ता है । उसमें अध्यात्मरस नही है । परन्तु अयथार्थता, अध्यात्मरस होनेकी भ्रांति होती है । उसमें द्रव्यानुयोगके सिद्धांत ज्ञानसे विरुद्ध मान्यता दृढ हो जाती है, फिर भी खुद अध्यात्मवादी है ऐसा मानता है । सिद्धांतज्ञान व अध्यात्मके भाव - ज्ञानके बीचमें संतुलन व अनेकांतिक वृतिका यथार्थरूपसे झुकाव रहना, वही इस मार्गकी सूक्ष्मता है । (१२५)

(उसकी मर्यादा नहीं समझकर) दिगम्बर - मत ही सत्य है' - ऐसी स्पष्टता की, तो तब (मंडन-खंडनका दूषण संप्रदाय बुद्धिकी उपज है।)की तत्त्वको नहीं देखकर, मत मंडन-खंडन (मंडन-खंडनका दूषण संप्रदाय बुद्धिकी उपज है।) यह लक्ष्यमेंसे छूट गया और सत्पुरुषकी मुख्यता करनेमें मुमुक्षुजीवको कितना खतरा है, यह लक्ष्यमेंसे छूट गया और (श्रीमद्जीकी) मध्यस्थताके बारेमें शंकित होकर विचार करनेसे जीवोंके अभक्तिके परिणाम होकर, वे सन्मार्गसे अति दूरवर्ती परिणाममें आ गये ।।

ऐसी विद्यमान परिस्थिति, अनेक सिद्धांतबोध व उपदेशबोधके वचनोंमेंसे ऐसी परिस्थिति पैदा होती है, इसलिये `प्रत्यक्षयोग' का महत्व अंतरमें अधिक से अधिक बढ़ता ही जाता है और साथमें सत्पुरुषकी आज्ञामें रहने संबंधित और उनके प्रत्यक्षयोगका कितना महत्व है ।। उसके बारेमें आत्माको बार-बार जागृत होनेके लिये प्रेरणा देती है। (३८१)

✻

सितम्बर - १९८९

जिज्ञासु जीवोंके बीच शास्त्र-स्वाध्यायके वक्त मुख्यरूपसे स्वयंका लक्ष्य-आत्मलक्ष्य होना चाहिये, ह इस प्रकारसे :--

(१) उपदेश वचनसे मुख्यतः अपने जीवको उपदेश देते हुए (अंतरमें) संबोधन करना।

(२) भूल-दोषका वर्णन करते वक्त, यह जीव खुद अनादिसे ऐसे ही कारणोंकी वजहसे, मार्गसे वंचित रहा है !

(३) जिस मार्गसे दूसरेको छुड़ाता हो, उसका सेवन खुद कैसे करे ?

(४) जो बात खुदको अच्छी नही लगती हो - वह आप जिज्ञासुओंकी भी नहीं सुहाती होगी - विचारपूर्वक मान्य कीजिये-इत्यादि।

(५) स्वयंके प्रयोग द्वारा समझाना, अपरिणामी रहकर नहीं बोलना (उपदेश नहीं देना)।

(६) वाणी एवं चेष्टामें कृत्रिम हावभाव करने नहीं चाहिये।

(७) जो बातमें खुद निःशंक हो वही करें, खुद जिसमें शंकामें खड़ा हो उसका निरुपण न करे।

(८) जिस विषयमें खुद अनजान हो, उसका (अनजानपनेका) सरलतासे स्वीकार करें।

(९) कभी भी आत्मश्लाघा या परनिंदा न करे।

(१०) आत्महितका तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टिकोण रखना कि जिससे अनेक प्रकारके संभवित दोष अपनेआप सहजरूपसे ही नहीं होंगे।

(११) किसीके पर आक्षेप नहीं करना।

(१२) किसी व्यक्तिविशेषको लक्ष्यमें रखकर वांचन नहीं करना। किसीकी ईर्ष्या, निंदा,

ज्ञानमयरूपसे निज अस्तित्वका सहज वेदन, वह (परसे) भेदज्ञान है, और (स्वसे) अभेदज्ञान है - अथवा आत्मज्ञान है। जो कि भवभ्रमणके रोगका परम (अमोघ) औषध है। (१३०)

※

निजके कल्याणकी शुरूआत यथार्थरूपसे - वास्तविकरूपसे किस प्रकार होती है, इस विषयमें सिद्धांतसूत्र 'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत वही वास्तविक शुरूआत है' अनुभवसिद्ध हुआ है । यहाँ पर पूर्णता - पूर्ण शुद्ध दशारूप ध्येयके स्थानमें है-साध्यके स्थानमें है। यह सूत्र ऐसा निर्देश करता है कि अगर ध्येय पूर्णताका नही निश्चित किया हो तो साध्यकी भूल रह जाती है, इसलिये उसकी शुरूआत यथार्थ प्रकारसे नही होती । अत: वह जीव धर्म सम्बन्धित जो कुछ भी करता है वह मार्गकी विधिके लिये शुरूआतरूप भी नही है। किसी भी जीवको (धर्ममें) प्रवेश करनेवालेको अपने परिणमनमें उक्त सूत्रका वाच्यभूत - तात्पर्यभूत साध्य निश्चित हुआ है कि नही ? यह अवश्य मिलान करके / जाँच करके समझ लेना चाहिये । प्राय: जीव खुदकी मति-कल्पनासे धर्म-मार्गमें प्रवर्तता है । परन्तु शुरूआत अन्यथा प्रकारसे होनेसे धर्मका प्रारंभ तो नही होता, बल्कि अनादिभ्रमको तोड़नेके बजाय एक नये भ्रमका सेवन होता है । साध्यकी भूल रहनेसे साधन प्राप्त नही होता। (१३१)

※

यदि बुद्धिपूर्वक पदार्थका स्वरूप विपरीत या अन्यथा निश्चित किया हो, तो उसका यथार्थ विचारणासे ज्यों का त्यों द्रव्य, गुण, पर्यायसे अविपरीतरूपसे स्वीकार नहीं हो, तब तक पुरुषार्थ योग्य दिशामें शुरु नही हो सकता । दृष्टांतरूपसे किसी जीवकी वस्तुस्वरूपकी समझमें तो भूल हो, परन्तु अध्यात्मके विषयमें मुख्यता करता हो तो भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । अध्यात्मके भाव तो सहज होते है । स्वरूपकी विपरीत समझमें, प्रयत्न कृत्रिमताको धारण करता है । अर्थात् अध्यात्मका विषय परलक्ष्यी क्षयोपशममें बुद्धिगोचर होनेसे कृत्रिम मुख्यता होती है, उसमें खुद धोखा खा जाता है। खुदको अध्यात्मी मान लेनेकी यह बहुत बड़ी भूल हो जाती है । (१३२)

※

श्री 'समयसार' परमागममें आचार्य भगवंतोने अस्ति-नास्तिसे - दोनों पहलूसे, अद्भुत शैलीसे निरूपण किया है ।

अस्तिसे :- दृष्टिका विषयभूत ज्ञायक (द्रव्य) स्वभाव, द्रव्यदृष्टिका अनुभवपूर्ण निरूपण, व स्वभाव दृष्टिवंत - सम्यक्दृष्टिके दृष्टिके परिणमनकी मुख्यतावाले अनेक पहलूओको तात्त्विक दृष्टिकोणसे, अद्भुत शैलीसे प्रकाशित किये हैं । सारे समयसारका यह हार्द है ।

चाहिये अर्थात् जड़का सुखरहितपना और जीवके 'ज्ञानमात्र' पनेको, अवलोकनमें लेनेसे भ्रांतिका
विलय होता है। (३९५)

⁂

जीव जब जड़की प्रीति करता है, तब अवश्य उसका दंड भुगतना पड़ता है, (यद्यपि
जड़ पदार्थमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है और जड़ परमाणु जीवको कोई आमंत्रण भी नहीं देते
है - इस प्रकार) जीवको दंड होनेमें वास्तवमें जड़ तो निर्दोष है फिर भी उसका संग करने
जैसा नहीं है, तो फिर जो जीव स्वयं अपराधी होकर प्रवृत्ति करते हो, उनका संग (कुसंग)
करने पर जीवको अतिशय दंड भुगतना पड़े - उसमें कौनसा आश्चर्य है? अर्थात् कुसंगसे
अत्यंत सावधानी रखकर चलने जैसा है। (३९६)

⁂

धर्मात्माकी कथनशैलीमें आंतरध्वनि ऐसा होता है कि जीव स्वरूपबोधको अंगीकार करे
। अवधारण करे । मुमुक्षुजीव भी तथारूप अवधारण करनेके लिये प्रयत्नशील रहता है,
ह ऐसा नही होने देता कि समझ व स्मृतिकी मर्यादामें ही रह जाये और उसको अंगीकार
रनेका लक्ष्य ही न रहे, वरना समझ (कहनेके अनुसार) विषयके अनुरूप होने पर भी 'अयथार्थ'
ह जाती है, जिसका ख्याल समझनेवालेको खुदको नहीं रहता, क्योंकि ज्ञेयको जाननेकी
क्षयोपशमशक्ति दोनोंकी (यथार्थता एवं अयथार्थता वालेकी) समान ही होती है। यथार्थता हो
तो वह हित साधने लगता है जब कि अयथार्थतावाला सिर्फ बुद्धिमें बातको बिठाता है, समझमें
आया होनेसे संतुष्ट होता है, और हित साधनेमें प्रयत्न शून्य रहता है। (३९७)

⁂

स्वसन्मुखता, स्वभाव सन्मुखतामें सम्यक्त्व है वह अमृत है। स्वभावकी विमुखतामें रहकर
किये गये सुकृत्य भी ज़हर मिलाये हुए दूध जैसे है, फिर भले ही उसमें ज्ञान, तपश्चरण,
ध्यान, व्रत, दान, उपशम (शांतता) इत्यादि कुछ भी क्यों नहीं हो !! पर्याय मूढ़ताके कारण
उसके मदको (अहम्भावको) होता हुआ नहीं रोका जा सकता। (३९८)

⁂

जिसको स्वरूपज्ञान हुआ है, वैसे ज्ञानीपुरुषको द्रव्य दृष्टिके कारण, ऊँच-नीच, मान-
अपमानकी कल्पना (जैसी अज्ञान दशामें होती है - वह) नष्ट हो जाती है, इसलिये गुण
दृष्टिवान ऐसे उन धर्मात्माओंको गुणके प्रति यानी कि गुणवानके प्रति परम आदर भाव रहता
है, जिस अभिप्रायके कारण गुरु-शिष्यका बाह्य सम्बन्ध गौण होकर, नीचेके गुणस्थानका लक्ष्य
गौण होकर वंदन / नमस्कार करनेमें आता है, ऐसे प्रसंग पर बाह्य दृष्टिवान जीवको विकल्प

है - स्व-स्वरूपरूप - अभेद अनुभूति स्वरूप अनुभव करता है । (१३६)

※

सदा उपयोगधारी, उपयोग स्वभावी, आनंदस्वरूप खुद स्वयमेव - यत्न बिना - ही है, है और है ही । खुदका काम खुदको - सहज स्वरूपको निहारना-इतना ही है । सिर्फ इतना कर्त्तव्य है; है उसको देखनेका है । जो है उसमें कुछ (नया) करना नही है; या कुछ नया बनाना नही है । परकी अपेक्षावृत्तिको पलटकर उपरोक्त स्वपदको पहचानकर, सन्मुख होकर, अनंत महिमाधारीको निजरससे देख !! (१३७)

※

निज अस्तित्वके ग्रहण हेतु, स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके सम्यक् वचनामृतकी अनुप्रेक्षा करने योग्य है :- 'मेरे दर्शन, ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है ।' अवलोकनसे - प्रयोगसे ऐसे देखो । सिर्फ शब्दार्थका विचार करके वाच्यको विचारकी मर्यादामें सीमित नहीं रखते हुए, निज सत्ताके ग्रहणका अभ्यास - प्रयत्न होना चाहिये । परसे विमुख होकर वारंवार ज्ञान-दर्शनमय निजपदका अवलोकन करते हुए स्वयं सुखी हो। (१३८)

※

जैसे जहर खानेसे (जाने-अनजानेमें) मृत्यु होता ही हे, वैसे पररुचिभावपूर्वक परके सेवनके परिणामसे संसार दुःख अवश्य होता ही है । इसलिये अरस परिणामसे उदयमे प्रवृत्ति कर्त्तव्य है । (१३९)

※

स्वानुभवमें पूर्णज्ञान (आत्मा) की प्रतीति भावका वेदन होने पर ज्ञान निर्मल होता है । इस तरह ज्ञानकी निर्मलतामें उपरोक्त प्रतीतिभाव कारण है । यहाँपर ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिका अपनेरूपमें अनुभव किया, इसलिये वह अनुभव सर्वरूप शक्तिको प्रगट करेगा। यह अनुभव सर्वज्ञ-शक्तिके आधारसे हुआ है । राग, विकल्प या निमित्तके आधारसे नहीं हुआ है। ज्ञानबलके साथ प्रतीतिका बल जुड़ते ही वहाँ आचरण - एकाग्रता हुई और आनंद उछला।

'गुण अनंत के रस सबै, अनुभव रसके मांही', अतः अनुभव समस्त जिनशासन है । (१४०)

※

भावमें स्वभावका आविर्भाव करनेकी रीतके बारेमें स्व. श्री दीपचंदजी कासलीवालके निम्न वचनामृत ('अनुभव-प्रकाश' में) अत्यंत प्रयोग पद्धतिको प्रकाशित करते हैं ।

१. 'ज्ञानका प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना, वह अनुभव है।'

समयसार-स्वस्वरूप - शुद्धात्मा कैसे प्रकाशित हो ? अर्थात् प्रगट हो ? कि 'स्वानुभूत्या'
नी ही अनुभवनरूप क्रियासे प्रकाशित है - ऐसा यह स्वयं अनुभूति स्वरूप खुद ही है।
वल अनुभवरूप' हूँ। - इस प्रकार स्वरूप प्रकाशनका संक्षेप है। विस्तारमें अन्य द्रव्य, भावके
ाव स्वरूप अनुभव अर्थात् ज्ञानवेदन है, और स्व-वेदनसे स्वानुभव है, उसका सन्मुख होकर
र वेदनके अभ्यासित भावसे निवृत्त होकर) अवलोकन होना चाहिये (अर्थात् ज्ञान अन्य ज्ञानसे
ाननेमें आये ऐसे नहीं परन्तु ज्ञान स्वयंका, ज्ञानवेदनका वेदन करे) - ऐसा सूक्ष्म और गंभीर
व इसमें है। (४१६)

⁂

आगम या अध्यात्ममें संतुलन गवाँकर आभासी हुए जीवको, उसकी मान्यताका सीधा निषेध
करनेसे प्रायः (किसी विशेष पात्रतावान जीवको छोड़कर) उस जीवको सम्यक् प्रकार भी सम्मत
नहीं होता है। इसलिये सत्पुरुषों ऐसे अवसर पर सीधा निषेध करनेके बजाय, सिर्फ 'आभास
रहित' वस्तुस्वरूपको सम्यक्दृष्टिकोणसे दर्शाते हैं, तब संभवतः पात्रता अनुसार विपर्यास छूटनेका
अवसर प्राप्त होता है। ऐसी पद्धतिके कारण विवाद / घर्षणमें आनेसे बच जाते हैं।
(४१७)

⁂

खुदके कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जीवोंमें भी क्वचित् कोई जीव ही परमार्थको प्राप्त
करता है, अतः संसारमें बोधि-दुर्लभता स्पष्टतया दृश्यमान होती है, फिर भी जो सदा (स्पष्टरूपसे)
प्रगटरूपसे अंतरंगमें प्रकाशमान है उस आत्माका स्वभावसे एकत्व स्वरूप, (निर्मल भेदज्ञानरूप
प्रकाशसे स्पष्ट देखनेमें आता है) कि जो अभ्यासके कारण तिरोभूत हो चुका था, इसलिये
खुदको आत्मज्ञता नहीं थी, तथापि दूसरे आत्माको जाननेवालेकी संगति - सेवा नहीं की होनेसे,
बोधि-दुर्लभत्व था, ऐसा समझमें आता है। (४१८)

⁂

जिस तरह दाह्याकाररूप परिणमित हुआ अग्नि, अग्नि ही है, उस प्रकार ज्ञेयाकार अवस्थामें
भी ज्ञायकभाव तो ज्ञायकरूप ही जाननेमें आता है क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें ज्ञायकको ज्ञेयकृत
अशुद्धि नहीं आती। ऐसी दृष्टि वह ज्ञायककी दृष्टि है अथवा सत्य स्वरूपकी दृष्टि है।
उसमें कर्ता-कर्म आदि कारकोंके भेद विलयको प्राप्त होते है, और शाश्वत प्रगट स्वयं प्रत्यक्ष
प्रकाशमान ज्योति ऐसा एक-अखंड भाव स्वरूप प्रतिभासित होता है - ऐसा स्वयं शुद्धात्मा
है। (समयसारजी गाथा - ६) (४१९)

⁂

आत्मभावना - स्वरूपप्राप्तिकी भावनामें सन्मार्गका बीज है । - (जैसे सन्मार्गका मूल सम्यक्त्व है वैसे ।) अंतरकी सच्ची भावनावाले मुमुक्षुजीवसे ही भेदज्ञान हो सकता है, दूसरेसे नहीं। भावनावाला ही स्वरूपको पहचान सकता है । और इसलिये भावनामें तथारूप रस होनेसे, परिणति जन्म लेती है । परिणति हुए बिना स्वरूपका उपयोग कैसे हो ? परिणतिके बिना जीव स्वरूपमें उपयोग जोड़ना चाहे तो भी वैसा हो नहीं सकता। पुनः जिसको आत्माकी भावना नहीं है, उसको संसारकी (रागकी) भावना है । उसका पुरुषार्थ / परिणति बाह्य दिशामें लगा हुआ / लगी हुई है । वह अंतर्मुख कैसे हो ?

परिणति बिना अंतर्मुख होनका विकल्प वह यथार्थरूपमें पुरुषार्थ नहीं है; बल्कि ऊपर-ऊपरकी इच्छा है । (१४४)

※

मिथ्यात्वके सद्भावमें मति-श्रुतज्ञानका क्षयोपशम पर रस - वेदन बढ़नेमे निमित्त बनता है; वही क्षयोपशम सम्यक्त्वके सद्भावमें, कषायरस टूटनेसे व अकषाय स्वरूपमें स्थिरता - रस बढ़ जानेसे, स्वसंवेदनरस / आत्मरस बढ़नेमें निमित्तभूत होता है । - यह स्वसंवेदन पूर्ण स्वसंवेनदका ही अंग है - अनंतसुखका मूल है । साधकदशामें निज परम पदमें सुस्थित आत्मवैभवको देखनेवाला मति - श्रुत है । (१४५)

※

परिणाम स्व-आश्रयभावसे स्वरूप निवास करता है । परिणाम वस्तुका (मेरा) वेदन करके स्वरूपलाभ लेता है । स्वरूप अस्तित्वको ग्रहण करना वह स्वरूप लाभ है । परिणामकी शुद्धि करनेमें इतना ही कार्य है । उपयोगस्वभावीका उपयोगसे अभेदभावसे ग्रहण होना वह स्वरूपाचरण - विश्राम है ।

'उवओगमओ जीवो' ईति वचनात् । (१४६)

※

अनंत-सर्वगुणोंमें ज्ञानगुण मुख्य है । ज्ञान बिना वस्तु स्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता। अतः ज्ञान प्रधान है - उर्ध्व है । वस्तुस्वभावका प्रसिद्ध - अविकृत साकाररूप, वेदनरूप, 'अनुभवरूप लक्षण' ज्ञान ही है इसीलिये ज्ञानकी प्रधानता अबाधित व अविसंवादीत है। ज्ञान निज वेदनका (ज्ञानकी वेदकताका) कभी त्याग नहीं करता; परवेदनके अभ्यासकालमें भी वेदनका त्याग नहीं होता और इसीलिये अज्ञानभावसे भी परका वेदन / भोगना हो नहीं सकता । निजवेदनको नहीं छोड़ता हुआ ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभावके कारण स्व-वेदनमें रहते हुए परको जानता है - अर्थात् परपदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हुए जाननेमें आते हैं । उसमें

समाधान :- भेदज्ञानके द्वारा यथार्थरूपसे अपना भिन्न ज्ञानमय स्वरूप प्रत्यक्ष उद्योतरूप, समाधान :- भेदज्ञानके द्वारा यथार्थरूपसे अपना भिन्न ज्ञानमय स्वरूप प्रत्यक्ष उद्योतरूप,
अंतरंगमें प्रगट प्रकाशमान परमार्थ सत्-रूप भगवान ज्ञानस्वभाव स्वरूप है - ऐसा जब जाननेमें
आता है तब आत्मरसके वेगपूर्वक परिणमन खिँचता हुआ अंतर्मुख होता है, व्याप्य - व्यापकभावसे
स्वभावमें केन्द्रित होता है।

प्रश्न :- ऐसा भेदज्ञान कैसे हो ?

समाधान :- ज्ञान अपने स्व-रससे स्वयं अपने स्वरूपको जाने तब ज्ञान अवश्य अपने आत्माको सर्व परसे भिन्न ही जानता है। (४३०)

※

**दिसम्बर - १९८९**

रस :- परिणाममें उत्पन्न होनेवाले रसमें मुख्यतः ज्ञानपूर्वक चारित्रभावकी लीनतारूप कार्य है। ज्ञानमें जो भी ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार होने पर, भावकी लीनताके कारण अन्य पदार्थकी / अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहना / न होना - वह रस है। परिणामकी शक्ति रसमें रही है। मिथ्यात्व अवस्थामें ऐसा विभाव रस इष्ट / अनिष्टपने के पूर्वग्रह / मान्यता सहित उत्पन्न होता है। इसलिये नौ तत्त्वमें - तत्त्वदृष्टिसे उसको 'बंध तत्त्व' कहा है। धर्मात्माको तो स्वरूप सावधानी रहती होनेसे विभावरस तीव्र ही नहीं होता। चारित्रमें क्षणभर तीव्रता हो भी जाय फिर भी उसमें चिकनाहट नहीं होनेसे परिणाम नहीं लंबाते, बल्कि उन्हें तो 'अनुभूति'में स्वभाव रस तीव्र होता है जिससे चिद्परिणति (उत्पन्न) होती है अथवा परिणति और मजबूत होती है। जैसे जैसे चिद्रस बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा विज्ञानघन होता जाता है, और विभावका क्षय होता जाता है। (४३१)

※

निर्पक्ष होकर अगर सत्संग किया जाये तो अर्थात् पक्षरहित / पूर्वग्रहरहित यानी कि एकांत आत्महितके लक्ष्यसे (आत्महितको मुख्य रखकर) सत्संग किया जाये तो 'सत् जाननेमें आये' अर्थात् सत् समझमें आये और फिर अगर कोई सत्पुरुषका योग हो (जिस योगके लिये 'आश्रयभावना' काफी वृद्धिगत हुई हो) तो सत्पुरुषकी पहचान हो सकती है यानीकि उस सत्पुरुषके संबंधित व्यवहारिक कल्पना छूटती है, (जगतमें वे जिसप्रकार पहचाने जाते हो उसप्रकारसे नहीं पहचानता) परन्तु खुदके परमहितका कारण जानकर समर्पित हो जाय तो अवश्य भवभ्रमण मिटता है। (४३२)

※

सत्पुरुषों जिसे सैद्धांतिक ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान मानते हैं, वह अति - अति सूक्ष्म

भासित होवे । निज परमपदरूप सहजपदको भानेसे 'आत्मभाव प्रकाशित होते हैं और आत्मशक्तिकी वृद्धि होती है ।' - निराकूल सुखामृतका आस्वादन आता है । (१५०)

※

शास्त्र वचनरूप - वाचक शब्द वह द्रव्यश्रुत है । उस शब्दके वाच्यभूत स्वभावभावको द्रव्यश्रुतके निमित्तसे भाना वह भावश्रुत है अथवा श्रुतज्ञानमें स्वरूपके 'अनुभवकरण' को भावश्रुत कहा है । वह इस प्रकारसे :-

'परमात्मा उपादेय है' ऐसे द्रव्यश्रुतका वाच्य अर्थात् उसरूप भाव वह भावश्रुतरस है, उसको पीओ । उससे स्वरूप समाधि होती है और अमरपद सधता है । (१५१)

※

पूर्वकर्म अनुसार प्राप्त संयोगोंमें, वह संयोग प्रगटरूपसे परद्रव्यस्वरूप होने पर भी, उसमें अपनत्व मानकर, जीव अपनेमें सुखकी कल्पना करता है - यह सर्वथा झूठ है - सबसे बड़ा झूठ है; जिसका दंड चारों गतिमें परिभ्रमण है - और जन्म-मरणादि दुःख है । सुख तो चैतन्यके विलासमें होता है - सुखभंडारमे से सुख उत्पन्न होता है। (१५२)

※

मोह वशात्, जो मनरंजक परिणामोंको जीव करता है, वह झूठे आनंदसे अपने आपको ठगता है । अगर जीव स्वरस परिणाम करे अर्थात् आत्मरसका सेवन करे तो परभावकी प्रीति बिलकुल न करे (क्योंकि आत्मरस निराकुल शांतरस है - परभावकी मिठासमें आकुलता होती है ।) अनंतमहिमा भंडार स्व-रूपका ज्ञानचेतनामें अपने रूपमें अनुभव करे तो अवश्य तिर जाये । (१५३)

※

आत्मार्थीका स्वरूप अर्थात् सम्यक्‌की यथार्थ भूमिकाके लक्षण :-

(१) लक्ष : जिसको एकमात्र मार्गप्राप्तिका लक्ष हो ।

(२) जिज्ञासा : जिसको अनंत जन्म-मरणसे-परिभ्रमणसे मुक्त होनेकी अपूर्व जिज्ञासा वेदनापूर्वक उत्पन्न हुई हो ।

(३) पूर्णताका ध्येय : जीवनमें संयोगी पदार्थोंकी प्राप्तिका ध्येय नहीं हो, परन्तु परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशाकी प्राप्तिका ध्येय हो ।

(४) भावना : अंतरकी गहराईसे उत्पन्न स्वरूप प्राप्तिकी अपूर्व भावना - जिसकी उत्पत्तिके पीछे राग-द्वेषकी भूमिका नहीं हो ऐसी वीतरागी भाव-भूमिका (अभिप्राय)के आधारसे उत्पन्न भावना हो ।

जनवरी - १९९०

मुमुक्षुजीवको सत्पुरुष व सत्‌शास्त्रके योगमें अनेक विध रूपसे उपदेशकी प्राप्ति अर्थात् जानकारी होती है, परन्तु अगर प्रयोजनकी तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टि हो तो ही 'स्वयंको आवश्यक ऐसे उपदेशको' ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें जुड़ता है अन्यथा जानकारीका संतोष आ जाता है। प्रयोजनकी तीक्षण दृष्टिवाला जीव ही ऐसी छटनी कर सकता है, अथवा सत्पुरुषके समीप रहकर, इस प्रकारसे मार्गदर्शन मिलने पर वह आत्महित साधनेमें धोखा नहीं खाता वरना वर्तमानकालमें भूल होनेसे बचना अति कठिन है। (४४२)

*

आत्मवस्तु गुण-धर्मआदि भेद सहित भी है और भेद रहित भी है। नयपक्षसे भेद ग्रहण होने पर रागकी उत्पत्ति अवश्य होती है, इसलिये समस्त नयपक्षको छोड़कर अभेद-शुद्ध स्वरूपका ग्रहण करनेसे पक्षांतिक्रांत दशा प्राप्त होती है अर्थात् वीतरागभावरूप समयसार हुआ जाता है। जिससे स्वरूपगुप्त होकर साक्षात् अमृत पिनेको मिलता है। इसलिये पदार्थ भेदाभेद स्वरूप होनेके बावजूद भी भेद सिर्फ जाननेका विषय है, ग्रहण करनेका विषय नहीं है। जो अभेद स्वरूपका ग्रहण करता है वही वास्तवमें तत्त्ववेदी है। (४४३)

*

धर्मात्माकी अंतरपरिणति अचल, अंतरंगमें उग्रतासे जाज्वल्यमान, और ज्ञाताभावरूप ज्ञानशक्तिसे अत्यंत गंभीर होती है। जिस निकटभवी जीवको उसका अंतर-दर्शन होता है, उसको यथार्थ बहुमान आता है, जो कि वास्तवमें आत्मस्वभावका ही बहुमान है, इसलिये इनकी पहचान करनेवाला अवश्य तिर जाता है। इस प्रकरणमें सुंदर दृष्टांत, एक है कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी और दूसरे है पू. श्री निहालचंद्रजी सोगानी। इन दोनों महात्माओंने वर्तमान अति दुषमकालमें मध्यम आर्थिक-सामाजिक कुटुम्बमें रहते हुए, प्रवृत्तिकालमें भी पूर्व प्रारब्धका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते हुए, जिन कर्मोंकी निर्जरा होनेमें वरना बहुत समय लग जाता, ऐसे कर्मोंको अल्प समयमें (अल्प आयु होने पर भी), बाह्य त्याग किये (हुए) बिना ही, निर्जरा करके 'एक भवतारी' पदको प्राप्त किया, मुमुक्षुजीवको इस चैतन्य स्वभावके लोकोत्तर-गंभीर चमत्कारको आत्महितके लक्ष्यपूर्वक समझने जैसा है।

पू. कृपालुदेव बाह्य प्रवृत्तिका त्याग चाहे तो कर सकते थे फिर भी उन्होंने प्रवृत्ति-निवृत्तिमें 'समभावमें' रहनेका बलवान पुरुषार्थ किया (और वह भी) संसारकी विचित्र एवं विकट परिस्थितिमें, दृढ़ निश्चयमें रहकर, लोकोत्तर विवेकसे प्रवर्तन किया है। उनकी इस प्रकारकी सूक्ष्म आचरणामें प्रबलरूपसे - वेगपूर्वक संसारको परिसमाप्त कर देनेकी पुरुषार्थमयी अलौकिक विचक्षणता एवं

(२०) तीव्र रुचि : तीव्र व गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषयको सूक्ष्म उपयोग से पकड़ता हो ।

(२१) गहरा मंथन : मूल वस्तुस्वरूपको गहरे मंथनपूर्वक समझनेकी पद्धति हो, साथ ही साथ आत्मरुचिकी पुष्टि होती हो ।

(२२) सत्पुरुषकी अंतर पहचानपूर्वक महिमा : सत्पुरुषोंके वचनोंमें रही `अनुभवकी' विधि की गंभीरताको `गहन चिंतवन पूर्वक खोजता हो' और जिसके कारण सत्पुरुषोंके वचनोंमें रहे पारमार्थिक रहस्यको समझ सकता हो, अतः सत्पुरुषोंकी अंतर परिणतिकी पहचान होनेसे सत्पुरुषकी `महिमा जिसको हृदयगत् हुई हो ।'

(२३) सर्व उद्यमसे पुरुषार्थ : पूरी शक्तिसे (शक्तिको छिपाये बिना) समग्ररूपसे जोरसे उल्लासपूर्वक प्रयत्न - पुरुषार्थ करता हो ।

(२४) विकल्पमें दुःख - भेदज्ञानसे : भेदज्ञानका प्रयास करनेवाला हो और तब विकल्पमात्रमें दुःख अंदरसे लगता हो, और आत्मस्वभावके विकल्पसे भी अंदरसे हटनेकी वृत्ति हो, (ऐसी स्थिति अनुभवकी समीपतावाले जीवको होती है ।)

(२५) कही भी सुहाता नही हो : उदयभाव बोझरूप लगे, अतः उदय प्रसंगोंमें कहीं भी सुहाता नही हो ।

(२६) स्वकार्यकी शीघ्रता-वृत्ति : स्वकार्य `बादमें करुँगा' ऐसा प्रकार परिणमनमें नहीं हो, परन्तु अगर अभी हो सकता हो तो बिना विलंब किये इसके लिये तत्पर हो । अर्थात् शीघ्रता/सावधानीमें `बादमें करुँगा' उस प्रकारका अरुचि - सुचक प्रकार नही हो ।

(२७) प्रत्यक्ष सत्पुरुषके प्रति एकनिष्ठा, सर्वार्पणबुद्धि : प्रत्यक्ष-योगमें सत्पुरुषके सर्व विकल्पको अनुसरनेका भाव रहता हो, एकनिष्ठासे आज्ञाका आराधन करनेका भाव हो, अर्थात् सर्वार्पणबुद्धिसे वर्तता हो ।

(२८) गुण प्रमोद : स्वयंको गुण प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे, अन्य जीवमें गुण दिखे तब प्रमोदभाव सहज आता हो ।

(२९) अंतरसे निवृत्त होनेकी वृत्ति : अंतरमें निवृत होकर स्वकार्य करनेकी लगन हो।

(३०) ब्रह्मचर्यकी चाहना : सेंकड़ो - हजारो विकल्पोंकी परंपराका मूल (सर्जक) ऐसे अब्रह्मचर्यको जानकर, विकल्प जालकी वृद्धिको अटकानेवाले ब्रह्मचर्यकी चाहना रखता हो।

(३१) मध्यस्थभावसे निजदोष देखनेवाला : स्वयंके दोषको अपक्षपातरूपसे देखनेके पीछे, दोषको मिटानेका दृष्टिकोण हो, ज्ञानमें मध्यस्थता हो जिसके कारण स्वच्छंदकी उत्पत्ति नहीं हो ।

तीव्र भावना होनेके पश्चात सत्संगका योग मिलता है, तो वह जीव प्रायः प्राप्त सत्संगको निष्फल होने नहीं देता। पुनः जो जीव दुर्लभ सत्समागम प्राप्त होने पर भी दुर्लक्ष करता है, उसका शुरूआतसे ही अक्षम्य अविवेक होनेके कारण उसका कोई ऊपरकी भूमिकामें विकास नहीं हो सकता। ऐसी वस्तुस्थिति है; ऐसी वस्तुस्थितिसे अनजान जीव, कोई भी अन्यथा प्रयत्नमें चढ़ जाता है और वृथा समय खोता है। मनुष्यत्व हार जाता है। (४५३)

※

मुमुक्षुजीवको शास्त्र-सिद्धांत सम्बन्धी क्षयोपशमका विकास होने पर विशेष (अभिनिवेश, नहीं हो, इसके लिये) जागृत रहना आवश्यक है। उसमें भी खास करके साधर्मी मुमुक्षुओंके बीच तत्त्वचर्चा अथवा स्वाध्यायके वक्त 'मै जानता हूँ' ऐसे भावमें अथवा उपदेशकके स्थानमें रहकर सत्संग कर्त्तव्य नहीं है, परन्तु खुदको जिसप्रकार पदार्थका स्वरूप अथवा उपदेशका स्वरूप भासित हुआ हो, उसप्रकारसे निवेदन कर्त्तव्य है। और वह भी जिस प्रकार आत्मार्थ सधे उस प्रकार (खुलासा) स्पष्टीकरण सहित, जिससे सामनेवाले आत्मार्थीको सच्चा-झूठा ठहरानेका भाव नहीं है, ऐसा लगे और वात्सल्य बढ़े। उस प्रकारसे सत्संग होना - वह योग्य है। (४५४)

※

**फरवरी - १९९०**

शुद्धात्म स्वरूपका अवलंबन सहजरूपसे रहा करे, यह सर्व उपदेश बोधका तात्पर्य है, तो ही दशा पूर्णताको प्राप्त होती है। सूक्ष्म कालके लिये भी शुद्धात्म स्वरूपका अवलंबन छोड़ने जैसा नहीं है। वह छूटनेसे जीव अवश्य बंधता है, जहाँ केवल अंधकार है, चैतन्यका प्रकाश नहीं है। शुद्धनय जीवकी परिणतिको अनन्त महिमावंत स्वरूपमें जोड़ता है। उसके (शुद्धनयके) अभावमें जीव रागमें बंधता है। यह शुद्धनय सर्व कर्मोंका मूलसे नाश करनेवाला है। (४५५)

※

आत्मा / आत्म सामर्थ्य और इसके आधारसे उत्पन्न परिणाम अतुल है। सातवीं नर्ककी प्रतिकूलता, और स्वर्गकी उत्कृष्ट अनुकूलतासे निरपेक्ष रहकर स्वभावके बलसे सम्यक्दर्शनादि भाव उत्पन्न होकर चालू रहते हैं। जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है उसे कोई परद्रव्य अज्ञानरूप परिणमन नही करा सकता। अरे ! तीनों लोकसे भी उसे नहीं तौला जा सकता, वैसा अतुल-अमाप एक समयका परिणाम-सामर्थ्य जिसका हो, उसके त्रिकाली अक्षय स्वरूपकी शक्ति कैसी अचिंत्य एवं आश्चर्यकारी होगी !! इसका सहजरूपसे स्वीकार हो सकता

है, जिसके अनेक लक्षण - प्रकारोंको समझकर उसको मिटाना अथवा उसप्रकारके परिणाम जिसको नही हो; ऐसे कुछएक प्रकारोंका संक्षिप्त विवरण :-

(१) 'मै समझता हूँ' - ऐसा अहंभाव : परलक्षी शास्त्रके उघाड़में 'मै समझता हूँ' ऐसा अहंभाव; और वैसे अहंकारवश ज्ञानीके वचनकी तुलना अपने अनुसार करना ।

(२) खुदके-परके दोषका पक्षपात होना : खुदके 'दोषका पक्षपात होना'- बचाव होना, एवं जिसके प्रति राग-ममत्व हो ऐसे दूसरोके 'दोषका पक्षपात होना' ।

(३) ज्ञानीके वचनमें शंका होना : सत्पुरुषके वचनमे शंका होना ।

(४) ज्ञानीके वचनमें भूल देखना : सत्पुरुषके वचनमें भूल देखनेका / खोजनेका परिणाम होना ।

(५) मानीपना - लोकसंज्ञा रहती हो : जहाँ-जहाँ मान मिले वहाँ आकर्षण रहे अथवा रुचे; मान मिलनेके हेतुसे मन-वचन-कायाकी प्रवृत्ति होना - समाजकी मुख्यता होकर आत्मसाधन गौण हो (जिसे शास्त्रमें लोकदृष्टि कही है ।) जहाँ बहुमान हुआ हो - होता हो, ऐसे समूहमे वह मान बना रहे - उस प्रकारका अभिप्राय अथवा परिणति रहे तद्अनुसार शुभ (?) की प्रवृत्ति करे अथवा स्वच्छंद तीव्र हो जाने पर अनैतिक अशुभ प्रवृत्ति भी करे ।

(६) सत्पुरुषके उपकार प्रति कृतघ्नी होना : सत्पुरुषके उपकार प्रति कृतघ्नी होना।

(७) सत्पुरुषके वचन प्रति अप्रीति : सत्पुरुषके वचनामृत प्रति अचल प्रेमका अभाव।

(८) सत्पुरुषके प्रति परम विनयकी ओछप : प्रत्यक्ष सत्पुरुषके प्रति परम विनय-अत्यंत भक्तिका अभाव । (सामान्य विनय होना, ऐसी कमी भी योग्य नहीं है ।)

(९) सत्पुरुषोंके उदयभाव-कार्यमें अपने अनुसार कल्पना रहनी ।

(१०) सत्पुरुषके आचरणमें रागकी - चारित्रमोहकी मुख्यतासे दोष देखना : सत्पुरुषके बाह्य आचरणमेंसे चारित्रमोहके दोषको मुख्य करना ।

(११) शास्त्रकी धारणाकी मुख्यतामें अध्यात्म गौण होना - मार्गकी सूझका अभाव : बाह्य ज्ञान - शास्त्रकी धारणा - पर झुकावके कारण, अंतरमें मार्गकी सूझ नहीं पड़ना, अध्यात्मकी गौणता होना ।

इत्यादि प्रकारके परिणाम स्वच्छंदकी तीव्रता अथवा मंदताकी विद्यमानताके द्योतक है।

(४२) असरलता - हठाग्रहका अभाव : असरलता, हठाग्रह, ज़िद, - इस प्रकारके भाव नहीं हो, क्योकि परम सरलतारूप ऐसा अंतर्मुखताके झुकावको यह असरलभाव अवरोधक है ।

(४३) क्षयोपशमकी महत्ताका अभाव : क्षयोपशमकी विशेषताके कारण बड़प्पनकी इच्छा-

७. नित्य एक अचलपना होनेके कारण --- अकस्मात भय नहीं होता।

अतः इस प्रकारके परिणामसे होनेवाला बंध नही है बल्कि निःशंकतादि गुणोंका परिणमन पूर्वकर्मकी निर्जरा होती है। (४६४)

*

सत्संग (मुमुक्षुके लिये) सर्वोत्कृष्ट साधन है ऐसा सर्व समर्थ महापुरुषोंने कहा है - यह रम सत्य है। अत्यंत अनुभवपूर्ण व महत्वपूर्ण ऐसा यह सत्य वास्तवमें (सचमुच) मुमुक्षुजीवको ।।वमरणसे बचानेके लिये 'अमृत' ही है। जो जीव सत्संगके लाभको नहीं समझ सकता है, ह प्रत्यक्ष सत्संगको गौण करके, साधनांतरको - आगम आदिको मुख्य करता है, वह निश्चितरूपसे ूल कर रहा है।

सत्संग दो प्रकारसे उपलब्ध होता है (१) सत्पुरुषकी चरणसमीपता - जो उत्कृष्ट सत्संग है, कि जिसकी उपासना परम भक्तिसे कर्त्तव्य है - (वैराग्य समेत सरलपरिणामसे) सेवन करने योग्य है।

(२) दूसरा उपरोक्त परम सत्संगके अभावमें आत्मार्थी जीवोंका परस्पर इकट्ठे होकर, सन्मार्गके प्रति प्रगति करनेके हेतुसे, निष्पक्षतासे अपने दोषोंको मिटानेके हेतुसे, स्वरूपप्राप्तिकी भावना वृद्धि हेतु, धर्म / तत्त्वकी चर्चा करना, वह है।

मुमुक्षुजीवको उपरोक्त विषयको अनुभवसे समझकर उसका मूल्यांकन करने योग्य है। सत्संगकी उपेक्षा करनेवाला अगर तत्त्वकी अपेक्षा रखे तो वह व्यर्थ परिश्रम होता है - यह लक्षमें रखने योग्य है। (४६५)

*

मार्च - १९९०

मोक्षमार्गमें जो विधि-निषेधरूप परिणाम है, वह हेय-उपादेयरूप विवेकपूर्ण परिणमन है। उस विवेकसे उत्पन्न अर्थात् इसके फलस्वरूप वीतरागभावमें स्थिर होने पर विधि - निषेधका अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टा भावमें रहने पर निर्द्वंद्व भाव होकर केवल समभाव रहता है; इसीलिये भव और मोक्षका परम विवेक करनेवाले कृपालुदेव 'भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो' - ऐसी असंगदशाकी उपासना करनेकी भावना समेत निर्द्वंद्व - निज स्वरूपमें स्वरूपभूत परिणामसे अभेदत्व साध्य करके शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायोंके प्रति उपेक्षाभाव सहजरूपसे रहे - ऐसी भावना भायी है। समभावी आत्मस्वरूपके आश्रयसे तदाकार समभावका वेदन करनेके प्रकारका यह प्रसिद्धत्व है। इसप्रकार मोक्षमार्गमें विधि-निषेध भी है और उसका अभाव भी है। मोक्षमार्गमें ऐसी परस्पर विरुद्ध दिखती हुई दशा होने पर भी, अनेकांतिक संतुलन और साम्य - समिकपनेके

अभाव : संदिग्ध अवस्था नही हो, संदिग्ध अवस्थाके कारण (१) ज्ञानप्राप्तिके लिये अनेक ग्रंथोंका अध्ययन करने पर अनेक प्रकारके संदेहकी उत्पत्ति होना, जिसके कारण प्रयोजनभूत विषय पर लक्ष नहीं जाता । प्राय: अप्रयोजनभूत विषय पर वज़न रहता है और उसमें अटकता है । (२) सत्पुरुषका प्रत्यक्ष समागम होनेके बावजूद भी पहचान नहीं हो, सूक्ष्मरूपसे सत्पुरुषके मन, वचन, कायाके उदय परिणामके प्रति संदेह रहना अथवा कहीं न कहीं अविश्वास - अप्रतीतिके योग्य बात लगना;

(५१) भेदकी रुचिका अभाव अथवा अभेद - परमार्थमें अरुचिका अभाव : ज्ञानके भेद-प्रभेदमें (गुणभेद, पर्यायभेद, अनेक प्रकारके न्याय, नयज्ञान, कर्मबंध - उदय- सत्ताके भेदोमे) रुचि होनेसे अभेद परमार्थ विषयमें रस उत्पन्न नहीं हो - ऐसा नही होता ।

(५२) बाह्य ज्ञानको ज्ञान प्राप्ति (मानना) अथवा अतिपरिणामीपनेका अभाव : शास्त्रके बाह्यज्ञानमें ज्ञानप्राप्ति मान ले, अत: सम्यक् परिणमनके अभावमें भी अपना महंतपना मान लेना, कोई दूसरा माने तो अच्छा लगना - जिसको अति परिणामीपना कहते है, जानकारीका / ज्ञानका प्रदर्शन करनेका भाव इत्यादि प्रकार नही हो ।

(५३) क्षयोपशम होनेसे जिज्ञासा मिट जाये ऐसी स्थितिका अभाव : ज्ञानके क्षयोपशममे निश्चय - व्यवहार आदि समझमें आये, परन्तु फिर भी जब तक मार्गकी विधि पकड़मे नहीं आये तब तक अथवा साक्षात् अनुभूति नहीं हो तब तक जिज्ञासाका अभाव नहीं हो ।

(५४) निंदा - प्रशंसा हेतु प्रवृत्तिका अभाव : शास्त्र संबंधी - (देव-गुरु-सत्पुरुष संबंधी) कोई भी प्रवृत्ति मानार्थ नहीं हो, तीर्थकी - शासनकी कोई भी प्रवृत्तिमें खुदके मानका लक्ष नहीं रहता हो - नहीं हो, दृष्टांत रूपसे श्रीमद्जीका वचन - 'निंदा-प्रशंसा हेतु विचारवान जीव प्रवृत्ति नहीं करता।'

(५५) क्रिया द्वारा असत् अभिमानका अभाव : क्रिया संबंधी मिथ्या-आग्रह नहीं हो, कि जिसके कारण असत् अभिमान हो अर्थात् देहात्मबुद्धि दृढ़ हो और व्रत-संयमादिकी दैहिक क्रियामें आत्माकी क्रिया माननेसे असत्में सत् मानना हो अथवा मानार्थ बाह्यक्रिया नहीं हो।

(५६) क्रिया द्वारा सिद्धिमोहका अभाव : बाह्य अनुकूलता (पुण्यके फलकी) अभिलाषासे अथवा सिद्धिमोहरूप निदानभावों सहित क्रिया नहीं करता हो ।

(५७) अध्यात्मका व्यामोह अथवा शुष्क अध्यात्मीपनेका अभाव : बाह्यलक्षसे जानकारी करनेके लिये अथवा अन्यथा प्रकारसे तत्त्वका ग्रहण होनेसे, अकेला अध्यात्म चिंतवन अर्थात् शुष्क अध्यात्मीपना (भावभासन बिना - ज्ञानरस बिना) हो जाने पर विकल्प व अध्यात्म भाषाका रस - वाणीका रस - जो कि पुद्गल रस है - वह अध्यात्मका व्यामोह है । ऐसा प्रकार नहीं

, बल्कि यदि सहजभावसे होवे, तो ही वह योग्य है, और उस विषयमें जो यथार्थ
होते हैं वे अवश्य स्पष्टता करते ही है' जो जीव मोक्षमार्गके परिणामोंकी ऐसी
कैसे उत्पन्न हो उसकी विधिको नही जानते हैं वे अनादि पर्यायके कर्तृत्वको नहीं
। वे लोग वर्तमान अवस्थामें 'मै पना' कायम रखे हुए स्वरुप-दर्शन, स्वरुप ध्यान,
प्रयत्न करते हैं, परन्तु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती। इस तरह यथार्थ
, क्रमका विचार करते हुए जिसको खुदके मूल स्वरुपका (अपनेरुपमें) भावभासन होता
आश्रयभूत मूल निज शुद्धात्मपदमें 'मैं-पना' सहज होता है - और ऐसा होने पर
उत्पन्न ऐसे सम्यक्दर्शन, स्वरुप लीनता आदि पर्यायोंका ज्ञान होता है अर्थात् अकर्तृत्व
ज्ञान रहता है। इस प्रकार उपदेशात्मक वचनोंका और कार्यकी यथार्थ विधिमें अविरोधपना
योग्य है, अन्यथा उपदेश-श्रवण अनुसार अविधिसे प्रयत्न करने पर तो पर्यायका एकत्व
हो जाता है; और जिससे दर्शनमोहकी वृद्धि हो जाती है। (४७५)

※

भावना और इच्छामें बहुत अंतर है। शुरुआतमें ही पूर्ण शुद्धिके ध्येय वश मुमुक्षुजीवको
अभिलाष, स्वरुप प्राप्तिकी भावना, आत्मशांतिकी भावना इत्यादि भावनारुप परिणाम होते
तत्संबंधी यथार्थ प्रयत्नका अभ्यास अवश्य होता है और तभी वह भावना सच्ची
वैसे प्रयत्न - अभ्यासका केन्द्रस्थान खुदका ध्रुव स्वरुप होता है। जिसके कारण
भावनामें संतुलन गवाँकर पर्यायके प्रति ज़ोर या पर्यायत्वके रससे सिर्फ पर्यायका अवधारण
पर्यायबुद्धि दृढ़ नहीं होती, बल्कि केन्द्रस्थानमें ध्रुव स्वभाव होनेसे पर्यायबुद्धि मिटती है।
जब कि मोक्षकी इच्छामें तत्सम्बन्धित ऊपर-ऊपरका आकांक्षाभाव है, जो पर्यायाश्रित
होनेसे उसमें विधि-निषेधके कृतक उपाधिरूप उछाले आते रहते है कि जिससे
दृढ़ होती है। (४७६)

※

प्रश्न :- सत्श्रुत अनुसार विचारकी भूमिकामें अपना मूल स्वरुप समझमें और सम्मत
पर भी उसका भावभासन नही होता है अर्थात् खुद उस रूप भासित होने लग जाय,
परिणमन चालू नही होता है - लक्ष नहीं बंधता है, उसका क्या कारण?
समाधान :- उसका मुख्य कारण दर्शनमोहका प्राबल्य है। जिसके कारण उलटा निश्चय
नहीं है - "वर्तमान पर्याय जितना - जैसा ही मै हूँ - यह निश्चय बदलता नही
सामर्थ्यहीन संसारी जानते हुए प्रवर्तता है। झूठको सच माना है और चालू वर्तमान
जो (संसारी) है, उसकी आधारबुद्धि छोड़ता नही है। इसके अतिरिक्त (परलक्षी) जानपना

वैसे ही भावलिंगी गुरुके सिवा गुरुबुद्धि नहीं हो एवं द्रव्यलिंगी या लिंगाभासी - अन्य लिंगीके प्रति गुरु / पूज्य बुद्धिसे, धर्म बुद्धिसे-त्रियोगसे प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि उसमे विपरीत अभिनिवेष होता है ।

वैसे ही सुशास्त्र व कुशास्त्रके बीच विवेक कर्त्तव्य है । कुशास्त्र माने अन्यमतके शास्त्र अथवा मिथ्यादृष्टिने रचे हुए शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा - विनय रखकर, सत्शास्त्रोंको पढ़े - सुनाये तो उसमें लाभ नही होता।

वैसे ही, सत्पुरुषके प्रति श्रद्धा, विनय होनेके बावजूद भी, असत्पुरुषमें - उसके वचनमें श्रद्धा, विनय करनेसे अयथार्थता / विपरीत अभिनिवेष उत्पन्न होता है । और प्रत्यक्षयोग- अयोगरूप हो जाता है ।

उपरोक्त विषयका मुमुक्षुजीवको, विचारवान जीवको गंभीरतासे विचार करने योग्य है। (१५६)

※

पात्रता :

१. जिसे एकमात्र निजस्वरूपके सिवा जगतमेंसे कुछ भी नही चाहिए - यह विशिष्ट प्रकारकी पात्रता है।

२. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक, एकनिष्ठासे सत्पुरुषकी आज्ञा शिरोधार्य करनेवाला वर्तमान पात्र है।

३. पात्र जीवको स्वरूप विचार, चिंतन आदि चलने पर भी स्वानुभवके अभावकी खटक रहा करे और असंतोष रहता है।

A-३. अनेक प्रकारके मोहासक्ति जन्य परिणाम होने पर उनमें उलझनका अनुभव होना, यह पात्रताका सूचक है।

४. गुणसे उत्पन्न सुखकी रुचिवाला और गुणग्राही।

५. उदयभावमें कहीं न रुचे, इसलिए उदयभावोंमें जोर-उत्साहका अभाव। पात्रतावश सहज ऐसा होता है।

६. क्षयोपशमज्ञानसे सम्मत किये बोधको शीघ्र प्रयोगमें लानेवाला भी वर्तमान पात्र है।

७. जिसको दर्शनमोह मंद (शिथिल) होनेसे पदार्थके यथार्थ निश्चय करनेकी क्षमता प्रगट हुई है। वह उत्तम पात्र है।

'स्वरूप निर्णय वह पात्रता है।' (पूज्य गुरुदेवश्री वचनामृत - १९)

८. शास्त्रवचनोंकी यथार्थ जानकारी सहित यथायोग्य स्तरके व्यवहार-परिणाम होने पर भी उसका / व्यवहारका रस न चढ़ जाये, ऐसी जागृति वर्तती हो।

जिसका अत्यंत गंभीर उपयोगसे विचार कर्तव्य है। (४८५)

※

देहात्मबुद्धिके कारण मनुष्य जीवनके प्रत्येक स्तरमें मानवी भविष्यके संयोगों / अनुकूलताओंके बारेमें चिंतित - निरंतर चिंतित रहता है और वैसा होना अनिवार्य है क्योंकि अज्ञानके कारण जीव अनित्य पर्यायोंकी नित्यता रखना चाहता है। अतः वर्तमान अनुकूल संयोगों होने पर भी निरंतर दुःख / मानसिक अशाताका ही वेदन करता है। जब कि ज्ञानी तो वर्तमानमें ही उदित संयोगोंसे भिन्न हो चुके है और भवउदासी दशा होनेसे, भविष्यकी एक क्षणकी भी (विचार) चिंता उनको नहीं होती। तथापि संयोगोंके प्रति निस्पृहवृत्तिके कारण उन्हें दीनता नहीं होती। चैतन्यकी अनन्त महिमामें डूबे होनेसे, सहजरूपसे उपरोक्त अंतर-बाह्य निरुपाधिदशा रहती है। (४८६)

※

अनादिसे आत्मस्वरूपसे अनजान जीवको स्वरूपकी पहचान असाधारण लक्षणके बिना हो ही नहीं सकती। अर्थात् लक्षणके बिना लक्ष्य स्वरूपकी पहचान अशक्य है। अतः जिसको अपने ज्ञानमें प्रवर्तता ज्ञान स्वयं ही प्रसिद्धरूपसे / लक्षणरूपसे जाननेमें आता है, उसको ही ज्ञानमें रहा ज्ञानमय आत्मस्वभाव जो लक्ष्यरूप है वह (सामान्यरूप होने पर भी, उस रूप) प्रगटरूपसे ज्ञानमें जाननेमें आता है, प्रसिद्ध होता है। उक्त ज्ञान स्वयंके (विशद्) वेदनसे अर्थात् स्वसंवेदनसे प्रसिद्ध है (ज्ञेयको जाननेसे नहीं)।

अतः जो जीव निजके प्रवर्तते हुए ज्ञानावलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञान-वेदन तक पहुँचता है, उसे अभेद स्वरूपका भावभासन होता है, जो कि स्वानुभवका अनन्य कारण है; सम्यक्त्वका कारण है; `सुधारस' है। (४८७)

※

`वर्तमान है वह त्रिकालीको प्रसिद्ध कर रहा है।' (परमागमसार - ४१८) जैसे हाथसे गिर गया हीरा लुढ़कता है तो तुरंत नजरमें आता है, वैसे पलटता हुआ वर्तमान ध्रुवको प्रसिद्ध करता हुआ पलट रहा है। अनित्य अवयव द्वारा नित्यस्वरूप जाननेमें आता है, और यह अनित्यमें मालूम पड़ता है, तब वहाँ नित्य-अनित्य परस्पर विरुद्ध होने पर भी सर्वथा भिन्न नही है। नित्य द्वारा अनित्य पर्यायोंमें एकत्वशक्तिके कारण व्याप्त है, कि जो एकत्वशक्ति अनेक पर्यायोंमें व्यापक `एक द्रव्यमयरूप' सदा है। इसके बावजूद भी द्रव्यत्व है वह पर्यायत्व नहीं है और पर्यायत्व है वह द्रव्यत्व नहीं है। ऐसा परस्पर अतद्भाव एक द्रव्यमें है, फिर भी विरुद्ध-धर्मत्वशक्ति वह वस्तुका स्वभाव होनेसे, अविरोधपने वस्तु रहती है। - इस प्रकार

ही जीव प्राप्त कर सकता है। अतः पात्रताका महत्त्व समझने योग्य है। (१५७)

※

जैसे लोकमें पराक्रमी पुरुषको नेताके स्थानमें स्थापित किया जाता है और लोग उनका अनुसरण करते है । जो स्वयंके पराक्रमसे खुद नेता हुआ है, वह दूसरोंके सहयोगसे नेता नहीं हुआ । दूसरे लोग तो उस पराक्रमी पुरुषका गौरवपूर्वक अभिवादन करते है, फिर भी (परन्तु) जगतमें उस प्रकारकी प्रसिद्धिको पुण्यकी अपेक्षा है ।

जब कि आत्माका अध्यात्ममार्ग तो लोगोंसे निरपेक्ष होकर स्वयंके अंतर पुरुषार्थसे अंदरमें विचरनेका है । उसमें लोकोत्तर पराक्रम है, जो कि जगतसे और पुण्यसे निरपेक्ष है । यह मोक्षमार्गका अलौकिक गौरव है । अगर मोक्षमार्गी जीवको *(पूर्व पुण्यका उदय हो तो)* भी सबलोग मानते हो, बहुमान करते हो, प्रशंसादि करते हो, तो भी खुद वैसे लोगोंका प्रेमसे-रागसे परिचय नही करता, (बल्कि) प्रशंसा आदिसे निरपेक्ष रहकर अंतरमें विचरता है। अगर खुद रागसे परिचय करता है, अथवा पहले हो गये परिचयमें वृद्धिका प्रयास करता है-अथवा खुद ऐसी अपेक्षा रखे तो खुदका ही पतन हो जाय - क्योंकि परकी अपेक्षाबुद्धि वही निर्बलता है । जो कि अंतर-पुरुषार्थ व निज अनंत सामर्थ्यसे विरुद्ध - विराधक भाव है । (१५८)

※

कोई महाभाग्य (!) - महापात्र जीवको छोड़कर प्रायः मनुष्य जीवने अनंतकालसे सत्पुरुषको नही पहचाना है । पहचाननेकी योग्यता भी प्राप्त नहीं हुई है । - इसलिये अनंतबार (भूतकालमें) सत्पुरुष मिलने पर भी जीवको प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग-अयोग समान ही रहा है; कि जिस योगमें जीव जन्म-मरणके चक्करसे छूट सकता है । इसे वास्तवमें ही 'विधि' की करुणता समझनी होगी ।

इस प्रकार अनंतकालके परिभ्रमणका नाश होनेका योग वृथा नहीं हो, इस हेतुसे निस्पृह भावसे व निष्कारण करुणा भावसे कोई प्रसिद्ध महात्मा - अन्य सत्पुरुषकी ओर अंगूली निर्देशन करते जाते है । वह उनका अनुपम व अनंत उपकार है। सत्पुरुषको पहचाननेकी क्षमता नही हो ऐसे जीव सामान्यतः पूर्वग्रहपूर्वक सत्संगकी उपासना करते है। वहाँ 'यह सत्पुरुष है' ऐसा पूर्वग्रह बांधकर - अंतरसे स्वीकार करके, अर्पणता पूर्वक समागम करनेसे, योग्यता प्राप्त होकर जीव निज कल्याण साधनेमे अग्रेसर होता है । ज्ञानीकी पहचान बिना, जब सत्समागम प्राप्त होता है तब - तत्त्वज्ञानके श्रवणकालमें 'कोई विद्वान तत्त्वचर्चा कर रहे है' - ऐसे पूर्वग्रहपूर्वक प्रायः सत्संगकी उपासना होती है । और इसलिये योग्यता रुक जाती है क्योंकि उसको

(१) संसारमें अर्थात् संसारिक कार्योंमें - कार्योंके फलमें बिलकुल उदासीनता / नीरसता होना। (२) अन्य मुमुक्षुके अल्पगुणमें भी प्रीति। (३) खुदके अल्प दोषके प्रति भी अत्यंत खेद। (४) दोषके अभावमें वीर्यकी स्फुरणा अर्थात् दोषका अभाव करनेके लिये अत्यंत उद्यमवंत होना - और अभाव होने पर विशेष आत्म प्रत्ययी पुरुषार्थका - चैतन्यवीर्यका स्फुरना। (५) समयमात्र भी प्रमादका सेवन नही करते हुए निरंतर जागृत रहना। (४९८)

✻

मई - १९९०

'अवलोकन' बिना वेदन सम्बन्धित विषय सहीरूपमें समझमें नहीं आता है। नास्तिरूप भावोंमें आकुलता है, विकल्पमात्र दुःखरूप है इत्यादि आगम, न्याय, युक्ति, अनुमानसे समझमें आनेके बावजूद भी इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके वक्त, इच्छाकी पूर्तिके कारण कषायकी अल्प मंदता, कल्पनामात्र रम्य लगती है। जिसके कारण भोग-उपभोगके भाव - अशुभ भाव जो कि वास्तवमें तीव्र कषायरूप होनेसे तीव्र आकुलता सहित है फिर भी 'अवलोकन'के अभावके कारण उस वक्त दुःख नहीं लगता - नहीं समझमें आता है बल्कि सुखकी भ्रांति चालू रह जाती है; अगर 'अवलोकन' होगा तो ही दुःख भासित होगा और दुःख मिटनेका अवसर आयेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है। (४९९)

✻

लोकसंज्ञा मुमुक्षुजीवको आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें मुख्य प्रतिबंधक कारण है। लोकसंज्ञाके कारण जीवको प्रगट आत्मस्वरूप बतलानेवाले सत्पुरुषके वचन भी असर उत्पन्न नहीं करा सकते। इसलिये उसको साक्षात् आत्मघाती जाने बिना, कालकूट ज़हर जाने बिना, उससे उदासीन - उपेक्षित नहीं हुआ जा सकता और तब तक जीव आगम द्वारा अपने स्वरूपका निश्चय करने जाता है तो भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनाको प्राप्त होता है, जिसके कारण दर्शनमोह तीव्र होकर गृहीत मिथ्यात्वकी उत्पत्ति हो जाती है। लोकसंज्ञावान जीवको तीव्र बाह्यवृत्ति रहा करती है, जो कि अंतर्मुखतासे विरुद्ध होनेके कारण, अंशतः रागसे हटकर आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं होने देता अथवा निश्चय होनेमें दुर्लभता हो जाती है। (५००)

✻

आत्माका विचार भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे करनेमें ओघसंज्ञा भी एक कारण है। जिसमें जीव ज्ञानलक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करनेके बजाय सिर्फ विचार / कल्पनासे, रागके आधारसे, रागकी मुख्यता छोड़े बिना, आत्मपदार्थका निर्णय करके मिथ्या संतोषका अनुभव करता है। परन्तु वैसे कल्पित पदार्थमें सत्‌की मान्यतासे स्वरूपका सहज

प्रकारसे अगर ज्ञानका आधार लेनेमें आये तो ही रागसे भिन्न पड़ सकता है । रागसे भिन्न होनेमें इस प्रकारकी कार्यपद्धति अनिवार्य है । जिसे समयसारके निर्जरा अधिकारमे 'ज्ञानगुण' कहा गया है । इसके अलावा दूसरा कोई उपाय - मार्ग नहीं है । अन्य उपाय करनेसे रागादिकी उत्पत्ति होती है - यह विधिकी भूल है । क्योंकि जहाँ रागादिसे ही भिन्न होना है वहाँ रागका उत्पादक उपाय करते-करते भिन्नता कैसे होगी ? ज्ञानके आधारसे ज्ञानवेदनकी उत्पत्ति होती है । (१६४)

❋

भेदज्ञान होनेमें ज्ञान और रुचिका सुमेल है । परम स्वभावकी अत्यंत रुचि और स्वभाव प्राप्तिकी अपूर्व भावनाके बिना भेदज्ञान हो नहीं सकता । स्वभावकी रुचि और रागसे भिन्न पड़नेवाला ज्ञान आगे बढ़कर स्वरूपग्रहण करके स्वसंवेदनभावरूप परिणमित होता है, तथापि श्रद्धा अभेद स्वरूपश्रद्धारूप परिणमित होती है कि वहाँ रागसे प्रत्यक्ष भिन्नता हो जाती है, राग-मलिनताकी अरुचि होती है । इस प्रकारसे ही स्वकार्यकी निष्पत्ति है; अर्थात् कोई जीव अकेले ज्ञानसे अथवा अकेली दृष्टिसे स्वकार्यकी प्राप्ति करना चाहे / कल्पना करे, तो वह विधिसे अनभिज्ञ है । कल्पना वास्तविकतासे बहुत दूर है । (१६५)

❋

जगतवासी संसारीजीवकी विषयतृष्णा अनंत है, उसको व्यसनकी तरह तलप लगी ही रहती है - ऐसी स्थितिमें पूर्वकर्म अनुसार संयोगिक फेरफार होने पर जीव संयोगके रसमे चढ़ जाता है, अनुकूलतामें प्राय: (कर्ताबुद्धिके कारण) संयोगोंका रस विशेष चढ़ जाता है तो कभी प्रतिकूलतामें ज्यादा खेदखिन्न होकर रसको भोगता है (जब कि खुदके धारे अनुसार कार्य नहीं होता है तब ऐसे अनुभवका विचार करनेका वह अवसर / प्रसंग है, अगर विचारवान हो तो... जब कि अनुकूलतामें ऐसे विचारकी संभावना नहीं रहती) इस प्रकार पररसके जहरकी मात्रा बढ़ती जाती है । इसीलिये परिभ्रमण करनेवाला जीव क्रमश: अधोगतिको प्राप्त होता जाता है । ऐसी परिस्थितिमें एक सत्पुरुषका शरण ही उसे बचाता है; कि जो पुरुष आत्मशांतिके द्वारा विषय-दाहको शांत करनेके उपायमें जीवको प्रेरित करता है । (१६६)

❋

जो जीव छूटनेके उपायकी / मार्गकी खोजमें होता है, उसे सत्पुरुषकी वाणीमें मार्ग प्रकाशकी तरह देखनेको मिलता है । सतपुरुष - अनुभवी पुरुषकी वाणीमें ही मार्गप्राप्तिकी विधि आती है - अज्ञानीकी वाणीमें विधिका प्रकाशन नहीं हो सकता । अत: जिसको 'मार्ग' की खोज रहती है उसको नि:संदेहरूपसे सत्पुरुष द्वारा मार्ग मिलता है। उस जीवको सत्पुरुषकी पहचान

अभेद्य, जरा, रोग, मरणसे रहित, अव्याबाध अनुभव स्वरूप भाते - भाते स्वरूपका सम्यक् प्रकारसे निश्चय आता है। इसप्रकार महापुरुषोंने सम्यक्भावसे, झेले हुए (वेदन किये हुए) उपसर्ग, परिषहको स्मृतिमें लानेसे जीवके (खुदके) परिणाममें आत्मबलकी सत्कारता - उपादेयता, बहुमानता आनेके कारण उन परिणामोंका फलीभूत होना बन पाता है, अर्थात् वह वेदना अपने क्षयकालमें निवृत होती हुई नये कोई भी कर्मका कारण नहीं होती है।

शरीरमें वेदना न हो उस समयमें यदि जीव देहसे अपना भिन्नत्व जानकर, देहका अनित्यादि स्वरूप जानकर, मोह - ममत्वका अभाव कर ले तो वह बड़ा श्रेय है। यद्यपि देहका वैसा ममत्व छोड़ना दुष्कर है (वैसा शाता-अशाताके कालमें होनेवाले अनुभवसे भासित होता है) फिर भी जिसका ऐसा करनेका दृढ़ निर्धार है, और प्रयत्न करता है, तो अवश्य फलीभूत होता ही है।

(५०९)

※

आत्मकल्याणके लिये प्रवृत्ति करते हुए जब तक बाह्य क्रियामें देहादिक साधन (निमित्तरूपसे) रहा है, तब तक उस देह संबंधी उपचारादि यदि करना पड़े, तो वह उपचार देहके ममत्वार्थ नही, बल्कि उस देहसे ज्ञानीपुरुषके मार्गका आराधन हो सकता है, वैसे किसी एक प्रकारसे इसमें रहे लाभके हेतु, और वैसे ही अभिप्रायसे उपचारादि करनेमें, शुद्धहेतुपनेके कारण न्यायसंगतता है। परन्तु देहकी प्रियता हेतु अथवा कर्ताबुद्धिसे, अथवा सांसारिक कार्योंका - भोगादिका हेतु (साधन) देह है, तो उस हेतुका त्याग करना पड़ता है इसलिये उपचार करना ऐसे विचारसे आर्तध्यान होना - उचित नहीं है। ऐसी ज्ञानीपुरुषकी आज्ञा होनेसे उसकी मुख्यता और उसका लक्ष उपचारके वक्त रखने योग्य है, परंतु रोगादि व्याधि उत्पन्न हो तब परिणाममें किसी भी कारणसे संक्लेशभाव कर्त्तव्य नही है, कि जो अविचार और अज्ञानका कारण होता है और दुर्गतिका कारण होता है। अतः सद्‌विचारसे वर्तन करना योग्य है। (५१०)

※

## जून - १९९०

सम्यक् श्रुतज्ञानकी लब्धि और लब्ध सुश्रुत, दोनोंमें तफावत है। मोक्षमार्गको प्राप्त धर्मात्माकी ज्ञानधारा-वेदक आत्मज्ञान जो है वह लब्ध सुश्रुत है; जिसके साथ अनन्त गुणोंका शुद्ध परिणमन वही धर्मीकी धर्मदशा अथवा अंतर परिणमन है। ऐसे परिणमनके कालमें कोई-कोई धर्मात्माको निर्मलताके क़ारण श्रुतकी अनेक प्रकारकी लब्धियाँ भी प्रगट होती हैं, जो क्वचित् उपयोगरूप होती है। यह लब्धि वह श्रुतज्ञानकी समृद्धि अथवा विशेष संपत्ति है। जिससे उनकी निर्मलता व आराधना-विशेषको समझा जा सकता है। इस कालमें कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी एवं

वास्तविकता है, अन्यथा द्रव्य, गुण, पर्याय सम्बन्धित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादि पर्यायमात्रके आश्रयको छुड़ानेके लिये समर्थ नही है - बल्कि स्वभावका ज़ोर ही पर्याय आश्रितपना छुड़ाता है। लेकिन स्वभावके प्रति ज़ोर देनेमें कृत्रिमता नही हो, यह ध्यानमें रखने योग्य है। वास्तविकरूपसे तो स्वभावकी पहचान (भावभासन / लक्ष्य) पूर्वक यदि स्वभावके प्रति ज़ोर (वीर्य) उछले तो कल्पना नही होती और उस प्रकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुका स्वरूपज्ञान और त्रिकाली स्वभाव प्रतिका ज़ोर - दोनोमें संतुलन बना रहता है।

जिस जीवको वस्तुस्वरूपमें कल्पना होती है, उसको त्रिकालीके प्रति सहज वीर्य (पुरुषार्थ) नही उछलता। यदि वह कृत्रिम जोररूप, विकल्परूप / भाषारूप प्रवृत्ति करे तो भी वह स्वभावके समीप नही आता, और उसको उपर्युक्त स्वरूपज्ञान व त्रिकालीका ज़ोर देनेके बीच संतुलन नही रह पाता परन्तु एकांत हो जाता है। (उसको ही एकांत अर्थात् आभास कहनेमें आता है।)

वस्तुस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना हो जानेका कारण :- जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, अथवा असत्संगकी प्रीतिरूप परिणाम होना - वह है। दुःख - वह कल्पनासे उत्पन्न होनेवाला भाव है - इस सत्यका विस्मरण करने योग्य नहीं है। इसलिये तत्त्व विचारणामें यथार्थ निश्चय होनेके लिये तथा कल्पना नहीं हो इसलिये, आत्मार्थीता समेत अंतर संशोधनपूर्वक निर्णयकी दिशामें प्रयत्न होना योग्य है, वरना कल्पना - यानी कि दुःखका कारण अवश्य उत्पन्न हो ही जायेगा। (१७०)

अप्रैल - १९८६

आत्मा अस्तित्वरूप है, एवं ज्ञायकरूप है, उसमें 'स्वका ज्ञायकरूपमे अभ्यास करनेसे स्वरूप अस्तित्वका ग्रहण होता है' - वह सम्यक् है। ज्ञायकरूप अभ्यास हुए विना (स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करनेके लिये) कोई अगर दृष्टिका ज़ोर विकल्पात्मक भूमिकामे कृत्रिमतासे उत्पन्न करना चाहता है तो वह विधि यथार्थ नही है। ज्ञायकताके अभ्यासमे अस्तित्व आ जाता है। यह सत्य ही कहा है कि: 'ज्ञानम् ज्ञान गुणम् विना प्राप्तुम् क्षमंते नहीं।' (समयसार निर्जरा अधिकार) अथवा 'प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादि विधौचित: स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम्' ४०१ (पंचाध्यायी उत्तरार्ध) (१७१)

※

मई - १९८६

ज्ञातादृष्टा (अकर्ता) स्वभावका अज्ञान राग-द्वेषका कर्तृत्व खड़ा करता है - यह सिद्धांत

रहता है। (५२०)

※

आत्मार्थी जीवको आत्मकल्याणके हेतुसे स्वरूप प्राप्तिका लक्ष रहता है कि जिसके कारण उदयप्रसंगमें सहजरूपसे नीरसता रहती है। उदयभावोंसे अकल्याण समझमें आये और प्रयोजनको नहीं चुके - ऐसा प्रकार चालू रहने पर अंतरखोज द्वारा यदि स्वरूप (आश्रय भूत तत्त्व) का लक्ष हो जाय तो सर्व उदयीक कार्योंमें स्वरूपका लक्ष रहा करता है, जिससे स्वरूप समीपता होकर अभिन्न भाव होता है। इस प्रकार पूर्वभूमिकामें लक्षके दो प्रकार व्यवस्थितरूपसे समझने योग्य है। उक्त 'लक्ष'के कारण उस भूमिकाके अन्य यथायोग्य परिणाम - रुचि, लगन, धुन इत्यादि सहजरूपसे होने चाहिये। (५२१)

※

जब तक पौदगलिक पदार्थोंमें सुख भासित होता है तब तक आत्मस्वरूप भास्यमान नहीं होता - ऐसी वस्तुस्थिति है। इतना ही नहीं, तब तक सत्पुरुषकी पहचान होना भी असंभवित है। अतः इसके फलस्वरूप स्वरूपकी यथार्थ महिमा भी उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा सत्पुरुष व उनके समागमका माहात्म्य भी वास्तवमें भासित नही हो पाता। ऐसा होनेसे सांसारिक पदार्थोंके प्रसंगमें, आत्मार्थी जीवको अत्यंत जागृतिमें रहकर, पारमार्थिक लाभ - नुकसानका विवेक कर्त्तव्य है। (५२२)

※

स्वरूपप्राप्तिके 'लक्ष'पूर्वक, स्वरूपप्राप्तिकी भावना यदि निरंतर रहे तब तो जीवकी अन्य द्रव्य / भावकी भावना, कि जो अनादिसे चली आ रही है, वह कमजोर होवे, अर्थात् उसका प्रतिबंध मिटे; और उपयोगद्वारमें 'चैतन्य प्रकाश' मालूम पड़े अन्यथा परवेदन / परप्रवेशभावका अध्यास नहीं छूटता, अर्थात् चालू रहता है कि जिससे स्व-संवेदनको आवरण आता है। यदि उक्त स्वरूपकी भावनासे ज्ञानवेदनका ग्रहण हुआ तो उसके अभ्याससे आत्मरस उत्पन्न होता है और उसकी 'परिणति' बनती है। ऐसी परिणति बनने पर ही उदयके कालमें तीव्र रससे प्रवर्तन नहीं होता, बल्कि सर्व विभाव यथार्थरूपसे फीके पड़ते हैं और क्रमशः उसका उपशम होता है। इस तरह स्वरूपकी भावना - वह नीवकी बात है, इसके बिना सम्यक् मार्गमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। (५२३)

※

वस्तु स्वरूपका सिद्धांत-ज्ञान, निर्मल उपशमित हुए परिणामोंसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वैसे परिणामोंमें स्थित रहते हुए सत् शास्त्रोंमें सिद्धांतज्ञानका निरुपण हुआ है - ऐसा जानकर,

उस जीवकी मुक्ति समीप है । अत: मोक्षमार्गीको 'ज्ञानप्रधान' परिणमनसे 'दृष्टिप्रधान' परिणमन इष्ट है । दृष्टिप्रधान परिणमनमें पुरुषार्थ उग्र रहता है क्योंकि दृष्टिको अभेद निजात्माके सिवा दूसरा विषय नहीं है। जब कि ज्ञानप्रधान परिणमनमें भेदादि दूसरे विषय ज्ञानमें रहते है - अत: पुरुषार्थ धर्म मंद रहता है, इसलिये विकल्प - रागकी उत्पत्ति हो जाती है ।
(१७५)

※

अगस्त - १९८६

प्रयोजनकी जागृति वही प्रयोजनकी सफलताकी चाबी है । (१७६)

※

निश्चयकी मुख्यता करनेमें दोषका बचाव नहीं हो जाय यह लक्ष्यमें रखने योग्य है। यथार्थता होती है उसमें तो दोषके त्यागका / अभावका लक्ष्य होता है, उसमें दोषका बचाव अथवा पक्ष कैसे हो ?
(१७६/A)

※

सितम्बर - १९८६

आत्मस्वरूपका ध्यान होनेके लिये : (ऐसा ध्यान किसको हो सकता है ?)

(१) जिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान अर्थात् आगम अध्यात्मका सुमेल हो - वैसी समझ हो, अर्थात् वैचारिक भूमिकामें असमाधान नही हो । (असमाधानसे उपयोग चंचल रहता है)।

(२) जिसे सहज वैराग्य - रागसे विरक्तता - रागमें दु:खका अनुभव हो, जिसके कारण नीरसता हो ।

(३) भेदज्ञानके प्रयासके कारण जिसको मन-इन्द्रियोंकी पराधीनता नहीं हो । पाँच इन्द्रियके विषयकी आसक्तिके / रसके परिणाम नहीं हो । इन्द्रियजय हुआ हो ।

(४) सहज प्रयत्न वशात् जिसका रूख स्वरूपमें झुकनेका हो, तथापि भय, कुतूहल, विस्मय आदिके अभावके कारण, उपयोगकी चंचलता कम हो गई हो । यानी कि जो अचंचल चित्तवाला हो ।

(५) जिसको त्वरासे निजकार्य करनेकी वृत्तिके कारण प्रमाद नहीं हो ।

(६) जो धैर्यवान हो - हड़बड़ीमें अथवा अधीरजसे कार्य करनेके लिये उत्सुक नहीं हो।

(७) जो मुक्तिका इच्छुक अथवा उद्यमी हो - पूर्णताका लक्षवाला पुरुषार्थी हो ।

(८) जिसको निज परमपदका लक्ष्य होनेसे अत्यंत-अत्यंत स्वरूप-महिमा हो ।

(९) जिसे स्वक्षेत्रमें व्याप्य व्यापकभावसे अस्तित्वपनाका ज़ोर हो - ऐसे महात्मा स्वरूपमें

ऐसा स्वरूप है। (५३४)

※

जुलाई - १९९०

वस्तुधर्मकी मर्यादा संबंधित अपेक्षाज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका यथार्थ निर्णय करनेमें उपयोगी है परन्तु वैसे ज्ञानका परमार्थके दृष्टिकोणसे उपयोग होना चाहिये अर्थात् स्वरूपकी मान्यताकी पुष्टि करनेके लिये उस अपेक्षाज्ञानकी प्रवृत्ति होनी चाहिये। जब कि भेदा-भेद स्वरूप वस्तु जाननेके पश्चात् अभेद स्वरूपके अवलंबनसे स्वरूप सधता है, वहाँ यदि भेदकी अपेक्षा ज्ञानमें गौण नही हुई बल्कि मुख्य रही तो अभेदका ज़ोर उत्पन्न नही हो पाता। इस प्रकार वहाँ वैसी अपेक्षाका ज्ञान साधनाको रोक देता है यानी कि वैसा अपेक्षा ज्ञान परमार्थदृष्टिसे प्रतिकूल पड़ता है। इस तरह जो अपेक्षाज्ञान वस्तु-स्वरूपको जाननेका साधन है वही अपेक्षाज्ञान साधनामें प्रतिकूलता नही खड़ी कर देवे इसका विचार करना आवश्यक है। इसके बावजूद भी ऐसी सावधानीसे अनजान - भेदपक्षवालेंको उस अपेक्षाका विपर्यास अगर वर्तता है तो वह वस्तुके अभेद अनन्त सामर्थ्य सम्बनधित ज़ोरको शिथिल कर देता है, और अध्यात्मदृष्टि / ज़ोर मंद हो जाता है या उत्पन्न ही नही होता - जिसका साधकको अवश्य निषेध आता है। स्वलक्षी ज्ञानमें प्रायः ऐसा विपर्यास नही होता, परन्तु परलक्षी उघाड़में ऐसे विपर्यासकी बहुत संभावना रहती है। (५३५)

※

वर्तमान परिणाम पर दृष्टि होनेसे वस्तु मात्र परिणाम जितनी ही भासित होती है। अतः पुरुषार्थ करुँ, ज्ञान करुँ, इत्यादि पर्यायके कर्तृत्वका अभिप्राय रहता है; जो मिथ्याभाव है। स्वयं वस्तु तो ज्ञान-वीर्यादि अनन्त सामर्थ्यकी खान है; जिसके सन्मुख होने पर खुदमें / स्वरूपमें कुछ कर्त्तव्य नहीं है ऐसा भासित होता है और कर्तृत्व नहीं होता। रागादि होते है वे पररूप भासित होते है। जिसका निषेध वर्तता है; परिणाममें सहजता रहती है। (५३६)

※

सामान्यतः आदमीको सोनेसे / नींद आ जानेसे थकान उतर जाती है। खाने-पीनेसे तृप्ति होती है। परन्तु ज्ञानदशा कोई विलक्षण दशा है, जिसमें विश्रामधाम - स्वस्वरूपसे भिन्न निद्रा आदिके भावमें दुःख लगता है। निद्रासे भी थकान लगती है। खाने-पीनेके परिणाममें उदासीनता आ जाती है। क्योंकि ज्ञानरस और सुखरस जो पीनेमें आता है वही उनका आहार है जिससे खुदको तृप्ति होती है और पुष्टि मिलती है। सहज पुरुषार्थमें परिश्रम या थकान नहीं लगती। अंतरमें जमनेवाले परिणामोंमें ही आरामका अनुभव होता है। इस प्रकारकी सहज 'विलक्षणता'

आत्माकी शक्तियाँ जो है वह सामर्थ्यरूप स्वभाव / स्वरूप है, उसे एकरूप अर्थात् द्रव्यरूप देखनेसे आत्मरस उत्पन्न होता है - आराधना होती है । भेदरूप - गुणभेदरूप देखनेसे आराधना नहीं होती - बल्कि विकल्प होता है, अध्यात्मका रस भंग होता है। (९८१)

※

दिसम्बर - १९८६

ज्ञानाभ्यास होनेके लिये, - (स्व) सन्मुख होनेके लिये, ज्ञानकी व्यापकता, स्वच्छता (साकारपना), वेदकता, और प्रत्यक्षता द्वारा परसे / रागसे भिन्न व अपनेसे अभिन्न ज्ञानमय आत्माका निरंतर आश्रय / अभ्यास करना योग्य है, जिससे कि अंतर्मुख हुआ जाये। (९८२)

※

जनवरी - १९८७

निज परमस्वरूपकी प्राप्तिके अभावमें, वेदना सहितकी भावना हो तो मार्ग अवश्य मिलता ही है। (९८३)

※

जिस सम्यक्ज्ञानमे अपना स्वरूप परिपूर्ण आनंद एवं ज्ञानमय प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष अव्याबाधत्व है, वहाँ चिंता कैसी ? भय कैसा ? शंका कैसी ? असमाधान कैसा ? दुःख कैसा ? खुदसे बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थ स्वकालकी योग्यता अनुसार परिणमन कर रहे हैं, उसमें निर्ममत्व होनेसे, उसकी चिंता कैसी ? 'मात्र ज्ञेय' होनेसे - इष्ट-अनिष्ट कल्पनाकी निवृत्ति सहज समाधानरूप है - पुनः उसका परिणमन बदलनेके लिये इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र, कोई भी समर्थ नही । कुदरतका ऐसा क्रम योग्य ही है । योग्य समय पर योग्य दशा ही होना वह कुदरतका क्रम है । किसी भी समय कोई भी पदार्थकी अयोग्यदशा होती ही नही । (९८४)

※

फरवरी - १९८७

जीवका स्वभाव अनुभव करनेका है, इसलिये अनुभवक्रिया प्रतिसमय सतत चालू ही रहती है। अनादिसे अकारणपने, निर्विकार सहजानंद एक सुख स्वभावके अनुभवसे शून्य होनेके कारण, जीव उदयमें आनेवाले अपने बांधे हुए कर्मका ही सततरूपसे प्रति समय स्व-रूपमे अनुभव कर रहा है, अथवा मान रहा है और फिर नये बंधनको प्राप्त होता है, इस तरह संसारचक्र चलता रहता है । ऐसेमें सत्पुरुषके समागम योगमें - 'अनुभूतिस्वरूप निज स्वरूपकी' पहचान करे तो कर्मोदयके अनुभवका / भ्रमका त्याग होकर निजानुभवमें रहना बने । (९८५)

इससे कोई दुःखसे मुक्त हो जायेगा सो बात नहीं बनेगी। (५४८)

※

विचारवान जीवको स्वभाव-लाभका विचार करके स्वभाव सन्मुखताका प्रयास अथवा उसकी दृढ़ इच्छा कर्त्तव्य है। स्वभाव सत्‌रूप है अथवा परम आनंद स्वरूप है, वैसा दृढ़ हुए बिना, जीवको पर-अभिलाषाके परिणाम विरामको प्राप्त हो जाय, ऐसा बनना असंभवित है। जब कि स्वभावसुख - उस रूप सुधारसका आकर्षण, जगतके किसी भी प्रसंग सम्बन्धित हर्ष-विषादको मिटाता है, देह छूटने तकके प्रसंगकी गौणता आती है। यह यथार्थ भूमिका है। (५४९)

※

अनंत सुख और अनंत ज्ञान ऐसे निज सामर्थ्यकी 'स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति' अर्थात् वर्तमान वेदनकी प्रत्यक्षताके आधारसे निश्चय हुए बिना निज स्वरूपका लक्ष नहीं होता और लक्ष बांधे बिना, लक्ष विहीन सभी प्रवृत्ति व्यर्थ ही जाये, यह सहज ही समझमें आये ऐसा है। अतः सत्पुरुषके योगमें यह बीजज्ञान "ज्ञानमात्र" भावसे प्राप्त करने योग्य है; अन्यथा अनन्तकालमें दुर्लभ ऐसी ये मनुष्य पर्याय संसारार्थ ही व्यतीत होकर संसारवृद्धिका निमित्त होनेका संभव है। (५५०)

※

आत्मारूप अनुभव करने योग्य वचनामृत : 'सर्वोत्कृष्ट शुद्धि वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि।' -श्रीमद्‌जी - ८३२

आत्मभावना :

"सर्वसे सर्व प्रकारसे मै भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुख स्वरूपमात्र एकांत शुद्ध निर्विकल्प, अनुभवरूप मै हूँ। मै मात्र निर्विकल्प, शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परमशांत चैतन्य हूँ।" - श्रीमद्‌जी - ८३३ (५५१)

※

जिन महात्माको एक विकल्प भी फाँसी लगती हो, उन्हें विकल्पका काल लंबा कैसे हो सकता है ?

'ज्ञानमात्र' लक्षण है, 'ज्ञानमात्र' स्वभाव है और स्वसंवेदनमें भी खुद 'ज्ञानमात्र' रूप ही है। इसलिये लक्षणसे - प्रत्यक्ष अंशसे, अनंत प्रत्यक्ष स्वभावका लक्ष होने पर स्वभावत्वका भाव आविर्भाव होकर सहज स्वसंवेदन उत्पन्न होता है, वह आत्मज्ञान है, वही आत्मध्यान है। वह बारह अंगका सार, अविकार 'समयसार' है, जिसकी उपासना कर्त्तव्य है। (५५२)

※

ऐसे बलवान परिणमनवाला होनेसे स्थिरता होती है । (११०)

※

अप्रैल - १९८७

विधि :- अवलोकनसे आगे बढ़कर स्व-स्वभावका ग्रहण - 'प्रत्यक्ष स्वभावका प्रत्यक्षभावसे ग्रहण' करनेमें वर्तमान पुरुषार्थको लगानेमें कार्यसिद्धि है । (१११)

※

सत् श्रवण होने पर भी यथार्थतामें केवल श्रवणका अभिप्राय नहीं होता । अगर श्रुत हुए विषयका ग्रहण होनेका प्रयास होवे तो श्रवणका निमित्त है, अन्यथा निमितरूप नहीं । (११२)

※

मई - १९८७

दर्शनमोह मंद होनेके अनेक कारण है, उसमें वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र, सत्समागम आदि मुख्य निमित्त हैं । इन निमित्तोंके प्रतिके बहुमान - भक्ति आदिके परिणाम स्वयं ही मंदकषायरूप है, फिर भी साथ-साथ उसमें दर्शनमोह मंद होता है, (अन्यप्रकारसे कषाय मंद होनेमे दर्शनमोह मंद नही होता है ।) लेकिन ओघसंज्ञामें उपरोक्त सत् निमित्तोंके प्रति एवं तत्वज्ञानके अभ्यासमें (शुरूआतमें) उत्साहित परिणाम एवं सद्भावना / हितभावनाके कारण दर्शनमोह मंद - अल्पमंद होता है परन्तु उस ओघसंज्ञामें (आगे) अटक जानेसे प्राय: दर्शनमोह तीव्र हो जाता है । अत: स्वलक्ष्यी तत्त्वाभ्यास / शास्त्र अध्ययन-श्रवण एवं सत्समागमपूर्वक यथार्थ सुविचारणा एवं स्वरूप निर्णय, अगर ज्ञान प्रधान पुरुषार्थसे हो तो दर्शनमोह अत्यंत मंद होकर उसके अभावकी (उपशम) ओर आगे बढ़ा जाता है । (११३)

※

सत्-श्रवण तभी अटकनेका स्थान नही होता जब स्वरूपभावनासे त्रिकालीका अवलंबन लेनेका, प्रयास चालू करनेमें आया हो, वरना प्राय: 'मात्र श्रवण'का अभिप्राय जाने-अनजानेमें बन जाता है, जो अटकनेका निमित्त बनता है और दर्शनमोहको बढ़ाता है । (११४)

※

समाजकी मुख्यता करके अपने आत्महितको गौण करनेवाला, अपनी वर्तमान हालतको समझ नहीं सका - इसलिये खुदकी सँभाल नही रखते हुए समाजकी चिंता करता है, जो अप्रशस्त अभिप्राय सहितका राग है । समुद्रके मध्ये डूबता हो तब समाजकी चिंता करने रुकेगा क्या ? तब तो समाजकी चिंता करनेको नहीं रुकेगा। (११५)

किसी एक शास्त्रमें कही गई बात अगर दूसरे सर्व शास्त्रोंसे विशिष्ट दिखती हो, तो उसे अधिक सम्मत करने जैसी समझनी चाहिये; क्योंकि वैसी बात किसी वीरल जीवके लिए - वीरल जीवको लक्षमें आये वैसी होनेसे कही गई होती है, बाकी दूसरे कथन तो साधारण जीवके लिए होते है।

दूसरे शास्त्रकी रचना करते वक्त शास्त्रकर्ताके लक्षमें वह बात थी ही - ऐसा समझने योग्य है। अतः उस प्रकारकी विशिष्ट बातमें शंका अथवा कुतर्क करने जैसा नहीं है। सिर्फ खुदके आत्मकल्याणमें उसकी उपयोगीताका ही विचार कर्त्तव्य है। (५६३)

*

आत्महितरूप वास्तविक लक्ष बिना शास्त्रका पठन प्रायः निष्फल होता है और मानसिक बोझ उठाने जैसा होता है, इसलिये परमार्थसे उसकी निरुपयोगीता गिननेमें आयी है, वह यथार्थ है। शास्त्रके अभ्यासी जीवको ऐसे ग्रहण करना योग्य है, परन्तु उसका एकांत करके शास्त्राभ्यासका त्याग करनेवालेको ऐसा विचार कर्त्तव्य है कि शास्त्र अभ्याससे जिज्ञासु होकर, पात्रताका आना समयांतर पर संभवित है परन्तु (सिर्फ) मूल वस्तुसे अर्थात् परमार्थसे दूर जाना हो उस प्रकारसे शास्त्राभ्यासका निषेध किया गया है। इस प्रकार शास्त्र अभ्यास करनेके विषयमें अनेकांत है। (५६४)

*

जीवको संसार परिभ्रमणके अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य कारण वह है कि खुद मुक्त होनेके लिये जिस ज्ञान संबंधित खुद अनभिज्ञ होनेसे शंकामें हो, उस ज्ञानका उपदेश करना, खुदके द्वारा प्ररूपित बातकी रक्षा करना अर्थात् उसकी ही सत्यताके बारेमे आग्रह रखकर, उस विषयमें शास्त्र-आधार ढूंढकर मुख्य करना, अंतरमें इसके लिए शंका / चल-विचलपना (निःशंकताका अभाव) होने पर भी, खुदके विषयमें श्रद्धावानको, वही ज्ञान / मार्ग सच्चा है ऐसा ठसाना / उपदेश करना। खुद शंकामें खड़ा हो किंतु निःशंकताका दंभ करना, उससे खुदका महत्त्व स्थापित करना / टिकाये रखना, पूज्यता ग्रहण करना इत्यादि जीवको बहुत परिभ्रमणका कारण है - ऐसी समझ आसन्न भव्यजीवको होती है वरना उक्त प्रकारसे तो अनन्तकालसे जीवों भटक ही रहे है। (५६५)

*

"करना फकीरी, क्या दिलगीरी (?)
सदा मगन मन रहनाजी" - म. कबीरजी

यह वृति / भावना मुमुक्षुजीवको वर्धमान करने योग्य है। अर्थात् व्यवहार चिंताको (उदयभावमें)

एकत्व छूटने पर आत्मबोध है । (२०१)

※

अनेक प्रकारकी अपेक्षावाला ज्ञान, अनेक प्रकारसे असमाधानको दूर करता है, फिर भी इससे आगे जाकर त्रिकालीके ज़ोरमें प्रेरित होनेमें वह निमित्त होना चाहिये, वरना उक्त असमाधान मिटनेका फल पर्याप्त नही है अथवा सफल नही है उलटा संतुष्ट होकर अटकनेका स्थान हो जाता है । वहाँ निश्चयसे समाधान नही हुआ। (२०२)

※

अगस्त - १९८७

सिद्धांत और सूत्र :

सिद्धांतके मुख्य दो भेद है - आध्यात्मिक एवं आगमिक (करण, चरण, द्रव्यानुयोग)

(१) द्रव्यानुयोगके आगमके सिद्धांत वस्तुके स्वरूप अनुसार है, अथवा उसके द्वारा वस्तुका बंधारणीय स्वरूप प्रतिपादित होता है । इसलिये तीन कालमें उसमें फेरफार नहीं होता - यह वस्तुविज्ञान अचल है और जो मुख्यरूपसे द्रव्यानुयोगका अंग है; इसके अलावा जड़-चेतनकी पर्यायोंका विज्ञान करणानुयोगमें है । आचरणके सिद्धांत चरणानुयोगमे है ।

(२) अध्यात्मके सिद्धांत भी तीनों काल एकरूप रहते हैं । आत्माके त्रिकाली अचल स्वभावका अवलंबन लेते हुए / उपासना करते हुए अनुभवरूप हुई, तीनोंकालके ज्ञानी - अनुभूति संपन्न महात्माओंकी पवित्र दशाका - परम पदार्थका स्पर्श करके निकली हुई वह वाणी है। उसमें फर्क पड़नेका अवकाश नही । मुख्यरूपसे चरणानुयोग एवं करणानुयोगमें गुणस्थानकं द्वारा इसका प्रकाशन है । चारों अनुयोगमे द्रव्यानुयोगका लक्ष्यार्थ अध्यात्मको प्रतिपादित करनेका है । इस तरह सत्‌श्रुत आगम-अध्यात्मके सिद्धांतोंको अविरोधरूपसे प्रकाशित करता है । एक अनुयोग व दूसरे अनुयोगके सिद्धांतमें अविरोध है । अतः किसी भी दो सिद्धांतोंके बीच विरोध नहीं है - फिर भी विरोध भासित होता हो, तो उसमें ज्ञानका विपर्यास है । जहाँ सिद्धांत टूटता है वहाँ अज्ञान और दर्शनमोह (मिथ्यात्व)का प्रभाव समझना ।

सूत्र :- ज्ञानीके वचनमें हमेशा उक्त सिद्धांतोंका संतुलन होता है । इसलिये कहीं भी एकांत नही होता। सिद्धांतको प्रदर्शित करनेवाले वचनप्रयोगको सूत्र कहनेमे आता है और उसकी अनेकविध शैली देखनेमें आती है । अतः किसी भी प्रकारकी कथनशैलीसे प्रतिपादित सिद्धांतोंको यथार्थताके कारण प्रमाणित करने योग्य है । कथनशैलीका आग्रह अथवा निषेध तत्त्वदृष्टिसे उचित नहीं है ।

कालके क्रममें भिन्न-भिन्न कालके ज्ञानी धर्मात्माकी शैलीमे विभिन्नता होने पर भी कहीं

तब जागृतिपूर्वक खुदके भावोंका अवलोकन होता है, अल्पदोषका भी खेद रहता है, दूसरेके अल्प गुणका भी प्रमोद आता है, तब 'सत्' जाननेमें आता है और फिर अगर सत्पुरुषका योग बनता है तो उसको उनकी पहचान होती है, यानी कि सत्पुरुषके अपूर्वगुण दृष्टि गोचर होते हैं और तब व्यवहारिक कल्पना मिटती है। अतः उक्त प्रकारसे पक्षरहित होकर सत्संग कर्त्तव्य है। खुदके दोषका बचाव तो हरगिज नही करना चाहिये। (५७७)

※

बहुतसे ज्ञानीपुरुष होते है, उसमेंसे कोई-कोई ज्ञानीपुरुषकी ज्ञानदशा तीव्र होती है, उसका स्वरूप ऐसा है कि उदयप्रसंगमें उनकी चित्तस्थिति उदासीन, अत्यंत उदासीन रहा करती है। वह इस प्रकारसे कि क्षणभरके लिये भी चित्त उदय प्रवृत्तिमें टिक नहीं सकता। जिसके कारण वैसे महात्माओं सहजभावसे सर्वसंग परित्याग करके अप्रतिबद्धतासे विचरते हैं। अखण्डरूपसे आत्मध्यान रहनेमें, जो गुरु आदिका संग है वह असंगतामें समाता है। पूर्ण वीतरागताको अंतरसे तीव्रतासे भाते रहना, ऐसा पुरुषार्थकी उग्रताका स्वरूप यहाँ पर है। उसका वारंवार अवलोकन, वैसा होनेमें कारण है। धन्य है ऐसी विदेही दशा ! (५७८)

※

अनन्तकालसे अप्राप्त ऐसा ज्ञान कि जो भवांत होनेका कारण है, वह ज्ञान स्वरूपसे तो अत्यंत सुगम है (क्योकि तिर्यंचको भी इसकी प्राप्ति होती है।) दुर्लभ होने पर भी (इसलिए क्योंकि किसीको ही प्राप्ति होती है) अत्यंत सरल भी है। अरे ! अत्यंत सरलता वह इसका रूप है। परन्तु सुगमतासे प्राप्त होनेके लिए जो दशा होनी चाहिये, उस (सुपात्र) दशाकी प्राप्ति होना बहुत कठिन है। क्योकि पूर्वकर्म, वर्तमान हीन दशा, मार्गसे अनजानपना इत्यादि परिस्थितिमें जीवने अनन्तकाल पसार किया है। इसके अलावा श्री सत्संग व श्री सत्पुरुषकी दुर्लभता भी सर्व कालमें रही है फिर भी यदि जीवको छूटनेका एकमात्र लक्ष हो तो सहजमात्रमें पात्रता प्रगट होती है और मार्गकी सुगमता हो जाती है। (५७९)

※

'जिस प्रकारसे जीवको (उदयमें) ममत्व विशेष हुआ करता हो अथवा बढ़ा करता हो उस प्रकारसे यथासम्भव संकोच करते रहना, यह सत्संगमे भी फल देनेवाली बात है।' - श्रीमद्जी पत्रांक - ३४५

स्वयं 'ज्ञानमात्र' होनेसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार 'चलती हुई' ज्ञान अवस्थाका अनुसरण करके, मात्रज्ञानमें - ज्ञानसामान्यमें 'मै-पना' स्वयंका अवलोकन करना। ऊपर कही वैसी 'ज्ञान' - भावना वही आत्मभावना है। जिससे सत्संग सफल होता है। सर्व समाधान होता है। उपदेशबोध

है ।

(२०७)

※

वीतराग देव, गुरु, शास्त्र मिलनेके बावजूद भी, अगर जीव ओघसंज्ञामें प्रवृत्ति करे तो लोकसंज्ञा एवं असत्संगकी तरह वह दर्शनमोहकी वृद्धिमें आ जाता है । क्योंकि ओघसंज्ञा से प्रवर्तनमें निज परमात्मपदकी प्राप्तिकी उपेक्षा हुई, इसलिये यथार्थ निर्णयकी दिशामें प्रयत्न होना चाहिये जिसके कारण ओघसंज्ञाकी निवृत्ति हो एवं स्वभाव सन्मुख / समीप जा सके। ओघसंज्ञाकी निवृत्तिके लिये तीव्र लगन / दरकार होनी चाहिये । (२०८)

※

स्व-पनेसे वेदन करनेका ज्ञानका - ज्ञान स्वभाव है । जब तक ऐसे अंतर अवलोकनसे निजज्ञानका स्वरूप जाननेमें नहीं आये, तब तक उस दृष्टिसे देखनेका / खोजनेका प्रयत्न होना चाहिये । इसीलिये परमागममें 'ज्ञानमात्र' की प्राप्ति ज्ञानगुण / ज्ञानस्वभाव के द्वारा कही है । जो निजावलंबनरूप है; तथा रागके अवलंबनसे भिन्न पड़कर समुत्पन्न है । (२०९)

※

श्रीगुरु आत्माका अनुभव करनेका उपदेश देते है, परन्तु जिसको आत्मरुचि नहीं है, ऐसा जीव स्वानुभवका पुरुषार्थ करनेके बजाय अनेक प्रकारसे (शुभकी रुचिके कारण) शुभक्रियामें धर्म सम्बन्धित प्रयत्नका आडंबर करता है जो कि कपटका खेल है ।

(अनुभव प्रकाश) (२१०)

※

आत्मामें आनंद है उसकी श्रद्धा एवं विश्वासके बिना जगतके पदार्थोंकी आशा एवं महत्वाकांक्षा कम नहीं होती बल्कि बढ़ती ही जाती है । जैसे बीजमें से वृक्ष होता है वैसे । और इसके कारण जीव इधर-उधर व्यर्थ प्रयत्न करता है यानी कि भवका अभाव करनेके लिये जो भव मिला है उसमें भववृद्धिका सेवन किया जिसके कारण आत्महित नहीं सुझता। ज़हर पीते-पीते जीवनकी इच्छा रखता है, लेकिन आनंदकंद भगवान अमृतसरोवर अंदर है वहाँ नहीं जाता । श्रीगुरु ऐसा कहकर अमृत पिलाते हैं, उसे क्या उपमा दे सकते हैं ? (अनुभव प्रकाश)

(२११)

※

सत्‌शास्त्रका वांचन करनेके बावजूद भी जो स्वभावका पुरुषार्थ नहीं करते है, वे अध्यात्मज्ञानसे शून्य रहते है । उनकी अध्यात्म - विषय संबंधी धारणा जो होती है वह ज्ञान नहीं बल्कि एक कल्पनामात्र होती है । (२१२)

प्राप्त नहीं हो इसकी सावधानी मुमुक्षुजीवको रखने योग्य है, जो कि दोनोंके लिए हितकारक है। ज्ञानीपुरुषका अवर्णवाद करना वह जीवको अनन्त संसार बढ़नेका कारण है; जब कि ज्ञानीपुरुषके गुणग्राम करना, उसमें उल्लासित / उमंगी होना (रस आना), उनकी आज्ञामें सरल परिणामसे, परम जागृतिपूर्वक वर्तना - वह अनन्त संसारके नाशका कारण है - ऐसा जिनागम कहते हैं। (श्रीमद्‌जी - ३९७)

सत्पुरुषके प्रति ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारमें दर्शनमोहनीय भावको तीव्र-मंद होनेका प्रकार है, इसलिए मुमुक्षुजीवको इसे प्रयोजनभूत जानकर लक्षमें लेने योग्य है। (५९०)

※

परिपूर्ण शुद्धि प्राप्त करनेका 'ध्येय बांधकर' ही मोक्षमार्गकी प्राप्तिका प्रयत्न शुरू करने जैसा है। उक्त ध्येय है इसका लक्षण यह है, कि इसके बाद सर्व प्रकारकी धर्मप्रवृत्तिमें, ध्येय लक्ष्यके स्थानमें रहता है, विस्मृत नहीं होता। अतः जिसके कारण उपदेशबोधका परिणमनमें आना सहज ही बनता है। तत् पश्चात् भी पदार्थ-निर्णय होकर, यथार्थ निश्चयका पक्ष होकर, पक्षांतिक्रांत होने तक, कहीं पर भी विपर्यास होकर मार्गकी अप्राप्ति हो ऐसा कुछ भी नहीं बनता। परंतु यदि नीवमें इस प्रकारकी शुरूआत नहीं हुई हो तो स्थूल या सूक्ष्मरूपसे अयथार्थता रह जानेसे मार्गकी अप्राप्ति रहती है अथवा यथार्थरूपसे स्वरूपनिश्चय ही नहीं हो सकता, जो कि मार्गप्राप्तिका कारण है। अतः 'पूर्णताके लक्षसे शुरूआत'का महत्त्व बहुत है। (५९१)

※

सर्वोत्कृष्ट महान ऐसे निज परमात्मपदको सर्वथा मुख्य ही रखने योग्य है। ऐसा श्रद्धा-ज्ञानमें बलवानरूपसे रहता होने पर भी, सांसारिक व्यवसायमें उसको अप्रधान रखते हुए प्रवर्तन करना पड़ता है, तब ज्ञानीपुरुषको उसका त्रास वर्तता है; अतः उसप्रकारके व्यवहारसे नित्य छूटनेकी लक्ष्यरूप वृत्ति रहा करती है। जिनके अनुभवमें एक विकल्प भी स्वरूपको फाँसी देनेके बराबर लगता हो उनके पास संसारके कार्योंके अनेक विकल्पकी जाल एवं उसके सम्बन्धित बोझ उठवानेकी कठोरता किस कारणसे योग्य है ? इसका विचार करते हुए रोमांच खड़ा होकर हृदय दुःख से आर्त हो उठता है; (कि) हे करुणासागर ! यहाँ पर तेरी अनन्त करुणाका अंत आ गया है क्या ?।। (५९२)

※

सर्वश्रेष्ठ ऐसा आत्मध्यान (मोक्षका साक्षात् कारण होनेसे) आत्मज्ञानकी प्राप्तिके सिवा नहीं हो सकता। ऐसा आत्मज्ञान यथार्थ - विपर्यास रहित - समझके बिना नहीं हो सकता। ऐसी

समभावसे चर्चा करके, करना चाहिये । एक दूसरेको झूठा ठहरानेकी बात (हेतु) नहीं होनी चाहिये, इसमें तो कषायरस बढ़ता है । किसीकी भूल हो तो, उसे समझाकर कहनेकी रीत होनी चाहिये । विरोधीरूपमें कल्पना करके द्वेषबुद्धिसे प्रवर्तन करनेमें तो सज्जनता भी नहीं रहती है, तो मुमुक्षुता तो कैसे उत्पन्न हो ? न्यायसे सत्यको ग्रहण करनेका - स्वीकार करनेका अभिप्राय रखकर तत्त्वनिर्णयके लिये परस्पर विचारोंका आदान-प्रदान हो वही योग्य है । (पू. गुरुदेवश्री) (२१७)

⁂

### "मंत्र कणिका / सूत्र कणिका" - 'अनुभव प्रकाश'

फरवरी-१९८७

(१) "परपदमें अपनत्व मानकर परभाव किये, इसलिये जन्मादि दुःख सहन करता है, ऐसी दुःख परिपाटी अपने अशुद्ध चिंतवनसे हुई है ।"

(२) "जो यह (ज्ञान) परमें अपनेको जानता है, वह ज्ञान ही निज बानगी है। इस निजज्ञान बानगीको पहचान - पहचानकर बहुतसे संत अजर-अमर हुए । उसे कथनमात्र ग्रहण न करे, (उसे मात्र कहने जितना ही न रखे) परन्तु चित्तको चेतनामें (स्वभाव) लीन करे।"

(३) "निरन्तर अपने स्वरूपकी भावनामें मग्न रहे, दर्शन - ज्ञानचेतनाके प्रकाशको (वेदनको) (अपने) उपयोग द्वारमें दृढ़तासे भाये (चिंतवन करे) तो चिद्‌परिणतिसे स्वस्वरूपरस (चिद्‌रस) (उत्पन्न) होता है ।"

(४) "जब परप्रवेशका अभावभाव हुआ, तब स्वसंवेदनरूप निजज्ञान होवे" अर्थात् परप्रवेशभाव स्वसंवेदनको रोकता है ।

(५) "उपयोगमें ज्ञानरूप (स्व)वस्तुको जाने ।"

(६) "ज्ञानरूप वस्तु" माने ज्ञानस्वभाव - मेरा स्वरूप अनंत महिमावंत - अविकार, अपार शक्तिसे मण्डित है, - ऐसा भाव प्रतीति द्वारा करके, ध्यान धरनेपर निश्चलता - स्थिरता होगी।

२३-२-१९८७

(७) "सदा उपयोगधारी (उपयोग स्वभावी) आनन्दरूप स्वयं स्वयमेव ही यत्न बिना (सहज) बना है" अर्थात् है,... है... और है। "अतः निजको (निजमें) निहारनेका ही कार्य (कर्तव्य) है।"

(८) स्वरूप निश्चय - 'अनंत चैतन्य चिह्न सहित अखण्डित गुणपुंजके और पर्यायके धारक द्रव्यका - ज्ञानादिगुणपरिणतिरूप और पर्याय-अवस्थारूप वस्तुका निश्चय हुआ।'

(९) जघन्यज्ञानी "सिर्फ ज्ञानमात्र वस्तुकी प्रतीति प्रत्यक्ष कर-करके स्वसंवेदन बढ़ाता है।

मोक्षमार्ग है। उस स्वसंवेदनको ज्ञानी ही जानते है।' (दूसरे नहीं जानते)।

(१९) "जितना स्वरूपका निश्चय यथार्थ भाए (चिंतवन करे) उतना स्वसंवेदन अडिग (अचल) रहता है; (और) जितना स्वरूपाचरण हो, उतना स्वसंवेदन बराबर होता है। एक होनेपर तीनोंकी सिद्धि है।"

स्वरूपका निश्चय यथार्थ भाना माने सहज प्रत्यक्ष स्वरूपको ज्ञानमें जितना हो सके उतना सुस्पष्टरूपसे ज्ञानशक्तिसे अभेदभावसे ग्रहण करना / पकड़ना - कि जिससे स्वसंवेदनका आविर्भाव हो। ज्ञानशक्तिके परिणमनके अनुपातमें तारतम्यता-उग्रता बढ़े - स्थिरता, आनंद बढ़े।

(२०) "अनन्त सुखनिधानकी स्वरूपभावना करते ही अविनाशी रस उत्पन्न होता है, उस रसका सन्त सेवन करते आए है... अपने (निज) परमेश्वरपदका दूर अवलोकन न कर; अपनेको ही प्रभु स्थाप।"

"आतमभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे" - श्रीमद्जी

अनंत सुखकी शाश्वत विद्यमानताके लक्षसे स्वरूप भाना जिससे कि आत्मरस उत्पन्न हो। निज परमपदको / परमेश्वरपदको वर्तमानमें ही प्रत्यक्षभावसे अवलोकनमे लेना - श्रद्धा द्वारा स्थापित करना। उससे क्या अधिक है कि तू उसको छोड़कर अन्यको अधिकाई देता है? स्वरूपसुखकी हयातीका / विद्यमानताका रहस्य पाकर, स्वरूपकी भावना होनेमें अविनाशीरस/अमृतरसका चुआ चूता है।

(२१) 'एकदेशमात्र निजावलोकन ऐसा है कि इन्द्रादिकी सम्पदा विकाररूप भासती है'

चतुर्थ गुणस्थानमें आनंदका निर्विकारी अनुभव ऐसा है कि उसके आगे देवलोककी उच्च सम्पत्ति भी विकार - रागका निमित्त भासती है। सम्यक्दृष्टि इन्द्रको ऐसा ही लगता है।

(२२) "चिदानन्द ! अपनी गुप्त शुद्धशक्तिको व्यक्तरूपसे भाओ, जिससे वह व्यक्त हो।

अव्यक्त शक्तिको शुद्ध व्यक्त (प्रत्यक्ष) परिणमन स्वभावसे, निजरूप देखनेसे / भानेसे शक्तिका शुद्ध परिणमन होने लगता है। परिणामकी शुद्धताका - यह विज्ञान है।

(२३) "गुप्त और प्रकट ये अवस्थाभेद है; दोनों अवस्थाओंमें स्वरूप ज्यों का त्यों है; ऐसा श्रद्धाभाव सुखका मूल है।"

स्वभाव / स्वरूप द्रव्य, गुण, पर्याय अवस्थाभेदोंसे निरपेक्ष है। स्वभावकी यही वास्तविकता है। उक्त अवस्थात्रयसे स्वभावका भेद नही हो सकता, ऐसा अभेद है। उसको जैसा है वैसा श्रद्धामें लेना, जानना, अनुभव करना - जिससे कि सुख हो।

(२४) "परमें पर भासित होता है, निजकी ओर देखे तो पर भासित नहीं होता, निज ही है। (इससे) सुखकारी निजदृष्टि छोड़कर दुःखरूप परमें दृष्टि नहीं देना।"

ही मार्गदर्शन देते है, - ऐसी प्रतीतिपूर्वक मुमुक्षुजीव खुद मार्गसे अनजान है ऐसा समझकर, खुदकी कल्पनासे साधन करनेकी बुद्धिको छोड़कर अगर ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें ही प्रवर्तन करे तो वह आज्ञा जीवको भव-भ्रमण होनेमें आड़े आकर निश्रेयस पदकी प्राप्ति कराती है, अर्थात् उसको सर्व प्रकारसे विराधना होनेसे बचा लेती है; और अपूर्व पदका ज्ञान-दान देती है। नमस्कार हो वैसे ज्ञानीप्रभुको, त्रिकाल नमस्कार हो ।। (६१७)

※

दूसरे जीव जब धार्मिक कारणसे मान देते हो तब खुदको प्रिय तो नहीं लगता है ? इसकी जागृति रखते हुए, उस प्रकारके प्रसंगकी तुच्छता जानकर, मान बहुत बड़े नुकसानका कारण है ऐसा जानकर उससे अभी भी भय रखना योग्य है। बाह्य प्रतिष्ठासे लोकसंज्ञा आ जानेमें / हो जानेमें देर नहीं लगती। इस भयंकर गर्ताकी सावधानी सहजरूपसे रहनी चाहिए। इसीलिए ज्यादा लोगोंका परिचय करने योग्य नहीं है, अथवा धार्मिक मेलेसे दूर रहनेका प्रयत्न करना, फिर भी अगर उदययोग वशात् रहना / जाना बने तो बाह्य प्रतिष्ठाके प्रसंगसे दूर रहनेका प्रयत्न कर्त्तव्य है। प्रशंसाके वक्त 'परिणाम-भेद' हो जाय तो वह लक्षके बाहर नहीं जाना चाहिए। मान सबसे अधिक पतनका कारण बनता है। ऐसे प्रसंगमें मूल स्वरूपका लक्ष कर्त्तव्य है परन्तु प्रसंगयोग दौरान भ्रांतिमें पड़ने जैसा नहीं है -ऐसा सर्वज्ञ महात्माओंका कहना है। (६१८)

※

अंतरंगमें निजज्ञानके परिचयका पुरुषार्थ करनेकी ज्ञानीको भी जिनाज्ञा है, एवं परभावका परिचय करनेकी मनाई है, तो फिर मुमुक्षुको भी वही कर्त्तव्य है क्योंकि परभावका परिचय साधनको प्रतिकूल है, अथवा प्रतिबंधरूप है।

जैसे गुणीजनका परिचय कर्त्तव्य है और अवगुणीका परिचय कर्त्तव्य नहीं है वैसे।

इसीलिए परभावकी परिचयरूप प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेका उपदेश है।

उपरोक्त निजज्ञानके परिचय-पुरुषार्थमें प्रमाद कर्त्तव्य नहीं है। प्रमाद बुद्धिका तो अत्यंत निषेध है। जब प्रवृत्तिका उदय हो तब विशेष भावनामें रहना-ऐसी ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है। ऐसा करने जाये तब अगर आपत्तिको भोगनी पड़े ऐसी संभावना हो तो इसके लिए तैयार रहना चाहिए। इस प्रकारकी दृढ़ता होनेके लिए सत्संग जैसा सरल उपाय कोई नहीं है। (६१९)

※

ध्रुवसत्के अलावा अन्य प्रकारसे, कर्मप्रसंगमें जिस-जिस प्रकारसे इस जीवको अपनेरूप

(३०) "द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन साधक है, भावश्रुत साध्य है। भावश्रुत साधक है केवलज्ञान साध्य है।"

परमागमरूपी द्रव्यश्रुतका सम्यक् माने आत्मलक्ष्यी अवगाहन अर्थात् गहरा अवलोकन होनेसे भावश्रुत प्रगट होता है। दृष्टांतरूपसे 'ज्ञान वह आत्मा'- इस निर्ग्रंथ प्रवचनका सम्यक् अवगाहन यानी कि ज्ञान स्वसन्मुख होकर निजमें निजका अवलोकन करे, अस्तित्वका ग्रहण करे वहाँ भावश्रुत होता है। ऐसा भावश्रुत 'ज्ञानकी सर्वशक्ति' के अवलंबनसे प्रगट हुआ है इसलिये आगे जाकर केवलज्ञान - सर्वज्ञानमें परिणमित होगा।

(३१) "शास्त्रका सम्यक् अवगाहन साधक है, श्रद्धागुणज्ञता साध्य है ।

(अगर) आत्मलक्ष्यी परिणामोंके द्वारा विविक्षित आत्मस्वरूपका यथार्थ अवगाहन (आश्रय) होवे तो आत्मश्रद्धान प्रगट होगा । इस तरह ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होता है ।

६-३-१९८७

(३२) "सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयको जानना साधक है, निर्विकल्प निजरस पीना वह साध्य है।"

आत्मसन्मुखतामें आत्मा सर्वस्वरूपसे उपादेय जाननेमें आता है, वहाँ अन्य समस्त द्रव्य-भावोंसे सहज उपेक्षित होनेका बनता है। निर्विकल्प स्वरूप महिमा वृद्धिगत होने पर, निर्विकल्प स्वसंवेदन रस-पान होने लगता है। तृप्तिका अनुभव होता है।

९-६-१९८७

(३३) "परिणाम वस्तुको वेदकर स्वरूपलाभ लेता है - वस्तुमें लीन होता है। स्वरूपनिवास परिणाम ही करता है।"

परिणाम निजस्वरूपका (मेरा) अवलंबन लेकर आनंदका लाभ लेते है और मेरेमें लीन रहते हैं - होते हैं। मेरेमें मेरा निवास है - ऐसा प्रगट मेरेपनेका भाव भी परिणाम करते हैं। यद्यपि जब परिणाम ऐसे भाव नहीं करते थे तब भी मेरा निवास तो मेरेमे ही था, और है और रहेगा। परन्तु प्रगट परिणाम द्वारा स्वरूपनिवासका भाव हुआ तब सर्व शुद्धता हुई, इसके पहले परिणाम स्वयं अशुद्ध रहते थे। और उसमें एकत्वकी भूल होती थी -अतः स्वरूपनिधान (विद्यमान) मौजूद होने पर भी नहीं होनेके बराबर था।

(३४) "(देवकी) स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्राको देखकर स्वसंवेदन भावरूप अपने स्वरूपका विचार करे (भाए)"

- यह जिनेन्द्रदेवके दर्शन करते वक्त अंतरंग स्वरूप अवलोकन करनेके सम्बन्धित विधान है। किस विधिसे जिनेन्द्र दर्शन करने योग्य है ? - उसका सुंदर आध्यात्मिक दिग्दर्शन यहाँ

फल उस विपर्यासको दृढ़ करने जितना ही है। ऐसा होनेसे सर्व प्रथम स्वरूप निश्चयके लिए ही प्रयत्नवान रहना योग्य है। (६२९)

※

'सत्'की पहचान व अनुभव होनेके पहले उस विषयमें जिज्ञासु रहना उचित है। जिज्ञासुके लिए दूसरोंको समझाना या उपदेश देना, वह स्वयंके लिए हितावह नहीं है परन्तु हितेच्छु भावसे दूसरा जिज्ञासु - पिपासु हो वहाँ तक मर्यादित प्रवृत्ति करना उचित है। दूसरेको समझानेवालेमें बहुत योग्यता एवं विचिक्षणता होनी चाहिये। सही उत्तर देते हुए भी उस उत्तरसे किसीको नुकसान नहीं हो, उस प्रकारसे उत्तर देना चाहिए, और यदि आवश्यक लगे तो मौन रहना चाहिए, अथवा समूहमें उत्तर नहीं देकरके अंगतरूपसे जिज्ञासुको सही उत्तरके लाभालाभको समझाकर, उसकी मर्यादाका खयाल कराते हुए, उत्तरके विषयको मर्यादित करना चाहिए। इस नीतिको बनाये रखनेकी क्षमता नही हो तो प्रश्नोत्तरीमें नहीं जाना चाहिये। (६३०)

※

महापुरुषोंका जीवन चरित्र देखते हुए, वह ऐसा प्रतिबोध देता है कि निरंतर उदयमान ऐसा कर्मप्रसंग अनन्त कालसे नये प्रतिबंधका कारण होता आया है, वहाँ अपनी पूरी शक्तिसे जागृत रहने योग्य है, अर्थात् अजागृत रहने योग्य नहीं है। ऐसा प्रकाशित करके अनन्त आत्मार्थका प्रतिबोध किया है। अतः पूर्व प्रारब्ध ऐसा जो कर्मप्रसंग जब प्राप्त हो, तब उसके प्रति जागृत उपयोगसे, उदासीनतासे उसका वेदन कर्त्तव्य है, वरना आत्मार्थकी हानि होनेमें देर नहीं लगती।

महा पुरुषार्थसे जो पराक्रमी हैं, वैसे पुरुषार्थमूर्ति धर्मात्माएँ भी जहाँ आत्मदशाको सँभालते-सँभालते अंतरमें अत्यंत सावधान रहकर चले है, वहाँ मुमुक्षुजीवको प्रवर्तते हुए कितना विशेष सँभलकर रहना - सावधान रहना चाहिये; उसका वारंवार प्रसंग-प्रसंग पर विचार कर्त्तव्य है। (६३१)

※

आत्महितरूप सत्य धर्मका खोजी जीवका चाहे जैन संप्रदायमें जन्म हुआ हो, चाहे अजैन संप्रदायमें जन्म हुआ हो, उसकी दृष्टि तो सिर्फ परमार्थ पर ही रहती है। इसलिए अगर जैन हो तो भी कसौटी किये बिना शास्त्र सिद्धांतका स्वीकार नहीं करता। परन्तु कुलयोगसे (जैन) संप्रदाय प्राप्त हुआ हो, लेकिन वह परमार्थरूप है या नहीं ? इसकी परीक्षा किये बिना, वैसी परीक्षादृष्टिसे चले बिना, परमार्थ मान लेनेमें जीव परमार्थको / आत्महितको अवश्य चुक जाता है, यह जैनियोंको खास ध्यानमें लेने जैसा है। जो परमार्थको खोजता है, वह

निराबाध उपदेश है।

(३८) "इससे जो जीव समाधि-वाँछक है वे इष्ट-अनिष्टका समागम मिटाकर, राग-द्वेषको छोड़कर, (अन्य) चिंता मिटाकर, ध्यानमें मन धरकर, चित्स्वरूपमें समाधि लगाकर निजानन्दको भेटो।" स्वरूपमें वीतरागतासे ज्ञानभाव हो तब समाधि उत्पन्न होती है।

जिसको उपाधिसे परिमुक्त होना है, वह संयोगमें (परद्रव्यमें) इष्ट-अनिष्टकी बुद्धिको मिटा (त्याग) दे तो राग-द्वेष मिट सकते है। कोई भी पर पदार्थ अच्छे या बुरे नही है - फिर भी व्यामोह / भ्रमसे जिस जीवको उसमें इष्ट-अनिष्ट अभिप्राय रहा है - वह सकल राग-द्वेषका मूल है - सर्व चिंताका मूल है । अगर ज्ञानमें कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा भासित नहीं होता हो तो फिर चिंता होनेका कारण भी नही रहता। जिसको चिंता नही है, वही चिंता निरोधरूप ध्यानदशामें आरूढ़ हो सकते है अथवा चिंता बिनाके जीवका ही उपयोग निवृत होकर चैतन्य स्वरूपमें लगता है; क्योंकि निर्विकल्प समाधि भावके लिए उपाधि / चिंता बाधक है। उसके जानेसे शिवपंथरूप समाधि सुगम होती है।

त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप, निज स्वरूपमें जब उपयोग बाह्य उपाधिसे मुक्त होकर आये-स्वरूपाकार हो तब निजानंद उत्पन्न होता है। स्वरूपमें भी समभाव, वह समाधि है। वही कल्याण है, निजधर्म है।

(३९) "भावश्रुत, श्रुतमें स्वरूपानुभव-करणको कहा। (दृष्टांत) परमात्माको उपादेय कहा। उसीरूप भाव सो भावश्रुतरस, उसे पी।"

श्रुतमें स्वरूप अर्थात् स्वभावका अनुभव करना उसे भावश्रुत कहना।

द्रव्यश्रुतके वाच्यका अनुभव करना, अर्थात् 'परमात्मा उपादेय है' - ऐसे द्रव्यश्रुत द्वारा निज परमात्माकी उपादेयता - साक्षात उपादेयता भावमें होना वह भावश्रुत है। (निज परमेश्वरपदका साक्षात् अनुभव वही सम्यक् उपादेयता है अथवा स्वानुभवके कालमें परमपद उपादेय होता है।) अर्थात् श्रुतज्ञानमें अभेद स्वरूपका (स्वभावका) अनुभव करना-वह भावश्रुत है। ज्ञानमें ज्ञानका स्वपने वेदन करना, वह भावश्रुत है; वह निजरस है। उसका रुचिसे, परमप्रेमसे आस्वादन करने योग्य है।

(४०) "एकदेश उपयोग शुद्ध करके स्वरूपशक्तिको ज्ञानद्वारमे जाननलक्षण द्वारा (ज्ञानलक्षण द्वारा) जानना।"

यह स्वरूपको जाननेकी विधिका विधान है। दर्शनमोहका रस घटनेसे, आत्मार्थीजीवको भूमिकाकी ज्ञानमें निर्मलता (ज्ञानमें भूमिकाकी निर्मलता - समकितकी पूर्व भूमिका - एक देश उपयोगकी शुद्धता) होनेसे, निज उपयोग द्वारमें स्वरूपशक्तिको जानन लक्षण द्वारा जाने, तब

स्वरूपलक्षपूर्वक, विकल्प-चिंतनादिमें थकान लगे तभी विकल्पसे विराम प्राप्त होता है, पर्याय ऊपरका वज़न अत्यंत कम हो जाये और एकदम तीव्र लगनसे अंदर उतरना हो जाये। (अभेद निर्विकल्पदशा इस प्रकार सहज होती है।)

निर्विकल्प स्वरूपके लक्षसे स्वरूपरस वृद्धिगत होता है। स्वरूपलक्षसे स्वरूपकी महिमा वृद्धिगत होती जाती है जो कि विकल्पसे विरुद्ध रस है। यह चैतन्यरस अथवा आत्मरसकी तीव्रता स्वानुभवकी कारणभूत है। (६४१)

⁂

ज्ञानदशामें ज्ञानीपुरुष अनेक गुणोंसे विभूषित होते हुए महान आत्मगुणोंकी अतिशय / प्रगटतासे सुशोभित होते हैं। उनकी असामान्य दशा होनेके बावजूद भी और द्रव्यसे (क्षेत्रसे) समीपता प्राप्त होनेके बावजूद, खुदकी योग्यताकी क्षतिके कारण जीवको पहचान नहीं हुई। ऐसे-ऐसे योगमें बाह्यदृष्टिसे देखनेका / नापनेका नेत्र बंद रखना चाहिए, वैसा नही किया है इसलिए, तथापि मार्गप्राप्तिकी अपूर्व भावनापूर्वक, सत्पुरुषको पहचाननेकी तीव्रतावाले दृष्टिकोणके अभावके कारण ज्ञानीपुरुषका विलक्षण स्वरूप लक्षमें नहीं आया। मार्गको खोजनेके बावजूद भी मार्ग नहीं मिलने पर उलझनमें आनेवाले आत्मार्थी जीवकी उलझन जिनकी अनुभववाणीसे मिटती है, तथा परमार्थ-विषय पर जिसका लक्ष हो, उसको ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें अपूर्व स्वभावका निरूपण पूर्वापर अविरोधपनेसे, आत्मार्थ साधक होता हुआ मालूम पड़ता है, तब विशेष परिचयसे उनके अंतर परिणमनमें वृत्ति क्रियाचेष्टितपना, स्वरूपका एकत्व, एवं बाह्य परिणमनमें रागसे और देहादि संयोगसे विभक्तपना अर्थात् भिन्नता दिखाई पड़ती है, उनका चैतन्य रस प्रगटरूपसे दिखता है, तब उनकी मुद्रा, नेत्र एवं जागृत चैतन्यकी चेष्टा, भानसहितपना है ऐसा लक्षगोचर होता है।

उनके परिणमनका झुकाव वाणीमें आशयभेद उत्पन्न करता है। अर्थात् सर्व कथनका केन्द्रस्थान परमार्थरूपसे पुरुषार्थ प्रेरक लगता है। परम सरलता और उससे उत्पन्न उदात्तपनेके कारण निष्कारण करुणाशीलता, मध्यस्थता आदि गुण अलौकिक साधक कोटिके मुमुक्षुकोटिसे विशेष) जब जाननेमें आते है तब मुमुक्षुको पहचानपूर्वक बहुमान और परमभक्ति उत्पन्न होकर, तथारूप आराधन होकर, दर्शनमोहका उपशम हो ऐसी सहज स्थिति उत्पन्न होती है, सुगमतासे होती है। यह सिद्धांत है जिसका फल अनुक्रमसे कैवल्यकी प्राप्ति है।

अंतमें जिनकी श्रद्धा / दृष्टि निज अनन्त शांतिके पिंड पर है और जिन्हें स्वयंके साक्षात्कार पूर्वक वस्तु प्रगट है उनकी परख आनेसे / देखनेसे वे ज्ञानीपुरुष हैं - ऐसा निश्चय होता है। (६४२)

असंभव नहीं । पुनः इस स्वभाव सामर्थ्यकी विशेषता यह है कि 'शुद्ध स्वरूपरूप व्यक्त होना' ऐसा (ही) अपना स्वभाव है। इसे अगर व्यक्तरूपसे भानेमें आये तो - वह (परिणामरूपसे) व्यक्त होवे - अथवा स्वभावकी 'व्यक्तपने' भावनारूप परिणामकी तन्मयता - तदाकारता - वही सहज स्वभावकी अभिव्यक्ति है। (२२०)

※

अंतर ज्ञानाभ्यासमें (ज्ञान सो मै) ऐसे ज्ञानरसके प्रत्यक्ष वेदनसे, स्वानुभवकी उत्पत्ति होती है - यह विधि है। (२२१)

※

अंतरमें निज प्रयोजन सधे, उस कारणसे यदि प्रश्न उठे, तो वह योग्य जिज्ञासा है। इससे प्राप्त समाधानसे लाभ होता है। परन्तु परलक्ष्यी (प्रयोजन बिनाके) तर्क-वितर्कसे प्रश्न होना-वह सच्चा जिज्ञासापन नहीं है। ऐसे तर्कका समाधान प्रायः खुदको लाभकर्ता नहीं होता। (२२२)

※

धर्मी अंतरमें बहुत गहराईमें निर्विकल्प ज्ञानरसमें विचरते है, आत्मरसमें सराबोर होते है। रागरसवालेको उसकी कल्पना होना भी संभवित नहीं है। (२२३)

※

जिस मनुष्यभवका सद्‌उपयोग सिद्धपदकी प्राप्तिके लिये हो सकता है, उसका मूल्य-महिमा कैसे हो सकता है ? ऐसे मनुष्यपनेका मात्र देहार्थमें ही व्यतीत करनेमें आये तो यह कोई सामान्य अविचारीपना तो नहीं है बल्कि वह सर्वाधिक अविचारीपना है। (२२४)

※

जनवरी - १९८८

'आत्मभावना' - वह अध्यात्मकी नीवकी चीज है। क्योंकि अनात्मरस तोड़नेमें इसके अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है; अथवा 'आत्मभावना'- वह आत्मरस उत्पन्न होनेका स्वयं साधन है; जो कि अनादिके विभावरसको शांत करता है - तोड़ता है। अतः सर्व ज्ञानियोने इसका महत्त्व दर्शाया है। (२२५)

※

कोई भी पर्याय दूसरी पर्यायका कार्य करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि दोनोंके बीच व्यतिरेक है - भिन्नता है। अतः परिणतिको अंदरकी ओर मोड़नेका भाव-विकल्प भी अंतर्मुख होनेका कारण-उपाय नहीं हो सकता। (विकल्पमें स्वरूपका अनुभव करनेकी शक्ति भी नहीं है) परन्तु

कारण होता है। इसलिए जिज्ञासामें रहना यह मुमुक्षुके लिए ज्यादा उचित है। इसमे भी खास करके महापुरुष जब जैनेत्तर ग्रंथ या व्यक्ति विशेष सम्बन्धित वचनको प्रकाशित करते हो, उस वक्त मतांतरकी दृष्टि गौण करके तत्त्वदृष्टिकी मुख्यतासे विचार करनेसे परमार्थ समझमें आता है। संप्रदायबुद्धिसे इसका परमार्थ समझमें नहीं आ सकता (देखिये ६३९)। इसलिए यहाँ पर विशाल व मध्यस्थ बुद्धिरूप पात्रताका होना जरूरी है। जिन्होंने तीक्ष्ण गुणदृष्टिसे, गहन गुणदृष्टिसे अन्यमतके शास्त्रोंमें से भी परमार्थका प्रकाशित किया है उनकी भगवती प्रज्ञाको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! (६५१)

आत्मार्थी जीव दोष टालनेके दृष्टिकोणसे खुदके परिणाममें जागृत रहकर अवलोकन करता है, इसमें विषय कषायके, प्रति खेद हो आता है, क्वचित् खुदका निर्वीर्यपना एवं पामरताको देखकर विशेष खेद भी होता है, परन्तु सिर्फ अकेला खेद करके आत्मार्थी अटक नहीं जाता। अथवा मात्र खेद भावमें रहना / अटकना योग्य नहीं है। (मार्ग वैसा एकांत निराशाका नहीं है।) वैसे भावसे महापुरुषोंके चरित्र, एवं वचनोंका अवलंबन ग्रहण करके आत्मवीर्यको खुद आत्मगुणोंके प्रति फिरसे उछालता है, महापुरुषोंके जो आचरण एवं वचनके आधारभूत ऐसे परमतत्त्वको ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें जुड़ता है, और जब तक विजयको प्राप्त नहीं करता है तब तक प्रयत्न चालू रखता है; और अंतमें सफल होता ही है, यह निःसंशय है।

इस प्रकार खेद भाव व आत्मवीर्यका संतुलन पूर्वक अनुसंधान होवे ऐसा ज्ञानीका मार्ग है। (६५२)

※

## दिसम्बर - १९९०

मार्गका उपदेशकपना सिर्फ परमगुरु श्री जिन तीर्थंकरदेवके लिए योग्य है, और उस दशासे अति निकट ऐसी आराधक दशामें, वर्तते हुए निर्ग्रंथ वीतरागी सर्वसंग परित्यागी मुनिराज, कि जो स्वयं ही मूर्तिमंत मोक्षमार्ग स्वरूप हैं, उनके लिए योग्य है। जो छठ्ठे गुणस्थानक में संभवित है, इससे नीचेके गुणस्थानमें (चौथे-पाँचवे) मार्गप्राप्त होनेसे वे दिखा तो सकते है परन्तु अंतर्बाह्य अविरोधता नहीं होनेसे उन्हें भी उपदेशकपना योग्य नहीं है, तो फिर सिर्फ मुमुक्षुतामें कि जिसमें मार्गकी, तत्त्वकी, आत्माकी या ज्ञानीकी पहचान न हो, बल्कि मात्र थोड़े शास्त्र अभ्याससे सिर्फ धारणा हुई हो, उसको तो उपदेशक भावसे, अजागृत रहकर ज़रा भी वर्तन करना उचित नहीं है। उस भूमिकामें तो जिज्ञासु रहना ही उचित है। उपदेशक भाव रहनेसे, वर्तनेसे कुगुरुपना है, मार्गकी विरुद्धता है और वह प्रगट मिथ्यात्व है। परस्परकी

करनेमें प्रत्यक्ष तोरसे स्वरूपका ग्रहण करनेमें आता है, अतः निज अस्तित्वको- मौजूदगीका वेदनेका अर्थात् वेदनसे ग्रहण करनेका प्रयास शुरू होना चाहिये। (द्रव्यदृष्टि प्रकाश - ४५४ परसे)

(२२९)

※

जब तक रागमें दुःख न लगे, तब तक ज्ञानमें सुख नही लगता - यह नियम है। इसीलिये जीव रागकी मैत्री (एकत्व) छोड़ नही सकता अथवा रागसे हट नही सकता। जैसे अपनी इच्छा-विरुद्ध प्रसंगमें जीवको आकुलता होती ही है वैसे यदि रागके सद्भावमें जीवको दुःख नही हुआ, तो उस रागका होना जीवको सुहाता है, रुचता है, सम्मत है (और) इच्छा विरुद्ध नहीं है। यहाँ इसमें रागकी अनुमोदनाका (सूक्ष्म) दोष (भी) होनेसे मिथ्यात्व मिटता नहीं, और रागका एकत्व तो वहाँ है ही।

(२३०)

※

तत्त्वका श्रवण - धारणा, आत्मरुचिकी उत्पत्तिका कारण होते है अगर यथार्थभावसे, स्वलक्ष्यसे होते हो तो। यदि आत्मरुचि नहीं हुई / तीव्र नही हुई तो वह अयथार्थभावसे / परलक्ष्यसे हुई धारणा प्रायः नुकसान करती है। रुचि अंतरमें परिणमनका कारण होती है। गुणकी रुचिवाला जीव अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अवगणना/उपेक्षा करके स्वभावको साधता है। रुचि बिनाका धारणाज्ञान शुष्क है, अनर्थकारक है।

(२३१)

※

### अप्रैल - १९८८

समझकी यथार्थताका लक्षण वह है कि 'परम सत्की' अपूर्वता भासित हो अथवा चोट लगे और (अंतर्मुख होनेका) सहज प्रयास शुरू हो।

(२३२)

※

परिणाममें उत्पन्न रस - वह परिणामकी व्यक्त शक्ति है । स्वभावका रस स्वभावशक्तिको वृद्धिगत करता है। विभावरस विभावभावोंकी (शक्तिको) वृद्धिगत करता है। यह ध्यानमें / लक्ष्यमे लेने योग्य है।

(२३३)

※

### मई - १९८८

आत्मस्वरूपकी परम पवित्रता, शुद्धता, सामर्थ्यकी शाश्वत अनंतता, ध्रुवता, अखंडता ही समाधि व ध्यानका कारण है, निःचंचलताका कारण है। आत्मस्वरूप स्वयं परम प्रयोजनभूत है, उसके सिवा अन्य द्रव्य-भाव निष्प्रयोजनभूत है। (फिर भी) अप्रयोजनभूत विषयके प्रति प्रवर्तित

मायाके परिणाम गुप्त पापरूप हैं। अतः यह अपराध स्व-परको नहीं दिखता परन्तु वह विश्वासका या मित्रताका नाश कर देता है। भविष्यमें इनसे दूर रहनेका लोग विचार करते हैं अथवा वर्तमानमें विश्वास रखनेसे पहले भूतकालको याद करके दूर रहते हैं। विपरीत श्रद्धाको दृढ़ करती है, हिंसा, झूठ इत्यादि...।

लोभके कारण सभी अवगुण आते हैं, अथवा सर्व (कोई भी) गुण (यदि हो तो) का वह विनाश करता है। शास्त्रमें (प्र. रति प्र. २९) लोभको सर्व प्रकारके व्यसन / दूषणको आनेका खुल्ला राजमार्ग कहा है।

इस प्रकार उक्त चार कषायोंको चारगतिरूप भयंकर संसारके कारण जाने। (६६९)

※

सत्पुरुषकी पहचान होकर उनके प्रति जिसे परमेश्वरबुद्धिपूर्वक परम विनय प्राप्त हुआ उसे ही आत्मस्वरूपकी पहचान हो सकती है, इसके सिवा अनादि मिथ्यादृष्टिको आत्मस्वरूपभूत परमात्माकी पहचान नहीं हो सकती। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे जिनागममें जगह-जगह पर सत्पुरुषकी महिमा प्रकाशित हुई है; जिसकी प्रतीति होने पर स्वच्छंद नहीं होता अन्यथा स्वच्छंद मिटना बहुत मुश्किल है। 'बिना नयन पावे नहीं, बिना नयन की बात' - इस पदका मर्म भी उपर्युक्त रहस्यको प्रकाशित करता है। (६७०)

※

परिणाम दो प्रकारसे कार्य करते हैं। एक अवलंबन लेता हुआ और दूसरा अवलंबन लिए बिना सिर्फ जानकारीसे प्रवर्तन करना। अब मोक्षमार्गमें शुद्धनय द्वारा एक शुद्ध ध्रुव निजस्वरूप ही अवलंबन लेने योग्य है, गुणभेद या कोई भी पर्याय अवलंबन लेने योग्य नहीं है। गुणभेद, शुद्धाशुद्ध पर्याय व निमित्त जो कि व्यवहारनयके विषय हैं (समकित, शुद्धनय, वीतरागता इत्यादि भी) वह जानने योग्य है परन्तु अवलंबन लेने योग्य नहीं।

ये दो मुद्दे परिणमनमें यथास्थानमें नहीं रहने पर जीव अनादिसे पर्यायदृष्टि होनेसे प्रायः उभयाभासी हो जाता है। जिसमें (वर्तमान) पर्यायमात्रमें वैसा अवलंबन रहा करता है, और अपने मूल स्वरूपका लक्ष / भान नहीं रहनेसे कल्पनामात्ररूपसे निश्चयकी श्रद्धा / मान्यता होती है - ऐसी स्थितिमें प्रवर्तना होता है और शुभयोगकी प्रवृत्ति / परिणामको योग्य व्यवहार माना जाता है, जो भ्रम है। इसके उपरांत शब्दनय भाषाके प्रकरणमें एक ही द्रव्य - भावको उसी स्वरूप निरूपित करना वह निश्चयनय है और उसीको उपचारसे अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपि करना वह व्यवहारनय है। वहाँ एक ही विषय दो प्रकारसे कहा जाता है। जिसका नाम निश्चय-व्यवहार है। (६७१)

है। इसलिये पर विषयको सुखबुद्धिसे भोगनेसे सुखका (आभासरूप) अनुभव होता है। परन्तु वास्तविकतामें वहाँ सुख नही होनेसे किसीको भी तृप्ति नहीं होती। आत्मिकसुखकी गटागटीसे (अनुभवसे) प्रतीत होते ही पूरा जीवन बदल जाता है। वह जीव परमें कहीं भी सुखके कारण धोखा नही खाता।

(२४०)

❋

समस्त अन्यमत, अभिनिवेषमेंसे उत्पन्न हुए हैं; जो दर्शनमोहकी तीव्रताके द्योतक है। अतः मुमुक्षुजीवको अभिनिवेषको सर्वाधिक पाखंड समझकर, सावधान होकर दूर रहना योग्य है। (१) लौकिक अभिनिवेष और (२) शास्त्रीय अभिनिवेष - दोनोंका फल एक है। 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेष" सबसे भयंकर अनिष्ट है। (२४१)

❋

२५, मई - १९८८

उदयकालमें जीव पाँच इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका वेदन (भोगवटा) जितने रसके अनुपातमे करता है; उतने रसके अनुपातमें असाता वेदनीयका बंध पड़ता है। अगर उस अशाताके उदयके पहले भेदज्ञानकी शक्ति साध्य नहीं की हो तो वेदनाकालमें तन्मय होकर असाताका दुःख भोगना ही पड़े, और उतने अंशमें परसे भिन्न ज्ञानवेदन करनेकी शक्ति क्षीण होती है। अतः शारीरिक असाता वेदनाको उदयकालमें परवशपनेसे भोगनी ही पड़ती है। जब कि भेदज्ञानके अभ्याससे भिन्न ज्ञानवेदनको धड़नेसे और वेदनाके कालमें तीव्र पुरुषार्थ (उठानेसे) स्फूरीत होनेसे पुरुषार्थके अनुपातमें जीव वेदनासे मुक्त रह सकता है। (२४२)

❋

मुमुक्षुजीव तत्त्वज्ञानका अभ्यास - वांचन - विचार (तो) करे, परंतु उदयमें पूर्ववत् रुचिपूर्वक उदयका वेदन करे, तो भेदज्ञानका पुरुषार्थ करनेकी शक्ति क्षीण हो जानेसे, उसको इच्छा होनेके बावजूद भी भेदज्ञान नहीं हो सकता बल्कि उसको भेदज्ञान करनेकी समस्या खड़ी हो जाती है। इसलिये यदि जागृतिपूर्वक उदयकालमें मंद परिणामसे उदय-वेदन हो, (भेदज्ञानके प्रयोगके कारण) तो आगे बढ़ा जाय।

वांचन-विचार बाह्य क्रिया है, वह भावनाकी वृद्धिके प्रयोजनसे होने चाहिये। (जब कि) भेदज्ञान अंतर क्रिया है। बाह्य क्रिया उदय आधिन होती है। अंतरक्रिया पुरुषार्थ आधिन होती है। इसलिये अंतरक्रिया किसी भी प्रकारके बाह्य साधनके बिना सतत हो सकती है। अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतरक्रियामें प्रवर्तन करना - वही हितावह है।

बाह्यकार्योंकी गिनती करनेमें बाह्यदृष्टि रहती है जो अहितकर है, अथवा अंतर क्रियाको

है कि वह लेनेकी वांच्छामें रहा करता हो अथवा लेनेकी वांच्छावालेकी वृत्तिको पोषण मिले वैसा नहीं होना चाहिये।

(६८३)

※

उपदिष्ट वचन, बोध / सिद्धांतकी समझ होनेके बावजूद भी क्रम विपर्यासके बारेमें समझ नहीं होनेके कारण अक्रमसे प्रवृत्ति करनेमें निर्धारीत सफलता नहीं मिलती है। इसलिए जो मुमुक्षुजीव सन्मार्गकी गवेषणा करना चाहता है उसका उलझनमें आना स्वाभाविक है, और क्रमको छोड़कर सद्विचार व सत् सिद्धांतका अनुसरण करनेका प्रयत्न करनेमें मार्गकी और सिद्धांतकी प्रतीति आती है, फिर भी आगे बढ़ना नहीं हो पाता, इसलिए मूल समस्याका समाधान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति प्रायः बनती है। तब इसका समाधान ऐसा है कि यदि क्रमसे ही शुरूआत करनेमें आये तो सहजतासे आगे बढ़ा जा सकता है, इसके अनुपातमें परिणाम स्वकार्य करने लग जाते हैं और चमत्कारिक रूपसे मार्गका विकास सधता है। मानो जैसे मुमुक्षुने भीतरकी कोई नयी दुनियामें प्रवेश न कर लिया हो । और उस अलौकिक दुनियाका प्रवास - विहार होने लगता है। यह मार्ग प्राप्तिकी नियति है।

(६८४)

※

किसी भी वृत्ति / मन पर नियमन लादना अर्थात् दमन करना, वह अवैज्ञानिक है अथवा कृत्रिम है, अर्थात् कुदरत विरुद्ध है, जो कि शांति प्राप्त करनेकी रीत नहीं है- उन्मार्ग है। परंतु उसका निरीक्षण करते रहना अर्थात् अवलोकनका अभ्यास करनेसे उसका वेग गल जाता है - क्षीण हो जाता है और सहजरूपसे शांतिकी दिशा प्राप्त होती है जो वैज्ञानिक है। निरीक्षण द्वारा वृत्तिको जितना समझना हो पाता है उतना ग्रंथ पढ़नेसे या उपदेश वचन श्रवण करनेसे नहीं बन पाता। तद्उपरांत निरीक्षणसे श्रेष्ठ व यथार्थ उपशमन (वृत्तिका) होता है। जो विशेष बात है।

(६८५)

※

तत्त्व-जिज्ञासाका अनुमोदन कर्त्तव्य है। फिर भी कुतूहलवृत्ति, सिर्फ जानकारी बढ़ानेकी कुतूहलवृत्तिका अनुमोदन कतई करने योग्य नही है। परलक्षी ज्ञान और पररुचि / अनात्मरुचि आत्महितको नुकसानकर्ता होनेसे वैसे परिणामोंको जिज्ञासाके बहाने पोषण नहीं मिले इसकी सावधानी रखने योग्य है।

सामान्यतः अनादि पररुचिके कारण जानकारी बढ़ानेकी, संग्रह करनेकी संग्राहक वासना जीवको हो जाती है, इसलिए सावचेत हो जाना चाहिए; और यथार्थ जिज्ञासापूर्वक आत्मरुचिको पोषण देना चाहिये। तथापि ज्ञानमें स्वलक्षीपना लाना चाहिये।

(६८६)

मुमुक्षुजीवको सिद्धांत और अध्यात्म सम्बन्धित ज़रा सा भी विपर्यास नहीं हो जाये उसकी अत्यंत सावधानी रखनी जरूरी है वरना मिथ्या आग्रहपूर्वक कहनेसे / दूसरोंको प्रेरणा देनेसे, खुदको बोध होनेकी योग्यताको आवरण आता है; ऐसा जानकर निरावरण होनेके लक्ष्यसे भी दोषित प्रवृत्तिसे अटकना / जागृत रहना हितावह है। भवभीरु जीव जागृत रहकर ऐसे दोषसे बचता है। खास करके अध्यात्मरससे विमुखता नहीं हो, वह गंभीरतासे लक्ष्यमे लेने योग्य है।
(२४८)

*

समर्थ ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहे हुए (दर्शाते हुए) वचन भी जीवको लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा एवं असत्संगकी रुचिके वशात्, निज स्वरूपका विचार / निश्चय करनेके बलकी उत्पत्तिमें सफल नही होते है। उक्त अवरोधक कारणको साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको स्वस्वरूपको निश्चय होना - भावभासन होना अत्यंत दुर्लभ है।
(२४९)

*

वेदनीय आदि कर्मके उदयको भोगे बिना छूटनेकी इच्छा ज्ञानीपुरुष नहीं करते है, अगर करते है तो वह ज्ञानी नही बल्कि देहाध्यासी अज्ञानी है। देहाध्यासी अज्ञानी ही ऐसी इच्छा रखते है, ज्ञानीको तो भेदज्ञान वर्तता होनेसे वेदनाका भय नही होता, परंतु वेदनाके उदयकालमें ज्ञानी विशेष पुरुषार्थ परायण सहज ही रहते है। सर्वकालमें होने योग्य ही होता है । अतः ऐसे सम्यक् समाधानपूर्वक आकुलता करने योग्य नहीं है। जो कोई भी आकुलता करता है वह अपराधी होता है, फिर भी जो होना होता है वही होता है - इसलिये ज्ञानपूर्वक अपराधको छोड़ने योग्य है।
(२५०)

*

आत्माको मूल ज्ञानसे च्युत कर दे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय ऐसा विकट प्रारब्धोदय अथवा गिरनेके भयंकर स्थानक - प्रसंगोंमें जागृत रहकर, सावधान रहकर, जिन्होंने तथारूप पुरुषार्थ करके आत्मसिद्धिको हासिल की है, उन सत्पुरुषोंके पुरुषार्थको स्मरणमें लेते ही रोमांचित आश्चर्य होता है - यथावत् भक्ति उत्पन्न होती है। "अहो ! ज्ञानीपुरुषकी आशय गंभीरता, धीरज और उपशम ! अहो ! अहो ! वारंवार अहो !"

- श्रीमद् राजचंद्रजी
(२५१)

*

दुष्कर ऐसी तृष्णाका यथार्थ पराभव होनेके लिये परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने मुमुक्षुको बोधमे दिये हुए उपदेशके मुद्दे :-

है।

※ (६९६)

ज्ञानमें स्वयंका वेदन सहज स्वभावके कारण होता है, फिर भी स्वानुभवके कालमें जो स्वसंवेदन होता है, उसमें घनिष्ट संवेदन होता है।

यह स्वसंवेदनकी तारतम्यता बहुत होती है क्योंकि वह सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनसे उत्पन्न हुआ है, और स्वसंवेदनपूर्वक स्वभाव और पूर्णताकी प्रतीतिका वेदनरूप कारण यह स्वसंवेदनको गाढ़ करनेमें सहायक बनता है, अतः विश्वकी समस्त अनुकूलताओं व प्रतिकूलताओंसे उन्मुख होकर वह प्रवर्तता है। इसके अलावा पूर्ण स्वसंवेदन कि जिसकी तारतम्यता अनन्त है, इसका कारण भी (नियमसे) वर्तमान स्वसंवेदन है। यह स्वसंवेदन आत्माका जीवन है, पवित्र जीवन है। यहाँ वेदनमें जीवंत आत्मतत्त्व उपलब्ध है। ग्रंथ-ग्रंथोंमें इसकी स्तुति देखने मिलती है। अमृतरसका कंद आत्मा है। उसका रसास्वादन स्वसंवेदनमें है। वहाँसे हटते ही अन्य सर्व क्लेशरूप है। शुद्धोपयोगके कालमें रागका अभाव (जो कि वेदनमें प्रतिबंधक था) होनेके कारण ज्ञानवेदन आविर्भूत होता है।

※ (६९७)

अध्यात्मशास्त्र, यदि दर्शनमोह कम हुआ हो जिसका, वैसे पात्र मुमुक्षुजीवको अवगाहनमें आये तो परमार्थ प्रतिके परिणमनमें समीपता होती है, वरना सिर्फ धारणाका विषय बनकर रह जाता है, और दर्शनमोहपूर्वक उदयभावोंमें तीव्ररससे प्रवर्तन होता है। जिसमें उदासीनता/उपेक्षा होनी चाहिये वैसे उदयप्रसंगमें नीरसता आये बिना अध्यात्मबोधकी असर नहीं होती, (और) तब जागृतिका अभाव रहा तो जानकारीका दुष्ट अभिमान भी हुए बिना नहीं रहता। अतः अध्यात्म शास्त्रका ज्ञानीपुरुषकी आज्ञासे, उनके सानिध्यपूर्वक अवगाहन करना उचित है, अथवा तीव्र मुमुक्षुता / पात्रताकी भूमिकामें अध्ययन होना हितकारी है। दर्शनमोहकी तीव्रतावाले जीवको निश्चयकी बातें प्रायः स्वच्छंदका कारण होती है।

※ (६९८)

भेदज्ञान अंतरंग सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे किया जाता है। जिसमें ज्ञान प्रकाशरूप - निराकुलभावरूप, अपनेरूप अनुभवमें आता है और राग आकुलतारूप, जड़ या अंधकाररूप, पररूप जाननेमें आता है। सहजरूपसे भिन्न व विरुद्ध प्रकारके भाव जैसे है वैसे भिन्न ही जाननेमें या वेदनमें आते है, (लेकिन) अगर तथारूप अंतर अभ्यास हो तो।

इस मोक्षके कारणका परम प्रेमसे सेवन करना योग्य है, अथवा उपासना करने योग्य है।

(६९९)

प्रगट होना योग्य है।

(२५५)

※

परम निर्दोषता, पवित्रता, परमशांतरस प्रतिपादक, आत्मभाव अविर्भूत हो, ऐसे वीतराग वचनोंकी / वीतरागश्रुतकी अनुप्रेक्षा वारंवार कर्त्तव्य है। चित्त स्थैर्यके लिये वह परम औषध है।

(२५६)

※

आत्मानंद जो कि स्वरूप आश्रयसे प्रगट होता है, और जो अपूर्व होने पर भी मुख्य नहीं होता है (गौण रहता है।) सिर्फ वही सम्यक् निर्भ्रांत स्थिति है। अन्यथा मंदकषायमें वृत्ति शांत की है' ऐसा अहंपना जीवको स्फुरित होनेसे, उस प्रकारके धोखेमें भटक जाता है, अथवा परिणामकी मुख्यता होने पर, परिणाम हलकी कक्षाको प्राप्त होते हैं। (२५७)

※

जो भी पात्र जीव सत्पुरुषको पहचानकर, परमदैन्यवृत्तिसे उस भगवानरूप सत्पुरुषके चरणमें रहनेका इच्छुक है, तो उसके यथार्थ प्रकारको निमित्ताधिन वृत्ति / दृष्टिपना गिनने योग्य नहीं है, क्योंकि उस जीवका उपादान निजहितार्थमें जागृत हो ही गया है, इसमें निमित्ताधिन दृष्टिकी शंका करना, वह कुतर्क है। कुतर्क मनका रोग है। कार्य उपादानसे होता है, ऐसा सीखना - समझना उस जीवको बाकी नहीं है। विवेकी जीव उसके उपादानको देखकर प्रमुदित / प्रसन्न होते है, (जब कि) वक्रदृष्टिवाले उसको निमित्ताधिन वृत्ति गिनते है। (२५८)

※

स्वयंके क्रम (पुरुषार्थके लिये अति उत्साह) को दृढ़ करने योग्य - होने योग्य है, जागृति होवे तो ही चारों तरफसे निवृत्ति रह सकती है, वरना बाह्य निवृत्तिका पुण्ययोग भी कषायकी मंदतामें व्यतीत होगा - पूरा होगा।

(२५९)

※

संयम कब प्राप्त हो अथवा वर्धमान हो ? कि जब तीक्ष्ण परिणतिसे ब्रह्मरस - निर्विकार चिद्रसमें स्थिरत्व उत्पन्न हो तब। संयम = विषयके प्रति परिणाम नहीं होना। (२६०)

※

अगस्त - १९८८

जिस प्रकार सभी जीव (स्वभाव होनेके कारण) सर्वत्र, सर्वदा सुख चाहते हैं; वैसे स्वरूपसे सर्वोत्कृष्ट होनेसे, सभी जीव अपनी महानता (प्राप्त) हो ऐसा चाहते है। परन्तु स्वरूपबोधके अभावके कारण, परपदमें सुख एवं बड़प्पन (महानताको) देखते हैं, इसलिये परपदमेंसे मान

प्रयत्न होता है।

※

(७०८)

वर्तमानकालमें सत्संगकी बहुत हानि हो चुकी है। इस विषयमें घोर अंधकार छा गया है। ओघसंज्ञासे, प्रसिद्धि प्राप्त ज्ञानीपुरुष (जो विद्यमान नहीं है) उनके वचनोंका कल्पित अर्थ समझकर, मति कल्पनासे मार्गका आराधन, संप्रदायबुद्धिसे होने लगा है। यथा : 'पद गाना' उसे ही भक्ति समझकर उस प्रवृत्तिकी प्रधानता कई जगह वर्तती है, तो कहीं पर शास्त्रके वांचन, अर्थघटन सम्बन्धी विवाद, एवं उपदेशवृत्तिरूप स्वच्छंदका दर्शन होता है। परन्तु सत्संगकी जो अपूर्वता, मुमुक्षुकी भूमिकामें उसका महत्त्व व जरूरियात पर किसीका लक्ष हो या उसका यथार्थ भान हो, वैसा नहीं दिखता। सम्यक्‌दर्शनकी महिमा गानेवाले सिर्फ व्यक्तिपूजाके संकुचित मानससे पीड़ित है, और इसके द्वारा ओघसंज्ञाका प्रदर्शन कर रहे हैं।

ज्ञानीकी पहचान नहीं होनेसे, मुमुक्षुको परस्पर सत्संगकी आराधना कैसे करना ? यह बात लुप्त हो चुकी है, ऐसेमें अंतरखोज तो होवे ही कहाँसे ?

※

(७०९)

जिस मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषका प्रत्यक्ष समागम हुआ हो, उस सत्संगमें शिक्षा-बोध सुना हो, उसके फलस्वरूप सहजरूपसे ऐसे स्थूल दोष तो छूट जाने चाहिए, कि जिससे दूसरे जीवको उस महापुरुषका और उनके सत्संगका अवर्णवाद बोलनेका प्रसंग नहीं आये। इस प्रकार ज्ञानीपुरुषके समीप रहते / अंतेवासी जीवोंकी दूसरे साधारण कहलानेवाले मुमुक्षुसे अधिक जिम्मेदारी है। जिस ज्ञानीपुरुषने लोकोत्तर तत्त्व दिया, उसका श्रवण करनेवाला लोकोत्तर मार्गका अनुसरण करनेका कामी (इच्छुक) होनेसे उसके व्यवहारका स्तर साधारण लौकिकजनसे विशेषतापूर्ण होना चाहिए। ज्ञानीपुरुषके प्रति अत्यंत भक्ति भी सहजरूपसे ऐसी योग्यताको प्राप्त कराती है, और दुर्व्यवहार करनेवालेको भी क्षोभ होता है। सामनेवालेको ऐसा लग जाता है कि 'निश्चित रुपसे इसको कोई सत्पुरुष मिले है' - इस प्रकारकी विशिष्ट छाप अथवा चोट लगे ऐसा होना चाहिये।

※

(७१०)

वक्तापना, लेखकपना, कवित्व इत्यादि प्रकारसे क्षयोपशम-विशेषता मुमुक्षुजीवको होनी संभवित है। उसवक्त उन-उन प्रकारकी विचक्षणताएं दिखानेका प्रकार सहज उत्पन्न होना संभवित है। परन्तु वैसा प्रकार आत्मगुण उत्पन्न होनेमें उपयोगी होवे, उस-उस प्रकारसे प्रवर्तन करनेसे आत्मरस बढ़ता जाता हो, अथवा वृद्धिगत होता हो तो आत्मकल्याणार्थ उसका सफलपना

है, जो कि विचारसे अधिक है। इसलिये अगर वांचन-विचारकी मर्यादासे आगे ऐसा निजावलोकन शुरू नही हुआ, तो वह जीव वांचनादि बाह्यक्रियामें ही अटक जाता है। विचारमें परोक्षता रहती है जबकि वस्तु एवं अनुभव तो प्रत्यक्ष है। अतः सिर्फ विचारश्रेणीकी पद्धति 'अपर्याप्त' है। केवल तर्क और विचारमें कल्पना होनेकी संभावना है। (२६६)

⁂

'जीव करना नही चाहता है, इसलिये स्वकार्य नही होता है।' - (पू. बहिनश्री चंपाबेन) यह वचन परम सत्य है। उक्त वचनमें भावना एवं निश्चयका ज़ोर है। जिसके कारण परकी अधिकाई छूटती है, और पर प्रति अटकना बंध-होकर स्वकार्यमें जुड़ता है। परसे उदास हुए बिना स्वकी ओर जानेका अवकाश नही होता है। (२६७)

⁂

निरुपाधिक स्वभावदृष्टिमें विकल्प मात्र बोझारूप लगता है। ज्ञानके ज्ञातृत्वको रागके कर्तृत्वमें अनंत बोझा एवं दुःख है। नेत्रके पास वज़न उठवानेके बराबर है। अवलोकनमें जब राग उपाधिरूप लगता है, और जब 'ज्ञान'के साथ उसका मिलान होता है तब ज्ञानका रूप निरुपाधिक लगता है। तब (उपाधिसे हटनेके भावरूप) भेदज्ञान शुरू होता है। (२६८)

⁂

जिस मुमुक्षुजीवको स्वकार्य शीघ्रतासे करनेका तीव्र भाव-वेग वर्तता है, वह स्वसन्मुख होनेके सहज प्रयासमें वर्तता है। उसमें उसको प्रमाद नही होता। स्वसन्मुखताके प्रयासमें दर्शनमोहका रस एकदम कम होता है। ऐसा प्रयास वह स्वानुभवका मूल / अनन्य कारण है। (२६९)

⁂

**अक्टूबर - १९८८**

ज्ञान ही मोह क्षय कारणम्। वा ज्ञानात् मोह प्रणश्यति।
ज्ञानम् हि मोक्षहेतुः (समयसार १५१ - ५२)

ज्ञान मोहका नाश करता है अथवा ज्ञान होने पर मोह उत्पन्न नहीं होता; वह ज्ञान कैसा ?

पर पदार्थसे भिन्नताका ज्ञान, (अनुभव), परकी जड़ताका ज्ञान, अथवा परमे सुख-दुःख रहितपनाका ज्ञान, सहज परसे उदास होकर, परसे विमुख होकर, स्व-सन्मुख होता है। वहाँ ज्ञान ज्ञानका - स्वयंका वेदन करता है। सममावमें, स्व-सुखमय होकर, 'मात्रज्ञान' पनेसे अथवा 'ज्ञानमात्र' पनेसे रहने पर मोह विलय होता है। (नियमसार-२३४)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम्।

कि शरीर रोगसे - रो[ग]की वेदनासे छूटनेके लिए प्रयत्नवान रोगी वैद्यकी सुचनाओंका ज़रा
सा भी उल्लंधन नही करता है, तो ही भयंकर रोग / वेदना मिटेगी, ऐसी प्रतीतिपूर्वक परहेजका
पालन करना सहज है, वैसे अगर अनन्त परिभ्रमणके दुःखकी वास्तविकता समझमें आये,
तो स्वप्नमें भी गुरु-आज्ञाका उल्लंधन नही होगा, परन्तु मुक्तिका कारण जानकर भक्ति आयेगी,
तो स्वच्छंदसे सहज बचा जा सके वरना तो जीवके स्वच्छंदको रोक नहीं सकते ऐसा जानने
(७१९)
योग्य है।

※

स्वरूपप्राप्तिकी सुंदर भावना ज्ञानको निर्मल करती है, मति-मलिनताको पिघालती है, वक्रताको
मिटाती है, परिणामतः परमात्मा सधता है; ऐसा विवेक जब उत्पन्न होता है तब द्रव्यश्रुतका
सम्यक् अवगाहन होता है। सर्व श्रुतका केन्द्रस्थान सर्वोत्कृष्ट ऐसा परमपद है। वह निजपद
है। उसमें अनंत चैत[न्य]-अमृतरस भरा है। उसके स्वस्वादरसरूप अनुभवको स्वआचरण -
स्वरुपविश्राम, साम्यभा[व]रूप धर्म कहा है। इस निज कल्याणसे तृप्ति होती है जो सुखरूप
है और अनन्त सुखका मूल है। फिर रंचमात्र भी दुःख नही रहता। ये सभीका मूल भावना
है। कोई भी जीव कभी भी उस भावनामें आ सकता है। (यदि) भावनाका महत्त्व समझमें
(७२०)
आये तो स्व-परकी भावना-विरुद्धता नहीं होती।

※

## अप्रैल - १९९१

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि जिसमें समाती है, उससे समृद्ध शुद्धोपयोग है, ऐसा अंतरदृष्टिसे
समझमें आता है। लब्धिका प्रगट होना, नहीं होना उसमें गौण है। बाह्य दृष्टिवानको सिर्फ
प्रगट रिद्धि, सिद्धि, लब्धिका महत्त्व भासित होता है। परन्तु अंतरदृष्टि द्वारा प्रत्येक धर्मात्माका
महत्त्व - महानता समझने योग्य है। जिन्हें शुद्धोपयोगमें उक्त सामर्थ्य प्राप्त होनेके (बावजूद)
भी उसका गर्व या गा[र]व नहीं है, अरे ! उसका महत्त्व भी नहीं है, परन्तु सहज उदासीन
(७२१)
है; उनका सातिशय गांभीर्य परम आश्चर्यकारी है।

※

सहज पुरुषार्थ प्रगट हो यह कैसे बने ? (पुरुषार्थ करनेके विकल्पमें कर्तृत्व हो जाता
है, ऐसी समझपूर्वक यह प्रश्न है।)

समाधान :- स्वरूप सहज प्रत्यक्ष है। (वह विकल्पका विषय नहीं है।) इसलिए स्वसन्मुख
होकर, स्वयंकी प्रत्यक्षताको ग्रहण करना। तन्मयभावसे अथवा भावमें स्वरुपकी प्रत्यक्षताका
अवलोकन करनेसे, प्रत्यक्षवेदनमें निजावलंबनका बल सहज आ जाता है। स्व-रूपकी महानता

(६) चारित्रमोह-दर्शनमोह (७) आगम-अध्यात्म (८) उत्सर्ग-अपवाद (९) ज्ञान-पुरुषार्थ (१० पर्यायकी भिन्नता - अभिन्नता (देखिये - २८६)

(१) निश्चय-व्यवहार : आगममें प्रयोजनवश निश्चयकी मुख्यता स्थापित की है, परन्तु निश्चयाभास नहीं हो जाये, और कही जगह प्रयोजनवश व्यवहारकी मुख्यतासे भी निरूपण फिर भी व्यवहाराभास नही हो जाये और उभयाभास भी नहीं होवे - ऐसा इस विषयमें संतुलन रहनेसे निश्चय-व्यवहारकी अविरोधता सधती है।

(२) द्रव्य-पर्याय : द्रव्यका अवलंबन, द्रव्यके प्रति उत्पन्न ज़ोरसे लिया जाता है। फिर भी वेदन पर्यायका होता है। जो आनंद पर्यायमें आता है वह अपूर्व है, फिर भी पर्यायकी मुख्यता अथवा आश्रय नही होता। दोनों प्रयोजनके साथ संलग्न होने पर भी यथास्थानमें रहे है वह संतुलनके कारणसे, मोक्षपदकी भावनाके कालमें भी....

(३) श्रद्धा-ज्ञान : सम्यक्श्रद्धा सिर्फ स्वस्वरूपका ही स्वीकार करती है। ज्ञान स्वरूपको। स्वयंको एवं श्रद्धा, पुरुषार्थ, आनंद आदि पर्याय, गुणभेद, निमित्त इत्यादिका, स्वीकार करता है, फिर भी मुख्यता / लक्ष्य श्रद्धाके विषयकी करता है - उसमें श्रद्धा-ज्ञानमे अविरोधपना रहे, वह इस विषयका संतुलन है।

(४) उपादान-निमित्त : आगममें वीतरागी देव, शास्त्र, गुरुको सच्चे निमित्तरूप स्थापित किये हैं, देशनालब्धिका सिद्धांत भी तद्नुसार प्रसिद्ध है। अत: विद्यमान प्रत्यक्ष योगरूप सत्समागमकी महिमा भी आगममें प्रसिद्ध है, और यथार्थ भूमिकामें वह समुत्पन्न होता है, फिर भी संतुलन गवाँये बिना साधक मुख्यरूपसे उपादानके पुरुषार्थमें संलग्न रहता है।

(५) भेद-अभेद : अनादिसे अभेदस्वरूपसे अनजान ऐसे जीवको भेद बिना अभेद स्वरूप समझाना अशक्य है। और वस्तु-स्वरुप भी कथंचित् भेदरूप है। अत: भेदको स्वरूपज्ञान उत्पन्न होनेका अंग कहा है। स्वरूपज्ञान होनेके बाद भी वस्तुकी महिमा, उसमें रहे अनेक गुण-वैभवसे करनेमें आती है, फिर भी अभेदका अनुभव साध्य करनेका उसमे हेतु होनेसे, अभेद तत्वकी ही मुख्यता रहती है, ऐसा संतुलन सम्यक्मार्गमें होता है।

(६) चारित्रमोह-दर्शनमोह : चारित्रमोहके वश, मोक्षमार्गी जीवको भी राग-द्वेष होते हैं फिर भी दर्शनमोह सहित हो, ऐसे रागादि नहीं होते, ऐसा संतुलन सम्यक्मार्गमे होता है। अर्थात् निजस्वरूपके भानमें रागादि होने पर भी उसमें तन्मय नहीं होते हुए, भिन्न रहनेके संतुलनमें रहते है। (क्योकि स्वरूपका एकत्व नहीं छूटता।)

(७) आगम-अध्यात्म : अध्यात्मका विषय एवं सिद्धांत, चारों अनुयोगके सिद्धांतोसे पर

मुमुक्षुजीवको दर्शनमोहकी प्रबलताका विशेषरूपसे विचार कर्त्तव्य है। वर्तमानमें क्षयोपशमभावमें समझनेकी शक्ति होनेसे, पारमार्थिक विषयकी समझ (तो), हो सकती है फिर भी उस विषयका मूल्य, दर्शनमोहके कारण भासित नहीं होता है, अथवा दर्शनमोहके कारण आत्मकल्याणमें प्रतिबंधक भावोंसे होनेवाला नुकसान भासित नहीं होता है, इसलिए पारमार्थिक लाभ वास्तवमें दिखता नहीं है। लाभ दिखे तो परमार्थ रस बढ़े, और समझको भी अनुभवगोचर करनेका प्रयास होवे। अंतरसे (समझे हुए विषयका) प्रयास चालू नहीं होनेका या नहीं उठनेका कारण दर्शनमोहसे उत्पन्न - उघाड़में, संतोष है। स्वलक्षी ज्ञानमें ऐसा मिथ्या संतोष नहीं आता, परन्तु प्रयत्नरूप अभ्यास (वारंवार प्रयत्न होना वह) चालू होता है - इस विषयमें स्वलक्षसे विशेष गहराईसे विचार कर्त्तव्य है, कि जिससे दर्शनमोह मंद हो। (७३१)

❋

सत्पुरुषकी पहचान होना, वह मुमुक्षुजीवको निर्वाणपदका कारण है, यह निःसंदेह है। अतः सत्पुरुषकी पहचानका ऐसा महत्त्व जानकर, पहचानके लिए उत्कृष्ट मुमुक्षुता संप्राप्त करके, तथारूप पात्रता ग्रहण करके प्रयास कर्त्तव्य है। इस विषयमें पहचाननेकी रीत और ज्ञानदशामें पहचानमें आनेवाले लक्षण - ये दो महत्त्वके मुद्दे है। जिन लक्षणोंसे उन्हें पहचाना जा सकता है, वे निम्नरूपसे है।

ज्ञानीपुरुषकी दशामें जो समग्ररूपसे ज्ञानीपना है सिर्फ उसे ही पहचाननेका दृष्टिकोण जिसने साध्य किया है, वह ज्ञानदशामें रही उस विलक्षणताकी परख कर सकता है, अर्थात् ज्ञानीपनेके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी - संयोगलक्षी देखना नहीं है - ऐसी पहचाननेकी तीव्र जिज्ञासा / भावनाका होना आवश्यक है। भावज्ञानीपना जाननेमें आये वैसे तीन बाह्यसाधन, जो ज्ञानीपुरुषके संयोगमें है, उसमें मुख्यरूपसे उनकी वाणी, मुद्रा और नेत्र द्वारा उनके भाव मालूम पड़ते हैं, उसमें प्रथम वाणीसे पहचान होनेके बाद मुद्रा और नेत्र द्वारा उनका उपशमभाव ग्रहण हो सकता है।

(१) सत्पुरुषकी वाणी और चेष्टासे देहादिसे भिन्नता और स्वरूप चैतन्यमें आत्मत्व व्यक्त होता हुआ लक्षण है।

(२) पदार्थ-दर्शन होनेसे विरुद्ध धर्मयुक्त पदार्थका निरूपण अविरोधरूपसे व्यक्त होता है।

(३) वाणीमें, अकषाय स्वभाव पर भींस (स्वभावके तीव्र अवलंबनके पुरुषार्थ सहितके परिणाम से निकलती हुई वाणी, अंतर्मुख पुरुषार्थकी झलकवाली होती है।

(४) दृष्टि अनन्तशांतिके पिंड पर होनेसे अनुभव उत्साह दशा व्यक्त होती है।

भाव है - इस सत्यका विस्मरण करने योग्य नहीं है । इसलिये तत्त्व विचारणामें यथार्थ सि होनेके लिये तथा कल्पना नहीं हो इसलिये, आत्मार्थीता समेत अंतर संशोधनपूर्वक निर्णय दिशामें प्रयत्न होना योग्य है, वरना कल्पना - यानी कि दुःखका कारण अवश्य उत्पन्न ही जायेगा ।

(१०) पर्यायकी भिन्नता-अभिन्नता : जीवकी पर्याय कथंचित् भिन्न होनेसे उसकी स्वतंत्र दिखाते हुए, प्रत्यक्ष संसार अवस्थासे वह स्वतंत्रता सिद्ध होती है। मूल स्वभाव संसारसे सर्व रहित, सदाय एकरूप सिद्ध समान होने पर भी, अनादिसे पर्याय स्वतंत्ररूपसे संसाररूप, अनेकरू हो रही है। जब स्वभावके स्वभावरूप परिणमन करनेके सामर्थ्यके आधिन भी संसार अवस्थ नहीं होती है (तो परके आधिन होनेकी अथवा परका खुदके आधिन होनेकी पर्याय-अपेि बात तो बहुत दूर की है।) इस प्रकार पर्यायकी स्वतंत्रता जाननेसे...

(१) पराधिनताके अज्ञान-अभिप्रायसे होनेवाले राग-द्वेष मिटते है,

(२) जो पर्यायकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, वह द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार नहीं कर सकता, ऐसा प्रतिबंधक अभिप्रायका दोष मिटता है।

(३) पर्यायकी गौणता होकर, मै पनेसे त्रिकाली स्वभावकी मुख्यता पर्याय - उपेक्षितपनेसे हो सकती है। - यह पर्यायमें हो रहे एकत्वको मिटानेके लिये महत्वपूर्ण न्याय है।

इस तरह अध्यात्मके प्रयोजन वश, अक्रिय स्वरूपदृष्टिमें परिणाम स्वयं अपने षट्कारकसे परिणमन करते हुए जाननेमें आते है। पर्यायके स्वतंत्रता धर्मको अच्छी तरह दिखानेके लिये पर्यायके षट्कारकरूपी धर्म भी कहनेमें आते है, वहाँ कथंचित् अभिन्नतारूप वस्तुके बंधारणका संतुलन ज्ञानमें बना रहे कि जिससे एकांत नहीं हो, वह प्रकार यथार्थ है। प्रमाणके पक्षवालेको पर्यायका कर्तृत्व मिट नहीं सकता।

(२७५)

✲

नवम्बर - १९८८

प्रायः सभी जीव परिणामका विवेक शुभाशुभके दृष्टिकोण (मुख्यता) से करते हैं, परन्तु वास्तवमें तो आराधकभाव और विराधकभावके दृष्टिकोणसे उसका 'विवेक' कर्त्तव्य है। मुमुक्षुकी भूमिकामें खास करके दर्शनमोहकी विराधकताको मिटानेकी मुख्यतावाला दृष्टिकोण होना चाहिये वरना आराधकभावमें प्रवेश होना संभवित नहीं है और विराधकभावोंका खयाल भी नहीं रहेगा। यहाँ अजागृत दशामें अहित हो जाये तो भी खबर नहीं रहती। अतः इस प्रकारके विवेकका महत्व समझने योग्य है। जहाँ-जहाँ दर्शनमोह वहाँ-वहाँ विपर्यास - (दर्शनमोह-विपर्याससे दृश्यमान है / दृष्टव्य है) होता है।

(२७६)

ऐसा होनेसे अनेकाकार ज्ञान द्वारा एकाकार आत्मा ग्रहण नही हो सकता। परन्तु जहाँ काकार ज्ञान है, वहीं ज्ञान सामान्य वेदनरूप एकाकाररूप है, अतः ज्ञानके विश्वरूपपनेको ग करके, ज्ञेयाकारका दुर्लक्ष करके, एकाकार ज्ञानवेदन द्वारा सदृश ज्ञानस्वरुप स्वयंका वलंबन लेना। यह अंतर्मुख होनेकी प्रक्रिया है। स्वरूपलक्षके अभावमें सिर्फ ज्ञेयाकार ज्ञानकी हिर्मुखभावसे प्रवृत्ति रहती है। वैसी परिस्थितिमें चाहे कोई भी प्रवृत्ति, व्रत, तप, शास्त्रज्ञान, भक्ति आदि करनेमें आये, तो भी उसका कोई पारमार्थिक फल नहीं है। क्योंकि ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद अनुभवमें आता है और विकल्पकी उत्पत्ति होती है। (७३९)

※

परिणमनकी दिशा दो ही है, अंतर्मुख और बहिर्मुख। अनादिसे संसारमें जीवका बहिर्मुख परिणमन चल रहा है। अंतर्मुखकी दिशा जीवने देखी नहीं है, इससे सर्वथा अनजान है। परन्तु बहिर्मुख होनेका माध्यम भी ज्ञान ही है। क्योंकि ज्ञानमें अनेक ज्ञेयाकारों स्वाभाविकरूपसे उत्पन्न होनेसे (ज्ञेयमें अपनत्वकी कल्पना करके), विभावभावसे ज्ञान ज्ञेयके प्रति खींचता हुआ बहिर्मुखभावसे परिणमन करता है - फिर भी अंतर्मुख होनेका माध्यम भी ज्ञान ही है। ज्ञान द्वारा ही स्वरससे अंतर्मुख हुआ जाता है, होना संभवित है। ज्ञायक स्वभावके लक्षसे, सामान्य एकाकार ज्ञानका आविर्भाव करनेसे परिणाम अंतर्मुख होते है, तब ज्ञान स्वयंका वेदन करता है। और उस वेदनके द्वारा निज अस्तित्वका ग्रहण होता है। सहज प्रत्यक्ष स्वरूपके आश्रयसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अनुभूतिको ही परमपुरुष श्री भगवानने जैनशासन कहा है। (७४०)

※

ज्ञानकी भूल दो प्रकारसे हुई है, अनादिसे, एक जानने सम्बन्धित और दूसरी अनुभव सम्बन्धित। भूल अर्थात् विपरीतता।

जाननेकी भूल प्रायः तत्त्व-अभ्याससे मिटती है, तब जीव गृहीत मिथ्यात्वसे मुक्त होता है। तत्त्वका अभ्यास द्रव्यश्रुत द्वारा होने पर (आत्महितके लक्षसे) दर्शनमोह अवश्य मंद पड़ता है, और तब बुद्धिपूर्वक हुई समझकी विपरीतता टलती है। इसके बाद भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा यदि मिथ्या अनुभवकी भूल टले तो अपूर्व कल्याणकारी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

अज्ञान अवस्थामें जीव आत्माका तिरस्कार करनेवाले मोह-रागादि भाव और इसके फलरूप शरीरादि परद्रव्योंके साथ घनिष्ट मैत्री - प्रेमपूर्वक एकत्वबुद्धिसे (उसका) अपनेरूप अनुभ करता है। फिर भी वे आत्मारूप नहीं होते। वास्तविक ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावकी पहचान करके स्वभावके लक्षसे भेदज्ञानका पुरुषार्थ होवे, तो ज्ञानमें अन्यभाव - अन्यद्रव्यके मिथ्या अनुभवस अभ्यासका त्याग होकर, ज्ञान और विभावका स्वाद भिन्न मालूम होने पर अनुभवकी भूल मिट

वर्तमान पंचमकाल होने पर भी, इसी भवमें पूर्णताकी प्राप्तिके लिये सहजरूपसे जिनके पुरुषार्थमें जोर उछलता हो - वैसे महात्मा प्रायः एकावतारी होनेका संभव है। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी तथा पुरुषार्थमूर्ति पू. निहालचंद्रजी सोगानीजीको इस प्रकारके दृष्टांत स्वरूप गिन सकते हैं। दोनों धर्मात्माओंके वचन आज भी उक्त लक्षणकी प्रतीति कराते हैं, वह सभी आत्मार्थीओंको पुरुषार्थकी प्रेरणाका कारण है। (२८२)

※

जो भेदज्ञानका प्रयोग करनेके लिये उत्सुक है वैसे जीवको उदयप्रसंगमें, उपयोगमें ज्ञानकी व्यापकताका अवलोकन करना - जाँच करना, जिससे रागादिसे भिन्न व्याप्त ज्ञानरूप स्वयं (जाननेमें आयेगा) भासित होगा। इस प्रकारका अभ्यास बढ़नेसे `ज्ञानमात्र' मे ज्ञानवेदन ग्रहण होगा अथवा भास्यमान होगा, अतः सहजस्वरूप अत्यंत प्रत्यक्ष है - ऐसा भावभासन, स्वसन्मुख पुरुषार्थको उत्पन्न करके और परोक्षताका अभाव करके, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवस्थारूप स्थिरभावका अवधारण करेगा - इसप्रकार `अवलोकन'से कार्य सधता है। (२८३)

※

निश्चय - व्यवहारका संक्षेप :- अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि अशुद्ध अवस्थामें, अशुद्ध अवस्थामात्ररूप अपना अनुभव कर रहे जीवको, अशुद्धताका परिज्ञान कराये बिना ही, शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान करा नहीं सकते। इसलिये जिनशासनमें व्यवहार कथन द्वारा निश्चय स्वरूपको स्थापित किया गया है। व्यवहारनय अशुद्ध अर्थका द्योतक होनेसे, (अशुद्धताके नाशका हेतु (प्रयोजन) होनेसे) - उस नयका अनुसरण करने योग्य नहीं है। (२८४)

※

जनवरी - १९८९

समकितका अनुकंपा लक्षण सर्वजीवोंके प्रति शल्य रहित निर्वैरभाव है। मिथ्याज्ञानसे ही वैरभावका शल्य रहता है, क्योंकि पर्यायबुद्धिसे सामनेवाले जीवको (सिर्फ) पर्यायमात्ररूपमें अवधारण करके परिणमन होता है। द्रव्यदृष्टिमें माध्यस्थवृत्ति, मैत्रीभावरूप अनुकंपा सहज रहती है। किसी भी जीवको खुदके कारणसे दुःख नहीं हो ऐसी भावना सदा रहती है। ऐसा होनेमें दर्शनमोहका अन-उदय है; इसीलिये मुमुक्षुकी भूमिकामें उक्त भावनाका उदय होता है, जो दर्शनमोहके रसको मंद करता है। (२८५)

※

जीवकी पर्याय कथंचित् भिन्न होनेसे उसकी स्वतंत्रता दिखाते हुए, प्रत्यक्ष संसार अवस्थासे वह स्वतंत्रता सिद्ध होती है। मूल स्वभाव संसारसे सर्वथा रहित, सदाय एकरूप सिद्ध समान

है और वही मुख्य है। विकल्पकी मुख्यता नहीं है। (७४९)

※

(१) संयोगोंकी अनुकूलताके अभिप्रायके कारण अनेक पदार्थोंकी भोगादि कामनासे अग्नि-जिसके परिणाममें, प्रज्वलित है, वह मुमुक्षुतामें ऐसा प्रतिबंध है कि जो भोगमें अनासक्ति और संसार (उदय) के प्रति उदासीनताको रोकता है।

(२) जीवको मान-सत्कारादिकी कामना रहनेसे उसकी वारंवार स्फुरणा होती है। इसलिए मानादिकी न्यूनता जो मुमुक्षुताकी पात्रतामें होनी चाहिए - वह नहीं होती है - यह मान सम्बन्धित प्रतिबंध है। गुप्त रहकर, अप्रसिद्ध रहकर निज-हित कर लेनेकी भावना / वृत्ति मुमुक्षुको रहनी चाहिये।

(३) अशाताके वक्त आकुलता - व्याकुलता होने लगे वह देहके प्रति मूर्च्छा है। जिसका अल्पत्व होना चाहिये (प्रयत्नपूर्वक)।

मुमुक्षुकी भूमिकामें इस प्रकारके गुण, वह आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं। यह खास लक्षमें लेने योग्य है। यदि उक्त प्रतिबंधयुक्त दशा हो तो आत्मज्ञानकी पूर्व-भूमिका नहीं होनेसे, आत्मज्ञान नहीं होता है। (७५०)

※

`ज्ञानमात्र' कहनेसे परमार्थ है। जो कि शुभाशुभ भावसे तो रहित है ही, परन्तु नयपक्षसे भी रहित ही है। इसीलिए नयपक्षसे रहित होकर अनुभवगोचर होता है। उसीको `चिन्मात्र' अथवा `स्वभाव' ऐसे अनेक नामसे कहा जाता है।

द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादि नयके विषय है, परम पदार्थ, भगवान आत्मा, निर्भेद और अन-उभय स्वरूप नयातीत है। वेदकता (स्वयंकी) वह उसका परम लक्षण है। (७५१)

※

``ज्ञानम् एव परमार्थ मोक्ष कारणम् विहितम्।'' ज्ञानको ही आगममें परमार्थरूपसे मोक्षका कारण कहनेमें आया है, किसी शुभाशुभ भावको नहीं।

वह इस प्रकारसे :- ज्ञानका सम्यक्त्वरूप परिणमन जो मिथ्यात्वसे प्रतिपक्षभूत है। अर्थात् जो ज्ञान स्वयंके सन्मुख हुआ वही सम्यक् हुआ (अविनाभीरूपसे प्रतीति होती है।)

ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन वह स्वसंवेदनरूप परिणमन-स्वानुभूतिरूप परिणमन जो अज्ञानसे प्रतिपक्षभूत है।

ज्ञानका चारित्ररूप परिणमन, वह ज्ञानकी ज्ञानमें लीनता / रमणता, जो कषायभावसे प्रतिपक्षभूत

हुआ ज्ञान, स्वानुभवसे पलटकर अन्य ज्ञेयके प्रति प्रवर्तता है तब सम्यक्‌दृष्टिको ज्ञानचेतनाका अभाव नही हो जाता। अगर ज्ञानचेतनाका अभाव हो जाये तो, 'सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' वह सिद्धांत टूटता है अथवा ज्ञानचेतनाका अभाव हो जाये तो वह साधक मिटकर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बन जाये। इसीलिये परपदार्थको विषय करते वक्त उपयोग मात्र एक परपदार्थको प्रकाशित करता है, फिर भी लब्धज्ञान द्वारा स्वरूपानुसंधान रहता है और उस वक्त 'ज्ञानचेतना' का सद्‌भाव रहता है। जो कि युक्ति, आगम एवं अनुभवसे प्रसिद्ध है। (२८९)

✻

अंतर्मुख होनेकी विधि, पर्यायकी अपेक्षासे प्रयोजनभूत विषय होने पर भी, आश्रयभूत त्रिकालीकी तरह (उतनी) प्रयोजनभूत नही है। पुनः उसका जानपना (धारणा) हो जानेसे (आश्रय) हो सकते है - ऐसा भी नहीं है - परन्तु त्रिकाली स्वभावके लक्ष्यसे पुरुषार्थकी उत्पत्ति होकर सहज आश्रय होता है। अतः विधि विषयक जानकारी नहीं की हो ऐसे जीवको भी स्वभाव लक्षगत् होते ही जो महिमा उत्पन्न हुई वही उसका विधिरूप परिणमन चालू हो गया; जो स्वभावकी मुख्यतामें गौण रह जाता है। इसलिये ऐसा फलित होता है कि सर्व प्रथम मुमुक्षुजीवको स्वभावका लक्ष्य होना आवश्यक है। (२९०)

✻

निश्चयनयका विषय निश्चय स्व-स्वरूप, प्रतीतिका / आश्रयका स्थान है; व्यवहारनयका विषय गुणभेद, पर्यायादि मात्र जाननेका स्थान है, उसे भूतार्थ आश्रित जानना न्याय संगत है। फिर भी निश्चयस्वरूपकी प्रतीति / आश्रय भवनाशका कारण है - ऐसा सर्वोत्कृष्ट न्याय जानना हितावह है, - अगर ऐसा व्यवहार व्यवहारके स्थानमें नही रहा तो निश्चय आश्रयके लिये वह अधिकारी नही है। (२९१)

✻

(१) परकी आधारबुद्धि (२) परमें सुखबुद्धि (३) परका ममत्वभावसे रस (४) कर्ताबुद्धि आदि मिथ्यात्वके द्योतकभाव है, जो ज्ञानको परप्रवेशभावका, परवेदनका अनुभव कराते हुए अध्यवसित करते है, जिससे ज्ञान-वेदनका आविर्भाव / अवलोकन नहीं हो सकता। उपरोक्त प्रकारसे परका 'स्व' रूपसे ग्रहण होनेसे ज्ञानमें / निजमें निजका ग्रहण नहीं होता। 'निजमें निजका ग्रहण होनेसे उपयोग शुद्ध होता है' अर्थात् स्वानुभव होता है। इति वचनात्। (अनुभव प्रकाश) (२९२)

✻

स्वरूपनिर्णयकी पूर्वभूमिका - यथार्थ भूमिका :-

जीव ही उसको प्राप्त करता है यह कुदरतकी कोई अद्भुत नियति है। ऐसे वीरल जीव
धन्य हैं। (७६२)

❋

ज्ञानीकी आज्ञाका अनुसरण करने जाये तब अथवा आत्मकल्याण विषयक सत्संगादि प्रवृत्ति
करते हुए समाज अथवा लोकलज्जा आड़े आती हो तो वह लोकसंज्ञा है। जो आत्म घातक
है।

ठीक उसी प्रकार परम फलदायक ऐसा ज्ञानीपुरुषका वचन जो है उसको सम्मत करनेके
लिए, पीछेसे बुद्धि शास्त्र आधार लेने जाती हो तो वह भ्रांतिस्वरूप ऐसी `शास्त्रसंज्ञा' है। जो
ज्ञानीपुरुषके वचन सम्बन्धित अश्रद्धाकी द्योतक है, और आत्मस्वरूपको आवरणका कारण है।
ऐसी `शास्त्रसंज्ञा' विपरीत अभिप्राय अथवा विपरीत निर्णयके कारण उत्पन्न होती है। और
वही जीवका स्वच्छंदरूपी महादोष जानने योग्य है। (७६३)

❋

अंतर अवलोकनके बिना ज्ञान परलक्षी रहता है। यद्यपि पूर्णताके लक्षवाला, परलक्षी ज्ञानमें
नहीं फँसता और उसी जीवको यथार्थरूपसे अवलोकन रहता है। इस प्रकार अपेक्षितरूपसे
अवलोकनको समझने योग्य है। जब तक इस प्रकार पूर्णताके लक्षसे शुरूआत नही होती
है तब तक तत्वज्ञानका अभ्यास परलक्षी रहता है। वैसे प्रकारमें अधिक समय नहीं निकल
जाये यह खास लक्षमें रखने योग्य है। क्योंकि वैसा प्रकार यदि अधिक समय चला तो प्रायः
शास्त्राभिनिवेश अथवा स्वच्छंद होनेका संभव है। पूर्णताके लक्षवालेको, दृढ़ मोक्षेच्छा होनेसे `मार्ग
प्राप्तिका प्रयत्न उस जीवका उत्कृष्ट होता है। अथवा `मार्गप्राप्तिका अभाव' अर्थात् स्वरूप
शांतिके अभावरूप अशांतिकी दशा उसके लिए असह्य बन जाती है। वही उत्कृष्ट मुमुक्षुताकी
दशा है, उस वक्त कषाय अति मंद होनेके बावजूद भी शाताकी शांति (?) भी असह्य लगती
है, जो यथार्थ भूमिकाका असाधारण लक्षण है। यहाँ पर अपूर्व जिज्ञासापूर्वककी स्वरूप शोध -
अंतर शोध होनेसे परलक्षी ज्ञानका प्रकार नही बनता। अर्थात् ज्ञान युक्ति-आगममें रुकता /
संतुष्ट नही होता है। क्योंकि वर्तमान अशांतिसे `अत्यंत असंतुष्ट' ऐसा परिणमन वर्तता है।
अनुभवकी शांति / तृप्ति के बिना परिस्थिति असह्य हो जाती है, उसको ही अनुभव होता
है। (७६४)

❋

आत्मकल्याणके एकमात्र लक्ष एवं आशयपूर्वक जब तक यथार्थ सुविचारणाकी सुयोग्य भूमिका
नही हो, तब तक आत्मार्थीजीवको जिज्ञासामें रहना उचित है। अथवा अत्यंत सरल परिणाम

मुख्यतामें रहकर 'भेदज्ञान' अथवा 'जागृति'का प्रयास छोड़ना नहीं चाहिये बल्कि उत्साहित वीर्यसे प्रयास करना चाहिये।

(२९६)

*

रस लेनेका निषेध :- संयोगकी अनुकूलतामें अनुकूलताका, पाँच इन्द्रियोंके मनोरम्य विषयका, प्रतिकूलतामें खेदका, प्रशस्त प्रसंगमें रागादिका, क्रोधादि उदयमें द्वेषका, अवलोकन, विवेक शुद्धिका लाभ, शांति इत्यादिकी चर्चा - विचारणाके वक्त पर्यायका, - ये सभी प्रकारके पर्यायरस निषिद्ध है, एकमात्र परम स्वभाव ही रसका विषय होना चाहिये, जो कि स्वरूपदृष्टि एवं स्वरूपलक्ष्यके वशात् सहज उत्पन्न होता है। (२९७)

*

फरवरी - १९८९

मोक्षमार्गकी हानि-वृद्धिरूप पर्याय भी जहाँ गौण है वहाँ अन्य द्रव्य भावकी मुख्यताको कहाँ स्थान है ? 'मै वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ' - ऐसी द्रव्यदृष्टि / सम्यक्‌दृष्टिका यह सर्वोत्तम प्रभाव है। जो कि अद्‌भुत - आश्चर्यकारी है, अजोड़ है। यह सम्यक्‌दृष्टिकी खास प्रकारकी विलक्षणता है। ज्ञानमें मुख्यता - गौणता तो उपर्युक्त प्रकारसे द्रव्यदृष्टिके अनुरूप होती है। दृष्टि तो द्रव्यमें फैल जाने पर पर्याय दिखती ही कहाँ है ? (२९८)

*

सत्पुरुषके श्रीमुखसे परमार्थकी बात सुनते वक्त मुमुक्षुजीवको सहज प्रसन्नता - प्रमोदभाव होता है, फिर भी उस भावमें 'ठीक-पना' हो जाये - रह जाये - 'श्रवणका लाभ मिला' ऐसा मानकर प्रसन्नता अगर 'ठीकपने'के साथ हो जाये तो उसमें जाने-अनजानेमें संतुष्टी हो जाती है। अतः वहाँ अटकना होता है। अंदर जानेके बजाय 'मानो कि जरूरियातकी पूर्ति' हो गई हो - ऐसी स्थितिमें जीव वर्तता है। वहाँ मूल स्वभावकी रुचि नहीं होती - सिर्फ श्रवणकी रुचि-रागमें बदल जाती है। ऐसा होता है तब दर्शनमोहका अनुभाग घटना बंध हो जाता है, अतः जीव आगे नहीं बढ़ सकता, उसकी योग्यता रूक जाती है। (२९९)

*

शास्त्रोंमें बाह्यसाधन अथवा व्यवहारसाधनके बारेमें निरूपण प्रयोजन वश किया गया है। वहाँ एक तो 'व्यवहार विषयक मर्यादाका' प्रयोजन है, दूसरा पर्यायक्रमका नियम / सिद्धांतका ज्ञान करानेका प्रयोजन है। ऐसे साधन - देव, गुरु, शास्त्र, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड / धारणा एवं पूर्व-उत्तर पर्याय, इत्यादि जो-जो कहे गये है, वे निश्चयसे साधन नहीं है, (उसमें अटकता है वहाँ तक निश्चयसे बाधक है।) ऐसा जाननेवाला द्रव्यस्वभावके प्रति झुक सकता

कारण प्रत्यक्ष स्वरूपका प्रत्यक्ष स्वाद है। जो तत्त्व अर्थात् निजस्वरूप केवल अनुभवका विषय है, उसे सिर्फ विकल्पगोचर पक्षपात द्वारा रखनेसे क्या फायदा ? ऐसा लगनेसे विकल्प / राग परसे वज़न छूट जाता है। (७७२)

※

एक ही कालमें तेजपुंज शुद्ध चैतन्यघन ऐसा निजस्वरूप, अनुभूति अंशरूप ज्ञानसामान्य, ज्ञेयाकाररूप ज्ञानविशेष, और रागादि भावरूप विभावभाव विद्यमान है। ऐसी वस्तुस्थिति है, वहाँ स्वलक्षके अभावके कारण, एकांत पर ऐसे रागादिका लक्ष (अनादिसे) होनेसे, तेजपुंज ऐसा महापदार्थ होते हुए भी, नहीं होनेके बराबर है । और जीव अनन्तकाल अँधेरेमें गोते खाता है। दुःखी होकर भटकता है।

प्रगट लक्षण, ऐसा जो अनुभूति अंश, इसके आधारसे यदि एकबार भी तेजपुंजका लक्ष हो जाय, तो उस तेजपुंजके स्फुरण मात्रसे, विकल्परूपी अँधेरा विलयको प्राप्त हो जाये। विकल्प अर्थात् नयपक्षकी कक्षा व्यतीत होकर, तत्क्षण ज्ञानप्रकाशका उदय होता है, अर्थात् शुद्ध चैतन्य मात्र निर्विकल्प प्रकाशरूप वस्तुका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तबसे अशुद्धत्व मिटता है। (७७३)

※

मोहका अभाव होकर शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने पर, सम्यक् ज्ञानरूपी शीतल सुखमय चंद्रका उदय होता है। जिसके ज्ञान प्रकाशमें आकुलतामय सर्वभावोंमें कहीं भी भ्रम (मोह) नहीं होता अर्थात् शुभकर्म सुखदायी और अशुभकर्म दुःखदायी, ऐसा भेद तत्त्वदृष्टि होनेके पश्चात् नहीं रहता। क्योंकि जैसे अशुभ भावरूप संक्लेश परिणाम दुःखमय है, वैसे ही सकषायरूप शुभ परिणाम भी दुःखमय ही है। वैसा प्रत्यक्ष अनुभव निर्मल ज्ञानको होता है। जब तक ऐसा अनुभव नहीं है, तब तक शुभ अच्छा - अशुभ खराब (बुरा) ऐसी मिथ्या श्रद्धा रहती है। परन्तु दोनों ही जीवको बंधन करते हैं। एक समान जैसा; (क्योंकि) दोनोंमें विभाव सामान्य है। विभाव जीवके शुद्ध परिणमनका घातक है। अतः उसकी अभिलाषा - वह मोह है, विपर्यास है। चैतन्य महापदार्थ, परम पवित्र स्वभावके घातककी चाह रखना उचित है क्या ? फिर भी पुण्यके उदयमें जो रंजित होता है, वह अपनी सुध-बुध खोकर, पागल होकर खुशी मानता है, परन्तु महा दुःखी है। (७७४)

※

स्वरूप निर्णयमें स्वभावकी नित्यता भासित होती है, जिसके कारण सहज ही अनित्य संयोगी पदार्थों पर उपेक्षा, उदासीनता आ जाती है। नित्य, निरुपाधिक, शांत स्वरूप-रस, अनादि

मूलमें, यदि स्वभावकी रुचि हो तो स्वभावके लक्ष्यसे पुरुषार्थका प्रवाह फटफर उछाला खाकर पुरुषार्थका प्रवाह चले, और स्वभावमें जम जाना हो जाये। 'द्रव्य ही ऐसा है' बहुत गंभीर द्रव्य है, कि जहाँ दूसरा कुछ रुचे ही नही - उदय वश अन्य प्रसंग आ पड़े तो अरुचि होती है - उपेक्षा होती है और उस प्रसंगसे उपेक्षित होकर अपना स्वकार्य आगे बढ़ता है। परन्तु उक्त रुचिके अभावमें जीव उलझ जाता हुआ बाह्यप्रसंगोंमें जुड़ता है, और रागी-द्वेषी होता है और अमूल्य जीवन खो बैठता है।

(द्रव्यदृष्टि प्रकाश - ४१०) (३०५)

※

मै निर्विकल्प 'बिंब' हूँ। फिर मुझे विकल्पकी जरूरत क्यों ? फिर भी बिना जरूरत होवे तो उसके साथ मेरा संबंध क्या ? उसमें मुझे क्या है ? मै तो मेरेमें जैसाका तैसा (सिद्धस्वरूप) हूँ।

(३०६)

※

स्वभावके बेभानपनेके कारण अथवा लक्ष्यके अभावके कारण, जीव सहज उदयभावोंमें एकत्वबुद्धिसे परिणमन करता है। यही पर्यायबुद्धि है। जब कि शुद्ध सम्यक् परिणमन 'स्वभावमे एकत्व' के कारण उपलब्ध होनेसे, उस कालमें उदयभावके अंशमें अथवा शुद्धांशमें एकत्व होनेका नहीं बनता। अत: 'खुद स्थिर तत्त्व - अपरिणामी' है, ऐसा अनुभव / भान छूटे बिना परिणाम-प्रवाहको जानता है कि मेरे आश्रयभावसे 'परिणाम-स्वरूप निवास' करते है - अनुभव करते है। मुझे वेदकर स्वरूप लाभ - परिणाम लेते है। अर्थात् अस्तित्वको ग्रहण करते हैं अथवा मेरा ध्यान करते है। खुद परिणाम-प्रवाहके साथ प्रवाहित नही होता। 'मै यूँ का यूँ ही रहता हूँ' - ऐसा भान रहना वह पारमार्थिक अलिप्तता है, परम निर्लेपता है। जिससे पर्यायमें उदयभाव होते हुए भी लेपायमान होना नहीं बनता। 'स्वभावमें एकत्व' स्वभावकी उत्कृष्ट महिमाके फल स्वरूप रहता है।

(३०७)

※

'ज्ञान बंधका कारण नहीं है' - यह सिद्धांत है। उसमें (स्व-पर प्रकाशक) स्वभाव बतलाना है। परपदार्थका प्रतिबिंब ज्ञानमें आनेसे कर्मबंध होवे - ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; लेकिन अनादिसे मिथ्याज्ञानमें परपदार्थ प्रतिबिंबित होता है तब 'पर' पररूप जाननेमें नहीं आता, परमें स्व-पनेका अभ्यास होता है, भ्रम होता है, एकत्वबुद्धि होती है - वह ज्ञानका विभाव / दोष है, जो कि अवश्य बंधका कारण है। तात्पर्य यह है कि विभाव-स्वभावके बीचके भेदको सूक्ष्मरूपसे जानकर स्वभावको मुख्य करना अर्थात् 'मात्रज्ञान' रुपसे रहना - रहनेका पुरुषार्थ करना।

करनेमें, अनुभवमें आनेवाले भावोंका अवलोकन होता है। और अवलोकन चालू रहनेसे रागका अनुभव और ज्ञानका अनुभव - इन दोनों भावोंकी अनुभवसे भिन्नता मालूम पड़ती है, ऐसा होने पर भेदज्ञानका विधि - निषेधयुक्त पुरुषार्थ चालू होता है। इस तरह प्रयोगकालमें पुरुषार्थ शुरू होता है। और इससे ही स्वरूपका स्पष्ट अनुभवांशसे भावभासन आता है। जिससे अपूर्व महिमा सहित पुरुषार्थमें वेग आता है और लीनता होती है। (७८३)

*

## अगस्त - १९९१

जिस धर्मात्माको कर्मोदयसे - काययोग वर्तता है, उसमें भिन्नता होनेसे ममत्वका अभाव हुआ है, उन्हें पर जीवके संयोगमें रहे देहके प्रति सुखकी कल्पनापूर्वक अब्रह्मचर्यका प्रकार कैसे होगा ? अतः जिनको अपने शरीरका भी निर्ममत्व हो चुका है, उनको ही वास्तविक ब्रह्मचर्य (निश्चयसे और व्यवहारसे) होता है। ब्रह्म अर्थात् देहाध्याससे प्रतिपक्षभूत स्वभाव; उसमें एकत्व होनेसे, देहभावकी कल्पनाका अभाव होना - वह ब्रह्मचर्य। - इस तरह सम्यक् प्रकारसे वेदोदयका उपशम होना योग्य है, मात्र हठसे वृत्तिदमन कर्त्तव्य नहीं है। (७८४)

*

ध्येय शून्य प्रवृत्ति निरर्थक है, लक्ष रहित बाणकी तरह। यद्यपि बाह्य प्रवृत्तिमें उपयोग बहिर्मुख होता है, वह आत्महितको अनुकूल नहीं है, इसलिए उसको भी छुड़ाया है, परन्तु मुमुक्षुकी भूमिकामें अभी तो उपयोग अंतरमें आया ही नहीं (तो) वहाँ प्रथम लक्ष / ध्येय पूर्वक, बुद्धिपूर्वक शास्त्रवांचन, श्रवण, विचारणा, चिंतवन, स्मरण इत्यादि होने चाहिये, अन्यथा सिर्फ बाह्य क्रिया ही होती है। जिससे कोई पारमार्थिक सफलता नहीं मिलती। आत्महितरूप पूर्णताके लक्षका विषय यद्यपि परोक्ष है, परन्तु इस लक्षपूर्वकका अवलोकन, परोक्षता मिटानेकी प्रक्रियारूप है। क्योंकि निजावलोकनसे ही प्रत्यक्ष स्वरूपका भावभासन होकर, स्वसन्मुखता होती है, जो स्वसंवेदन - प्रत्यक्षको उत्पन्न करती है। (७८५)

*

जैसे जीव और पुद्गल-जड़ प्रतिपक्षभूत है, इसलिए जिसे पुद्गलका रस है, उसे आत्मरस उत्पन्न होना मुश्किल है, जिसे इन्द्रियके क्षयोपशमज्ञानका रस चढ़ता है, उसे बहिर्मुख वेग बढ़नेसे अंतर्मुखी अतीन्द्रिय ज्ञानका रस नही चढ़ता - वैसे विकल्पमें जिसको रस है, और इसके कारण जो जीव अधिक-अधिक विकल्प करता है, वह उतना-उतना निर्विकल्प अनुभवसे दूर हो जाता है। इसीलिए कृपासागर श्रीगुरु कहते हैं, कि पठन-पाठन, स्तुति, स्मरण, चिंतन आदि अनेक क्रियाओंके विकल्प विष समान है, निर्विकल्प अनुभव तो अमृतका निधान है;

भक्तिके परिणाम उत्पन्न होते है। ग्रंथ-ग्रंथोंमें सम्यक्‌दृष्टिकी ऐसी महिमा प्रसिद्ध है।
(३११)

⁕

मुमुक्षुजीवको असंग आत्मस्वरूपके समीप जानेके लिये असंगभावकी उपासना कर्त्तव्य है, इसलिये परिग्रह भाव उक्त असंगतत्त्वकी भावनासे प्रतिकूल है - यह लक्ष्यमें लेने योग्य है। वास्तवमें परिग्रह प्रतिका रस अविवेककी खान है, जो कि ज्ञानीको ज्ञान दशामें नहीं होता। परमें सुखबुद्धिसे परिग्रहरसकी उत्पत्ति होती है; वह उपशमरसका घातक है, उसमें अनंत आकुलता है, भ्रमसे सुखकी कल्पना हुइ है जो कि आराधनामें महान प्रतिबंधरूप है, ऐसा जानकर उदय कालमें अत्यंत जागृत रहना योग्य है।
(३१२)

⁕

अंतरंगमें अगर ज्ञानसामान्यको - अनुभवदृष्टिसे देखनेमें - अवलोकन करनेमें आये, तो वह (स्वयं) स्वभाव स्वरूप ज्ञाताभावरूप-साक्षीभावरूप कायम है ऐसा मालूम पड़ता है, अविच्छिन्न धारासे ऐसा लक्ष्यगोचर होने पर सामान्यका आविर्भाव होकर प्रगटरूपसे ज्ञान अनुभवगोचर होता है और उदयभावोंसे भिन्नता होती है; उपाधि मिटती है (और कहीं भी) असमाधान नहीं रहता।
(३१३)

⁕

स्वरूपकी अबोधदशामें ही जीवको कर्म - उदय प्रसंगमें अपनत्व होकर अभिलाषारूप चिकने परिणाम होते हैं। - ऐसी अभिलाषा वही मिथ्यात्व - परिणाम है; जब कि बोधदशामें तो स्वयं महान वीतरागी परमात्मा होनेसे, कर्म-उदयरजकी भीख, दीन होकर कैसे माँगे ? सहज ज्ञाता रहनेके स्वभावका त्याग क्यों करें ? पुनः दीन होकर भी परमें तो खुद कुछ कर नहीं सकता है । ऐसे भानमें अगर रागांश उठे तो भी उसमें चिकनापन (रस) उत्पन्न नहीं हो सकता; दीनता उत्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार स्व-पर वस्तुस्वरूपका ज्ञान करके, सम्यक्‌त्वको प्राप्त करना।
(३१४)

⁕

पुरुषार्थ - विरूद्ध - प्रमाद :- जो मुमुक्षुजीव अनेक प्रकारके विकल्पसे संयुक्त है, उसका कारण अनुभव-कार्यमें शिथिलता है। अथवा अनुभवमें शिथिलताके कारण वह विकल्पमें अटकता है और शुद्धोपयोगमें आ नही सकता - ऐसी स्थिति रहनेका अंतरंग कारण यह भी है कि अशुद्ध परिणतिके उदयकी तीव्रताके कारण विकल्प नहीं मिटते। ऐसा विकल्पपना - शिथिलपना अशुद्धपनाका मूल है, यह लक्षमें लेने योग्य है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्गमे पुरुषार्थकी

जिस संसार प्रसंगमें मिथ्यादृष्टि जीवको मिठास आती है, उसीसे उक्त प्रकारके अनुभव द्वारा / के कारण धर्मात्मा उदासीन है। (७९५)

※

जो कोई मिथ्यात्व अवस्थामें व्रतादि द्रव्यक्रिया करता है, तथा बहुतसे शास्त्रोंको परलक्षसे पढ़ता है, और इससे कल्याण होगा - ऐसी प्रतीति करता है और इसलिए उसमें ममता रखता है, वह जीव परमार्थ दृष्टिसे शून्य है, अत: 'शुद्ध स्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग है' - ऐसी प्रतीति नहीं करता। अत: वैसे जीवको अंतर्मुख होनेका पुरुषार्थ करनेका अवसर प्राप्त नहीं होता अथवा अंतर्मुख होनेका उसको नहीं सूझता। जिसको उक्त द्रव्यक्रियाके विकल्प बोझारूप लगते हो, आत्मशांतिके अभावमें असंतोष वर्तता हो, उसी जीवको सत्यमार्गकी 'अंतरशोध' चलती है, और वह बाह्य क्रियामें नहीं अटक जाता - ऐसा मुमुक्षुजीवको विचार कर्त्तव्य है। (७९६)

※

प्रश्न :- स्वयंका (आत्माका) अनुभव द्रव्यरूप कैसे करना ?

उत्तर :- द्रव्यरूप अनुभव करनेमें 'ज्ञेयका ज्ञान' - ऐसा नहीं देखते हुए (अनुभव करते हुए) बल्कि ज्ञानाकार ज्ञानको द्रव्यरूप देखते हुए / अनुभव करते हुए, ज्ञेयसे भिन्न, मात्र अपने स्वरूप-रूप स्वयं सिद्ध वस्तु सधती है। तभी शक्ति और व्यक्तिका अनेकांतरूप यथार्थ ज्ञान होता है। (७९७)

※

जैसे खोया हुआ हीरा चमक (पर्याय) परसे मिल जाता है, मिलता है।

जैसे अंध मनुष्य मीठेपनके स्वादसे (पर्यायसे) शक्कर - द्रव्यको ग्रहण करता है, वैसे ज्ञान (पर्याय) से, ज्ञानस्वभावी द्रव्यको ग्रहण किया जाता है। उक्त दृष्टांत अनुसार व्यवहारमें / प्रयोगमें पर्याय द्वारा उस पदार्थको ग्रहण करनेमें आता है। वैसे ही प्रयोग पद्धतिमें ज्ञानवेदन द्वारा ज्ञायक (त्रिकाली) का ग्रहण करनेमें आता है। यह विधि विषयक प्रयोगका सिद्धांत है। (७९८)

※

अनन्त एवं सर्व दोषका मूल पराश्रय अर्थात् परमें अस्तित्व ग्रहण होना - वह है। परमें अस्तित्वके वेदनसे, परकी आधारबुद्धि सहज, अनिवार्यरूपसे हो जाती है, और इससे सर्व अनिष्ट भावोंकी परम्परा खड़ी होती है। इन सबका मूल पर्यायबुद्धि अर्थात् पर्यायमात्रमें वस्तुत्वकी मान्यता, अर्थात् पर्याय क्षण विनाशी होने पर भी उसमें अस्तित्वका ग्रहण अथवा पर्यायका

नाश होता है। दर्शनमोहका नाश होनेसे भिन्न ज्ञानका- शुद्ध ज्ञानका ज्ञानमात्ररूप अनुभव होता है।

मै त्रिकाल करनीसो न्यारा, चिद्‌विलास पद जग उजियारा।
राग विरोध मोह मम नाहि, मेरो अवलंबन मुझमांही ।।१००।।
(समयसार नाटक सर्वविशुद्ध) (३१८)

※

जगतमें - तीनोंलोकमें दर्शनमोह महान योद्धा है। जिसको शुद्ध चैतन्य स्वरूपके अनुभवसे जीता जा सकता है। स्वयं अनुभूति स्वरूप ही है। रागादि विभावसे सदा भिन्न ही है, रहित ही है। जो ज्ञानलक्षणसे लक्षित होता हुआ सदा अनुभवमें आ रहा है, ऐसे चैतन्यके - परमात्माके भजनमें सर्वकर्म - कर्मफलका सन्यास है; और आत्मासे उत्पन्न सुखकी तृप्ति है; इतना ही परमार्थ है। अति वचन विस्तारसे बस हो । (३१९)

※

पर्यायबुद्धिके कारण ज्ञेयसे ज्ञानका होना माननेमें आता है, उसमें परसे (ज्ञेयसे) अपना अस्तित्व माना जाता है। ज्ञानको ज्ञेयके आधारित माननेसे, स्वयं पर्यायमात्ररूप अवधारित होता है - अनुभवमे आता है, जो कि मिथ्या है। उसमें शुद्ध सत्ताका नाश होता है - अभाव सधता है। भेदज्ञानके अभावमें ऐसा प्रकार बनता है, जिसमेंसे संसार पनपता है। यह पर्यायबुद्धि ही सभी प्रकारके दोषकी उत्पत्तिका मूल है। परन्तु ज्ञेयसे भिन्न - निर्विकल्प सहज प्रगट ज्ञानमात्र वस्तुरुप अपना अनुभव करे तो अनादिकी पर्यायबुद्धि मिटती है - वस्तु सधती है। इस तरह 'ज्ञानमात्र' जीवस्वरूपको अनेकांतपना होता है। (३२०)

※

अप्रैल - १९८९

स्वरूप-अस्तित्व निर्भेद - निर्विकल्प है। उसका अनुभव व प्रतीति भी निर्विकल्प है। उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेद सिर्फ पहचाननेके लिये, वस्तुव्यवस्थाको दिखलानेके लिये है। अनुभवके प्रयोजनकी दृष्टिसे ऐसी भेद कल्पना साधक तो नहीं बल्कि बाधक है। निर्विकल्प स्वानुभवमें स्वद्रव्य माने निर्विकल्प मात्र वस्तु, स्वक्षेत्र माने आधारमात्र प्रदेश, स्वभाव माने मूल सहज सामर्थ्य, स्वकाल माने वस्तुकी मूल स्थिति (जो कि अनादि अनंत एकरूप ध्रुव रहती है।) यह चतुष्टय अगर निर्विकल्प एक वस्तुमात्ररूप आये तो स्व चतुष्टय है, परन्तु बुद्धिगोचररूपसे चार भेद होने पर वे ही पर चतुष्टय है, क्योंकि इससे (भेद कल्पनासे) वस्तु नहीं सधती।
' " कलश - २५२) (३२१)

उपरांत रागमें दुःख और मलिनता भी है, तो उसके निषेधकी तो बात ही क्या करें ? परन्तु ज्ञान और वीर्यका अंश बाहर जाये, उसका भी निषेध आना चाहिए। शास्त्र पठन, श्रवण इत्यादि, भले ही प्रथम अवस्थामें यथास्थानमें हो-परन्तु आखिरमें उसका निषेध सहज आना चाहिए, तभी अंतर्मुख होनेका अवसर आता है। (८०७)

*

सर्वज्ञ वीतरागदेवका स्वरूप पहचाननेसे मोहका क्षय होवे ही होवे - ऐसा नियम है। परन्तु किसी प्रगट कारण (प्रतिमाजी अथवा शास्त्रजी)के अवलंबनपूर्वक, यदि सर्वज्ञको सम्यक्त्वभावसे भी पहचाने जाये, तो इससे जीव मोक्षमार्गके सन्मुख अवश्य होता है।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञ परमात्मा, अथवा प्रत्यक्ष सत्पुरुष या मुनिराजके समागम योगमें (यदि) स्वभावकी सम्यक्ता भासित हुई, तो इससे जीव अवश्य मोक्षमार्गके सन्मुख होता है, वह इसका महत् फल है। जो अपूर्व है। उत्कृष्ट पात्रतावान अथवा सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होने पर ही सफलता प्राप्त होती है। (८०८)

*

संयोगोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रकार जीवके परिणामको निमित्तमात्र हैं। वह इस प्रकारसे कि पात्रताके अभावमें जीव दोनों प्रकारके संयोगमें विशेषरूपसे कर्मबंधनको प्राप्त होता है। जब कि पात्रताके सद्भावमें जीव दोनों प्रसंगमें, भिन्नताके अनुभवका सहज प्रयास करता है, उसमें फँसता नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि परिणमन कैसा होगा वह उपादानकी योग्यता पर आधारित है। अवलोकनसे मुमुक्षु खुदकी पात्रताको समझ सकता है। (८०९)

*

परकी आधारबुद्धि राग-द्वेषकी उत्पादक है, ज्ञानके परिणमनमें अनादिसे (अकारणपने) यह स्थिति बनती आयी है। निःशंकरूपसे (जीव) परकी जानकारी होते ही परका अवलंबन सहज ले लेता है, यह सहज हो चुका है, ऐसा होने पर चारित्रके परिणमनमें रागादिका होना अनिवार्य है। इसलिए निष्कारण करुणावंत ज्ञानियोंने ऐसा बोध दिया है, कि ज्ञानको निश्चयसे, राग या परके साथ आधार-आधेय सम्बन्ध बिलकुल है ही नहीं। यदि इस सद्बोधको प्रयोगकी कसौटी पर चढ़ाया जाये, तो मुमुक्षुजीवको बोध अनुसार स्वयंकी, स्वतंत्र, निरालंबी स्वरूपकी प्रतीति स्पष्ट अनुभवांशसे होती है। उसमें स्वयंके सामर्थ्यकी पहचान होकर पुरुषार्थ और स्वरूप महिमा जागृत हो जाते हैं। इसतरह आधार-आधेय भावके अवलोकनसे भेदज्ञानकी विधि प्राप्त हो सकती है। अर्थात् भेदज्ञान होनेमें आधार-आधेय भावकी वास्तविकताका अनुभव होकर स्वरूपप्राप्ति होती है। स्वरूप अस्तित्वकी निरपेक्षता अनुभवसे प्रतीतिमें आने पर दीनताका

समझपूर्वक, यथार्थरूपसे यदि प्रवर्तन करे तो ही आत्महित होता है। ऐसी परिस्थिति होने मार्गदृष्टा सत्पुरुषरूप सद्‌गुरु अगर मिले तो उसको परमयोग जानकर उनके चरणमें सुगमतासे आत्महित साधा जा सकता है अन्यथा हित साधना कठिन है, धारणा होना (उपदेश वचनोंकी आसान है। अतः जिसको सत्संगका मूल्य समझमें आता है उसको सत्संगकी गरज़ पैदा होती है, तब वहाँ आत्महित होनेकी संभावना है। (३२७)

*

धर्मीजीव अन्य धर्मात्माके दोषोंको प्रगट नहीं करते। उसमें दोषको बढ़ावा देनेका हेतु या दोषका बचाव-रक्षण करनेका हेतु नही होता परन्तु एकका दोष देखकर समस्त धर्म व सर्व धर्मात्माओके प्रति निंदाका - अनास्थाका कारण नहीं हो जाये, यह देखनेका प्रधान हेतु रहता है, क्योंकि धर्म-धर्मात्माके प्रति प्रीति-अनुराग है, और वह सम्यक्‌दृष्टिका उपगुहन नामका अंग है। जैसे मिथ्यादृष्टि हमेशा दोषका (अभिप्रायपूर्वक) पक्षपात - बचाव करता है, वैसा यहाँ पर नहीं होता। (३२८)

*

शरीरादि पुद्‌गल-अन्य विषय सब इन्द्रियज्ञानसे जाननेमें आते हैं, जब कि आत्मा स्वयं स्वसंवेदन ज्ञानसे जाननेमें आता है, अतः ऐसा समझना चाहिये कि :- स्वसंवेदन ज्ञानके सिवा दूसरी पद्धतिसे आत्माको (खुदको) जाननेका प्रयत्न करना नहीं चाहिये -(शास्त्रज्ञानके अभ्याससे आत्माको जाननेका प्रयास करना नहीं चाहिये) । इसतरह विधिकी भूल न रह जाये, यह लक्ष्यमे लेने योग्य है, एवं आगमज्ञान और स्वसंवेदनज्ञानके बीचमें अंतरको समझने योग्य है; चारों अनुयोगके आगम, मूलमें स्व-संवेदन करानेके हेतुसे, स्वसंवेदनका एवं स्वसंवेदनवंत धर्मात्माकी महिमा प्रसिद्धरूपसे करते है। इसीलिये इस विषयका - अध्यात्मका रहस्य, ग्रहण करने योग्य प्रगट होता है। (३२९)

*

अहो ! देव, गुरु, धर्म तो जगतमें सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, इनसे तो धर्म-शासन प्रवर्तता है। लौकिक कारण वश जीव इसमें शिथिलता रखें अथवा (उसे) गौण करे या अभिप्रायमें विपरीतता ग्रहण करे, तो वह जीव अत्यंत हीनसत्व हुआ होनेसे, आत्मधर्मका अधिकारी नहीं है। उसे आत्मधर्म प्रगट नहीं हो सकता । प्रायः ऐसी योग्यतावाला जीव गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है, जो फिर अधःपतन करवाता है। (३३०)

*

(राग और ज्ञानके बीच) भेदज्ञान करते वक्त ज्ञान द्वारा रागका निषेध करनेमे आता

उसका वेदन ज्ञान वेदनसे भिन्न जातिका -विरुद्ध जातिका प्रत्यक्ष है। मलिन और आकुलतामय है, इसलिए सहज निषेध्य है।

परन्तु मै एक समयकी पर्यायसे भी भिन्न होनेसे, और मै परमोत्कृष्ट स्वरूप होनेसे पर्यायकी सावधानी छोड़कर, स्वरूपमें ही मैं सावधान हूँ। द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल सहज है। पर्यायका स्वरूपाकाररूप होना - ऐसा सहज पर्याय स्वभाव है। अतः पर्याय अपने स्वभाव अनुसार परिणमन करे, तो इसमें विशेषता क्या हुई ? मैं सिर्फ परिणाम जितना ही थोड़ा हूँ ? स्वरूप समुद्रके आगे पर्याय बिंदु समान मालूम होती है। (८१८)

※

परिणामका अवलोकन करनेका कहा जाता है। उसमें भी पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाये, ऐसा विपर्यास नहीं होना चाहिए। यह खास ध्यानमें / लक्षमें रखने योग्य है। अवलोकन द्वारा परलक्षका अभाव करानेका हेतु है। तदुपरांत, स्वभावको पहचाननेके लिए ज्ञान निजावलोकनरूप अनुभवमें आनेवाले भावोंका परिचय करके, स्वभावका निर्णय करे, यह हेतु है। परिचयकी प्रक्रिया (Process) निज भावोंके अवलोकनके सिवा, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकती। परन्तु सिर्फ परिणामको ही देखते रहनेमें, यदि स्वभावका निश्चय करना छूट गया, तो पर्यायके एकत्वरूप मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। ऐसा विपर्यास नहीं हो जाये, यह अवलोकनमें प्रवेश करते वक्त ही लक्षमें होना चाहिए। अवलोकन करनेका कहनेमें आये या अन्य कुछ भी करनेकी बात कही हो, (लेकिन) किसी भी पर्यायकी मुख्यता रहनी / होनी नहीं चाहिए। परन्तु (स्वरूप लक्षसे) सहज वैसा हो जाता है - ऐसा समझने योग्य है। (८१९)

※

भगवान पद्मनंदि आचार्यदेवने - 'चैतन्य स्वभावकी बात अंतरंग रुचिसे सुननेवालेको भावि निर्वाणका भाजन' कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि, सच्ची मुमुक्षुता अथवा पात्रताके गर्भमें सम्यक्त्वसे लेकर, निर्वाण तककी सभी पर्यायें पड़ी है। वाह ! पात्र जीवका आचार्य महाराजने कैसा सत्कार किया है ! तो फिर मुमुक्षुको पात्रताके प्रति कितना आदर होना चाहिए !! इसका गंभीरतासे विचार कर्त्तव्य है।

पात्रता प्राप्त हुई, उसे सत्पुरुषका योग अवश्यंभावी है। और जैसे ही पात्रता सहित सत्पुरुष / सद्गुरुका योग हुआ उसके भवका अभाव हुए बिना नहीं रहता। सत्पुरुष मिलनेके पश्चात (यदि) आत्मज्ञानकी प्राप्ति न हो, तो वहाँ पात्रताकी ही क्षति समझनी चाहिए। (८२०)

※

भी स्थानमें / भावमें एकत्वभावसे वर्तन करनेका स्वभाव है उसे यथायोग्य स्थानरूप करना (चाहिये)।

(३३५)

※

त्रिकाल शुद्धस्वरूप परमात्मा 'मै', एक समयकी चलती हुई संसार पर्यायरूप नहीं हुआ-नही होता - ऐसा होने पर भी, निजपदको भूलकर चलती हुई पर्यायमें ध्रुवत्व-नित्यत्वकी कल्पना करके मै-पना होना वही मूल विपर्यास है; निज परमपदका अनादर है, जिसका फल संसारके सर्व प्रकारके दुःख है।

(३३६)

※

परलक्ष्यी ज्ञान 'गुण साधक' नही है, जड़ है, अवगुणका कारण है; ऐसा जानकर बहिर्मुख वलण (झुकाव) छोड़कर, उसमें साधनकी अपेक्षाका त्याग करके, अंतर्मुख झुकाव अपनानेकी प्रेरणा ग्रहण करने योग्य है। जो कि सिर्फ अंतर अवलोकनसे, अंतरखोज द्वारा ही पलटता है; स्व-पर पदार्थकी भिन्नता, स्वभाव-विभावकी भिन्नता भी बहिर्मुख वलणको छुड़ाती है, इसके अतिरिक्त महा आश्चर्यकारी स्व-सामर्थ्यरूप अंतःतत्त्व स्वरूप परमात्मा स्वयं ही अंतर्मुख होनेमें (परिणामके लिये) सर्वोत्कृष्ट आकर्षणरूप है।

(३३७)

※

स्वरूपके यथार्थ निर्णयके - अपूर्व निर्णयके फलमें स्वानुभव होता है, केवलज्ञान होता है। ऐसा निर्णय करनेमे रागका अंशतः अभाव होता है, अर्थात् अंशतः रागसे मुक्त होकर, वर्तमानमें प्रवर्तित चलते हुए ज्ञानमें - वर्तते हुए ज्ञानमें, ज्ञानसे ज्ञानस्वभावरूप 'स्व'का ज्ञानकी अधिकाईमें निर्णय होते ही, रागकी अधिकाई वहाँ छूटती है - जो कि अपूर्व है। निर्विकल्प स्वरूपका निर्णय, निर्विकल्प दशाके लिये बल(रस) / पुरुषार्थको उत्पन्न करता है, (अतः) इस प्रकार कारण-कार्यकी संधि है। कारणके साथ कार्य प्रतिबद्ध है।

(३३८)

※

अनंतगुणका एकरूप - द्रव्य स्वभावको, चलती हुई विकारी पर्याय, अपूर्ण पर्यायकी अपेक्षा बिना - पर्यायमात्रकी अपेक्षा बिना सर्वस्वरूपसे ग्रहण करना - वह द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थ दृष्टि है, ऐसी दृष्टिपूर्वक मतिश्रुतज्ञानादि पर्याय अंतर्मुख होती है। उस पर्यायमे साधक-साध्यके भंग पड़ते है, परन्तु दृष्टिमें व दृष्टिके विषयमें कोई भंग नहीं पड़ता।

(३३९)

※

जिसका स्वसंवेदन ज्ञान ही एकमात्र रस है, जो आत्मरस अचिंत्य व अपूर्व है, ऐसा (राग और ज्ञानके ... आत्मस्वभाव धीर, अचंचल (निश्चल), व आत्मलीन पुरुषों द्वारा ही आस्वाद्यमान

अपने स्वक्षेत्रमें अपने अनन्त सामर्थ्यकी हयाति प्रत्यक्ष दिखे, तो वहाँ आनंदकी उत्पत्ति कैसे न हो ? पुनः अनन्त सामर्थ्यमें अनंत आनंदका सामर्थ्य भी मौजूद है, जिसका परमानंदरूप परिणमन करनेका स्वभाव है। अतः उसके स्वीकारमें तत्काल आनंदका परिणमन हो जाता है, इतना ही नहीं, उस आनंदकी मस्ती चढ़ती है। इसलिए उस मस्तीके कारण, आनंदकी बात आये बिना नहीं रहती।

जीवको स्वभावसे ही आनंद जैसा आकर्षणका दूसरा कोई कारण जगतमें नहीं है। (८३०)

※

परिणामकी सावधानी रखनेसे परिणाम नहीं सुधरते, परन्तु परिणाम स्वरूपकी सावधानी करते है तो स्वयं सुधर जाते हैं। स्वरूपमय होनेके कारण परिणामका लक्ष नहीं होने पर भी उसमें, सहज सुधार अनुभवगोचर होता है। फिर परिणामकी चिंता करनेकी (ज़रूरत) नहीं रहती। स्वरूपकी सँभाल होते ही सब सहजरूपसे यथार्थ है। त्रिकालीको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। द्रव्यदृष्टिमें साधक-बाधक पनेकी दरकार सम्यक्पने नहीं रहती। जो कि अपूर्व घटना है। (८३१)

※

अध्यात्मका विषय अंतर-अनुभवका है, स्वरूप आश्रयसे अध्यात्मकी प्राप्ति है। अतः उसकी समझ मात्र परलक्षी बहिर्मुख ज्ञानसे, यथार्थरूपसे नहीं होती, परन्तु स्वसन्मुखताके बिना प्रायः सिर्फ कल्पना हो जाती है; सही समझ नहीं आती - ऐसा (यदि) शुरूसे ही विचारणाके दौरान लक्षमें रहे - तो मात्र विचारको लंबाते-लंबाते आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं होगी, और वैसा भूल भरा अभिप्राय भी नहीं होगा। स्वसन्मुखताके बिना अध्यात्ममें प्रवेश नहीं है, प्रगति होना तो दूरकी बात है। (८३२)

※

'जिसकी दृष्टि अनन्त शांतिके पिंड पर है, वह ज्ञानी है' - पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी।

उक्त वचनामृतको चर्चाके दौरान ज्ञानीकी पहचान होनेके सम्बन्धित स्पष्टीकरण देते हुए पू. श्रीने प्रकाशित किया था। यह ज्ञानीपुरुषका अंतरंग लक्षण - निश्चय लक्षण है। यानी कि जो ज्ञानी है, उन्हें निरंतर खुदमें अनन्त शक्ति विद्यमान है, ऐसा भान रहता है। अपनी अव्याबाध शांतिकी हयाति देखनेवालेको तद्रुप परिणति सहज रहती होनेसे, अध्यासित अशांति नहीं होती। उन्हें कोई चिंता नहीं होती, जब कि अज्ञानी चिंतामुक्त नहीं होता। (८३३)

※

आत्माकी मुख्यता रखकर (आत्मलक्ष्य छोड़े बिना) गौणरूपसे शासनका कार्य करना पड़ता हो, तो धीरज व सावधानीपूर्वक करने योग्य है; वरना स्तुति - निंदाके प्रयत्न हेतु देहादिकी प्रवृत्ति हो जायेगी; तथापि नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेके प्रयत्नमें, आत्माको आवरण आयेगा। यह अविचारीपना है।
(३४५)

✻

परमार्थके लक्ष्यसे होनेवाले व्यवहारमें परमार्थका निमित्तत्व है, ऐसा यथार्थ व्यवहार ही यथास्थानमें होने योग्य है। जब कि परमार्थके लक्ष्य वगैर होनेवाले व्यवहारमे व्यवहारकी मान्यता हो जानेसे व्यवहार संबंधित अभिनिवेश होता है। ऐसे प्रकारके निषेधार्थ शास्त्र एवं सत्पुरुष शुभक्रिया आदिका निषेध करते है, अथवा निश्चय स्वरूपके अवलंबनका बल प्रगट करनेके हेतुसे (भी), उर्ध्वभूमिकामे आरूढ होनेके लिये भी ऐसा निषेधात्मक उपदेश / भाव होना चाहिए।
(३४६)

✻

अनंत लाभ - स्वरूपके लक्ष्यसे अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टि द्वारा वारंवार - सतत देखना, यह अंतरमें स्वरूप सन्मुख होनेका प्रयत्न है, जिससे दर्शनमोहका रस एकदम घटता जाता है। यह सम्यक्त्व होनेका मूल कारण / उपाय है। यह अभ्यास भेदज्ञानका अभ्यास है। परलक्ष्य छोड़नेका पुरुषार्थ है। पर्यायका लक्ष्य भी छोड़कर 'वर्तमानमें मै यही हूँ' - ऐसी द्रव्यकी प्रतीति / भाव ज़ोरसे आने पर स्व-आश्रय भाव उत्पन्न होता है। उपरोक्त सहज प्रयत्न मूल कारणरूप है।
(३४७)

✻

अगर एक चैतन्य-स्वभावके अलावा दूसरे कही पर भी मिठास अर्थात् रस / महिमा रह गयी होगी, तो वह चैतन्यरसकी उत्पत्ति होने नहीं देगा, चैतन्यरसकी उत्पत्तिमे वह मिठास विघ्न करेगी; इस बातको तीक्ष्णतासे लक्ष्यमें रखने योग्य है। परमें रह गई मिठास - वह परिणति है, जो उदयके (उस प्रकारके विषयक) वक्त उपयोगरूप होती है और इस तरह पुष्ट होती है। स्व-सन्मुखताके प्रयासमें यह प्रकार मुख्यरूपसे बाधक है; अतः आत्मार्थीको इसे बहुत बड़ा नुकसान समझकर - जागृत हो जाना और चेत जाना।
(३४८)

✻

भगवान आत्माके अनंतवे भागरूप (जघन्य) आनंदकी एक क्षणकी लज्जतमें, उस अमृतरसकी आगे तीन लोकके सुख विष समान लगे, तुच्छ लगे, ऐसा (महान) स्वयं (ही) है। अंतरंगसे उल्लास उछलना चाहिये; उसकी प्राप्तिके लिये पागल होना चाहिये,

फिर राग-द्वेष-मोह किस कारणसे होंगे ?

अनुभव ऐसा बोलता है कि "मै मेरेमें अचलरूपसे वैसा का वैसा हूँ - मेरेसे बाहर स्वप्नकी माफिक ये सब हो रहा है। अनादिसे वर्तमान पर्यंत भूतकालका भी एक लंबा स्वप्न ही था - जो कि पूरा हो चुका।' - वास्तविकरूपसे संयोगोंके किसी भी फेरफारसे मेरेमें कोई फेरफार हुआ ही नहीं - स्वप्नके माफिक। स्वयंकी स्वरूप जागृतिपूर्वक भिन्नता रहे, यह ज्ञानदशाकी वास्तविकता है। (८४३)

※

सुदीर्घकालसे ज्ञेयाकार ज्ञानरूप ज्ञानविशेषका आविर्भाव होनेसे, उसका परिचय होनेसे, मुमुक्षुजीवको वह समझमें आता है, परन्तु ज्ञान सामान्य तिरोभूत रहा होनेसे, और उसका परिचयरूप अभ्यास भी नहीं होनेसे, जीवको उसका स्वरूप यथार्थरूपसे पकड़में नहीं आता। पुनः ज्ञानसामान्य वेदनरूप होनेसे, उसका आविर्भाव होने पर वह वेदन अनुभवगोचर होता है, सिर्फ विचारमें लेनेसे वेदनका विषय ग्रहण नहीं हो सकता। अतः स्वभावकी प्राप्तिके लिए विचारसे आगे बढ़कर, प्रयोग द्वारा - वेदन द्वारा स्वभावको लक्षमें लेने योग्य है। अतः यह फलित होता है कि, स्वभाव और स्वभाव सदृश ज्ञानसामान्य, वह सिर्फ विचार कोटिका विषय नही है, परन्तु तत्त्व विचार करनेवाले जीवको, विचारसे आगे बढ़कर, वेदन-कक्षामें प्रवेश करके, उसकी प्राप्ति करने योग्य है, सिर्फ विचार करनेसे स्वभावकी प्राप्ति संभवित नहीं है। (८४४)

※

तत्त्व सम्बन्धी थोड़ी विपरीतता दिखती हो, परन्तु वह पूरी विपरीतताकी तरह प्रतिबंधक होती है।

अभिप्रायमें थोड़ी भूल वह पूरी भूल है। जैसे कि पर्यायमें 'अहंपना' छोड़े बिना स्वरूप ध्यानका कृत्रिम उद्यम / पुरुषार्थ करना। वह इस प्रकार कि मै आत्माका ध्यान करता हूँ; वहाँ ध्यान करनेवाला स्वयंको पर्यायरूप मानता है और आत्मा (भूलसे) पर तत्त्वके स्थानमें रह जाता है।

अतः तात्त्विक भूल और विपर्यासको हलकेरूपमें लेकर उसको गौण नहीं करके, उसके नुकसानकी गंभीरताको लक्षमें लेना चाहिए। (८४५)

※

(१) वैराग्य, उपशम, मुमुक्षुता प्राप्त होनेके लिए उपदेशबोधका ग्रहण होकर (२) वस्तुके स्वरूपज्ञानके निरूपणरूप सिद्धांतबोधका ग्रहण कि जो उपदेशबोधको अनुकूल हो, उस प्रकारसे

शास्त्रसे हुआ ज्ञान, शब्दार्थ, भावार्थ, मतार्थ, नयार्थ इत्यादि प्रकारमें प्रवर्तित उपयोग स्थूल उपयोग है, उससे आत्मा जाननेमें नही आता। आत्माको जाननेके लिये उपयोग सूक्ष्म अनुभव-दृष्टिकोणवाला हो तो ज्ञान-वेदन परसे सूक्ष्म-अनुभूतिस्वरूप द्रव्यस्वभावको जान सके, वरना ग्यारह अंगका ज्ञान हो जाये तो भी उपयोग स्थूल है, सूक्ष्म नहीं। (३५३)

✻

अपने अंदर ही 'आनंदका सागर' भरा है, फिर भी इस आनंद सागरको भूलकर बाहरसे आनंद जुटानेके लिये (बेभान होनेसे) व्यर्थ प्रयत्न करता है, इसलिये दु:ख - आकुलता उत्पन्न होते है; परन्तु यदि सम्यक्ज्ञानकी तीक्ष्णबुद्धिसे 'आनंद सागर'को पकड़ ले तो परिभ्रमण टल जाये। जिसके (आनन्द सागरके) एक समयके अनुभवके आगे तीन खंडका राज्य तुच्छ है। (३५४)

✻

धारणामें यथार्थ जानपना होनेके बावजूद भी अगर अंदरमें अयथार्थ प्रयोजन हो (दृष्टांतरूपसे: अंदरमें सूक्ष्मरूपसे परकी ओरके झुकावमें कहीं भी मिठास आती हो :- परसत्ता अवलंबी ज्ञानमें कहीं न कहीं विशेषता लगे, दूसरेको समझाते वक्त सामनेवाला राजी हो - तो सुहाना, इत्यादि) तो सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता अथवा अंतर्मुख नही हो सकते । (३५५)

✻

मुमुक्षुजीवकी पूर्वभूमिकाका प्रकार ऐसा होता है कि जैसे किसीका मृत्यु होते ही सर्व उदयके साथ उसका संबंध पूरा हो जाता है, वैसे खुदकी मौजूदगी होने पर भी एक बार परके लिये मर जाना चाहिये, चारों ओरसे उपयोगको समेटकर अंतर्मुख होनेके - स्वभाव सन्मुख होनेके प्रयत्नमे लग जाना चाहिये। सर्व संयोगोंमेंसे अपना अधिकार अंतरसे उठा लेना चाहिये। अगर बिना उपयोग दिये परेच्छानुचारी होकर उदयमें प्रवर्तन किया जाये तो भाव प्रतिबंध टल जाये, और मार्गकी सुगमता होवे। (३५६)

✻

परमात्मतत्त्वरूप स्वभावको लक्षमें रखना, कि जिससे किसी भी गुणके परिणाम मर्यादामें रहेगे, स्वभावके लक्ष्यसे स्वभावका संग (अर्थात्) शुद्धोपयोग होगा, जिसका फल प्रगट परमात्मपना है। अत: स्वभावका लक्ष्य छोड़ने जैसा नही है। (३५७)

✻

प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार होना चाहिये। द्रव्यकी स्वतंत्रताके स्वीकारके साथ प्रत्येक गुण-पर्यायोकी स्वतंत्रताका स्वीकार होता है। - इस स्वतंत्रताका स्वीकार कैसे करना?

समाधान इस प्रकार है कि, जहाँ सम्यक्-मिथ्यात्वरूप विशेषता नहीं है, वह सामान्यका स्वरूप है, इसलिए यह विकल्प यहाँ लागू नहीं होता। कोई भी जीव पात्र होकर, ज्ञानमात्ररूप स्वयंका अवलोकन करे तो अवश्य, स्वसंवेदनरूप लक्षणसे लक्षकी सिद्धि होती है। पात्रता यहाँ पर अपेक्षित है। इसके बिना परसन्मुख भावोंका रस छूटनेके योग्य नहीं होता, जिसके कारण स्वसन्मुखमें पहचान / लक्ष नहीं होता है। तद्उपरांत परलक्षी उघाड़ भी सामान्यमें रहे प्रगट वेदनका अवलोकन करनेके लिए सक्षम नहीं है।

- इस प्रकार पात्रताके बिना बीजज्ञान नहीं है। पात्रताका मूल्य बहुत है। (८५३)

※

**दिसम्बर - १९९१**

स्वरूपकी श्रद्धा, विवेक और पुरुषार्थ अविनाभावीरूपसे साथमें ही रहते हैं। इसलिए भावसंतुलन बना रहता है और कहीं भी एकांतीक परिणाम नहीं होते। 'त्रिकाली अपरिणामी मै हूँ' - ऐसी श्रद्धाके कालमें, वैसे स्वरूपज्ञानके उपरांत, ज्ञानमें शुद्धि, अशुद्धि, और अशुद्धिके निमित्त सम्बन्धी विवेक रहता है, इसलिए निश्चयाभास नहीं होता।

पुनः अंतर्मुखी पुरुषार्थका ज़ोर स्वरूप स्थिरता और आनंद उत्पन्न होनेमें कारणभूत होता है, इसलिए अनुभवदशावानको असमाधान भी नहीं होता। दृष्टि और लक्ष स्वरूपका रहे, इससे स्वरूप लक्षपूर्वक, स्वरूपकी मुख्यता होकर सहज परिणमन वर्तता है, जो सम्यक् होता है। (८५४)

※

आत्मस्वरूप परिपूर्ण एवं कृतकृत्य है। सम्यक् श्रद्धाभावमें- 'मेरेमें कुछ कर्त्तव्य नहीं है, मै तो कृतकृत्य ही हूँ' - ऐसा वर्तता हो, तब वैसे ही भावमें ज्ञानादि सर्व गुण परिणमन करने लगते है, वह परिणाम अपेक्षासे उत्कृष्ट कर्त्तव्य होनेसे, और वह सहज स्वयं परिणाम द्वारा किया जाता है, इसलिए दूसरा कुछ करनेका ज्ञानीको विकल्प नहीं होता। परिणाम तो सहज स्वयं होते रहते हैं। मेरा (स्वरूपका) अनुसरण करे तो उसके (परिणामके) लाभकी बात है। तात्पर्य ऐसा है, कि जिसे द्रव्यमें अपनत्वकी स्थापना हुई, उसे कोई असमाधान नहीं रहता। सर्वांग समाधान रहता है। मुझे देखनेवाले परिणाम स्वयं पुरुषार्थादिरूप होते है। (८५५)

※

वीतरागी शांतरस और वीररसमें एक प्रकारका साम्य है। शूरवीर पुरुष जैसे डरते नहीं, बल्कि आत्मसमर्पण भी कर देते है, उस प्रकार शांतरसमें ऐसी ताकत है कि सारा जगत

करनेमें आये, तो वह कर्ताबुद्धिसे होता है, उसमें मोक्षका कुछ भी साधन नहीं होता, परन्तु बंध होता है। (३६२)

※

मुमुक्षु जीव यदि प्रयोजनभूत तत्त्वकी धारणा तो करे, परन्तु अंतर्मुख दृष्टि और स्वरूप लक्ष्य न करे, तो उसने 'प्रयोजनभूत'को अप्रयोजनभूतरूपमें ही जाना है। ऐसा होनेका कारण दर्शनमोहका प्राबल्य है, क्योंकि जिस प्रयोजनभूत तत्त्वको जाननेसे अर्थात् प्रयोजनभूतरूपसे लक्ष्यमें लेनेसे, दर्शनमोह गलता है, अवश्य गलता ही है, उसको ही, सिर्फ धारणाकी बंध तिजोरीमें रख लिया !! अगर स्वरूप प्राप्तिकी यथार्थ भावना हो तो ऐसा प्रकार नहीं बनता। अकेली कोरी धारणा प्राय: अभिमानको उत्पन्न करती है। (३६३)

※

परिभ्रमण करते हुए जीवको अनंतकाल बीत गया। अगर वर्तमानमें भी जीवको सांसारिक उपाधिका बोझ बहुत हो तो वह निरुपाधिक आत्मतत्त्वका विचार भी नहीं कर सकता, इसलिये मुमुक्षुजीवको वैराग्यपूर्वक आत्मरुचि सहित उपयोगको (बोझसे) निवृत करके स्वलक्ष्यपूर्वक स्व-तत्त्वका चिंतन आदि कर्त्तव्य है, कि जिससे अपूर्वता प्रगट हो। (३६४)

※

स्व-परका जानना - वह विकारका कारण नहीं है, उपाधि नहीं है। अज्ञानदशामे (राग करनेका अभिप्राय होनेसे, परको जाननेके कालमें) परको जानते ही रागादिकी उत्पत्ति होती है - ऐसा भासित होता है, वहाँ स्व-पर प्रकाशक ज्ञानकी स्वच्छताको नही जानता है - वह भूल है। इसलिये अज्ञानके कारण जीव पर संबंधित अपने ज्ञानका निषेध करता है कि मुझे परको जानना नहीं है, मै तो केवल स्वको जानना चाहता हूँ, परन्तु वैसा होना असंभवित है। ज्ञानी तो सम्यक्ज्ञानकी स्वच्छतासे स्वपरको जानते है, उसमें रागका अभिप्राय नहीं होता इसलिये ज्ञाताभावसे जानते है, उतनी वीतरागता है। थोड़े रागका कारण स्वरूप स्थिरताकी अपूर्णता है - परन्तु ज्ञान-ज्ञेय रागके कारण नहीं है। (३६५)

※

अर्थ या पदार्थका भाव भासित हुए बिना सत्पुरुष / शास्त्रके वचनका अभिप्राय पकड़मे नहीं आता, इसलिये सिर्फ शब्दार्थ / भावार्थ समझकर खुद ऐसा मान लेवे कि 'मेरी मान्यता जिन वचन अनुसार है' लेकिन भावभासन बिना अन्यथापना हो जाता है, अत: हेय - उपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवलोकनपूर्वक - अनुभवपद्धतिसे अवश्य करनी चाहिये; जैसे कि राग दु:खरूप इसलिये हेय है - तो जब तक रागमें दु:ख न लगे (भासित हो) तब तक अंतर अवलोकन

विचारदशामें वस्तु-विषय परोक्ष है। अवलोकन / प्रयोगमें वस्तु प्रत्यक्ष है। (८६९)

⁂

परज्ञेयोंको ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है - वह झूठ नहीं है, परन्तु स्वका कथन परसे किया जाता है, इसलिए उपचार संज्ञा हुई। वस्तु शक्ति उपचार नहीं है। ऐसा निश्चय स्वरूप है। (८७०)

आत्मा स्वयं परम स्वभावसे-प्रत्यक्ष है। परम पवित्र होनेसे नमन करने योग्य है। स्वयं ही स्वयंके लिए नमस्कार करने योग्य है। स्वानुभूतिसे निरंतर प्रकाशमान होकर अपनी विद्यमानताको प्रसिद्ध कर रहा है। सर्वत्र स्वयंकी ही ऊर्ध्वता है, अधिकता है। (८७१)

⁂

लक्ष / पहचानके बिना भक्तिआदि शुभ व्यवहारके परिणामोंमें कृत्रिमता होती है। सहजता नहीं होती। क्योंकि समझमें `ऐसा करना चाहिए' - वैसे उपदेशकी धारणा कर रखी है, इसलिए कर्तृत्व और रागकी भावना होती है। तत्त्वदृष्टिसे वह आश्रवकी भावना होनेसे मिथ्यात्वका कारण है। अतः सर्व प्रथम लक्ष / निर्णय कर्त्तव्य है। उसका बहुत महत्त्व है। (८७२)

⁂

`सुख आत्मामें है' - ऐसा समझना, एक बात है, और `अपनेमें सुखका भासित होना' - वह दूसरी बात है। भावभासनमें `सुख लगता है' - `अस्तित्व-ग्रहण' होता है। जहाँ सुख लगे, वहाँ जीवकी वृत्ति दौड़ने लगे - यह जीवका स्वभाव है। इसलिए स्वरूपका भावभासन होने पर ही पौद्‌गलिक विषयों प्रति वृत्तिका झुकाव - यथार्थरूपसे बदलता है। सिर्फ ऊपर-ऊपरकी समझसे, आत्मवृत्तिमें फर्क नहीं पड़ता अर्थात् विषयसुखका आकर्षण नहीं मिटता। उदयकालमें रस लेनेमें आ जाता है। (८७३)

⁂

स्वरूप-निश्चय होने पर खुदके विषयमें मिथ्याअभिप्राय (Mis Conception) पूरा बदल जाता है। इसीलिए स्वरूप-निश्चयका बहुत महत्त्व है। अभिप्रायमें से `संसारीपना' नष्ट होता है, अभिप्रायमें `परमेश्वर' पद स्थापित होता है। तत्पश्चात् ही वैसी दशा होनेके लिए यथार्थ प्रयास सहज चलता है। आसन्न भव्यजीवको `वर्तमानमें ही मै परिपूर्ण हूँ' - ऐसा श्रवण होते ही अंतर - उल्लास आता है। जैसे आजन्म दरिद्रीको निधान दिखानेवाले मिलते ही उल्लास आता है। (८७४)

⁂

स्वसन्मुखताके प्रयास बिना, तथारूप साधनके अज्ञानमें, जीव बाह्य साधनकी मान्यतामें आ

साधनेका प्रसंग है; यदि एकबार भी मृत्युकालके उदयका सममावपूर्वक वेदन किया जावे तो निर्वाण विशेष समीप हो जाता है। अतः मृत्युकालमें सहज उत्पन्न स्वरूप-भावनाको विशेष लाभदायक जानकर मुमुक्षुजीवको अभिप्रायमें पहलेसे ही तैयार रहना चाहिये। चैतन्यकी चमत्कारिक शक्तिका लाभ लेनेके इस मौकेको विचक्षण पुरुष नहीं गँवाता।
(३७०)

✻

'अंतरंग शुद्धिके बिना बाह्याचरणकी शुद्धि विश्वास करने योग्य नहीं है' - यह सिद्धांत कहीं पर भी विश्वास रखनेके पहले लक्ष्यमे रखना चाहिये । स्वयंके विकासके हेतु भी बाह्यशुद्धि पर ज़ोर नही देकरके अंतरशुद्धिको ही मुख्य करना योग्य है।
(३७१)

✻

मात्र युक्ति आदिसे जो आगमके सिद्धांतोंको समझता है, किन्तु आत्मभावना रहित है, उसको अध्यात्मतत्त्वकी अरुचि होती है, तब वह जीव धर्मात्माके अध्यात्मशैलीके वचन जो कि पात्र जीवको भावनावृद्धिके निमित्तभूत होते है, उसमें शब्दके गुण-दोषको देखता है। (अतः) जो आत्महितका निमित्त है वह दर्शनमोह वृद्धिका कारण होता है। इसलिये अध्यात्मके विज्ञान-सिद्धांत व रहस्यसे वह दूर रह जाता है, और स्व-तत्त्वको देखना दुर्लभ हो जाता है, जो कि देखने मात्रसे सुलभ है।
(३७२)

✻

भावनामें स्व-पना करनेकी व्यक्त शक्ति है, इसलिये उसका फल महान् है। अनादिसे जीव परकी भावना करते हुए भवभ्रमण कर रहा है। अतः यह स्पष्ट होता है कि जीवके भवभ्रमणका कारण 'परकी भावना' है, अगर जीव भावनापूर्वक निज स्वरूपको भाये, तो अवश्य भवभ्रमण मिट जाय, क्योंकि स्वरूपसे भव रहित खुद (ही) है। इस तरह मोक्षमार्गमे 'स्वरूप-भावना'का - उसके अनगिनत / अनुपम फायदे निश्चित होनेसे - अत्यंत महत्व है।
(३७३)

✻

द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्मा समान है, इसलिये सम्यक्‌दृष्टिको वात्सल्य अंगरूप मूलगुण प्रगट होता है, जिसके कारण अंतरमे गुणनिधानकी प्रीति और बाह्यमें साधर्मी, गुण-चाहक, गुणवानके प्रति प्रीति / वात्सल्य सहज रहता है। जिसके फलस्वरूप मानव सहज ईर्षा उत्पन्न नहीं होती और शासनकी अशोभा नहीं होती, इस प्रकारसे वात्सल्यवंत प्रवर्तते है। उक्त वात्सल्यके अभावमे एक शासनमें आये हुए मनुष्य (विद्वानों भी) ईर्षासे घायल होकर पीड़ित होते है। ऐसा होना अनिवार्य है। (स्वलक्ष्यसे विचार करने योग्य)।
(३७४)

ही कहा है कि 'जो छूटना चाहता है, उसे कोई बाँधनेवाला नहीं है।' इसलिए अनुपयोग परिणामी नहीं हो जाये, यह लक्षमें लेनेकी सत्पुरुषकी आज्ञा है। (८८२)

⁂

परमार्थका कथन आत्मभावके तथारूप आविर्भावपूर्वक होना चाहिए। अथवा आत्मभावका आविर्भाव होनेके हेतुसे, परमार्थ विषयक वचन-व्यवहारमें प्रवर्तनका उद्देश्य हो, तो वह यथार्थ है।

यदि उस प्रकारसे वचन-प्रयोग नही होता, तो उसमें कृत्रिमता होती है, अथवा उद्देश्य अन्यथा होनेके कारण, प्रायः कल्पना होती है। अतः विचारवान मुमुक्षुजीव और ज्ञानी वैसी प्रवृत्ति नही करते। (८८३)

⁂

आगम और अध्यात्मका विषय योग्यता हो तो समझमें आता है, फिर भी उसमें यथार्थता, जब समझ अनुसार प्रयोगरूप प्रयत्न करनेमें आये, तब आती है, वरना समझ होते हुए भी ओघसंज्ञा चालू रह जाती है।

प्रयोगमें लगनेवाले मुमुक्षुको ही लोकसंज्ञा आदि अनेक दोषोंकी निवृत्ति होकर स्वरूप-निर्णय होनेकी योग्यता प्राप्त होती है, यानी कि आत्मस्वरूपका निश्चय होनेमें कल्पना नहीं होती बल्कि ज्ञान अनुभव पद्धतिसे कार्य करनेमें सक्षम होता जाता है, अतः अनुमान, तर्क, युक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रहती, आगम वचनका मिलान अनुभवके साथ होता रहता है। जो प्रतीतिका कारण बनता है। (८८४)

⁂

परमपदार्थ शुद्ध आत्मस्वरूपके अलावा अन्य कोई द्रव्य / भाव अवलंबन लेने योग्य नहीं है - ऐसा जानकर उसके ऊपर वज़न / ज़ोर देनेमें आता है, उसमें दो प्रकार है। एक भावभासनपूर्वक, दूसरा उस प्रकारकी जानकारी होनेसे - ओघसंज्ञापूर्वक। ओघसंज्ञामें भावभासन बगैर चाहे कितना भी ज़ोर देनेमें आये, फिर भी उसमें रागका बल / प्रधानता होनेसे कृत्रिमता होती है। जिसके कारण परसन्मुखता चालू रहकर, राग वृद्धि होगी, परन्तु सम्यक्त्व और वीतरागता प्रगट नहीं होंगे। भावभासनसे सहज ज्ञानबल वृद्धिगत् होकर, स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा, स्वानुभव प्रगट होता है, जो यथार्थ विधि है। प्रथम प्रकारमें जानकारी यथार्थ होने पर भी विधि यथार्थ नहीं है। परन्तु जिसका वज़न पर्याय या भेद पर जाता है, वह तो यथार्थतामें ही नही है। तो वहाँ स्वरूप प्रगट होनेका तो बनेगा ही कैसे ? (८८५)

⁂

पर पड़ता है, जो कि अचिंत्य व महा आश्चर्यकारी है। (३७८)

※

मुमुक्षुजीव अगर भविष्यके संयोगोंकी चिंता करता है तो उसमें वह संयोगकी आधारबुद्धिको दृढ़ करता है। ज्ञानी कभी ऐसा नही करते। इस प्रकारकी दीनता उन्हे कभी नहीं होती। जिसको ऐसी दीनता है, वह अपने निरपेक्ष महान् आत्मतत्त्वको आड़ लगाता है। अतः उसका पुरुषार्थ नही उठ सकता, इसलिये मुमुक्षुजीवको ऐसा निर्णय करना चाहिये कि 'चाहे कैसे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (जो कि पूर्वकर्म अनुसार उपार्जित है) में भी मैं साक्षीभावमें-ज्ञाताभावमें रहनेके पुरुषार्थमें लगा रहुँगा, लेकिन मेरे निरपेक्ष स्वभावको आड़ लगाकर दीनता याचकता नही करूँगा। अंतरमेंसे सुख प्राप्त करना वही मेरा पुरुषार्थ/धर्म है।' (३७९)

※

मुमुक्षुजीवको अपने विराधक परिणामोके लिये शुद्ध अंतःकरणसे सच्चा पश्चाताप हुए बिना विभावसे प्रतिक्रमण होनेका 'अभिप्राय' नही मिटता और विभावरस नहीं टूटता, विभावरसकी शक्ति कमज़ोर नहीं होती, और तब तक सन्मार्गमें विभावरसका अवरोध- प्रतिबंध है। जब हृदयसे (अंतःकरणसे) अपने दोषोंके प्रति जुगुप्साभाव होता है - पश्चाताप होता है, तभी आत्मार्थीकी भूमिकारूप दशा उत्पन्न होती है - यहाँसे फिर गुण प्रगट होनेका अवकाश पैदा होता है। (३८०)

※

कोई भी सिद्धांतका अगर यथार्थरूपसे ग्रहण हो, तो ही प्रयोजन - आत्महित सधता है वरना अनर्थकी उत्पत्ति होती है। अनादिसे चले आ रहे मति - विपर्यासके कारण मुमुक्षुकी भूमिका अति नाजुक है इसीलिये सत्पुरुषको शिरोधार्य रखना परम उपकारी माना गया है। पूर्ण निर्दोषताके ध्येय बिना उपदेश-वचनोंकी मर्यादा समझमें नहीं आती, जिसके कारण कोई-कोई वचन पर (देना चाहिये इससे) कम या ज्यादा ज़ोर देनेका बनता है, जो अहित होनेका-अयथार्थ ग्रहणरूप-कारण बनता है। दृष्टांत रूपसे ले तो कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीने मत-मंडन-खंडनमें नही जाकरके मध्यस्थभावमें रहकर तत्त्वका ग्रहण कहींसे भी (!) करनेका बोध दिया - अब इसकी मर्यादा समझमें नही आयी तो क्या हुआ कि परमार्थमार्गरूप जिनमत तीनोकालमें एक ही प्रकारसे है, इसकी गौणता हो जानेसे एवं कुलधर्मका ममत्व नहीं छूटने, आदि कारणोंसे अन्यमतका स्वीकार होने लगा, और फिर परम वीतरागदशा प्राप्त जिनेन्द्र प्रतिमाको शृंगार करने सम्बन्धित विवेक भी नही रहा।

दूसरी तरफ पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामीने जीवोंको गृहीत मिथ्यात्वसे बचानेके लिये 'एक

फरवरी - १९९२

सजीवनमूर्ति - ऐसे देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुषमें मुमुक्षुजीवके लिए संसार छेद - परिभ्रमणका नाश - धर्मप्राप्तिका निमित्तत्व एक सरीखा है। अतः मुमुक्षु ज्ञानी / गुरुकी भक्ति परमात्मावत् करता है। जिसे संसारसमुद्रसे डूबनेसे बचनेकी इच्छा हो, उसे वह साम्यता समझमें आती है। दूसरे उनके उपादानके अंतरको मुख्य करते हैं, उनको उपरोक्त निमित्तत्व समझमें नही आया होनेसे, वे लोग भक्ति-शून्य होकर स्वच्छंदमें आ जाते हैं। परन्तु जिसे निमित्तत्व (भी) समझमें नहीं आया और (उसका) विवेक भी उत्पन्न नहीं हुआ (स्थूल विषयमें भी), तो उसे सूक्ष्म उपादानकी समझ और विवेक तो होवे ही कहाँसे? (८९७)

※

विकल्पमें - भावमें दोष होता है, तब मुमुक्षुजीवको उसका विचार आता है, और वैचारिक भूमिकामें उसका निषेध भी आता है, परन्तु बार-बार वही दोषका पुनरावर्तन होता है, अथवा ऐसे निषेधभावका विचारबल नहिवत् होनेसे, वह भाव चाहते हुए भी टिकता नहीं, क्योंकि दोषभावके साथ विपरीत प्रयोगका बल प्रवर्तता है, उसमें विपर्यासका बल बहुत-विशेष है, जिसके आगे विचारबलका कोई सफलपना नहीं हो सकता। अतः विपरीत प्रयोगबलके सामने अविपरीत प्रयोगबल ही कार्यकारी होता है, जो कषायरसको तोड़नेके लिए समर्थ है। तात्पर्य यह है कि, चलते हुए परिणमनका अवलोकनरूप प्रयोग होनेसे दर्शनमोह और कषायका अनुभाग टूटता है। चलते हुए उलटे प्रयोगका घातक सुलटा प्रयोग ही है, विचार नहीं। सुलटे प्रयोगका बल अवश्य सफल होता है। (८९८)

※

विराधनाके परिणाम अधोगतिका कारण है। (विराधक) जीव अनन्त दुःख भोगता है। वह करुणाके पात्र है, परन्तु द्वेषके पात्र नहीं। स्वभावकी मुख्यतासे वह भी भगवान है, यह विस्मरण करने योग्य नहीं है - यह महापुरुषोंका हृदय है अथवा महानता और विशालता है। मुमुक्षुजीवको उसका अनुसरण कर्त्तव्य है। द्वेषभावसे अनुकम्पाका नाश होता है, कषाय तीव्र होनेसे नुकसान होता है। (८९९)

※

स्वानुभव मति-श्रुतज्ञानमें मन द्वारा होता है, वह कथन आगम पद्धतिका है, अध्यात्ममें तो ज्ञानमें मति-श्रुतकी उपाधिरूप भेदका निषेध है। क्योंकि अनुभवमें ज्ञानका भेद हो ही नहीं सकता - ऐसा अभेदका अनुभव होता है। इसीलिए मति-श्रुतकी परोक्षता अनुभवको लागू नहीं होती। ज्ञान तो स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही है, ऐसा जानकर सर्व प्रकारके भेदके पूर्वग्रहका त्याग

हाँसी नहीं करना।

(१३) किसीकी गुप्त बातको प्रगट नही करना।

(१४) शांति - प्रेमभावसे च्यूत नहीं होना।

(१५) स्वयंकी दशाको देखते हुए, निरूपित उपदेश जिस प्रकार खुदको का
उस प्रकार खुदको अंगीकार करना।

(१६) श्रोताको मनोरंजन करानेका प्रकार नहीं होना चाहिये।

※

जिसको संसारका छेद करनेका उपाय जाननेको नहीं मिला हो, वह तो इ
न करे, न कर सके और अन्य सांसारिक कार्योंका उद्यम किया करें, परन्तु अलौकि
जिसे संसारका छेद करनेके उपायका बोध श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ हो तो उस बुि
बिना विलंब किये तत् संबंधित पुरुषार्थ करना ही उचित है, अन्यकार्यमें व्यस्त
करना उचित नहीं है।

※

जिस तरह अज्ञानदशामें विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानका आविर्भाव होनेसे, ज्ञेयपदा
ज्ञेयका आश्रय अनिवार्यरूपसे हो जाता है, उसी तरह ज्ञानदशामें सामान्यज्ञानक
सहजरूपसे सामान्य स्वभावका ग्रहण - आश्रय हो जाता है क्योंकि जिसका
है, उसका उस वक्त लक्ष्य होता है। इस प्रकार ज्ञानसे ही स्व-पर पद
है।

※

ज्ञानकी दो मुख्य विशेषता है, एक स्व-परको प्रकाशित करना, दूसरा
करना। जिस तरह स्वरूप प्रकाशन (स्वरूप ग्रहणके) कालमें स्वरूप-अनुभव
कालमें परका वेदन नहीं है और निज वेदनका त्याग नहीं है फिर भी
कालमें, भेदज्ञानके अभावके कारण, वेदकता अध्यासित परिणाममें रुक ज
'परका' वेदन होता है' - ऐसा मिथ्याभास रहता है, जो कि स्वसंवेदन
अथवा प्रगट होने नहीं देता; अतः ज्ञानसामान्यमें वेदन / अनुभवका
स्वरूपको ग्रहण करना।

※

... / ... भावसे सर्व प्रकारसे भिन्न हूँ इसलिये कोई '...

अथवा दर्शनमोहका अनुभाग घटता जाता है।

* दर्शनमोह मंद होनेसे ज्ञानमें निर्मलता आती है, और निजस्वरूप अवभासित होवे, वैसी क्षमता प्राप्त होती है।

* स्वानुभवमें अनुभवमें (ज्ञानमें) आये हुए स्वरूपकी प्रतीति होती है कि, 'मै ऐसा ही हूँ।'

* अपने द्रव्य-स्वरूपमें दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है, इसके सिवा ज्ञानको प्रमाणता प्राप्त नहीं होती, भले ही अंगपूर्वका ज्ञान हो तो भी।

- ऐसा होनेसे कभी ज्ञानकी मुख्यतापूर्वक, तो कभी श्रद्धाकी मुख्यतापूर्वक वचनप्रयोग होता है। इसमें वस्तुस्वरूपके ज्ञाताको संदेह या भ्रम नहीं होता। इतना ही नहीं दोमें से एकको छोड़कर, दूसरेका पक्ष या एकांत करने योग्य नहीं है। अपने-अपने स्थानमें सभीका मूल्य समझने योग्य है। पुरुषार्थकी दिशा सम्यक् होनेमें श्रद्धा-ज्ञान कारण है, और इसीलिए स्वरूप एकाग्रतारूप चारित्र प्रगट होता है।

* संसार अवस्थामें पररुचिसे ज्ञान-विवेक निर्बल होकर, आवरित होता है, स्थूल हो जाता है। (९१२)

※

मार्च - १९९२

सिर्फ विचार करते रहनेसे प्रयोग करनेकी समझ नहीं आती। परन्तु अवलोकनसे प्रयोग समझमें आता है, क्योंकि परिणमनमें जो उलटा प्रयोग चल रहा है, वह अवलोकनसे समझमें आता है, और सुलटा प्रयोग करनेकी सूझ इससे आती है। पुनः सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वभाव विचाररूप स्थूल ज्ञानमें ग्रहण नहीं होता। अवलोकनके अभ्याससे ही स्वभावका भासन हो सकता है, इसलिए अवलोकन प्रयोगका अंग है, उसमें ज्ञानकी प्रयोजनभूत रूपसे सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। (९१३)

※

संप्रदाय (पद्धतिसे) अनुसार मूलमार्गकी प्रवर्तना करनेसे काफी लोगोंको परमसत्य सुनने मिलता है, परन्तु मार्गकी रचनाको सांप्रदायिक स्वरूप देना योग्य / यथार्थ नहीं है। ऐसा करनेमें विकृति पैदा होती है, बहुभाग जीव मतके मंडन-खंडनमें लग जाते है।

श्री जिनके मत अनुसार आध्यात्मिक रीतिसे, मार्ग कोई-कोई वीरल जीवोंको ग्रहण होता है, उपकारी होता है। अतः मार्ग प्रवर्तनकी नीति-रीतिका निर्णय अत्यंत विवेकपूर्वक करने योग्य है। धर्मात्माएं प्रायः धर्मकी प्रवृत्ति करनेमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर चलते हैं अथवा

रखी जाये तो वह व्यर्थ ही है - ऐसा प्रथम खचित (चोक्कस) निश्चय आये बिना 'सत्' प्राप्तिके लिये जीव 'काल्पनिक' उपाय करने लगता है। अनंतकालमे उपाय तो अनंत किये परन्तु मूलमें / नीवमें जो करने योग्य था, उसके बिना ही आगेकी बातें - तत्त्वाभ्यास इत्यादि करनेसे मार्गके बजाय उन्मार्ग ही सधा है। इसलिये ऊपर कहा हुआ / दिया हुआ सत्पुरुषका मंत्र समझकर उसका मूल्यांकन होना चाहिये।

उपरोक्त पात्रतावान जीव 'सजीवनमूर्ति' सत्पुरुषको खोजता है अथवा पहचानता है, कि जिनके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको प्राप्त होता है। (३९१)

❋

जिन्होंने अंतरंगमें अलौकिक, अद्भुत, साक्षात्, मूर्तिमंत निज सिद्धपदको देखा, उन्हें जगतके रम्य् (?) पदार्थ प्रिय नही लगते अथवा मोहक नहीं लगते क्योंकि उस भव्य जीवका हृदय सिद्ध स्वरूपके रससे भर गया है, उनके लिये सारा जगत तृणवत् है। संयोगमें जो शरीर है उसको भी खाली कलेवर जानते है; उदयीक भाव जैसे उपाधि आ पड़ी हो वैसा (नेत्रके पास कूड़ा उठवाने जैसा बोझा) लगता है, तो उसमें आत्मभावसे रस कैसे आयेगा? वह तो आत्माराममें निजरसपूर्वक क्रीड़ा करना चाहता है - धन्य है उनको !! (३९२)

❋

हे ! आत्मदेव ! स्वयंके ज्ञानबागमें खेलो, क्रीड़ा करो या जमे रहो; अन्यसे क्या प्रयोजन है ? अलौकिक गुण-वैभवका अचिंत्य रमणीय धाम ! अद्वितीय परम पदार्थ जयवंत वर्तो ! जयवंत वर्तो !! उस (पदार्थ) - पदको दर्शानेवाले सद्गुरु, निष्कारण करुणामूर्ति सत्पुरुष - परम पुरुष, दिव्यमूर्ति परमात्मा जयवंत वर्तो, त्रिकाल जयवंत वर्तो !! (३९३)

❋

अक्टूबर - १९८९

आंशिक स्वसंवेदन, पूर्ण स्वसंवेदनका अंगभूत है, एक ही जातिका है। यह ज्ञानसे ज्ञानका वेदन वह आत्मानुभव है, उसमें - ज्ञानवेदनमें आत्मा वेदा जाता है - वेदनमे आ रहा है यह साधक अवस्थामें मोक्षमार्ग है, और यही सिद्ध अवस्थामें मोक्ष है, यहाँपर सिर्फ स्वरूपका ही वेदन है। अत: संक्षेपमें उसका 'ज्ञानमात्र'से व्यपदेश है। (३९४)

❋

जिसमें सुख नहीं है ऐसे पुद्गल पर्यायोंमें जीवको मिथ्या कल्पनासे सुखाभिलाषा होती है - ऐसी व्यर्थ स्फुरणा केवल दुःखरूप ही है। क्या यह जीवको उन्मत अवस्था की प्राप्ति नहीं है ? इस अनादि भ्रांतिको टालनेके लिये, वास्तविक वस्तु-स्वरूपका अवलोकन करना

शाश्वत, अव्याबाध, परिपूर्ण सुखादि ऐश्वर्य संपन्न स्व-रूपका यथार्थ विश्वास आना ज़रूरी है। श्रीगुरुके वचन अनुसार इसके लिए प्रयास होना चाहिए। स्वरूपका भरोसा ही बीजज्ञान है। पुरुषार्थ उसके अवलंबनसे उपड़ता है। (९२५)

※

कृत्रिम पुरुषार्थ / प्रयासका अभिप्राय छोड़ने जैसा है। वैसे अभिप्रायमें विधिकी भूल है। यथार्थ ज्ञान द्वारा सहज पुरुषार्थका उत्थान होता है। अथवा ध्येयके प्रति यथायोग्य प्रकारके परिणाम सहज होने लगे (लगन, जागृति, दर्शनपरिषह इत्यादि), वह यथार्थताका लक्षण है। कृत्रिमताका अभिप्राय अयथार्थताका लक्षण है। इसलिए कृत्रिमता कर्त्तव्य नहीं है, तथा अनुमोदन करने योग्य भी नहीं है। (९२६)

※

पुरुषार्थका स्वरूप सहज उद्यमरूप है। स्वाभिमुख उद्यम सम्यक् संज्ञाको प्राप्त होता है। जिसका फल सुख है। कृत्रिम पुरुषार्थ आकुलता पैदा करता है। कृत्रिम पुरुषार्थके अभिप्रायमें कर्तृत्वका बंधन है, जो कि मुक्तिके भावसे विरुद्ध है। सहज पुरुषार्थ परिणामको अंतर्मुख करता है, जब कि कृत्रिमतामें सिर्फ बहिर्मुखता रहती है। (९२७)

※

प्रमाणज्ञान सामान्यत: वस्तुके बंधारणीय स्वरूपको प्रसिद्ध करता है, परन्तु उसका हेतु सिर्फ उतना ही नहीं है। प्रमाणज्ञान निश्चयका आश्रय होने पर प्रमाणताको प्राप्त होता है, इसलिए मुख्यतः उसका हेतु निश्चयको प्रकाशित करनेका है। - यह प्रमाणकी विशेषता है। यदि ऐसा नही हो तो वह (प्रमाणका) प्रमाणाभास है; ऐसा जानने योग्य है। प्रमाणके पक्षपाती नियमसे व्यवहाराभासी अथवा उभयाभासी होते है, क्योंकि वे प्रयोजनमें भूले हुए है। (९२८)

※

कोई भी जीव प्रत्यक्ष आत्मज्ञानस्वरूप, सजीवनमूर्ति सत्पुरुष / आप्तपुरुषको पहचाने बिना, पहचानपूर्वक वचनकी प्रतीति, अपूर्व आज्ञारुचि और स्वच्छंदनिरोधरूपसे उनकी भक्ति होनेरूप योग्यता प्राप्त किये बिना, निजस्वरूपको अंतरंग लक्षणसे पहचान नहीं सकता, और स्वरूप निर्णयके बिना, स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। (९२९)

※

## अप्रैल - १९९२

स्वपनेसे - 'ज्ञानमात्र' में 'मैं'पनेके वेदनकी सन्मुखतामें - जो निश्चय होता है, वह अपूर्व

होता है, परन्तु अंतरदृष्टिसे सोचा जाय तो कोई विकल्प उठने योग्य नहीं है। ऐसी अलौकिक अद्‌भुत दशा - मान - अपमानके द्वंद्व रहित, मोक्षमार्गमें चलनेवाले महात्माकी होती है। विषयमें परमागमोंमें प्रसिद्ध है कि निर्ग्रंथ भावलिंगी संतोंने सम्यक्‌दृष्टिकी गुणप्रशंसा की श्रीमद्‌जीने श्री सौभाग्यभाईको और पू. गुरुदेवश्रीने श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीको नमस्कार किया है। इसका अंतर रहस्य समझकर, मुमुक्षुजीवको इस मनुष्य पर्यायमें मुख्य प्रतिबंधक 'मान' कषायकी सम्यक् प्रकारसे निवृत्ति कर्त्तव्य है। (३९९)

*

अध्यात्मका व्यामोह स्व-पर अहित होनेमें एक असाधारण निमित्त / कारण है। जीवकी बाह्यदृष्टिसे उत्पन्न हुई यह एक अनूठी विकृति है, जिससे जीवको शुष्कता, स्वेच्छाचारीपना (स्वच्छंदता) अथवा उन्मतप्रलापदशा उत्पन्न होती है। लोकसंज्ञा तीव्र होने पर अस्वाभाविक (कृत्रिम) अध्यात्मकी प्रधानता की जाती है, और जीव जिस आध्यात्मिक विषय से दर्शनमोहका उपशमन कर सकता है, उसी विषयका विपरीत अवलंबन लेकर दर्शनमोहकी वृद्धि करके गृहीत मिथ्यात्व तक (नुकसानमें) चला जाता है। अनेक अन्यमत जो है वे इसके प्रगट दृष्टांत है; तथापि जैन-मार्गमें भी विभिन्न संप्रदाय होनेमें, कुछएक कारणोंमेंसे यह भी एक कारण रहा है, ऐसा दिखता है।

निराकार, निर्विकल्प, अनंतगुणमय, अध्यात्मतत्त्व आत्मा है, अंतरमें उसके यथार्थ अवलंबनसे ध्यान होता है, परन्तु तथारूप दृष्टि साध्य हुए बिना प्रायः बाह्यदृष्टिमें उसका व्यामोह होनेकी संभावना होनेसे जैनमार्गमें साकार भगवानके स्वरूप आलंबनसे भक्ति / भावनाप्रधान दशाके कारण शुष्कता आदि दोष नहीं होते, और आत्मा स्वाभाविक उच्चगुणोंको प्राप्त होता है, अतः जीव अध्यात्मके व्यामोहसे बच जाता है। इसतरह (भगवानकी प्रतिमाकी) स्थापनाके पीछे एक गंभीर हेतु मालूम पड़ता है। और अनादि परम्परामें-कार्यपद्धतिमें (इस तरह) पारमार्थिक हेतुकी रक्षा की गई है। जो किसी भी बहानेसे निषेध्य नहीं है। विवादके योग्य भी नहीं है। (४००)

*

अति पुरुषार्थवंत, आत्मरससे सराबोर वृत्तिवान धर्मात्मा(का), परमार्थमार्गके उपदेश संबंधित बाह्यवृत्ति व प्रसंगमें भी नीरस हो जाना, वाणी सहजरूपसे मौनत्वको प्राप्त हो जाना, कहने/लिखनेकी वृत्तिका संक्षेप हो जाना / गोपन (शांत) हो जाना, देहके अस्तित्वका विस्मरण हो जाना इत्यादि प्रकार / लक्षण 'निश्चय- भावना'के है। यह भावना बलवान वीतरागी असंगभाव है - ऐसे महात्मा सहजरूपसे सर्वसंग परित्याग करके निकटके भविष्यमें ही निर्ग्रंथपदमें विराजमान

प्रश्न :- पुरुषार्थका अंतर्मुख परिणमन होनेके लिए कैसी प्रक्रिया होनी चाहिए ?

उत्तर :- प्रगट ज्ञानवेदनके अनुभवांशसे, परमार्थ स्वभावकी प्रत्यक्षताके आधारसे - अवलंबनसे उत्पन्न प्रतीति द्वारा वारंवार सहज उग्रता आये - वेग बढ़े और विकल्प तथा परसन्मुखता शांत होकर स्वसंवेदनका आविर्भाव हो, उस प्रकारसे अंतर्मुख पुरुषार्थकी गति-विधि है। जो कि मोक्षमार्गका रहस्य है। (९४२)

❋

आत्मस्वभावको - स्वयंको स्वरूप प्रत्यक्षरूपसे अवलोकनमें / भानेमें आते ही चैतन्य-वीर्यकी स्फुरणा होती है। यह सिर्फ विचारसे सम्मत करनेका विषय नहीं है, परन्तु तथारूप प्रयत्न / प्रयोग द्वारा अनुभवमें लेकर, वारंवार उसका अभ्यास कर्त्तव्य है। आत्मवीर्य जागृत होनेका यह प्रयोग है। निज अवलोकनमें पुरुषार्थ तत्काल ही उत्पन्न होता है। इसलिए आत्महितमें एक क्षणकी भी देर लगे - ऐसा नही है। (९४३)

❋

हेय-उपादेयता द्विविध है। व्यवहारसे और निश्चयसे। दोनोंमें ज्ञान और आचरणकी मुख्यता है। व्यवहारके कालमें विचाररूप ज्ञान और रागका मिश्रण है। यथास्थानमें वह होता है, इसलिए उसे विवेक भी कहा जाता है। उसकी तीक्ष्ण भूमिकासे, आगेकी भूमिकामें विचारसे आगे बढ़कर पुरुषार्थके झुकावकी उत्पत्तिपूर्वक, विधि-निषेध निर्विकल्पभावसे चलता है। (विचारके कालमें विधि-निषेध विकल्पभावसे चलता है।) यहाँ पुरुषार्थके झुकावमें स्व प्रतिका सहज खिँचाव और परसे हटनेकी वृत्ति (गौणतापूर्वक, उदासीनतापूर्वक) है, जिसकी प्रगाढ़ता होनेसे निर्विकल्प समाधिमें, निज परमात्मा साक्षात उपादेय वर्तता है। अमृतरसका पान होता है, निर्द्वंद्व भावसे। (९४४)

❋

निजस्वरूपग्राही ज्ञानसे, 'ज्ञानमात्र'का - शुद्धस्वरूपके अनुभवसे - वेदनसे - रागादि विभावसे भिन्नता होती है, इसके सिवा रागादिसे भिन्न होनेका कोई उपाय नहीं है।

अज्ञान(दशा)में, क्रोधादिभाव ज्ञानमें (अपनेमें) होते हुए मालूम पड़ते है। अतः उन दोनोंका भिन्न-भिन्न अनुभव कठिन है, फिर भी अशक्य नहीं है। क्योंकि राग और ज्ञान हमेशा भिन्न ही रहे है, कभी एक हुए ही नहीं, होते भी नहीं। इसलिए निजस्वरूपग्राही ज्ञान-वेदनसे उसका भिन्न अनुभव होता है। (९४५)

❋

कालमे स्वरूप-निश्चय सहजरुपसे करता है, परन्तु अन्यथा उपाय नहीं करता। यथार्थ स्वरूप लक्ष्य करके, मोक्षमार्गके पुरुषार्थमें उद्यमवंत होता है और भव-भ्रमणसे छूटता है। जब कि जिस मुमुक्षुका प्रवेश सामान्य भावनासे हुआ हो वह अगर पूर्णताका लक्ष्य नहीं बांधता है तो प्रायः भावनामे आगे नहीं बढ़ सकता अर्थात् कुछ समय बाद भावना फीकी पड़ जाती है। अतः ध्येय तो अवश्य शीघ्रतासे बांध ही लेना चाहिये। अथवा ध्येय बांधनेके साथ प्रवेश होकर अगर भावना-प्रधान परिणाम होवे, तो अवश्य ही आगे बढ़े। मुमुक्षुदशामे (स्वरूप निश्चय और पुरुषार्थके प्रति) यथार्थ शुरूआत इस प्रकार होनी चाहिये। (४१३)

✲

"दृष्टिके निर्णयमें पूर्ण शुद्धि भरी हुई है" - पू. सोगानीजी (द्रव्य दृष्टि प्रकाश ४८०)

इस वचनामृतमें सम्यक्दर्शनका सामर्थ्य बतलाया है, जिस तरह बीजमें वृक्षको देखा जाता है उस प्रकार स्वरूप दृष्टिमें पूर्ण शुद्धि भरी है, ऐसा ज्ञानमें निर्णय होता है। दृष्टिके गर्भमें मोक्ष दिखता है, इसलिये सम्यक्ज्ञानमें दृष्टिकी महिमा आती है। इस प्रकार सम्यक्दर्शनमें जो अनंत गहराई है, उसका नाप आता है। दूसरा, दृष्टिके निर्णयके वक्त द्रव्यदृष्टिकी खूबीयां भी समझमें आती है जो कि पूर्ण शुद्धिकी एकांत उपादेयता स्वरूप है, और उसके यथार्थ निर्णयके गर्भमें भी पूर्णशुद्धि प्रगट हो - ऐसा सत्व रहा है। ऐसा उक्त वचनामृतमे रहस्य है। इस वचनको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! (४१४)

✲

नवम्बर - १९८१

जब (एक तरफ) शासनकी अवनति हो रही है, उसे देखते हुए उसकी उन्नति हो ऐसा विकल्प, परम कारुण्यवृत्तिके कारण महापुरुषोंको यथासंभव उत्पन्न हो आता है, तब दूसरी ओर जिनका दर्शनमोह तीव्र हुआ है - ऐसे जीव स्वच्छंद प्रवृत्तिसे वेगपूर्वक उन्मार्ग पर चलते है, और जिनके निमित्तसे मूलमार्गसे (शासनमें आये हुए) जीव कोट्यावधि योजन दूर हो जाते है, और साथमें वर्तमान हुंडावसर्पीणी काल अपना स्वरूप भी बराबर प्रगट करता है। तीव्र दर्शनमोहसे सिद्धांतमें फेरफार करके श्रुतिका कोप जाने-अनजानेमें मोड़ लेते हैं और भावश्रुतके आवरणको और प्रगाढ़ कर लेते है, तथापि तीर्थंकरदेवकी परम्परा तीर्थंकरदेवके नामसे ही तोड़ते है। ऐसा जब होता है तब नजरके सामने 'माता'की बेइज्जती हो, उससे भी अधिक वेदना धर्मात्माको होती है। अगर परमार्थदृष्टि नहीं हो तो समाधिका नाश हो जाय, ऐसा यह विकट प्रसंग है ! (४१५)

✲

विषयमें जिज्ञासा रहनी चाहिए, मुमुक्षु यदि वैसी जिज्ञासाको छोड़कर, सिर्फ अपेक्षाओंको समझ ले तो उसमें - धारणामें फँसना हो जाता है, इसके लिए जागृत रहना चाहिए। अतः अनुभवी महात्माओंके शास्त्र-प्रवचन, अनुभवकी गहराईमें जानेके लिए उपकारी जानकर, उस दृष्टिसे उसका अवगाहन करने योग्य है। पात्रता / योग्यता अनुसार गहराईमें जा सकते हैं।
(९५८)

※

'वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है।' (पू. सोगानीजी - ३५८)

'वर्तमान परिणाम जैसा / जितना मैं' - ऐसी श्रद्धा, वह झूठी श्रद्धा है, क्योंकि वास्तवमें खुद वैसा नहीं है, उतना ही नहीं है, क्षणिक नहीं है अपूर्ण नहीं है।

सत्यदृष्टिसे खुद पूर्ण और कृतकृत्य त्रिकाल होनेसे, 'करूँ-करूँ' की आकुलता एवं अभिप्राय मिटते हैं। (९५९)

※

पर्यायदृष्टिके कारण परिणाम पर पकड़ रहती है। जो कि स्वरूपकी अनन्त अगाध शक्तिको भूलनेका कारण है। अतः परिणाममात्रको गौण करके स्वरूपको सँभालना आवश्यक है। शक्तिको भूलनेसे दीनता आती है। जो आगे जाकर संयोगोंकी अपेक्षावृत्तिको जन्म देकर समस्त संसारको उत्पन्न करती है। अतः समस्त संसारका मूल पर्यायदृष्टि ही है। (९६०)

※

## जून - १९९२

'मिथ्यात्व दिशाभ्रमरूप है' - यह दिशाकी प्रधानतासे मिथ्यात्वका उल्लेख है। (श्रीमद्‌जी-७६८)। परिणामकी दो ही दिशा है, एक अंतर्मुख, दूसरी बहिर्मुख। मिथ्यात्वके कारण बहिर्मुख भावमें भी लाभ माना जाता है, जिसके कारण बहिर्मुख झुकाव रहा करता है। बाह्यसाधनमें उपयोगकी प्रवृत्तिके कारण अंतर्मुख होनेकी दिशा-सूझ नहीं आती। शाता और स्पर्शादि विषयोंका अनुभव मिथ्या होने पर भी, उसमें वास्तविकता लगती है। अतः अंतरंगमें 'ज्ञानानुभूति' के प्रति झुकनेका अवसर नहीं आता - बाह्य साधनके प्रति लगे परिणामकी दिशा बदलनेके लिए अंतर्लक्ष होना चाहिए; और बहिर्मुख भावोंमें उपेक्षा होनी चाहिए। अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे ज्ञानवेदनमे वेद्य-वेदक भावसे दिशा बदले तो दशा बदले और 'दिशाभ्रम' मिटे। (९६१)

※

स्वरूपकी तीव्र भावना स्वरूप-बोधका कारण है। भावना तीव्र होने पर परिणति हो जाती है, और परिणति उपयोगको ले आती है।

ज्ञान जाननेके भावरूप परिणमन करता है और वेदन अर्थात् अनुभवरूप भी परिणमन करता है, वहाँ ज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक शक्तिमें सिर्फ जाननेरूप भावकी बात है, क्योंकि ज्ञान परका वेदन नही कर सकता - पर ज्ञेयाकार ज्ञानको परप्रकाशक ज्ञान कहनेमें आता है, तब भी स्वयं - परसे भिन्न ज्ञायकरूप जाननेमें आया अर्थात् वेदनमें आया, ऐसे लेना है। इसीलिये इसप्रकार पर से भिन्नरूप उपासना करनेमें आती है, अन्य प्रकारसे भिन्नता नही हो सकती अर्थात् (सिर्फ) भिन्नताका विचार / विकल्प होनेसे भिन्नता नहीं होती। (समयसारजी गाथा ६ - परसे) (४२०)

※

ज्ञान ज्ञानको (ही) जानता है, अन्यको नहीं जानता, अन्यका ज्ञान नहीं हो रहा है - इत्यादि प्रकारसे जो कथन आते है, उसमें भी ज्ञानवेदन अर्थात् अनुभव कहना चाहते हैं ऐसा समझने योग्य है। तथापि ज्ञान ज्ञानको जानता है, उसमें एक ज्ञानकी पर्याय, बीती हुई दूसरी ज्ञानकी पर्यायको जानती है, ऐसा कहनेका अभिप्राय नही है, परन्तु उत्पन्न वर्तमान ज्ञान स्वयं, अपनेको स्व-रूपमें त्रिकालीके लक्ष्यसे वेदनमें आता हुआ उत्पन्न होता है, (परलक्ष्यके अभावमें)। इस तरह त्रिकालीके ज्ञानका स्वरूपमें वेदन वही स्वसन्मुखता अथवा अंतर्मुखता है - यही भावात्मक रहस्य है। (४२१)

※

आत्मकल्याणरूप प्रयोजन सिद्ध हो इसलिये निश्चयनय / द्रव्यार्थिकनयसे निश्चयशुद्धआत्माकी मुख्यता करते हुए निरूपण किया गया है, और अशुद्ध द्रव्यार्थिक अर्थात् पर्यायार्थिक नयके विषयको गौण करके निरूपण करनेमें आया है - ऐसे जिनवचनमें जो (इसप्रकारकी मुख्यता-गौणता पूर्वक) परिणमन करते है, वे शुद्ध आत्माको यथार्थ (रूपसे) प्राप्त होते है, तब प्रमाणकी प्राप्ति भी यथार्थ रूपसे होती है, अर्थात् शुद्ध / गुण स्वरूपकी उपादेयतामे, अशुद्ध अंशका निषेध है, जो यथार्थ है। (४२२)

※

व्यवहारीजनोंके लिये व्यवहारनय द्वारा निश्चय स्वरूपका प्रतिपादन होता है जिससे तीर्थकी प्रवृत्ति होती है, जो कि सहजरूपसे मोक्षमार्गमें विचरनेवाले जीवोको होती है। ऐसे धर्मात्मा निश्चयनय द्वारा तत्त्वकी प्राप्ति करते हैं। जिससे फलित होता है कि धर्म-तीर्थकी प्रवृत्तिमें / प्रभावनामें, अगर निश्चयका प्रतिपादन होता हो तो ही वह प्रवृत्ति यथार्थ है, अन्यथा धर्मात्माके जैसी ही प्रवृत्ति की जाती हो तो भी उसमें यथार्थता नहीं होती। इस तरह व्यवहारनयसे (१) तीर्थकी प्रवृत्ति होती है (२) और इसके उपरांत निश्चयका प्रतिपादन भी होता है । इसलिये

साधकदशामें अपूर्णता अर्थात् अल्प शुद्धि-अशुद्धि है, परन्तु दृष्टि पूर्ण है और पूर्णताके लक्ष सहित भावना है। तद्अनुसार साधकदशाका वर्णन आता है। वहाँ दृष्टि और अभिप्रायके विषयको समझकर प्रधानता करने योग्य है, जिससे परस्पर विरुद्ध दिखते वचनमें भी अविरोध मालूम होगा। व्यवहारके विवेकपूर्वक हेय-उपादेयको जाने - फिर भी निश्चय प्रधानतासे उसमें समभाव व्यक्त होवे, परन्तु इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है; यदि अभिप्राय समझमें आये तो। (९७३)

※

तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले मुमुक्षुको मुख्य-गौण करनेमें, अभिप्रायकी भूल न हो जाय, इसका विचार कर्त्तव्य है। व्यवहार और परमार्थ पर वज़न जानेसे साधन, साधन नहीं रहता, परन्तु वह साध्य हो जाता है।

अभिप्रायकी ऐसी भूल दिखनेमें अल्प भूल दिखती है, परन्तु वह पूरी भूल है। उसमें व्यवहार निश्चयके स्थानमें और पर्याय आश्रयके स्थानमें आ जाते हैं। ये विपर्यास है, जो परमार्थमें प्रतिबंधक है। (९७४)

※

मिथ्यात्वके सद्भावमें जीवको अपनेमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका अभाव होता है। जब कि सम्यक्त्वके सद्भावमें, परमें अपनत्वका अनुभव करनेकी योग्यताका नाश हो चुका है, इसलिए शरीरादि संयोगोंमें पूर्वकर्म भोगते हुए भी अपनत्व नहीं होता।

निजसिद्धपदके प्रत्यक्ष अनुभवरससे जिनका परिणमन भरितावस्थ है, उन्हें जगतके रम्य (!) पदार्थ मोहक नहीं लगते। परन्तु किसी भी पदार्थ पर उपयोग खींचता है तब दुःख-दाह होता है। वरना रम्य पदार्थोंमें मोहभाव हुए बिना नहीं रहता। सारांश (तात्पर्य) यह है कि ज्ञानीके दर्शनमें, स्वभावदर्शन करने योग्य है। (९७५)

※

अंतरमें निर्मोही परमतत्त्वकी महिमा व पुरुषार्थकी तीखाश जिनको वर्तती है, उनको बाह्यमें भी मोहको जितनेवाले ऐसे वीतरागी देव, गुरु और सत्पुरुषके प्रति परम भक्ति और बहुमान व्यक्त हुए बिना नहीं रहता। ऐसा बाह्य लक्षण निश्चयाभासी शुष्क अध्यात्मीको, अध्यात्मके व्यामोहके कारण, नहीं होता। (९७६)

※

ज्ञानदशामें अपने बेहद सामर्थ्यकी प्रतीत रहती होनेसे, दीनताका नाश हो जाता है, इसलिए सन्मार्गके प्रारम्भसे ही अयाचकपना रहता है। इसके अलावा परिपूर्ण स्वरूपके अवलंबनसे उत्पन्न

जगतके अन्य दर्शनोंमें उपदेशबोध अनेक प्रकारसे हैं। जैन दर्शनमें भी उपदेशका अनेक भेदोसे निरूपण किया गया है फिर भी दोनोंमें बहुत फर्क है। जिसको मुख्यरूपसे निम्न प्रकारसे जानने योग्य है।

अन्यमतमें पदार्थ दर्शन बिना, सिर्फ बुद्धिगम्य दोष-निर्दोषताकी मर्यादित प्ररूपणा है, लेकिन उपदेशका आधार पदार्थका विज्ञान नहीं होनेसे युक्ति / कल्पना द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते है। जब कि जैन दर्शनमें स्व-पर पदार्थके गुणधर्म एवं परिणमनके अनुभवज्ञानपूर्वक अनेकविध प्रकारसे, फिर भी संकलनाबद्ध और स्वानुभवके अतीन्द्रिय, अमर्यादित भावके लक्षबिंदु पूर्वक, सर्व भेद - प्रभेदरूप उपदेश है। इसके अलावा वचनातीत निर्दोष अवस्थाको कथंचित वचनगोचर अद्‌भुत सुगम शैलीसे, ज्ञान प्राप्ति हो सके वैसे निमित्तपनेसे अलंकृत - शोभायमान होनेके कारण, ऐसी वाणीकी पूज्यताको भी रोका नहीं जा सकता अर्थात् यथार्थ समझ होने पर निश्चितरूपसे पूज्यभाव उत्पन्न हो आता है (रोक नहीं सके - उस प्रकारसे)। (४२७)

※

आत्मज्ञान = 'ये अनुभूति जो है वही मै हूँ' ऐसा स्वयंका-अपना निर्विकल्प अनुभवरूपज्ञान।

आत्मदर्शन (श्रद्धान) = उक्त अनुभवमें खुदको जैसा जाना वैसा ही मै हूँ - ऐसी निर्विकल्प प्रतीति।

आत्मचारित्र = उक्त श्रद्धा, ज्ञानसे, परसे भिन्न होकर परिणाम स्वयंमें जम जाय - स्थिर हो जाय वह (आत्म चारित्र) ।

आत्मसाधना = उक्त श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रका (समकालमें होता हुआ) एकतारूप परिणमन। (४२८)

※

अगर सत्संगकी उपासना सरलतापूर्वक की जाय तो निश्चित ही उसका फल मुक्ति है। जहाँ सर्वार्पणबुद्धिसे सत्पुरुषके चरणमें रहनेका निश्चय है, वहाँ सरलता सहजरूपसे होती है वरना सत्संगके योगमें भी जाने - अनजानेमें असरलता हो जाती है, जो कि स्व-पर अहितका कारण होती है। इस विषयमें श्री सौभाग्यभाईका दृष्टांत मुमुक्षुजीवके लिये गवेषणीय व उपकारभूत होवे ऐसा है। जिन्होने परम पात्रताके कारण प्रायः अपने सभी परिणाम व प्रवृत्ति संबंधित अत्यंत सरल भावसे, सहज भावसे कृपालुदेवके पास उसका निवेदन किया। मुमुक्षुजीवको वह लक्ष्यमें लेने जैसा है। (४२९)

※

प्रश्न :- अंतर्मुखताका चैतन्यरस / आत्मरसयुक्त सहज पुरुषार्थ कैसे उत्पन्न हो ?

है। वास्तवमें तो ज्ञानक्रियाके आधारसे ज्ञानस्वभावी - ध्रुवतत्त्वका निश्चय होना चाहिए। (९८९)

※

स्वरूपप्राप्तिकी सही भावना, जीवको स्वरूपकी पहचान करनेकी वृत्तिमें प्रेरित करती है, और परिणामतः स्वरूपकी पहचान होती है। जो जीव बिना पहचान, ओघे-ओघे स्वरूपकी महिमा करके, प्राप्तिकी आशा रखता है, उसको क्रम विपर्यासके कारण अनुभव नहीं होता, ऐसा अविधिका अभिप्राय जिज्ञासाका अभाव करता है। वैसे जीवकी दृष्टि प्रयोजन पर रहती / होती नहीं है। अतः वह स्वरूपकी पहचान करनेकी दिशामें (उद्यम किये बिना) प्रायः उपेक्षित रहता है। (९९०)

※

अगस्त - १९९२

जो-जो परिणाम विषय-कषायमें लगते है, वे अशुद्ध अर्थात् मैले होते हैं, उन्ही परिणामोंको निज निरंजन तत्त्वमें लगानेसे, पवित्र और शांत - निरंजन होते हैं। निरंजन परमतत्त्वमें एकरस - समरस परिणाम नही हो तब तक ही देहकी वासना जीवको सताती है। अतः गुणनिधान परमपदका, एक ही का ध्यान कर्त्तव्य है। वही सार है और परमार्थ है। (९९१)

※

बुद्धिकी विशालता और उदारता सत्यका स्वीकार करती है। यह स्वीकार होनेमें मध्यस्थता होना अति आवश्यक है। जो जीव मध्यस्थ होता है, वह खुदके निर्णयसे विरुद्ध बातका विचार कर सकता है। स्थिर चित्तसे विचार करके योग्य-अयोग्यको समझ सकता है। यथार्थताकी प्राप्तिमें मध्यस्थताका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए मुमुक्षुको अभिप्रायपूर्वक मध्यस्थताका अवधारण करना चाहिए। मध्यस्थताके अभावमें अपने अभिप्राय विरुद्ध हकीकत सत्य होने पर भी उसका निषेध आता है। और इसके कारण सहज असरलता हो जाती है और निष्पक्षरूपसे विचार करनेकी योग्यताकी हानि होनेसे अयथार्थ निर्णय लेनेमें आ जाता है। (९९२)

※

'धर्मात्माका सर्व आचरण वंदनीय ही है' - यह मुमुक्षुजीवको विस्मरण करने योग्य नहीं है। अतः इसके सम्बन्धित टिप्पणी या वैसी चर्चा मुमुक्षुओंके लिए स्व-पर अहितकारी होती है। आत्मार्थकी गौणता होकर, बाह्य-क्रियाके मतांतरमें जीव उलझ जाता है, जो योग्यताकी रुकावटका कारण होता है। यहाँ पर स्वच्छंद-महादोष उत्पन्न होता है, जिससे मुमुक्षुको भय लगना चाहिए। पुनः किसी भी दो महात्माओंके बाह्याचरणकी तुलना विषयक चर्चा करना,

है। इसप्रकारकी ज्ञानकी सूक्ष्मता 'अनुभव' संबंधित है। जैसे कि ज्ञानकी व्याप्तिका अनुभव करनेमे, ज्ञान सभी परद्रव्योंसे, देहादिसे और रागादिसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं अनुभूति स्वरूप होने पर भी, और रागादि विभाव जीवकी विकारी पर्याय होने पर भी, सिर्फ परम पारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव स्वभाव सामर्थ्यका ही अवलंबन रहता है। वही यथार्थ है, अथवा प्रयोजनकी सिद्धि / परमार्थकी प्राप्तिरूप है और तब ही अवलंबन लेनेवाली अनुभूति स्वयंका अंग है - ऐसा सैद्धांतिक ज्ञान सप्रमाण होता है, जिसमें व्यक्त पर्यायके प्रति भी उदासीनता रहती है। (४३३)

※

अनादिसे जीवको रागादि विभावका वेदन अध्यासित भावसे, मुख्यरुपसे वेदनमें आता है जो कि ज्ञानवेदनकी मुख्यता हुए बिना गौण नही हो सकता, अतः ऐसा होना आवश्यक है, फिर भी ज्ञानवेदन मुख्य होनेमें पर्यायको मुख्य करनेका यहाँ पर नही कहा गया, परन्तु ऐसा ज्ञानवेदन अखंड त्रिकाली अस्तित्वमयी ध्रुव स्वभावमें स्व-पना होते ही सहज उदित होता है। अखंड, महान, आश्चर्यकारी, अद्‌भुत स्वभावमें श्रद्धाभाव अभेद होने पर, फैल जाने पर, प्रसर जाने पर प्रसिद्ध वेदन सहज रूपसे ही गौण हो जाता है। ज्ञानस्वभावमें एकाग्र हुए परिणाम व्याप्य-व्यापकभावसे स्वरूपानुभव करते है। स्वरूप लाभ लेते हुए स्वरूप निवास करते हैं। इसीलिये सहज ही विभाव अंशसे भिन्न चल रहे वैसे (परिणाम), विभावको परज्ञेयकी तरह जानते-देखते है। इस प्रकार साधकको एक ही समयमें एक ही परिणाममे दोनो प्रकारका (भिन्न-भिन्न) अनुभव होता है। और अनाकुल स्वादके प्रत्यक्ष वेदनसे आकुलताके स्वादकी भिन्नता अनुभवगोचर होती है। (४३४)

※

जीवके परिणाम दो प्रकारसे होते है। शुद्ध और अशुद्ध। जिसमें अशुद्धता परभावभूत होनेसे हेय है और शुद्धता स्वभावभूत होनेसे उपादेय है। यह विवेक परिणाम संबंधित है। जब कि शुद्ध परिणाम स्वयं स्वभावकी उपादेयता होने पर ही उत्पन्न होते है, दूसरे प्रकारसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः शुद्ध परिणामको उपादेय कहते हुए उसमें स्वभावकी उपादेयता अभिधेय (गर्भित) है। अब जहाँ नियमसार आदि सत्‌शास्त्रोंमें परिणाम मात्र हेय (क्षायिक / पूर्ण शुद्धदशा भी) है और एक अपना परम पारिणामिकभाव स्वरूप ही उपादेय है - ऐसे वचन-कथन आते है, तो वहाँ परिणाम मात्रका अवलंबन, आश्रय, भावना, मुख्यता और दृष्टि करने जैसी नहीं है - वैसा अभिप्राय है; परन्तु ऐसे परिणाम बिलकुल होने ही नहीं चाहिये वैसे अशुद्धताकी माफिक, निषेध नहीं किया है। इस तरह हेय-उपादेयकी भिन्न-भिन्न मर्यादा

धारणासे निश्चित हुई बातकी सम्मति प्राप्त (Confirm) करनेके लिए, उस पद्धतिसे भी प्रश्न कर्त्तव्य नहीं है। उस प्रकारसे प्रश्न चर्चा करनेमें खुदकी बातमें 'मै जानता हूँ' - ऐसे भावका पोषण होता है और उसके ऊपर ज्यादा वज़न चला जाता है, जो अटकनका कारण होता है। ऐसा होनेसे सच्ची धारणा होने पर भी वहाँ अयथार्थता उत्पन्न होती है। ऐसे प्रसंगमें ज्ञानी सच्ची धारणाका भी निषेध (अयथार्थतासे बचानेके लिए) करते हैं, जो योग्य ही है। तब सच्ची धारणाका प्रत्युत्तर अनुकूल नहीं मिलनेसे, प्रश्नकारको प्रायः असमाधान होता है, और इसके कारण उत्तरदाताके प्रति बहुमान नहीं आता या घटता है। यदि उत्तर मिलने पर खुदकी पुछी हुई बात पुष्ट होगी तो उस पर वज़न (जानकारी पर वज़न) बढ़ जानेसे नुकसान होगा - (ऐसा ज्ञानी जानते हैं।) इसलिए उक्त प्रकारकी प्रश्न पद्धति ही छोड़ने योग्य है। (१००४)

✻

तत्वज्ञानका अभ्यास आत्मस्वरूपके श्रद्धान हेतु करनेमें शुष्कता नहीं हो जाये, इसके लिए परिणामोंमें भावना-भावुकता-आत्मरस होना आवश्यक है। अतः स्वाध्याय भावना प्रधान होना चाहिए। वास्तवमें तो भावना-भावुकता-आत्मरस स्वाध्यायके अंगभूत सहज-स्वाभाविक होने चाहिए। जिसके कारण श्री तीर्थंकरदेव अथवा श्री गुरुवादिक महापुरुषोंके अलौकिक गुणोंका महिमारूप श्रवण, कीर्तन होने पर विनय, पात्रता आदि गुण प्रगट होवे।

ज्ञानीपुरुषको भी, महा मुनिराजको भी, निश्चय दृष्टिका ज़ोर और आत्मस्वरूपकी बलवान भावनाके साथ देव-गुरुकी भक्तिके तीव्र भावुकतामय / आत्मरसमय परिणाम देखे जाते हैं और वह सुसंगत है। अन्यथा विसंगतता जाननी चाहिए। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' और 'श्री नियमसार' परमागम इसके प्रगट दृष्टांत हैं। दोनों शास्त्रोंमें निश्चयके तीखे वचन और परम भक्तिभावका सुभग संगम देखने मिलता है और उक्त सुसंगतताका मार्गदर्शन प्राप्त होता है। उपलक्षणसे - जहाँ उपदेश / स्वाध्यायकी यथार्थ प्रणालिका प्रवर्तित हो, वहाँ दानादिका समर्पण सहज होता है। उसके लिए याचना नहीं करनी पड़ती। तात्पर्य यह है कि यथार्थ तत्त्व निरूपण हो वहाँ भावना प्रधानताके कारण, मुमुक्षुजीवको समर्पणबुद्धि सहज उत्पन्न होती है। शुष्कतामें समर्पणका अभाव होता है। (१००५)

✻

सितम्बर - १९९२

आत्मभावना :- मैं ज्ञानमात्र हूँ, वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ, प्रत्यक्ष अनन्त सुखधाम हूँ, ध्रुव - शाश्वत परम शांत सुधामय रस-कंद हूँ, अव्याबाध परम आनंद स्वरूप हूँ, केवल निर्विकल्प

इसे सत्संग कहनेमें आता है, परन्तु वर्तमानकालमें इसकी दुर्लभता बहुत है, इसलिये आत्मार्थी जीवों, समगुणी जीवों, एक ध्येयवाले जीवोके संगको प्रायः सत्संग कहना योग्य है, फिर भी प्रायः चार विकथा रहित, सत् स्वरूप और उसकी प्राप्ति संबंधित विचारणामें ही उसकी समाप्ति हो जाती है, उसमें गुण-दोषकी भी अनेक प्रकारसे विचारणा होती है लेकिन इसके बावजूद भी परस्पर एक-दूसरेके दोषोंका गुणदृष्टिसे विचार करनेकी पद्धतिका प्रायः अभाव रहता है, तब तक सरलताकी क्षति रहती है, अथवा तब तक निष्पक्ष होकर सत्संग करनेमें नहीं आता है और (साथमें) थोड़ा या बहुत स्वच्छंद भी चालू रहता है, और तब तक सत्पुरुषके योगमें भी उनकी पहचान नही हो सकती। जब बात ऐसी ही है तो अप्रगट सत् - स्वयंके स्वरूपको पहचानना तो बने ही नही, यह सहजरूपसे समझमें आये ऐसा है। (४३९)

※

"ज्ञानीपुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उमंगी होना और उनकी आज्ञामे सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिसे वर्तन करना - इसे श्री तीर्थंकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते है" (श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - ३९७) इससे स्वाभाविकरूपसे ऐसा फलित होता है कि ज्ञानीपुरुषकी अवज्ञा बोलना, वैसे प्रसंगका अनुमोदन होना - यह जीवका अनंत संसार बढ़नेका कारण है। तथापि प्रायः ऐसा बनता है कि जीव ओघसंज्ञासे ज्ञानीपुरुषके गुणगान आदि प्रवृत्तिभावसे तो परिणमन करता है परन्तु सरलता और स्व-पर हित संबंधी परम उपयोगदृष्टिके अभावके कारण प्राप्त सत्संगकी अप्राप्त फलवान संज्ञासे उपासना करता है, जिससे परमयोग अयोगके बराबर हो जाता है। (४४०)

※

जिसका दर्शनमोह आत्मकल्याणकी अंतरकी भावनाके कारण मंद हुआ है, वैसे जीवका (ही) सजीवनमूर्ति आत्मज्ञानस्वरूप सत्पुरुषके द्वारा श्रवण प्राप्त हुआ ऐसा जो बोध है उसके प्रति एकलक्षसे प्रवर्तन होता है, एक ध्यानसे प्रवर्तन होता है, एक लयसे / लगनसे प्रवर्तन होता है, एक उपयोगसे - जागृति उत्पन्न होकर प्रवर्तन होता है, और उतरोत्तर बढ़ते हुए परिणाम-भाव श्रेणीमें आना बनता है। ऐसी अपूर्व महिमा, होनेवाले अनंतलाभका भासन होनेसे आती है, कि जिससे अन्य सर्व वृत्तिओंमें 'प्रेम' मिट जाता है, और तभी, एवं तो ही, बोध परिणमित होता है, अन्यथा बोध मिलने पर भी परिणमित नहीं होता। उस प्रकारसे अपूर्व महिमा आने पर अवश्य जीवका कल्याण होना समीप ही है - यह निःसंदेह है। (४४१)

※

आत्म-कल्याण वांच्छु - सुबुद्धि जिसे प्रगट हुई है, वैसा मोक्षार्थी जीव अपूर्व जिज्ञासासे अपने मूल स्वरूपको अंतरमें खोजता है। क्षतियुक्त योग्यताके कारण अंतर खोजमें सफलता मिलनेमें यदि देर लगे तो अत्यंत बेचैन होकर, निज परमात्माके वियोगमें तरसता है। जिससे क्षति / अयोग्यता दूर होकर, ज्ञानक्रियामें (अनुभूतिमें) अनुभूतिस्वरूप सम्यक् स्वभाव जो वेदनसे द्योतमान है, उसका स्वयंके रूपमें लक्ष होता है। अनुभवसे ही (विकल्प-विचारसे नहीं) जिसकी महानता मालूम पड़ सकती है, ऐसे निज परमपदका परम पुरुषार्थ द्वारा आराधन कर्त्तव्य है। सम्यक् स्वभावकी एकरस सम्यक् अवस्था पर पहुँचनेका यह अनन्य कारण है।
(१०१५)

※

आत्मा सुखका अक्षयपात्र है। प्रदेश-प्रदेशमें अनन्त सुख-शांति भरे हैं। कितना भी सुख पीया जाये, परन्तु सुखधाममें से ज़रा सा भी कम होनेवाला नहीं है। सिर्फ जीवको इस विद्यमान सुखकी प्रतीति होनी चाहिए।

भ्रांतिगत्‌रूपसे जिन-जिन प्रसंगोंमें और पदार्थोंमें सुख भासित होता है, वह स्थिति आत्मामें सुखकी प्रतीति होनेमें बाधक है। सत्पात्रता आने पर भ्रांतिमें फर्क पड़ता है - कमज़ोर होती है और परभावमें दुःख लगना शुरू होता है। स्वरूप-सुखकी खोज भ्रांतिको कमज़ोर करती है। तब सुखको खोजनेवाला ज्ञान निजावलोकनमें 'ज्ञान स्वयं सुखरूप है' - ऐसी 'सुख-खान''का पता कर लेता है। अवलंबनभूत ऐसे सुखनिधानके अस्तित्वको देखते ही - ग्रहण करते ही, सुखप्राप्तिकी अनादिसे अपेक्षित वृत्ति ज़ोर करने लगे यह सहज और स्वाभाविक है - इस प्रकार आत्मिक सुखकी उपलब्धि है। (१०१६)

※

अनित्य और मलिन भावोंमें एकत्व होनेसे, नियमसे भय उत्पन्न होता है - वृद्धिगत् होता है। परन्तु पवित्र नित्य स्थिर निज चैतन्य स्वरूपमें एकत्व होने पर निर्भयता छा जाती है। 'मै ध्रुव चैतन्य वज्र हूँ' - जिसमें पर्यायका भी प्रवेश नहीं है, तो अन्य द्रव्य-भावका तो विकल्प ही कहाँ है ? निज परमात्माके दर्शन होते ही विभाव कम (शांत) हो जाते हैं। ऐसा मै अद्‌भुत परम निर्विकार चैतन्य रत्न हूँ। (१०१७)

※

द्रव्यानुयोग - चारों अनुयोगमें परम गंभीर है। वीतराग प्रभुने वीतरागी प्रवचनका रहस्य उसमें भरा है। मुमुक्षुजीवको धर्मात्माके प्रति परम विनयसे प्राप्त यथार्थता, निर्मलता और दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे द्रव्यानुयोगमें प्रवेश पानेकी क्षमता / योग्यता प्राप्त होती है। एकत्व - विभक्त

कुशलता सचमुच वंदनीय है। यद्यपि तीनोंकालमें सभी ज्ञानियोंका इस प्रकारका आचरण सनातन आचरण होता है, परन्तु जो-जो (ज्ञानी) विकट परिस्थितिमें संसार परिक्षीण करते हैं, तब वहाँ स्वभाव विशेषरूपसे प्रकाशित होनेसे, तो वैसा प्रसंग स्व-पर उपकारी होता है; इसलिये स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) है, परम प्रेमसे इसकी उपासना करने योग्य है। (४४४)

⁂

मै कौन हूँ ? कैसा हूँ ? - इसका बेभानपना होनेसे, जीव शुभ कर्मप्रकृतिको (उसके उदयको) अच्छा समझकर (अभिप्रायपूर्वक) राग एवं संसर्ग करता है, और बंधनमें पड़ता है। यदि स्वयंकी अनंत महानता, सामर्थ्य आदिका भान हो जाय तब तो, जड़ द्रव्य-भावमें व्यामोहित न हो, इतना ही नहीं पर्यायबुद्धि भी न रहे, जिसके कारण जड़ द्रव्य-भाव चाहे कोई भी स्वांग (भेष) धारण करे, फिर भी उससे भिन्नता एवं तुच्छता ही रहती है, तथापि पर्यायबुद्धिके अभावके कारण कोई भी पर्याय संतोष - मिथ्या संतोषका कारण नहीं बनती। (४४५)

⁂

द्रव्य-वस्तुके स्वरूपका (आत्माका) द्रव्यानुयोगकी अपेक्षासे सूक्ष्म विचार :-

जीव द्रव्यके अनन्त गुण - सर्वगुण असहाय, (क्योंकि हरएकको अपनेमें अपनी अनन्त शक्तिरूप सामर्थ्य है।) स्वाधीन, (क्योकि परिणमन करनेमें किसीकी सहायकी जरूरत नहीं है।) और शाश्वत है। प्रत्येककी गुण परिणति उस - उस गुणके लक्षणसे सभीको भिन्न-भिन्न सिद्ध/प्रसिद्ध करती है। उस परिणतिमें गति, शक्ति, जाति अपने-अपने गुण अनुसार होते है। दृष्टांतरूपसे -

| | गति | शक्ति | जाति |
|---|---|---|---|
| (१) ज्ञानगुण : | ज्ञान/अज्ञान | स्वपर प्रकाशक | सम्यक्/मिथ्या |
| (२) चारित्रगुण : | संक्लेश/विशुद्धि | स्थिरता/अस्थिरता | मंद/तीव्र |

ऐसा है फिर भी प्रत्येककी सत्ता द्रव्यप्रमाण है अर्थात् एक द्रव्यकी एक अभेद सत्तामें सभी मौजूद है। इसलिये प्रत्येक गुणको अनंतगुणका रूप मिलता है - होता है और उस एक - एक गुणसे दूसरे सभी गुणोंकी सिद्धि होती है। इसलिये एक-एक गुण दूसरे सभी गुणोंकी अपेक्षा रखते हैं। दृष्टांतरूपसे जैसे चेतनागुणने सर्वगुणोंको चेतनरूप किया। अगुरुलघु गुणसे सर्व गुणोंको भी अगुरुलघुका रूप है। अगर प्रमेयका प्रमेयत्व सर्व गुणोंको नहीं होता तो सर्वगुण अप्रमाणताको प्राप्त हो जाते। (४४६)

⁂

जैसे किसी आदिवासीको मानो चिंतामणी रत्न मिला, फिर भी वह इसके प्रकाशमें सिर्फ

परलक्षका निषेध करनेके हेतुसे 'वास्तवमें पर जाननेमें नहीं आता' - ऐसा निजमें निजका ग्रहण करानेके हेतुभूत ज्ञानीपुरुषोंका यह प्रयोगका विधान है, अध्यात्म पद्धतिके इस कथनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण कर्त्तव्य है (अन्य प्रकारसे नहीं)।

जिनेश्वरका सनातन मार्ग सदा जयवंत वर्तो !! (१०२८)

※

अध्यात्मका विषय परम गंभीर है, उसका अगंभीरतासे कथन करना अथवा श्रवणकालमें अगंभीरतासे सुनना यह जीवका बड़ा दोष है, उसमें गुप्त अनादर / उपेक्षा (स्वच्छंद) हो जाता है, ऐसा जानते हैं। अतः हे जीव ! स्वाध्यायके वक्त गंभीर उपयोग रख।

संसारमें एक मरण-प्रसंगमें भी तद्योग्य गंभीरता रखी जाती है, तो यह अनन्त मरणके निवारण प्रसंगकी विचारणाके विषयमें अगंभीर परिणामसे प्रवर्तन करना, यह बालबुद्धि नहीं है क्या ? ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञासे यह दोष सहजाकाररूप होता है।

परम गंभीर अध्यात्मतत्त्वके प्रतिपादक श्रीगुरुकी गंभीर गुरू-गिराके प्रति अगंभीर वर्तना-उसे स्वच्छंदका प्रकार समझने योग्य है। वह शास्त्र और गुरुका अविनय है। दर्शनमोहके आवरणका कारण है। (१०२९)

※

'राग तो पर्यायदृष्टिमें है, अज्ञानी पर्यायदृष्टि होनेसे - उसको राग है। स्वभावदृष्टिमें राग नहीं है, इसलिए ज्ञानीको राग नहीं है।' - पू. गुरुदेवश्री।

उक्त वचनामृतमें बहुत गंभीरता / गहराई है। पर्यायमात्रका अपनेरूप अवधारण - उस रूप पर्यायदृष्टिके कारण, पर्यायमें रागरूप खुदका अनुभव हो रहा है। अतः यह मिथ्या अनुभवरूप अज्ञान जिसे वर्तता है, उसे राग है, वह रागी है, क्योंकि खुदको रागी मानता है। हर्ष-शोक पर्यायदृष्टिमें है। परन्तु पर्यायमें रागांश होते हुए भी, जिस स्वभावदृष्टिवंतको उसमें अपनत्व - अपना अस्तित्व अनुभवमें नहीं आता है, राग जिसे परज्ञेयरूप मालूम पड़ता है, ऐसे ज्ञानीको अपनेमें राग नहीं है, अतः स्वभावदृष्टिसे राग नहीं है। दृष्टि रागको कबूल नहीं करती। उन्हें हर्ष-शोक नहीं है। (१०३०)

※

'किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं है।' - (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक - ४६०)

ऐसा होते हुए भी जीव संसारमें अनेक कारण प्राप्त होने पर क्लेशित होता है। इसका कारण अविचार और अज्ञान है। अज्ञानसे, मोह और दुर्गतिके दुःख उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानमयभाव वह अविकार आत्ममय भाव है। वैसे भावमें रागादि विकार करनेका स्वभाव नही होनेसे, मोह भावमें (अचारित्र भावमें) निरुत्साह रहता है, अर्थात् उत्सुकता तो नहीं होती परन्तु वह भाव आत्माको स्वभावमे स्थापित करता है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि स्वरूपका अज्ञान ही आत्माको रागादिभावमें प्रेरित करता है - उत्साहित करता है, ज्ञायकपनेमे रहनेमें भाव प्रतिबंध नही है। पुन: वह ज्ञानमयभाव रागद्वेषके प्रवाहको रोकनेवाला भाव है, और द्रव्यकर्मके प्रवाहका अवरोधक है।
(४५०)

※

मुमुक्षुजीवके लिये धर्मात्मा-ज्ञानीपुरुषका जीवन अर्थात् परिणमन समझना, सूक्ष्म अंतरंग परिणमनको समझना, उपकारी है; सत्पुरुषकी उदयभावमें नीरसता और उस नीरसताका आधार कारण ऐसा आत्मस्वरूपका अवलंबन, उस अवलंबनको लेता हुआ श्रद्धाभाव, उस अवलंबनको लेता हुआ ज्ञानभाव और उन दोनोके साथ प्रवर्तमान पुरुषार्थ अर्थात् ज्ञान व श्रद्धाका जोर जो कि गुणका अथवा स्वभावका परिणमन है कि जिससे गुण-स्वभावका प्रत्यक्ष दर्शन होता है - इस प्रकार सन्मार्ग पर विचरनेवाले, स्वयंके मार्ग पर स्वयंके कारण जो चले जा रहे है उनका दर्शन - दर्शन करनेवालेको, उनके दर्शनमात्र भी आराधनाका कारण होनेसे तथापि वह अपूर्व हितरूप होनेसे - उस परम सत्संगकी महिमा महापुरुषोंने ग्रंथ - ग्रंथोंमे गायी है जो यथार्थ है - अत्यंत यथार्थ है।
(४५१)

※

सत्संगके दौरान साधर्मी मुमुक्षुओंको एक-दूसरेकी प्रशंसासे और अपनी आत्मश्लाघासे दूर रहना चाहिये, इसके उपरांत सरलतासे अपने दोषोंका निवेदन करते रहना चाहिये, कि जिससे व्यक्त किये हुए दोषसे मुक्त होनेके उपाय संबंधी सुविचारणा - परस्पर विमर्श चले; और विशेष सरलतापूर्वक, उन्मार्ग पर जानेवाले साधर्मीको, मुक्त होकर, खुल्ले दिलसे दिशासूचन, वात्सल्यभावपूर्वक चेतावनी यदि शुद्ध हितेच्छु भावनासे कहनेमें या करनेमें आये तो उसको तो आगे बढ़नेमें मानो सज्जनका (सत्+जन) संग मिल गया हो ऐसा सद्भाग्य / सौभाग्य गिनना चाहिये। इसप्रकार प्राप्त सत्संग मुमुक्षुजीवको महा उपकारी है।
(४५२)

※

पूर्वपुण्यके योगसे प्राप्त सत्संगमें, जागृति / आत्महितकी सावधानी उत्पन्न होनेसे, यथार्थ कार्यपद्धतिमें पूर्णताकेध्येयपूर्वक आनेसे अवश्य आत्महित सधता है। लेकिन प्राय: जीव सत्संगका मूल्य समझनेमें (ही) भूल करता है । इसके कारण प्राप्त सत्संगको निष्फल होनेरूप संज्ञासे विसर्जन करता है। जब कि जिसको सत्संगका मूल्य समझमें आता है, और सत्संगकी भावना-

सूक्ष्म, यथार्थ विधिसे अनजान होता है, क्योंकि विचारकी पहुँच ज्ञानसामान्य या जहाँ ज्ञानवेदन है, वहाँ तक नहीं है। इतना ही नहीं अवलोकनके बिना परलक्ष मिटनेकी दिशामें कोई भी वास्तविक प्रक्रिया शुरू नहीं होती। अतः सर्व जानकारी परलक्षी होती है।

उसमें न्यायादि आगम अनुकूल होने पर भी यथार्थता उत्पन्न नहीं होती, अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होने पर भी, भाव भासित नहीं होता। अतः 'स्वलक्षी अवलोकनमें' बहुत गंभीरता है। भावभासन बिना सन्मुखताका पुरुषार्थ शुरू नहीं होता। (१०४०)

※

अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होनेसे, त्रिकाली परमपारिणामिक ज्ञायक स्वभावका, आश्रय-अवलंबन - लक्ष - अंतर्मुखता-इत्यादि होनेमें इसके हेतु, न्याय, युक्तियाँ, आगम-आधार इत्यादि - समझना और समझानेका बन सकता है। परलक्षी ज्ञानमें इतनी मर्यादा तक परमार्थका विषय संभवित है। परन्तु यथार्थता तो स्वलक्ष होने पर ही आती है, वहाँ तक उक्त विषयका भाव भासित नहीं होता। ऐसी स्थितिमें प्रायः यथार्थता मान लेनेका बन जाता है, जो यथार्थताको प्रतिबंधक है। यथार्थता सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अंग है, यानी कि पूर्वभूमिका है - यह विषय सूक्ष्म है, क्योंकि यथार्थता आये बिना इस समझमें कल्पना होकर, कल्पित भावमें संतोष - मिथ्या संतोष / समता आती है। परन्तु स्वभावकी अपूर्व रुचि और विभावकी अरुचि प्रगट नही होती। फलतः योग्यता रुक जाती है। (१०४१)

※

आत्मार्थी प्रारब्धके प्रसंगमें अपनत्वका रस कम करनेके लिए जागृत होता है। ऐसी जागृति निज कल्याणकी बलवान भावना वश उत्पन्न होती है। गुणजिज्ञासापूर्वक सत्संगका महत्त्व भासित होना, सरलता और वैराग्य - उपशम आदि यथार्थ भूमिकामें हो, तो आत्मस्वरूपका विचार - खोज यथार्थरूपसे चलते है, स्वभावकी सम्यक्ताके (सूक्ष्म) स्वरूप तक उपयोग पहुँच पाता है। ज्ञानीपुरुषकी दशामें स्वभावकी सम्यक्ता प्रगट है। जिसके द्वारा यदि स्वरूपकी अभिमुखता और अप्रतिबद्धताकी 'प्रयत्नदशा' समझमें आये, तो आत्मार्थ समझमें आये; और ज्ञानी महात्माकी अपूर्व भक्ति प्रगट होवे। (१०४२)

※

स्वरूपकी भावना निरंतर रहे, वृद्धिगत होती रहे, तो अवश्य स्वरूपकी प्राप्ति होती ही है। भावनासे दर्शनमोह और ज्ञानका विपर्यय-मल इत्यादि अवरोध दूर होते है, अथवा गल जाते हैं, तब उपयोग द्वारमें चैतन्यका प्रकाश दिखता है। आत्मामें सहज प्रत्यक्षता अनन्त है - उसका दर्शन - वही चैतन्यप्रकाश है। जो भावनाके द्वारा प्राप्त हो सकता है। सच्ची

है। ऐसे अतुल आत्मस्वरूपकी अवहेलना करके अन्य द्रव्य-भावको तुल्य देना वह महा अविवेक है।

(४५६)

*

प्रगटज्ञानका स्वरूप - ज्ञेय निरपेक्ष - जाननक्रिया है। अतः वैसे अनुभवगोचरपनेके कारण जाननक्रियाके आधारसे ज्ञानमें / ज्ञानमात्रमें 'स्व'पना हो सकता है। अर्थात् वर्तमान ज्ञानक्रिया अपनेमें, अपनेसे, अपने आधारसे ज्ञानको 'स्व-रूपमें' ग्रहण कर सकती है। समझानेके लिये ऐसी भेद विविक्षासे कह सकते हैं - जान सकते हैं। वस्तुतः अर्थात् तत्त्वतः ज्ञान एवं जाननक्रिया भिन्न-भिन्न नही होनेसे ज्ञान ही स्वयंका आधार है, उसको स्वसंवेदनके लिये किसीके आधारकी जरूरत नहीं है। - ऐसा अंतर अवलोकनसे जानने पर अनादि रागकी आधारबुद्धि दूटती है। परकी आधारबुद्धि भी मिटती है, तब भेदज्ञानका उद्भव होता है, जिससे परभावके कर्तृत्व और एकत्वका नाश होता है।

(४५७)

*

उपरोक्त प्रकारसे भेदज्ञानका उद्भव होने पर वर्तमानमें वर्तता हुआ ज्ञान, समस्त ज्ञेयोंसे भिन्नपने वर्तता हुआ और स्वयं ज्ञानमयपने वर्तता हुआ, एकत्वको चेतता है - अनुभव करता है। निजस्वरूपकी महिमामें रत ऐसे सत्पुरुषों, इसप्रकार अध्यात्मकी मस्तीपूर्वक आत्माका ध्यावन करते हुए, सर्वसंगसे विमुक्त होकर कर्मक्षय करते है।

नमस्कार हो उन्हें !! उनके पवित्र मार्गको ! त्रिकाल नमस्कार हो !!

तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान निरंतर भाने योग्य है। मुक्तिका एकमात्र उपाय यह भेदज्ञान है।

(४५८)

*

अनंतकालमें सर्वदा जीवने खुदके कल्याण करनेके उपाय सम्बन्धित उपेक्षाका ही सेवन किया है। जीवकी अंतरकी गहराईसे छूटनेकी तैयारी अभी तक कभी हुई नही अथवा जीवने की नहीं है। वह खुदका महान अपराध (सबसे बड़ा दोष) है। ऐसे स्वयंके अपराधका अंतरसे पश्चाताप हुए बिना सच्ची आत्मार्थीता प्रगट नही होती; और ऐसा हुए बिना जीव ऊपर-ऊपरसे कल्याण होनेकी आशासे बाहरकी क्रियामें ज़ोर करता है, परिश्रम करता है, परन्तु कल्याणकी दिशामें एक अंश भी वह आगे नही बढ़ सकता। प्रायः जीव जो शुरूआतमें भूल करता है, वह असत्संगमें सत्संगकी कल्पना है। अगर परीक्षाबुद्धिसे जीव इस विषयमें विवेक नहीं कर सकता है, तो वास्तवमें उसको आत्महितका विचार उत्पन्न हुआ ही नहीं है; ऐसा लगता है। सच्चा आत्मार्थी असत्संगमें एक पल भी खड़ा नहीं रहता / रहना नहीं

यह क्रम है। अनादिसे अवगुणके प्रति जीवका पुरुषार्थ चल रहा है, जो कि वास्तवमें नपुंसकता है अथवा सिर्फ गुस्सा होना वह नपुंसकता है। आत्मजागृति अथवा समाजजागृतिके हेतु पुण्यप्रकोप सवीर्य होता है, पौरुषी होता है। अवगुणके सामने आत्मा तीव्ररूपसे व्यथित हो जाये, तो वह सद्‌गुण है, दोष नहीं। दंभके दौर पर राचनेवाले, प्रभावनाके नामसे प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले, सूईका दान करके सोनेकी चोरी करनेवालोंके प्रति किये गये कटाक्षको कटुता नही गिने, बल्कि उसमें करुणता होती है। संतोंकी वाणीमें भी वह देखनेको मिलता है। (१०५३)

※

गुण और गुणवानके प्रति बहुमान वह भक्तिका सच्चा स्वरूप है। ऐसी सच्ची भक्ति गुणप्राप्ति और ज्ञानप्राप्तिका हेतु है। इस भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मलज्ञान मोक्षका हेतु है। भाषाज्ञानसे या विद्वत्तासे निर्मलज्ञानकी कक्षा ऊँची है, अलग प्रकारकी है। (१०५४)

※

अपरमार्थके विषयमें परमार्थका आग्रह दृढ़ होनेसे (अथवा) (दर्शनमोह वृद्धिगत होनेसे), सम्यक्‌बोध प्राप्तिके योगमें भी, उस बोधका प्रवेश हो, वैसा भाव उत्पन्न नहीं होता है, ऐसी दिक्कत मुमुक्षुजीवको उपरोक्त कारणसे हो तब, परम दीनभावसे परमात्माके प्रति याचना कर्त्तव्य है कि 'हे नाथ ! इस परिभ्रमणसे निवृत्तिका सर्वोत्तम उपाय ऐसा जो सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग - उसका शरणभाव मुझे उत्पन्न हो - ऐसी कृपा कर।' इस प्रकारके भावसे भरे हुए बीस दोहे परम कृपालुदेवने श्री लल्लुजीको बोधरूपमें दिये थे, जिसकी गुण आवृत्तिके हेतुसे आत्मार्थी जीवको अनुप्रेक्षा कर्त्तव्य है। (१०५५)

※

जिसने अंतःतत्त्व - निज पदार्थको देखा नहीं, अंतर्मुखी मार्गको जाना नहीं, ऐसा जीव अंधत्वसे उस पदार्थको और उसकी प्राप्तिके मार्गको दिखा नहीं सकता। इसके बावजूद भी कल्पनासे अपरिणामी रहकर मार्गको कहे, तो महा अनर्थकारी दशा खुदकी होती है - ऐसा विचार करके दूसरोंको उपदेश करते वक्त, उपरोक्त विषयकी गंभीरता लक्षमें रखने योग्य है। इस वजहसे मुमुक्षुजीवको जिनवाणीके आश्रयमें रहकर, उपदेशक नहीं बनकर, सत्संगकी उपासना कर्त्तव्य है, गुणजिज्ञासु बनकर रहना (उचित है)। (१०५६)

※

अन्य द्रव्य-भावमें तादात्म्यपना भासित होता है, वह जन्म-मरण और परिभ्रमणका कारण है, जिसकी निवृत्ति स्व-स्वरूपका लक्षणसे, गुणसे और वेदनसे तादात्म्यरूपसे अनुभव करनेसे सहज हो सकती है। परमें स्वपनेकी भ्रांति - वही संसार है, वही सर्व दोषोंका मूल है।

यद्यपि जीववस्तुका निर्णय करनेके लिये, निर्णयकी भूमिकामें, अन्वेषण कालमें, वस्तुके द्रव्य गुण, पर्याय आदिरूप विचार करना (ठीक है), परन्तु अनुभवके कालमें वस्तु - आत्मा स्व प्रत्यक्ष होनेसे सर्वतः एक ज्ञानरूप ही अखण्डभावसे, कि जिसमें समस्त भेद निरस्त हुए है वैसा अनुभवमें आता है (अनुभवके कालमें गुण-पर्यायके भेदका प्रयोजन भी नहीं है) - ऐसे यह ज्ञानपद साक्षात् मोक्ष स्वरूप ही है। स्वयं संवेद्यमान है, और वह ज्ञानगुण (ज्ञान ज्ञानका अवलंबन ले वैसा ज्ञानगुण) से ही प्राप्य है। (४६२)

❋

कर्मोदयमें नया बंध करनेकी शक्ति (निमितत्व) है। अतः अज्ञानदशामे इष्ट-अनिष्टबुद्धि होनेसे, परिणाममें कषायशक्ति (रस) विद्यमान रहती होनेसे, कर्मोदयकी 'बंध करनेकी शक्ति' (विषतुल्य) वैसी की वैसी बनी रहती है। जब कि ज्ञानीको भोगके प्रति हेयबुद्धि है, इसलिये भोगके परिणाममें कषायशक्ति (रस) का अभाव होनेसे, कर्मोदयकी 'बंध' करनेकी शक्तिका नाश होता है। रागमें एकत्वका अभाव - तद्रूप भेदज्ञानके महा आश्चर्यकारी सामर्थ्यसे कर्मोदयकी बंध करनेकी शक्तिका घात कर देता है (जैसे वैद्य जहरकी शक्तिको विद्याके बलसे रोक लेता है वैसे।) आत्माके आनन्द-अमृतका तीव्ररस, कषायरसके जहरका घात कर देता है जिसके कारण उदय कालमें कषायरस सहजरूपसे उत्पन्न (ही) नहीं हो सकता। (४६३)

❋

ज्ञानदशामें अपना ज्ञान स्वरूप, अभेद, एक, शाश्वत सत्‌रूप, नित्यप्रगट, अभेद्य, स्वतः सिद्धपनेसे अचल अनुभवमें आता है। इसलिये ज्ञानी सर्व प्रकारके भयसे रहित, निर्भय होते है और अनुभवके बलसे निःशंक होते है। अतः वे समस्त कर्मोका घात करते है और बंधमें भी नहीं आते। सम्यक्‌दर्शनके साथ ही निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ता, उपगुहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना; जो कि सम्यक्त्वके अंगभूत है, वे उत्पन्न हो जाते हैं। अखण्ड ऐसा सम्यक्त्व सर्वांग क्षति रहित होता है, अर्थात् आठमें से एक भी अंग कम नहीं होता।

१/२ चित स्वरूपलोकके अनुभवके कारण --- इस लोकका भय, परलोकका भय नहीं होता।

३. अभेद ज्ञानरसके वेदनसे --- वेदनाभय नही होता।
४. सत्-पनेके कारण --- अरक्षा भय नहीं होता।
५. अभेद्यपनेके कारण --- अगुप्ति भय नहीं होता।
६. शाश्वतताके कारण --- मृत्यु भय नही होता।

उस भय ऐसी भावी ऐसी

इनके ऐश्वर्यको व्यक्त करता है। श्री तीर्थंकरदेवने इस प्रकारके त्यागकी उत्कृष्टता प्रकाशित की है। जो सर्व जीवोंके लिए उपकारी है - उपकारभूत है। जिस-जिस प्रवृत्तिके योगमें उपयोग विशेष चलायमान होता हो, उससे छूटनेके लिए ज्ञानीका सहज उद्यम होता है। अकर्तृत्वभावसे त्याग होना इष्ट है। सम्यक्प्रकारसे प्रवर्तित त्यागमें दीनताका अभाव होता है। वीतरागताके सद्भावमें और प्रमाणमें, रागका - विकल्पका अभाव होता है, अतः रागके विषयको तद्अनुसार सहज (आर्तध्यान बिना) छोड़ सकते है अथवा छूट जाता है। उसमें प्रतिज्ञाका भाव / विकल्प निमित्त होता है। (१०७०)

✻

सर्वकार्यमें मुमुक्षुको कर्त्तव्य एकमात्र आत्मार्थ ही है। उस आत्मार्थरूपी प्रयोजनका लक्ष एवं भावना रखनी चाहिए। शुद्ध अंतःकरणसे उत्पन्न भावनामें ध्येयप्राप्ति गर्भित है। यह कारण-कार्यकी परम्पराका नियम है - संधि है। (१०७१)

✻

* परलक्षी विचारकी पहुँच ज्ञानसामान्यरूप ज्ञानवेदन - अंतरंग तक नहीं है। स्व अवलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानवेदन पकड़में आता है।

* आत्मार्थीता और आत्मजागृतिके बिना आत्मकल्याणका आशय वाणीमें व्यक्त नहीं हो सकता, अर्थात् वह आशय वक्ताकी चतुराईका विषय नहीं है।

* पदार्थ दर्शन बिना वस्तुस्वरूपका निरूपण कल्पनायुक्त और पूर्वापर विरोधी होता है; और संतुलित नहीं होता। सिर्फ आगम अभ्याससे पूर्वापर अविरोधता प्राप्त नहीं हो सकती।

* स्वरूपलक्ष हुए बिना मुख्य-गौण करनेमें यथार्थता नहीं रह पाती। भावमें हीनाधिक वज़न देनेसे नयकी अपेक्षा टूटती है और विपर्यास सधता है। (१०७२)

✻

प्रश्न :- स्वानुभूतिको आवरण करनेवाले परिणाम कौन-कोनसे हैं ?

समाधान :- अनुभवज्ञानमें परप्रवेशभावरूप देहादि अध्यास और अन्य पदार्थ (राग व रागका विषय)के प्रति अहंता-ममताके परिणाम स्वयंके वेदनको आवरित करते हैं। उक्त परिणामोंको मिटाकर उपयोग स्वभावमें परिणमन करे और ज्ञान स्वरूपपना भजे अर्थात् स्वयंका ज्ञानमात्ररूप संचेतन हो - इससे ज्ञान निरावरण होता है, अथवा शुद्ध होता है।

'ज्ञानस्य संचेतया ज्ञानं अतीव शुद्धं प्रकाशते।' (समयसार कलश-२२४) (१०७३)

✻

दर्शनमोहकी शक्ति कम होनेके लिए, सत्संगका आश्रय करनेकी ज्ञानीपुरुषोंने मुमुक्षुजीवको

कारण उसमें अविरुद्धता है। (४६६)

✻

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो पदार्थके अपने-अपने धर्म; अपेक्षित धर्मके कारण बनता है अतः उसका भी वस्तुस्थितिमें समावेश होता है और वह अनादि अनन्त है। उसमें दो प्रकार है। एक प्रकार ऐसा है कि जिसमें निमित्त मिलते ही अवश्य नैमित्तिक अवस्था संयोगमें रहनेवाले पदार्थमें पैदा होवे ही। दृष्टांतरूपसे ले तो जीवके विकारी भावके निमित्तसे वैसा ही (Degree to degree) कर्म बंध होवे। वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेयका प्रतिभासित होना-बिंब-प्रतिबिंब अनिवार्य है जैसे दर्पणमें होता है। ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमे अपवाद नहीं होता।

दूसरे प्रकारमें कर्मका उदय आने पर जीवको वैसे विभावका परिणमन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वैसे ही गुरुके उपदेश अनुसार सभी शिष्योंको एक सरीखा ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका जो अनेकान्तपना है उसका तात्पर्य अपने उपादानको सँभालना-वह है। तथापि प्रत्येक द्रव्यकी स्वकार्यके लिये संपूर्ण भिन्नता - स्वतंत्रता अबाधित है। उस बातके स्वीकारपूर्वक उपरोक्त सम्बन्धका विचार कर्त्तव्य है। (४६७)

✻

अध्यात्म और आगममें श्रद्धा-ज्ञानके विषयभूत सिद्धांत निरपवाद होते हैं, जबकि चारित्र विषयक सिद्धांतोंमें प्रयोजनकी सिद्धिके हेतु अपवादका स्वीकार किया गया है। जैसे कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनोके परिणामको आश्रय / अवलंबनके योग्य तो निज परमात्म तत्त्व ही है, उसमें अपवाद नहीं है, जब कि पूर्ण वीतरागता ही उपादेय होने पर भी मोक्षमार्गमें साधककी भूमिकानुसार रागको (जो हेयबुद्धिसे होता है उसको) व्यवहार गिनते हुए सम्मत करनेमें आया है। तब जो-जो भूमिका हो उसकी मर्यादामें होता हुआ राग सहवर्ती वीतरागताका घात नहीं कर सकता बल्कि वह खुद क्षीण होता हुआ नाशको प्राप्त होता है और वीतरागता वृद्धिगत होती जाती है। इस प्रकार सिद्धांतमें अपवाद और निरपवाद - ऐसे दो प्रकार जानने योग्य है। (४६८)

✻

मुमुक्षुजीवको तत्त्वज्ञानका अभ्यास करते वक्त स्वभावके लक्षपूर्वक, स्वभावका रस आये वही उचित है; जिससे स्वभावकी रुचि वृद्धिगत होकर स्वभावका आश्रय होनेका अवसर प्राप्त हो। अगर उस प्रकारसे स्वाध्याय न हुआ तो शब्दोंका, वचनशैलीका, स्वाध्यायके रागका, ज्ञानके उघाड़रूप विकासका, नये-नये न्यायका, कुतूहल इत्यादिका रस आये बिना नहीं रहेगा। जे

स्वरूप-प्राप्तिकी भावनाकी प्रधानता आत्मार्थीको होती है, फिर भी पर्यायका अहम् उत्पन्न न हो, यह यथार्थ भूमिकाकी विलक्षणता है। दृष्टिके विषयभूत द्रव्यस्वभावका ज़ोर होने पर भी, निश्चयाभास नहीं होता है और द्रव्य-पर्यायका संतुलन बना रहता है, अगर वहाँ 'पूर्णताके लक्षसे शुरूआत' हुई होगी तो। अन्यथा संतुलन बनाये रखना संभवित नहीं है। सत्संग यथार्थताकी प्राप्तिमें परम उपकारी है। (१०८३)

※

सत्संगमें प्राप्त बोधकी असर होनेसे, मुमुक्षुजीवके प्रकृतिदोष पर प्रथम प्रहार पड़ता है, अर्थात् प्रकृति कमज़ोर हो जाती है - यह एक शुरूआतका शुभ चिन्ह है। शुरूआतमें ऐसा फर्क यदि नहीं पड़ा तो उसे हलकेसे लेकर गौण नहीं करना चाहिए, बल्कि अति गंभीर अयोग्यता समझकर, प्रकृतिदोष हानिको प्राप्त हो उस हेतुसे उपाय करनेके लिए गंभीरतासे विचारणा कर्त्तव्य है। क्योंकि वीतरागी बोध, प्रकृतिके नाशका अमोघ शस्त्र है, उसके निष्फल जानेके बाद कोई साधन नही बचता। श्री समयसार (गाथा-३१७) में आचार्य भगवंतने कहा है कि - 'भली भाँति शास्त्र अध्ययन करने पर भी, अभव्य प्रकृतिको नहीं छोड़ता है।' कितनी गंभीर बात कही है ?। प्रकृत्ति नहीं छूटती हो उसके लिए। गुणग्रहणरूप सरलताके अभावमें ऐसा बनता है। जहाँ सरलता नहीं, वहाँ मध्यस्थता कहाँसे होगी ? होती ही नहीं। (१०८४)

※

प्रश्न :- ज्ञानका पाचन (परिणमन) किसे होता है ?

उत्तर :- जिसने जन्म-मरणसे छूटनेका निर्धार किया हो और इससे जिसका कषायरस मंद हुआ हो, इसके अलावा रागरस घटनेसे विरक्ततारूप अंतर वैराग्य जिसे उत्पन्न हुआ हो; ये दो प्रकारकी दशा, ज्ञानका पाचन होनेमें पाचकरस जैसा काम करती है। साथ ही साथ तत्त्व और गुणको ग्रहण करनेकी तत्परतारूप सरलता और सत्या-सत्यकी तुलना करनेके लिए मध्यस्थता - निष्पक्षपातता जिसमें हो, उसे आत्मार्थीपना उत्पन्न होता है। अंतर निरीक्षणसे इन भावोंके सद्भावको समझना चाहिए। (१०८५)

※

जिस सत्-शोधक जीवको जब प्रत्यक्षयोगमें ज्ञानी पहचानमें आते है, तब उसे ज्ञानी रागादिसे भिन्न परिणमन करते हुए दिखाई देते है। रागांश होते हुए भी इससे भिन्नरूप चल रहे पुरुषार्थमें जिसे सम्यक्त्वका - सम्यक् स्वभावका दर्शन होता है, वह नियमसे क्रमशः आगे जाकर ज्ञानी बनता है। सूक्ष्म और निर्मल स्वभावके दर्शन तथारूप निर्मल व सूक्ष्म उपयोगसे हो सकता

प्रकृत्ति स्वभावसे निवर्तित होनेसे, शुद्ध ज्ञानमय 'स्व'का, एकका ही 'मैं' पनेसे अनुभव करता हुआ, उदित कर्मफलको भिन्न ज्ञेयरूप जानता है, परन्तु उसका 'मैं'- पनेसे अनुभव करना अशक्य होनेसे वेदन नही करता। इस तरह परिणमनके दोनों प्रकार जानकरके विवेकी पुरुषोंको विपरीत प्रकारको छोड़कर, सम्यक् प्रकारका सेवन कर्त्तव्य है।

(श्री समयसारजी गाथा - ३१६) (४७२)

※

मुमुक्षुजीवको स्वरूप चिंतवनादि परिणाम स्वरूपके लक्षपूर्वक सहज होने चाहिये, जब ऐसा प्रकार नही होता है तब 'चिंतवन - मनन कर्त्तव्य है' - उस अभिप्रायसे वह होता है। उक्त अभिप्राय / उद्देश्यसे जब परिणाम होते हैं तब लक्षके अभावके कारण उसमें ओघसंज्ञा' कल्पनादि अवश्य हो जायेंगे; जिसके कारण विपर्यास मिटनेके बजाय और वृद्धिगत् हो जायेगा। मुमुक्षुको यदि स्वरूपलक्ष न हुआ हो तो, जैसे स्वरूपका लक्ष हो, वैसे प्रयासपूर्वक स्वाध्याय चिंतवन, अंतरखोज, जिज्ञासा इत्यादि होने चाहिये, कि जिससे नया विपर्यास उत्पन्न न हो और चलते हुए विपर्यासका मिटनेका अवसर आये। इस प्रकार मुमुक्षुकी भूमिकामें अयथार्थता नहीं हो और यथार्थरूपसे अगर परिणाम प्रवृत्ति करते हो तो ही स्वानुभव तक पहुँचा जा सकता है; वरना उलटा और भी मोक्षमार्गसे दूर जाना हो जायेगा, यह खास ध्यानमें लेने योग्य है। (४७३)

※

ज्ञानदशामें ज्ञानचेतनामय परिणमन होनेके कारण, परद्रव्यका अपनेरूप (मैं पनेसे) अनुभव करनेकी अयोग्यता होती है इसलिये अशाता आदि उदयमें ज्ञानी उसका वेदन नहीं करते बल्कि शुद्धात्म स्वभावमें निश्चल ऐसे वे तो उदयको ज्ञाता भावसे मात्र जानते है। ऐसा ज्ञानीका अंतरंग परिणमन है; जो कि अलौकिक है, भक्ति करने योग्य है और वंदन करने योग्य है। उन्हे चारित्रमोहके सद्भाव अनुसार जो उदयभाव - प्रवृत्ति होती है उसके भी एक न्यायसे वे ज्ञाता है, जब कि दूसरे न्यायसे उसके नाशका उद्यम (भी) उनको रहता है। वे शुद्धनयके द्वारा स्वयंके शुद्ध स्वरूपका साक्षात् अनुभव करते है इसलिये मुक्त ही है; और इसीलिये परमभक्तिसे बहुमान करने योग्य है। (४७४)

※

उपदेशबोधकी वचनशैली उपदेशात्मक एवं आज्ञार्थ वाचक (Imperative Speech) होती है। जिसके कारण उपदेशकी प्रेरणा जागृत होकर, सरलतासे उपदेश ग्रहण करनेका बन सके। परन्तु मोक्षमार्गमें कोई भी परिणाम अगर कर्ताभावसे होता है तो उसको योग्य नहीं

* द्रव्यानुयोगके सिद्धांत वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करते है।

* करणानुयोगके सिद्धांत विभाव, विभावके फल, एवं उसके भोग्यस्थानोंका प्रतिपादन करते है।

* चरणानुयोग मोक्षमार्गके बाह्याभ्यंतर (व्यवहार-निश्चय) आचरणको एवं आचरणके क्रमका निरूपण करता है। इस प्रकार जिनागमके सिद्धांत संपूर्ण विज्ञानकी अभिव्यक्ति द्वारा, विभिन्न प्रकारके बुद्धिपूर्वक होनेवाले विपर्यासको दूर करते है। विपर्यासका अभाव होनेसे जीव स्वसन्मुख होनेके लिए योग्य बनता है।

* अध्यात्मके सिद्धांत द्वारा अध्यात्मतत्त्वमें-निज स्वरूपमें-अभेद आश्रय करानेका हेतु है। वहाँ सर्वत्र यथास्थानमें कारण-कार्यके नियम जीवके हितार्थ निरूपण किये गये है, जिसकी संकलना अद्भुत और सुव्यवस्थित है। इसी उत्कृष्टतासे इसकी शोभा है। (१०९७)

✲

यदि प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके समागम और आश्रयकी भावना जीवको नहीं वर्तती हो, तो शुद्ध अंतःकरणसे आत्महित करनेकी जीवको इच्छा ही नहीं है, यह सिद्ध होता है। अथवा प्रत्यक्षरूपसे जीव संसार परिभ्रमणसे भयभीत नहीं हुआ है। स्वच्छंदसे प्रवृत्ति करनेका वहाँ अभिप्राय है। (१०९८)

✲

असारभूत ऐसे उदयप्रसंगमें सारभूत प्रयोजनकी माफिक प्रवर्तते हुए भी, जो महापुरुष निज स्वभावमें अचल रहे, उनके भीष्म पुरुषार्थका स्मरण भी आत्मार्थीको आत्मार्थ उत्पन्न कराता है, अथवा पुरुषार्थकी प्रेरणा करता है।

बाह्यदृष्टिमें ऐसा महान पुरुषार्थ समझमें नहीं आता। महापुरुषोंका चरित्र गूढ़ पारमार्थिक रहस्यको समझनेके लिए जीवंत दृष्टांत है। यह मुख्य हेतु कथानुयोगकी रचनाके पीछे है। (१०९९)

✲

यथार्थ उपकारी अमृतपान दातार पुरुषप्रत्यक्षके प्रति अनन्यभक्तिरूप एकत्वभावना मुमुक्षुजीवको उत्कृष्ट आत्मशुद्धिका कारण है। अतः उनके समागमकी निरंतर भावना रहा करती है। (११००)

✲

अल्प व्रत भी नहीं होते हुए और चारित्रमोहके अटल उदयमें संदेह उत्पन्न हो जाये ऐसी दशामें होने पर भी, सम्यक्दर्शनका सामर्थ्य दर्शानेके हेतुसे कथानुयोगमें महापुरुषके प्रसंगोंका

होने पर भी दर्शनमोहके वशात् ज्ञानलक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावको प्रयत्नपूर्वक (प्रयोगपद्धतिसे) ग्रहण नहीं करता है। वर्तमान ज्ञानसामान्यमें सूक्ष्म अनुभवदृष्टिसे यदि स्वभावका ग्रहण करे तो नियमसे दर्शनमोहका बल नहीं चले। (४७७)

⁂

अप्रैल - १९९०

भेदज्ञान एक प्रक्रिया है जो परसे और रागसे भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्माका (स्वयंका) ग्रहण करनेकी सूक्ष्म अंतरंग अंतर्मुखी कार्यपद्धति है। यह विधिका विषय अत्यंत सूक्ष्म होनेके कारण हमेशा-हमेशा गुप्त / रहस्यमय रहा है; इसकी सूक्ष्मताका विचार कर्त्तव्य है।

स्वभाव त्रिकाल शक्तिरूप होनेसे सीधा उसका भाव-भासन नहीं हो पाता, लेकिन ज्ञानपर्यायमें स्वभावअंश जो खुल्ला है, उसका अंतरंग सूक्ष्म अनुभव दृष्टिसे अवलोकन होने पर अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव 'स्व-तत्त्व' स्व-पने प्रतिभासित होता है, तब उस ज्ञानक्रिया अर्थात् उपयोगरूप पर्यायके आधारसे, पर्याय द्वारा, पर्यायमें प्रतिभास होने पर भी अनादि पर्यायबुद्धि छूटकर द्रव्यबुद्धि / द्रव्यदृष्टि होनेकी वह प्रक्रिया है। जो पर्यायरूप वेदन प्रधान होते हुए भी, उसमें पर्यायत्व गौण होकर द्रव्यस्वभावका अवभासन होता है। यह प्रकार अति सूक्ष्म है, इसलिये गुप्त रहा है, फिर भी आत्मरुचि और सत्पात्रतासे इसकी उपलब्धि है। (४७८)

⁂

आत्मार्थी जीवको लोकसंज्ञाके परिणामसे विशेषतः सावधान रहने जैसा है। इसमें भी जब सामूहिक कार्यक्रम हो उसमें अगर दूसरोंको अच्छा दिखानेका - अथवा दूसरे लोग मुझे अच्छा दिखाये - उस प्रकारके भाव रहते हो तो आत्मार्थी जीवको अंतरंगमें खुदको पूछने जैसा - अवलोकन करने जैसा है कि, अरे जीव ! जब ऐसा परम दुर्लभ, परम सत्य सुनने मिला है ! तो अब तुझे किस-किसको खुश रखना है ? और किस-किससे तुझे खुश होना है ? और ये दूसरोंको खुश रखने और दूसरोंसे खुश होनेका कब तक करते रहना है ? हे जीव ! सत्यमार्गसे ज़रा सा भी विचलित होने योग्य नहीं है। और ऐसा अचलित रहनेका पुरुषार्थ करते हुए, जो भी परिस्थिति सामने आ जाये उसका स्वीकार करनेकी पूरी तैयारी अभिप्रायमें होनी चाहिये। इस प्रकार रहनेसे स्वयंके स्वरूपमें स्थिर होकर / रहकर, सुखी (निराकुल सुखरूप) होनेका अवसर प्राप्त होगा। (४७९)

⁂

ज्ञानका स्वभाव सहजरूपसे जाननेका है। ज्ञानसे बाह्य ज्ञेय पदार्थोंकी समीपता हो या

सर्व भावसे विराम पाकर स्वरूप समाधिमें रहना - वह द्रव्यानुयोगका तात्पर्य है। जिनशासन जयवंत वर्तो ।। (१११२)

※

प्रश्न : लक्ष किसे कहते हैं ? वह कौनसे गुणकी पर्याय है ?

उत्तर : लक्ष ज्ञानकी पर्याय है। इसके तीन प्रकार हैं। (१) प्राप्तिका अंतिम स्थान-ध्येय। जैसे कि 'पूर्णता'। सूत्र - 'पूर्णताके लक्षसे शुरूआत वही वास्तविक शुरूआत है'

(२) आश्रयभूत स्थान - जैसे कि 'स्वरूप लक्ष'। धर्मात्माका पूराका पूरा परिणमन - वचन 'स्वरूप लक्षपूर्वक' होता है।

(३) लक्ष माने उपयोग। - जैसे कि शास्त्र स्वाध्यायमें लक्ष अर्थात् उपयोग रखना चाहिए। उस वक्त दूसरे कहीं पर भी लक्ष (उपयोग) नहीं जाना चाहिए। (१११३)

※

पारमार्थिक श्रुतका विषय परमार्थतत्त्व परम पवित्र ऐसा निज स्वरूप है। जो अनन्त सुखका निधान है। जिसके अवलंबनसे मनोजय और इन्द्रिय जय होकर शुद्धात्म स्थितिकी उपपत्ति होती है। यह 'सहज प्रत्यक्ष' परमतत्त्व वीर्योल्लासका मुख्य आधार है।

वृत्ति शिथिल हो जाये तब महत् पराक्रमी पुरुषोंके अद्‌भुत आचरणका स्मरण करने योग्य है। (१११४)

※

अन्य जीवको उपकार हो वैसी, धर्म-प्रभावना योग्य, बाह्य प्रवृत्ति भी प्रारब्धयोग अनुसार शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक होनी चाहिए। निष्कारण करुणासे महापुरुषोंने परमपदका उपदेश दिया है। यह उपदेशका कार्य महान् होने पर भी अंतर आराधनामें अप्रमत्त भावसे प्रवर्तन करते-करते, ये बाह्य कारुण्यवृत्ति भी जिनकी उपशांत हुई है, वैसे महत् पुरुषकी साधनाको वंदन हो ! अंतर आराधनामें अप्रमत्तभावसे रमणता करनेवालेके बाह्य योगका सहज स्वभा सर्व जीवके प्रति दयाका रहता है। और उनका आत्मस्वभाव तो सर्व जीवको परमपदके प्र आकर्षित करनेवाला हो, इसमें कौनसा आश्चर्य ! उस प्रगट आत्मस्वभावके द्वारा अन्य तथार योग्यतावान जीवको आत्मस्वभाव प्रगट होता है अथवा स्वरूप स्थिरता प्राप्त होकर, अं परमपदकी प्राप्ति होती है। उसका मूल्यांकन किससे हो ? (११

※

सरलता, मध्यस्थता, शांतता, वैराग्य, आत्मजागृति आदि गुणोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, सद्‌वर्तनसे ज्ञानीपुरुषकी भक्ति प्राप्त होती है। इसके पहले अवगुणदशामें जो भक्तिका शु होता है वह यथार्थ भक्ति नहीं है अथवा वह ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें नहीं होनेसे ऐसी

गर ज्ञान अंतर्मुख / स्वसन्मुख हुआ तो ही स्वसंवेदन उत्पन्न होता है। ज्ञानका स्व-
क संचेतन - विधिका रहस्य है। (४८२)

✻

केसी भी जीवका ज्ञान हमेशा ज्ञान ही रहता है। ज्ञान मिटकर कभी राग या ज्ञेयरूप
ोता - ऐसा ज्ञानका 'मात्रज्ञान' रूप अनुभवन रहना-उसको ही ज्ञान अथवा ज्ञानका
हा जाता है। परन्तु जो ज्ञानका यानी कि स्वयंका अन्य द्रव्य-भावसे एकमेक, असरयुक्त
करता है उसको ही अज्ञान कहनेमें आता है। 'ज्ञान' मोक्षका कारण है और 'अज्ञान'
का कारण है।
ज्ञानं ही मोक्ष हेतुः
ानात् एव मोह प्रणश्यति वा ज्ञानं एव मोह क्षय कारणम्।'
तः भिन्न हुआ जो ज्ञान वही ज्ञान है, जो उपाय भी है और उपेय भी है। दोनो
ही है। (४८३)

✻

त्शास्त्रोंमें यद्यपि संगदोषके विषयकी गंभीरता अनेक जगह यथा-प्रमाण दर्शायी है फिर
तरफ जीवको सत्संगकी पहचान एवं मूल्यांकन नहीं होनेसे (और) दूसरी ओर संगदोष-
श्रद्धाप्रधानसे पात्रताको नापकर, हीनश्रद्धा (दर्शनमोहकी तीव्रता) वाले जीवके संगसे होनेवाला
न भी समझमें नहीं आता है, जिसके कारण बहुभाग मुमुक्षुओंका आयुष्य-समय मार्गप्राप्तिके
रूप ऐसे इस प्रकारके कारणमें ही व्यर्थ चला जाता है। शास्त्रमें देखा जाता है कि
ावलिंगी मुनिराजको भी इस विषयमें गंभीर चेतावनी दी गई है तो नीचेकी भूमिकामें
और मुमुक्षुजीवको तो अति गंभीर दृष्टिकोणसे विचार करके इसमें प्रवृत्ति करना योग्य
ा इस बाबतमें सूक्ष्म व तीक्ष्ण जागृति रखना योग्य है, कि जिससे संभवित नुकसानसे
जा सके। (४८४)

✻

त्पुरुष मिलनेके बाद, उनके वचनमें विश्वास आनेके बाद भी, मुमुक्षुजीव संगदोषके विषयकी
ाकी कमीके कारण अथवा बाह्य कारण / परिस्थिति वशात् यदि कुसंगका त्याग नहीं
कता है तो अवश्य खुदको ही नुकसान होता है। अरे ! अनजानेमें भी इस भूलसे
ले नुकसानको नहीं रोका जा सकता। कोई मुमुक्षुजीव तो प्राप्त सत्संगसे संतुष्ट होकर
के प्रति दुर्लक्षका सेवन करता है, उसको भी सत्संगका लाभ नहीं होता। वह जीव
प्राप्त होने पर भी अप्राप्त होने योग्य संज्ञासे सत्संगके कालका विसर्जन करता है।

परपदार्थमें जीवको अनादिसे सुखबुद्धि है, उसका अभाव हुए बिना सिर्फ त्यागके लक्षसे अथवा पुण्य-पापके लक्षसे जीव परपदार्थका त्याग करता है, और त्यागी अवस्थामें रहनेका आदी हो जाता है। उसका त्याग यथार्थ नहीं है। परन्तु परविषयका संयोग होते हुए भी, वस्तु स्वरूपके ज्ञानके आधारपूर्वक परमें सुख नहीं भासित होनेके कारण परके प्रति उदासीनता रहती है, उसमें प्रथम अध्यासका त्याग होता है, बादमें स्वरूपसुखके वेदनके कारण स्वरूपमें लीनता - स्थिरता वृद्धिगत होनेसे भाव - विकल्प उत्पन्न नहीं होता, वह बुद्धिपूर्वकके रागका अभाव - त्याग है। इस रागके अभावके कारण, तद्‌जनित परपदार्थ - ग्रहणकी क्रियाका अभाव होता है - उसको यथार्थ त्याग जानने योग्य है। (११२५)

*

मात्र पर्यायमें अस्तित्वपनेकी श्रद्धारूप अगृहीत मिथ्यात्व जीवको अनादिसे है। मनुष्यभवमें जैन शास्त्रके अभ्याससे प्रमाणके विषयभूत नित्य-अनित्यात्मक द्रव्यको अगर सम्यक् श्रद्धाका विषय माने - समझे तो वह गृहीत मिथ्यात्व है। सम्यक् श्रद्धा तो सिर्फ जीवके मूल त्रिकाली एकरूप स्वभावकी ही श्रद्धा करती है। इतनी ही निज अस्तित्वकी श्रद्धा होती है। फिर भी ज्ञान पर्याय अंशको निज सत्तामें जानता है। और इसी वजहसे सुख-दुःखका, हित-अहितका विवेक हो पाता है; श्रद्धाके उक्त परिणमनको और श्रद्धाके विषयभूत द्रव्य स्वभावको ज्ञान प्रथम जानता है। तथापि ज्ञानमें वह निश्चय द्रव्य मुख्य रहकर उपासना करनेमें आती है। - इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञानका विषय एक सरीखा नहीं होने पर भी (विषयमें तफ़ावत होने पर भी) उपासनाका विषय एक ही है। अतः दोनों गुण प्रयोजनके विषयमें अविरोधरूपसे परिणमन करते हैं। अतः दोनों गुणका आराधक भाव एकरूप और अविरुद्धभावपूर्वक होता है। (११२६)

*

तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवालेको, अनेक प्रकारसे बोधको समझकर, खुदको जो कुछ, जितना भी लागू पड़ता हो, उसका सद्‌उपयोग करनेका लक्ष रखना चाहिए कि जिससे तत्त्व अभ्यास सार्थक हो, वरना परलक्षी जानकारी बढ़ानेका व्यापार बढ़ जायेगा और शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न हो जायेगा। तत्त्व-अभ्यासका मूल्य भी स्वलक्षसे हुआ हो तो ही है, अन्यथा नहीं। खुदको उपयोगी हो फिर भी उसका उपयोग नहीं हो तो जीवको एकांत परलक्ष है, ऐसी स्थितिमें कभी आत्महित नहीं होता (बल्कि) व्यर्थ परिश्रम होता है। (११२७)

*

निज परमपदके प्रति वीर्यका वेग उत्पन्न होना वह स्वरूपज्ञानकी वास्तविकता है। पुरुषार्थका उछाला नहीं आये वैसे आत्मा सम्बन्धित जानकारीरूप ज्ञानको ज्ञान मानना वह कल्पना है,

द्रव्यानुयोगका विषय अतीव गंभीर है। (४८८)

⁕

समझके दो प्रकार है। यथार्थ समझ और अयथार्थ समझ।

अयथार्थ समझका बाह्य दिखाव आगम अनुसार होते हुए भी आशय दूसरा होनेसे (आत्महितका लक्ष नहीं होनेसे) उसमें यथार्थता नहीं होती। (आगम विरुद्ध अथवा सिद्धांत विरुद्ध समझ वह वास्तवमें समझ नहीं है बल्कि गेरसमझ है।) जब तक समझमें अयथार्थता होती है तब तक प्रयोग नहीं हो सकता। अंतर्मुख होनेके प्रयोगके पहले यथार्थ समझ होती है। अथवा आत्महितके लक्षपूर्वक समझनेवाला मुमुक्षु अपनी समझको प्रयोगपद्धतिमें लाता है, कि जिसके फलस्वरूप वह अंतर्मुख हो सके या स्वरूपका भावभासन / निर्णय हो सके। (४८९)

⁕

द्रव्यस्वभावकी महानता भासित नहीं होनेके कारण तत्त्वका स्वरूप जानने पर भी, जानकारी होनेके बावजूद भी, पर प्रतिके भावमें सूक्ष्मरूपसे मिठास रह जाती है। अथवा परलक्षी ज्ञानमें संतोष आ जाता है। वहाँ अंदर रहनेका भाव नहीं है।

दूसरे जीव मेरेसे समझे और इसमें खुदको अच्छापन लगे - ऐसी सुखकी कल्पना रहा करती है। ऐसी कल्पना होनेसे अपेक्षाबुद्धि हो जाती है और तब धारणा बराबर होने पर भी, अंदरमें प्रयोजन अयथार्थ हो जाता है। इसलिये मिथ्यात्वका त्याग नहीं होता।

परसत्ता अवलंबनशील ज्ञानकी मिठास या रस / अधिकता / महिमा जीवको अंतर्मुख होनेमें विघ्नरूप है, अतः इस प्रकारके विघ्नको दूर करनेके लिये मरणतोल प्रयत्न कर्तव्य है। एक दफा तो सारे जगतसे उपेक्षित होना आवश्यक है तो ही विपर्याससे बचना संभव है। (४९०)

⁕

अंशबुद्धि / पर्यायबुद्धिमें राग-द्वेष, असमाधान इत्यादि भाव अवश्य होते है, और ऐसे भाव अपनेरूप भासित होते है - अनुभवमें आते है। परन्तु स्वभावबुद्धि होने पर तो ऐसा कुछ भासित नहीं होता, अर्थात् (अल्प) रागादिसे रहित स्वयं अपनेरूप अनुभवमें आता है। इसमे पूरा मोक्षमार्ग समाहित है। हज़ारो शास्त्रोंका यह सार है।

- पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, (परमागमसार - ६५१) (४९१)

⁕

धर्मात्मा जो हैं वे (१) पूर्वकर्मका उदय (२) अपने औदयिक भाव (३) स्वयंको उत्पन्न

करना चाहिए ?

* सुख - शातामें कितनी अपेक्षावृत्ति रहती है ? उसका सूक्ष्मरूपसे अवलोकन करके, वहाँ उदासीनता और महा वैराग्य आना चाहिए। जूठनमें खुशी होती है ॥

* अन्य जीवके दोषको मुख्य नहीं करने चाहिए, जिससे कि तिरस्कारवृत्ति हो जाये। दोषके प्रति तिरस्कार कर्त्तव्य है।

* सत्पुरुषके चरण - शरणके प्रति शोधक-वृत्ति रहती है या नहीं ? उसकी तीव्रता कितनी ?

* मार्गकी अप्राप्तिके कारणसे बेचैनी - खेद रहता है कि नहीं ?

* संसारको कैसे खोटा माना ? संसारमें कितनी प्रीति वर्तती है ? सारभूत लगता है ?

* अपने दोष दिखानेवालेके प्रति अनगमा हो आता है ? या हितबुद्धिसे उपकारी लगता ?

* बोध मिलनेके बाद आत्माको कितना लाभ हुआ ? आत्मजागृति कितनी वर्तती है ?

* जिन पदार्थोंमें अपनत्व होता है, वहाँ मूढ़ता हुई है, ऐसा लगता है ? (११४१)

❋

प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान होनेके लिए कैसी योग्यता चाहिए ?

उत्तर :- ज्यों-ज्यों असत्संगका परिचय करनेकी वृत्ति कम हो अथवा असत्संगसे चित्त हटकर उसके प्रति सहज उदासीनता आये और स्वविचारदशा - आत्मजागृति - उत्पन्न, त्यों-त्यों उस आत्महितकी अत्यंत जागृतिके कारण उदयके सर्व प्रसंगोंमें नीरस परिणाम रहा करते हैं, जिससे दर्शनमोहका अनुभाग कम होता है, और इससे ज्ञानीपुरुषकी अंतरदृष्टि और सहज स्वरूपमय दशा समझमें आने पर, ज्ञानीपुरुषका अपूर्व माहात्म्य भासित होकर, उनके प्रति चित्त उल्लसित होता है - परम प्रेम आता है, पराभक्ति प्रगट होती है, तब उनके एक वचनसे भी अपूर्व फल प्राप्त होता है, ऐसा जानकर उस वचनके प्रति, उस वचनके आशयके प्रति अत्यंत प्रीति-भक्ति उत्पन्न होती है, वहाँ फिर दुर्लभ होते हुए भी सम्यक्त्व दु नहीं है। जबतक सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि नहीं आती है तबतक उनके बोधका फल आना संभवित नहीं है। बोधका परिणमन होनेकी खास पूर्व भूमिका ऐसी है कि बोधिदातारके । अपूर्व माहात्म्यबुद्धि प्रगट होती है। (११४२)

❋

वर्तमानमें सामान्य मुमुक्षुका इतना ध्यान ज़रूर जाता है कि यह मार्ग वाक़ई सत्य है और इसे प्राप्त करनेसे जीवका कल्याण (भी) हो जाये, परन्तु दूसरी तरफ मोहके बलवानपनेके कारण, मोहको टालनेमें हिम्मत नहीं चलती है। अतः संयोग ऊपरकी सावधानी छोड़नेमें -

है, इत्यादि अनुभवका विषय, किसी भी जीवको सत्संगमें रहनेके, और सत्संग ही वर्तमानदशामे हितकारी है - ऐसे दृढ़ निश्चयके बिना प्राप्त होना विकट है। अतः ऐसा निश्चय होता है कि जिसको सत्संगमें प्रीति है, वही जीव अनुभव वार्ताके लिये अधिकारी है अथवा पात्र है, दूसरा नहीं। (४९५)

✻

जैसे-जैसे कृपालुदेव (श्रीमद् राजचंद्रदेव)के वचनामृतका गहराईसे अवगाहन होता है, वैसे-वैसे उनकी अद्‌भुत अंतर्बाह्य दशाका अलौकिक स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आता है। अहो ! उनकी आत्मामय अध्यात्म दशा !! अहो ! अहो !

अहो ! उनकी उदयमें प्रवृत्ति होते हुए भी भिन्नता, अप्रतिबद्धता ! निर्लेपता और निस्पृहता ! अहो ! अहो !

अहो ! उनका सत्संग एवं सत्पुरुषके प्रति आदरभाव ! उपलब्ध जैन वांग्मयमें ऐसे जीवंत उदाहरणकी जोड़ दृश्यमान नहीं होती है। इस विषयमें तो उन्होंने हद कर दी है, श्री सौभाग्यभाईके चरणमें दासत्वभावसे नमस्कार करके !! (पत्रांक - ४५३) (४९६)

✻

संसारके सर्व संबंध कल्पित हैं, उसमें भ्रमित होने जैसा नहीं है, ऐसा ज्ञानीपुरुषका उपदेश होनेके बावजूद भी संसार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी किसीकी इच्छा अगर रहती हो, तो उस जीवने ज्ञानीके वचन सुने नहीं है अथवा ज्ञानीपुरुषके दर्शन भी उसने नहीं किये; वरना संसार प्रत्ययी बल एवं रस परिक्षीण हुए बिना नहीं रहता - जैसे कमर टूट जानेसे शरीरबल काम नहीं करता है वैसे।

ज्ञानीपुरुषके वचन अनुसार जड़ पदार्थ सुख व चेतना रहित है इसलिये शरीर सौंदर्य फूले हुए मुरदेके समान भासित होना चाहिये। यह ज्ञानीके नेत्रका / नजरका प्रकार (हरएक) सर्व मनुष्यसे विलक्षण है। सिर्फ वैसा उपदेश प्राप्त मुमुक्षु ज्ञानीके ऐसे नयनकी पहचान कर सकता है। वैसे ही धनादि संपत्तिका आकर्षण, पृथ्वीका विकाररूप भासित होनेसे, मिटता है। (४९७)

✻

मुमुक्षुजीवका आत्मा ज्ञानीपुरुषके चरणके अलावा कहीं पर क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता, स्थिर नहीं रह पाता और उपकारी सत्पुरुष, परम तारणहार भासित होनेसे उनके वचनरूप आज्ञाको प्राणत्याग जैसे प्रसंग पर भी अप्रधान / उल्लंघन न करने योग्य जानता है।

सत्संगसे प्राप्त, ध्यानमें लेने योग्य, अखण्डरूपसे आराधन करने योग्य बाबत यह हैं कि

उपयोगात्मक होने पर स्वसंवेदनकी उत्पत्ति होती है। ज्ञानदशामें परिवर्तित होनेवाली यह प्रक्रिया है। स्वसंवेदनका उक्त प्रकारसे आविर्भाव होता है तब समकालमें सम्यक्‌दर्शन और स्वरूपानंद - स्वरूप स्थिरता (सम्यक् चारित्र) प्रगट होती है और मिथ्यात्व एवं अज्ञान अंधकारका नाश होता है। तबसे श्रद्धाबलपूर्वक मोक्षमार्गमें धर्मात्मा आगे बढ़ते हैं। (११५३)

❋

अनादि संसारदशामें जीवका श्रद्धागुण विपरीत श्रद्धारूप परिणमन कर रहा है, इसलिए वैसा परिणमन स्वरूपकी श्रद्धा करनेके लिए असमर्थ है। इस वज़हसे ज्ञानीपुरुषोंने अज्ञानकी निवृत्ति हेतु, सम्यक्‌दशा होनेके लिए, प्रगट स्वभाव - सकल ज्ञेयोंमें वर्तते ज्ञान विशेषमें - साधारण एक संवेदन परिणामरूप स्वभाव - बतलाकर परम उपकार किया है। जो आत्मार्थी जीव 'ज्ञानमात्र' ऐसे स्वयंकी स्वसंवेदन द्वारा प्राप्ति करता है। उसे श्रीगुरुका उपकार कितना अनुपम व अतुल है वह (अनुभव) गम्य होता है। गुरुगम द्वारा अज्ञान अंधकारमेंसे जीव सहजमात्रमें प्रकाशमें आता है, स्वयं सुखसागरमें निमग्न होकर, संसार समुद्रको पार करके अल्प समयमें अपूर्व सिद्धरूप परम पवित्र दशाको प्राप्त होता है। (११५४)

❋

'सर्वांग समाधान स्वरूप त्रिकाली चैतन्यद्रव्य मैं प्रत्यक्ष हयात हूँ' - ऐसी द्रव्य-दृष्टि होती है तब, द्रव्य (ध्रुव) निरपेक्ष पर्यायकी स्वतंत्रता / योग्यता, पर्यायके षटकारक, पर्यायका स्वकाल / क्रमबद्धता आदि 'भाव' यथार्थरूपसे समझमें आते हैं। अतः द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा बिना उस विषयकी चर्चा निरर्थक है और अकर्त्तव्य है । द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यकी अत्यंत उपादेय बुद्धि-अपेक्षाबुद्धि प्राप्त होती है, और पर्यायकी उपेक्षाबुद्धि होने पर पर्यायमें फेरफार करनेकी बुद्धि छूट जाती है। साथ ही साथ आत्मभावसे प्रवर्तित योग्यता प्रति समय वृद्धिगत होती हुई पूर्ण होकर अभेद हो जायेगी, इसकी निःशंकता भी रहती है। इस कारणसे 'भावों' सम्बन्धित असमाधान नहीं रहता है। क्योंकि अशुद्धत्व अंशमें खुदकी कल्पना नहीं होती। इसके अलावा वह अंश प्रत्यक्ष क्षीणताको प्राप्त होता हुआ मालूम पड़ता है। (११५५)

❋

हे जीव ! त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वरकी प्रदत्त निधि हाथ लगी है, जिससे शाश्वत कल्याणका उपाय सहजमात्रमें प्राप्त होकर, अभी (वर्तमानमें ही) परमशांतिका अनुभव हो सकता है, तो फिर किस कारणसे इसकी उपेक्षा हो सकती है ? उपेक्षा करने योग्य है क्या ? सर्व उद्यमसे जिनाज्ञाकी उपासना कर्तव्य है। स्वयंप्रभु आनंदघन है, निर्विकल्प आनंदघन हूँ। सहज बेहद प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष हूँ - वैसा मै स्वसंवेदन गोचर हूँ। अगाध अमृत सागरमें निमग्न हूँ।

अपूर्व माहात्म्य उत्पन्न नहीं होता। रागकी प्रधानतावाली विचाररूप ज्ञानकी क्षयोपशमवाली, परलक्षी दशा - वह ओघसंज्ञा है। वहाँ दर्शनमोह भी बलवानरूपसे प्रवर्तता है। जिसका नाश तीव्र जिज्ञासा एवं आत्महितकी तीव्र भावनापूर्वक अंतर संशोधनसे अर्थात् स्वरूपकी अंतर खोजसे हो सकता है। यथार्थ स्वरूप-निश्चय होनेके पहले ओघसंज्ञाका अस्तित्व रहता है। सिर्फ स्वरूपका भावभासन ही ओघसंज्ञाका नाश करता है। अत: ओघसंज्ञा जीवकी योग्यताको और आत्मिक पुरुषार्थको रोकती है, ऐसा जानकर अवश्य उसका त्याग करना चाहिये। (५०१)

※

संसारमें मनुष्य कई बार गृहादि उदय प्रसंगमें जितना कर्मबंध करता है, उससे अनन्तगुणा ज्यादा कर्मबंध असत्संगके कारण, धर्मक्षेत्रमें रहकर, मिथ्याआग्रह, असद्‌गुरुआदिका सेवन करके, कर लेता है। क्योंकि अपरमार्थ मार्गके सेवनके कारण कायरता आनेसे, पात्रताके अभावमें (उन्मार्गमें) उत्साहित वीर्यसे प्रवर्तता है। क्योंकि अपरमार्थ मार्गको परमार्थमार्ग जानकर, उसमें संसार वासना कम नहीं होती हो, फिर भी लाभ हुआ ऐसा मानकर, अहितकारी बोधसे, सत्पुरुषादिके प्रति उपेक्षापूर्वक अशातनासे वर्तता है, वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका स्वरूप है। (५०२)

※

जगतमें जिसको देखकर आँखोंको ठंडक मिले और जिसकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे रत्नकी कीमत / माहात्म्य बहुत गिना जाता है, फिर भी वह कल्पनामात्र रम्य है। सिर्फ आँखोंको ठंडक होनेकी खूबीके कारण मनकी इच्छा / कल्पनासे उसकी कीमत बहुत गिनी जाती है जबकि अनादि सर्वत्र दुर्लभ, कि जिसमें आत्माको ठंडक हो - आत्मा जम जाय, ऐसे सत्संगरूपी साधनकी रुचि संसारी जीवको नहीं होती है, यह एक आश्चर्य है, गंभीर विचारणाका स्थल है। तात्पर्य यह है कि आत्मार्थी जीवको सत्संगकी गौणता कर्त्तव्य नहीं है। दुर्लभसे भी दुर्लभ ऐसा सत्संगरूपी अमृत परम आदरणीय है। सत्संगदाता सत्पुरुष तो निरंतर अमृत पिलाते है और भव्य जीव उसको पी कर अमरत्वको प्राप्त करता है। उसका मूल्य कैसे हो !!! (५०३)

※

आत्मार्थी जीवको प्रतिकूल प्रसंग उदयमें आनेके पहले, जिस-जिस उदयमें खुदको ममत्व वर्तता हो, उस-उस पदार्थके लक्षसे संभवित प्रतिकूल प्रसंगको मानो जैसे अभी सामने आ गया हो, वैसे अनुभवमें लेकर, अपने ममत्वके परिणामकी जाँच करते-करते उसको कमज़ोर करने चाहिये, कि जिसके कारण वैसे उदयकालमें तीव्र रससे प्रत्याधात उत्पन्न ही न हो।

कि 'स्वपने अनुभवमें आनेवाला ज्ञान, वही आत्मा है।' भेदनयसे तो अनुभव ज्ञान पर्याय है, परन्तु यहाँ उसे पर्याय नहीं कहकरके 'आत्मा' कहनेके पीछे रहस्य है, जिसमें परमार्थ है। ज्ञानमें अनुभव तो सभीको है, परन्तु 'स्व-पने' नहीं है। वह यदि स्व-पने होवे तो द्रव्यका लक्ष हो जाये। (ज्ञानका स्व-पने वेदन होनेसे 'ज्ञानदल' का ग्रहण होता है, अखण्डका ध्यान होता है।) इस प्रकारका उसमें 'पारमार्थिक सिद्धि' का रहस्य है। आत्मस्वरूपके लक्षसे ज्ञानका स्वसंवेदन - सर्वगुणांशरूप सम्यक्त्वको प्रगट करता है। अहो ! श्रीगुरुने मार्गको सरल कर दिया है, परमपदसे भेंट करवाई है। वेदन - प्रत्यक्षता द्वारा 'अखण्ड प्रत्यक्ष प्रतिभासमय चैतन्य ज्योति - वर्तमान' के दर्शनको सुगम कर दिया, उसकी महिमा कैसे हो सकती है ? ये अलखका लख (लक्ष) है। (११६९)

※

श्रीगुरुका जिसे व्यक्तिगत उपकार (परमार्थ प्राप्तिमें निमित्त) हुआ हो, उसे बेहद लाभ हुआ होनेसे सहज ही बेहद भक्ति आती है। समष्टिगत उस प्रकारकी भक्ति परम्पराके आग्रहका उसमें हेतु नहीं होनेके बावजूद भी उसके प्रतिपादनका विरोध कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि समष्टिगत प्रतिपादनमेंसे भी आखिरमें स्वयंके व्यक्तिगत प्रयोजनका दृष्टिकोण ही साध्य करना है। कोई जीव यदि समष्टिगत दृष्टिकोणको मुख्य करके आचार्यपना करता है, तो उससे उसको क्या लाभ होगा ? यह विचार करने योग्य है। परलक्षको मुख्य करनेसे मुमुक्षुको तो नुकसान ही होता है। वर्तमानकालमें 'प्रत्यक्ष योग' मिले और परमेश्वरबुद्धि होवे, तो उसका फल महत् है। इसलिए तद्अनुसार बहुमान उत्पन्न होता ही है। उसमें ही सही वास्तविकता है, कोई अतिपरिणामीपना नहीं है। (११७०)

※

धर्मात्माको स्वरूपध्यानमें चिंतन - मननकी मुख्यता नहीं होती, वह गौणरूपसे होता है।

प्रश्न :- तो फिर ध्यानके कालमें वे क्या करते हैं ?

उत्तर :- उन्हें आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष है और आत्मपरिणति प्रगट है। ध्यानावस्थामें उन्हें आत्मभावका सहज आविर्भाव होता है। तथाप्रकारसे उनका पुरुषार्थ धर्म उग्र होता है, क्योंकि दृष्टिका 'पुट' लगता रहता है, कि जो लीनताका कारण है। चिंतनका विकल्प यहाँ पर साधक नहीं है, परन्तु बाधक है, जिसका पुरुषार्थकी उग्रता होने पर नाश होता है। (११७१)

※

सम्यक् वैराग्यका जन्म आत्माके आनंदमें से होता है। अमृतरसके स्वादके कारण अन्य

संसारी प्राणी बाह्य पदार्थोंकी आशाके पीछे आयुष्य / जीवन व्यतीत कर देता है। ज्यो - ज्यों संज्ञा (क्षयोपशम सहित इच्छाएँ) विशेष त्यों - त्यों आशा अधिकतर रहा करती है। मनुष्योंमें सर्वसाधारण यह परिस्थिति होनेसे, उस संबंधी अर्थात् उसके नुकसान संबंधी अगंभीर रहनेका प्रायः बनता है। इतना ही नहीं, लोग आशाविहीन जीवनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। जब कि एकमात्र आत्मकल्याणका ध्येय सर्व आशाओंको समाप्त करके नये जीवनके उद्भवकी ओर ले जाता है कि जो आत्मज्ञान और आत्मशांतिमय जीवन होता है। उसमें सर्व प्रकारकी आशाओंकी समाधि होकर, निरपेक्ष ऐसे जीवके स्वरूपके आधारसे जीना होता है, और दूसरी आशाएँ और इच्छाएँ सिर्फ कल्पनारूप ही भासित होती है। (५०७)

※

सत्पुरुषोंका अनुभव एवं इसके साथ निष्पन्न अभिप्राय ऐसा है कि, अनन्तकालमें दुर्लभ ऐसे सत्पुरुषके योगमें अगर उनकी पहचान होवे, तो जिसको पहचानपूर्वक परमभक्ति आयी हो, ऐसे मुमुक्षु जीवको वैसी ही दशा अवश्य संप्राप्त होती है। परम पदार्थके निश्चयका कारणभूत - परमार्थ ज्ञानीपुरुषका निश्चय होता है, तब जीवको समस्त संसार (असार) अपरमार्थरूप भासित होने लगता है। अतः संसारी सुख भ्रांतिके कारण माना हुआ सुख भासित होता है, अतः आत्मार्थीको वैसे (अनुकूल ?) संयोगोंकी प्राप्तिमें भी नीरसता - उदासीनता रहती है, जिससे ऐसा लगता है कि परमार्थ ज्ञानीपुरुषकी पहचान वह स्वरूपके संस्कारवत् निष्फल नहीं जाती, नहीं होती - उस प्रकारके जीवके परिणाम है। अर्थात् उस जीवने ज्ञानीपुरुषके दर्शन करते हुए आत्म-रुचि भावसे संस्कारकी प्राप्ति की है। बरगदके पेड़के बीजकी तरह वह परमार्थ-बरगदका बीज है; उसमेंसे मोक्षमार्गकी और मोक्षकी सर्व दशाएँ अवश्य पनपेगी। इस प्रकार ज्ञानीपुरुषकी पहचानरूप श्रद्धाका यह फल है। जिसके प्रति लक्ष करानेवाले, निष्कारण करुणामूर्ति सत्पुरुषके चरणाधीन रहना ही परम श्रेयस्कर है। (५०८)

※

न्याय जो है वह सुविचारणाका अंग है, जो कि मुख्यरूपसे आत्माको निर्दोषता, पवित्रता व आत्मशांतिके प्रति ले जाता है, जैसे कि शारीरिक वेदना है वह देहका धर्म है (वह जीवका पर्यायधर्म भी नहीं है।) और पूर्वमें जीवने विकारीभावके निमित्तसे बांधे हुए कर्मका फल है, ऐसा जानकर स्वाभिमुख होना अर्थात् ज्ञानसे ज्ञानका वेदन करना और ज्ञानमें जाननेमें आ रही वेदनामें स्वपनेका - अपना अभाव देखकर - अवलोकन करके, उस वेदनासे भिन्नता करके, अनुभव करना। ऐसे प्रयोगके वक्त उक्त प्रकारके सुविचारणाके न्याय विचारमे आते है, उसका विचार करते हुए साथ ही साथ आत्माको (खुदको) मूल स्वरूपसे नित्य, अछेद्य,

(सामान्य) वह जीवका स्वरूप है। ज्ञानविशेषमें विपर्यास होना, वह ज्ञानका अज्ञानत्व
ऐसा जो ज्ञानका परिणमन है, वही ज्ञानका ज्ञानत्व है। - निर्ग्रंथ प्रवचनकी
है।
(११८५)

※

लक्ष' होने पर जीवके परिणाम सहज क्रमसर होने लगते हैं। प्रारम्भसे लेकर
सिर्फ जाननेका विषय बन जाता है, ज़ोर इसे 'करने' पर नहीं रहता। (जहाँ)
है वहाँ ज़ोर जाता (है) - यह परिणामका नियम है। अतः परिणामोंका मूल्य
होना चाहिए, सिर्फ परिणाम आधारित नहीं। वर्तमान परिणाम कर्तृत्व भावसे
हो वहाँ तक 'यथार्थ लक्ष' नहीं हुआ है और कर्तृत्वके कारण दर्शनमोह वृद्धिगत
आत्मार्थी जीवको प्रगति होनेके लिए, इसका खास विचार करने योग्य है।
(११८६)

※

आनंदका मंदिर ऐसा आत्मस्वरूप, उसके समीप ले जानेवाले, उसके द्योतक जिन-
होकर, जो अप्रयोजनभूत बाह्य क्षयोपशमके विषयमें आकर्षित होकर रस
बाह्य दृष्टिवंत, वीतराग प्रवचनको प्राप्त होकर भी परम तत्त्वसे दूर जाता है।
तट पर तृषावंत मृत्युको प्राप्त हो तो इससे अधिक कमनसीब कौन होगा ?
चुकना, यह जीवके स्वभाव विरुद्ध है।
(११८७)

※

:- शास्त्र स्वाध्याय करते वक्त, आत्मस्वरूपको सूचित करनेवाले अनेक शब्द
ध्रुवस्वरूप, सत्स्वरूप इत्यादि' पढ़नेमें आते हैं, तब उसका भाव भासित
है, तो किस प्रकार स्वाध्याय करना चाहिए ? कि जिससे भावभासन हो ?
:- शास्त्र स्वाध्यायमें शब्दार्थ, भावार्थ या अन्य विशेषार्थ, न्याय, युक्तिसे समझमें
इस प्रकारकी पद्धतिसे स्वाध्याय होता रहे और बाह्य (परलक्षी) क्षयोपशम
यह पद्धति यथार्थ नहीं है, क्योंकि इससे प्रायः अभिनिवेश उत्पन्न होनेकी संभावना
भावोंका भावभासन हो, उस प्रकारसे स्वाध्याय होना चाहिए; अर्थात् जो-
परिणमनमें प्रवर्तमान हो, उस वक्त उन-उन भावोंके अनुभवकी जाँच करके
करना - वह भावभासनकी रीत है। भासित होना माने लगना। जो-जो
अनुभवको समझना चाहिए अथवा अनुभवमें आनेवाले भावोंको सिर्फ तर्क,
नहीं समझ कर अनुभवसे समझना वह स्वाध्यायकी यथार्थ पद्धति है - इस

भगवती माता बहिनश्री चंपाबहिन इसके ज्वलंत उदाहरण है।

इसके अलावा, प्रथम स्वानुभवके वक्त ही अपने सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनपूर्वक जो शुद्धोपयोग हुआ, उसमें केवलज्ञानकी लब्धि प्रगट हो जाती है; अतः जो न्याय चौदहपूर्वधारी निकालता है वही न्याय सम्यक्‌दृष्टि निकाल सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ स्वभावका स्पर्श करते हुए वह उपयोग हुआ है। इसलिये चौदहपूर्वसे भी अनन्तगुण स्वभावके अनुभवज्ञानमें से यह लब्धिका उत्पन्न होना सहज है। पुनः यह भी न्याय संपन्न है, कि अभेद स्वभावमें सामर्थ्यरूपसे सर्वभेद गर्भित है जिसके कारण प्रयोजनभूत विषयमें अनुभवी ज्ञानीपुरुषकी भूल नहीं होती; अथवा अनुभवी पुरुषके आत्मामें से ही आगम उत्पन्न हुए है - होते हैं। इस तरह ज्ञानकी महिमा अनन्त है, आश्चर्यकारी है। (५११)

※

सत्पुरुष स्वयं ही मूर्तिमंत सन्मार्ग स्वरूप है, जो दर्शनमोहके अभावस्वरूप है। अतः जिसको सत्पुरुषका संग होता है, उसको उन्मार्ग छूट जाता है। एक सनातन निर्दोष मार्गके आगे दूसरे सभी मार्गाभास दोषसे ग्रसित होनेके कारण, उसका आग्रहरूप कदाग्रह नहीं रहता। कदाग्रह, वह तीव्र दर्शनमोहकी पर्याय है; जो सत्पुरुषके चरण सेवन करनेवालेको सहज मात्रमे छूटने योग्य है। जिसको ज्ञानीपुरुषके आश्रयसे एकमात्र 'आत्मधर्म' ही प्राप्त करना हो, वह दोषित मार्गका आग्रह कदापि नहीं रखता, फिर भी, यदि सत्संग प्राप्त होनेके बाद भी विपरीत मार्गका आग्रह रहता हो तो, उस जीवको फिर छूटनेकी आशा छोड़ देनी चाहिये।
(५१२)

※

आत्मार्थी जीवको सुविचारणाके साथ-साथ स्वयंकी भिन्नताका प्रयोग चालू रखना चाहिये, रोज़-बरोज़के व्यवहारमें भी इस (प्रयोगके) क्रमका सेवन करना चाहिये। उसमें भी खास करके बड़ी प्रतिकूलता - महाव्याधि - रोगकी उत्पत्तिके वक्त तो देहादि संयोगोंकी भिन्नताको अवलोकनमें लेकर, ममत्व छोड़कर जीवको जरूर ज्ञानीपुरुषके मार्गका अनुसरण करना चाहिये। ज्ञानीपुरुषों उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनपने, अव्याकूलपने वेदन करते है। उसी प्रकारसे आत्मार्थी जीवका अनुप्रेक्षण रहता है; अनुसरण रहता है। (५१३)

※

वर्तमानमें विषमता अत्यंत बढ़कर व्याप्त होनेसे यह काल विषमकालके नामसे प्रसिद्ध है। जिसको आत्मकल्याण करना है अथवा किया है, उसको लोकसंग नहीं रुचता, क्योंकि वह असत्‌संग है, आत्माका अहित होनेका निमित्त है। फिर भी उदयवश वैसे संगमें रहना पड़ता

निर्विकल्प स्वरूपके स्पष्ट अनुभवांशसे उत्पन्न प्रतीति / रुचि-बल, ज्ञानको स्वरूपाकार भावमें स्थिर करता है। रुचि अनन्य भावसे स्वभावको ग्रहण करती है। अनुभवांश - वेदन प्रत्यक्षता द्वारा वीर्य उछलता है। उस वक्त चैतन्यदेव परम प्रसन्न होकर, अमरत्वका वरदान देते हैं। मृत्युकी सदाके लिए मृत्यु हो जाती है, अनन्त गुणोंकी परिणति स्वानुभवके महोत्सवमें नृत्य करती है।

(१२०३)

※

निश्चय स्वरूपकी सदा मुख्यता रहकर, व्यवहार प्रसंगमें विभिन्न भाव, अपने-अपने कालमें यथापदवी गौण - मुख्य रहा करते (हैं)। उसमें उत्कृष्टकी मुख्यता और अनुत्कृष्टकी गौणता सहज हो जाती है। जैसे ऊपर-ऊपरकी सीढ़ी पर चढ़ते हैं वैसे।

दृष्टिका विषय परमोत्कृष्ट होनेसे ज्ञानमें - अभिप्रायमें सदा मुख्य रह जाता है। उसमें कोई भंग-भेद नहीं है। व्यवहार भावोंके भेदमें 'आशय' अनुसार मुख्य-गौण होना चाहिए।

(१२०४)

※

सत्‌शास्त्रोंमें आत्मकल्याण हेतु अनेकविध भेदोंसे जीवके भवरोगका निदान किया है, और उसकी निवृत्तिके लिए अनेकविध भेदसे उपदेश और मार्गदर्शन भी दिया है। उसमेंसे जो जीव खुदका प्रयोजन सधे उस प्रकारसे निदान व उपायका अनुसंधान कर पाता है, वह मुक्त होता है। प्रायः रोगी ऐसा करनेके लिए असमर्थ होनेसे, सद्‌गुरुकी कृपा - अनुग्रहसे (जो जीव) यथाप्रकारसे अनुसंधान (Co-ordination) समझ सकता है, वह सद्‌गुरुको पहचान सकता है और सर्वार्पणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करके तिर जाता है। सर्वार्पणबुद्धिके कारण सरलता सहज उत्पन्न होती है। आत्मकल्याणके लक्षसे सरलता पूर्वक आराधन किया हुआ सत्संग प्रायः निष्फल नहीं जाता। भक्ति और वैराग्यका साथ सहजरूपसे होना चाहिए।

(१२०५)

※

जीवको जबतक चलते हुए विभावमें दुःख नहीं लगता, तबतक जीवकी सुखकी भ्रांति कमज़ोर नहीं हुई, यानी कि दर्शनमोह मंद नहीं हुआ है; इसलिए मोक्षार्थीपना - उसरूप पात्रतामें भी कमी है। पात्रता विशेष होने पर सुखाभासमें और मंदकषायरूप शुभ विकल्पोंमें भी दुःख लगता है, जिसके कारण जीवका सहजरूपसे वहाँसे हटनेका उद्यम हो, वैसी स्थिति आती है - ऐसा हुए बिना निज सुखानुभूति संभवित नहीं है।

(१२०६)

※

नहीं है। 'ज्ञानमात्र' भावसे 'अखण्ड आत्मधुनका एकतार प्रवाह' का आकर्षण उत्पन्न होने पर, ज्ञानधारा चलती है और शुद्धोपयोगका जन्म होता है, और तभी सर्व द्रव्य-भावसे सच्ची उदासीनता/उपेक्षावृत्ति रह पाती है या उत्पन्न होती है। (५१७)

※

'ज्ञानमात्र'-पना सर्वांग समाधान स्वरूप है। सविकल्पके कालमें भी खुद तो 'ज्ञानमात्र' ही अनुभवमें आता है, इसलिये सर्व अन्य, द्रव्य, भावके प्रकाशनके वक्त भी 'ज्ञानमात्र' रूपसे ही प्रत्यक्ष है फिर असमाधान किस बातका ? या उलझन, खेद, भय, शंका या दूसरे कोई विकल्पको अवकाश कैसा ?

अनअवकाशरूपसे (स्वयं) 'ज्ञानमात्र' पनेसे प्रत्यक्ष होनेसे, सर्वकाल मेरे स्वरूपसे पूर्ण हूँ। ॐ शांतिः (५१८)

※

जीवको अगर कोई खास प्रतिबंध है तो वह संसारके / उदयके कार्योंमें रस आना वह है; कि जिसमें दर्शनमोह शामिल है। यह रस जब तक यथार्थरूपसे यानी कि आत्मकल्याणकी सच्ची भावनापूर्वक नीरसताको प्राप्त न हो, तब तक जीवको अपने कल्याण - अकल्याण संबंधित मूल्यांकन नहीं आता और जिसके कारण परिणामोंका झुकाव आत्मप्रत्ययी नहीं हो पाता। कभी कोई प्रतिकूलताके, तीव्र प्रतिकूलताके वक्त नीरसता आती है लेकिन उस वक्त ऐसा होनेका आधार वह प्रतिकूल संयोग होता है (आत्मकल्याण नहीं) अतः उस वक्त चारित्रमोह थोड़े समयके लिये मंद होता है, जब कि दर्शनमोह तो उस वक्त भी बलवानरूपसे जिन्दा होनेसे वैसी नीरसता सिर्फ 'स्मशान-वैराग्य' वत् फलती है। अतः आत्मार्थीजीवके लिये यह विचारणीय है कि 'अनन्त दुःखका अभाव और अनन्त सुखकी प्राप्ति' के मार्गको समझते वक्त निज हितकी भावनाकी परिस्थिति क्या है ? सिर्फ मंद कषायके कालमें उपरोक्त मार्गका मूल्य यथार्थरूपसे नहीं हो पाता और इसलिये जानते हुए भी, परिणमन संबंधी कार्यका उपाड़ सहजरूपसे नहीं आता, अन्यथा उपाड़को रोक ही नही सके - ऐसा ही जीवका स्वभाव है। (५१९)

※

आत्मार्थी जीवको सत्संग प्राप्त होने पर सरलता आदि गुण सहज प्राप्त होते हैं। यदि सरलताकी प्राप्ति न हुई तो समझ लेना चाहिये कि, वास्तवमें उस जीवको सत्संग ही प्राप्त नही हुआ है, अथवा वह सत्संग सिर्फ नाममात्र है, क्योंकि सत्संगका गुण प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये असरलता, कदाग्रह, पूर्वग्रहका आग्रह इत्यादि अवगुण, जो कि आत्मकल्याणमें मुख्यरूपसे प्रतिबंधक है, वे सभी बलवानरूपसे प्रवर्त रहे हैं, और जिसके कारण दर्शनमोह भी पुष्ट होता

आत्मार्थी जीवको आत्मार्थ हेतु संवेग - उल्लासित वीर्य प्राप्त होना वह दूसरे शमादि लक्षणसे उत्तम है। 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न संवेग वह आवेग नहीं है, परन्तु संवेग है। यथार्थ लक्षके बिना जो वेग होता है, वह आवेग है। संवेगी जीव उत्तम पात्र है। (१२२३)

जीव परिभ्रमणकालमें, अनन्तकाल निगोदमें जन्म-मरण करके बिताता है। उसमें से निकलकर त्रस पर्यायकी प्राप्ति होना वह अंधेको रत्न मिल जानेके समान है, तो फिर मनुष्यत्वका मूल्य कितना ? अमूल्य ऐसा मनुष्यपना जो पापमय जीवनसे बिताता है, वह दुर्भागी है। विचारवान जीव तो जीवनका ध्येय परिवर्तन करके 'सत्' के चरणमें 'सत्' की प्राप्तिके प्रयासमें लगता है, उसके 'सौभाग्य' के लिए क्या कहना ? (१२२४)

※

राग और परकी सावधानी दर्शनमोहकी द्योतक है। मुमुक्षुजीवका अगर दर्शनमोह शिथिल होता है तो 'इस' सावधानीमें फ़र्क पड़ता है। अर्थात् स्व-प्रत्ययी संवेगके कारण जीव राग और परमें उदासीन होता है, तो (तब) विकल्प रहित ज्ञानवेदना लक्षमें आती है, जो आनंदको स्फुरायमान करती है। (१२२५)

※

समझरूप - ज्ञानके अमलीकरणका उत्साह, मुमुक्षुजीवको प्रयोगमें लगाता है। ऐसे पात्र जीवको सफलता प्राप्त होती है। ज्ञानका अमलीकरण वह मुमुक्षु भूमिकाका यथा-आचरण (चारित्र) है। (१२२६)

※

बावड़ी, कुआँ, तालाबका पानी सूख जाता है, परन्तु पाताल फूटकर निकला पानी सूखता नहीं, वैसे (स्वरूप) लक्षके कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान नहीं छूटता, परन्तु उस ज्ञानके, अंतरकी गहराईमेंसे फुहारे छूटते हैं। ऐसा ज्ञान स्वानुभवका कारण है। धारणा ज्ञान नहीं टिकता। (१२२७)

※

आत्मभावना, प्रारम्भमें स्वरूप प्राप्तिकी लगन - उत्कंठा रूप होती है। स्वरूप लक्ष होने पर सामान्यके आविर्भावपूर्वक होती है। उत्कृष्ट भावना (यदि) प्रारम्भिक अवस्थामें जागृत हो, तो वह वृद्धिगत होकर स्वयं प्रयोगमें / आत्मजागृति और अंतर अवलोकनमें परिणमित हो जाती है। यथार्थ भावनाका यह उन्नतिक्रम है। जो कि अंततः स्वरूपस्थितिरूप होती है। (१२२८)

※

जो भी सिद्धांत हो उसमें उपशमका जो हेतु गर्भित है उस हेतुको / आशयको मुख्य रखते हुए ही सर्व सिद्धांतोंका अवगाहन कर्त्तव्य है कि जिससे वैसा अवगाहन सम्यक् परिणामको प्राप्त हो, अन्यथा सिर्फ सिद्धांतज्ञानका अभ्यास करनेसे प्रायः शुष्कता उत्पन्न हो आती है, जो कि अनर्थ / अवगुणका कारण होती है। यह लक्षमें लेने योग्य है। (५२४)

✱

ज्ञानीपुरुषकी पहचान होना अति दुर्लभ है; क्योंकि ज्ञानीपुरुषके उदयभाव / विकल्प पूर्वकर्म अनुसार विचित्र प्रकारसे चलते है; जबकि उस वक्त भी उनके अभिप्रायमें अविचित्रता ही होती है; यह समझमें आने पर असमाधान नहीं होता। जैसे कि ज्ञानी हमेशा वात्सल्य-प्रभावनादि अंगसे विभूषित ही होते है, फिर भी लौकिक कारण वशात् श्री रामचंद्रजीने साधर्मी ऐसे श्री सीताजीका त्याग किया था, फिर भी उन्होंने वात्सल्यका त्याग नहीं किया था। अभिप्राय एवं अभिगम बदले बिना भी इस प्रकारसे परिणामका होना संभवित है, यह बात निकटवर्ती ऐसे सीताजी अच्छी तरह समझते थे और उनको प्रतीति भी थी। इस तरह ज्ञानीपुरुषका हृदय जिसकी समझमें आता है, उसको ज्ञानीपुरुषमें शंका नहीं होती। लेकिन अज्ञानी जीवको उनकी नकल करके (अवलंबन लेकर) दोषकी पुष्टि करने योग्य नहीं है। (५२५)

✱

परिणाममें सुविचारणा, स्वरूपप्राप्तिकी भावना, स्वरूप जिज्ञासा, स्वरूप निश्चय, भेदज्ञानकी प्रक्रिया, निश्चयका पक्ष इत्यादि अनेक प्रकारसे यथार्थ क्रमके प्रकार उत्पन्न होनेके बावजूद भी उन-उन भावोंका एकत्व / अवलंबन रहे तब तक अपरिणामी ध्रुवस्वरूपका अवलंबन नहीं आ पाता, और तब तक ग्रंथीभेद होकर स्वानुभव / सम्यक्त्व प्रगट नहीं होता। अतः पुरुषार्थवंत आत्मार्थी जीवको उपरोक्त क्रमसे गुझरते हुए चल स्वभावरूप परिणामधाराका आत्यंतिक (अवलंबनका) वियोग करके, स्वरूप अनुसंधानको प्राप्त करना योग्य है। यद्यपि स्वरूप लक्ष होनेके बाद परिणामोंकी गौणता ही रहती है फिर भी जब ज़ोरसे ध्रुवतत्त्वके अवलंबनका बल पर्याप्त मात्रामें बढ़ता है तभी दृष्टि प्रगट होती है। (५२६)

✱

उपयोग लक्षणसे सनातन स्फुरित आत्मा सहज प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष है। स्वरूपकी प्रत्यक्षता अनन्त है। - ऐसा सहज अनंत प्रत्यक्षतामय खुद, अपने आपसे परोक्ष रहे, यह कैसे संभवित है ?

प्रत्यक्षतामें सुख और आनंद अमृतकी प्रत्यक्षता होती है इसलिये वह प्रतीतिको पैदा करती है, कि जिसके बलसे पूर्ण सिद्धपदकी सिद्धि है। (५२७)

- १२४९)

(१२४३)

✻

जहाँ मेरा स्वरूप पूर्ण - बेहद और अव्याबाध, अचिंत्य परन्तु अनुभवगोचर सुखस्वरूप है; वहाँ चिंता कैसी ? विकल्प कैसा ? जिसके घर ऐसा सुखनिधान हो वह दुःखी कैसे हो सकता है ? उस सुखस्वरूपको कौन बाधा पहुँचा सकता है ? (१२४४)

✻

'ज्ञान परको नहीं जानता है' उसमें परलक्षपूर्वक परको जाननेका निषेध है। ज्ञान परसन्मुख हो या परसत्ताका अवलंबन लेता हो, वह ज्ञानगुण नहीं है, परन्तु ज्ञान ज्ञानानुभवमें रहे वह ज्ञानगुण है, और वही आत्मशुद्धिका कारण है। इसके उपरांत ज्ञानको जाननेके लिए परकी अपेक्षा नहीं है, - वैसा सामर्थ्य बतलानेका भी उसमें अभिप्राय है। (१२४५)

✻

उपयोग शुद्ध हो इसके लिए इस जगतके संकल्प-विकल्प विस्मृत होने चाहिए। क्योंकि इस आत्माको और इस विचित्र जगतको आपसमें कोई सम्बन्ध या कुछ लेना-देना नहीं है। राग-द्वेष रहित होनेका 'उपयोग' वही अंतर साधना है। विशेष साधना सत्पुरुषके चरण कमल है। (कृपालुदेव)

(१२४६)

✻

प्रश्न :- मोक्षमार्गका उपदेश कौन कर सकता है ?

समाधान :- राग, द्वेष और मोह जिन्हें नहीं है, वह पुरुष सर्वज्ञ वीतराग तीन दोषसे रहित होनेके मार्गका उपदेश कर सकते हैं, इसके अलावा उसी पद्धतिमें प्रवर्तन करनेवाले सत्पुरुष उस मार्ग पर प्रवर्तन करते-करते उस मार्गका उपदेश कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं।

(१२४७)

✻

जब आत्मार्थी जीव अपक्षपातरूपसे और सरलतासे अपने दोषोंका अवलोकन करता है तब उससे खेद अवश्य होता है, परन्तु उसे हतोत्साही नहीं होना चाहिए। यथार्थता उसमें है। जिससे स्वकार्यका उत्साह वर्धमान होता है, जैसे अन्यके गुणको देखकर होता है वैसे।

(१२४८)

✻

सर्व आत्म-गुणोंमें, ज्ञानमें स्वरूप ग्राहक शक्तिकी विशिष्टता है, यह प्रयोग द्वारा समझमें आता है। ज्ञानमें ज्ञान द्वारा स्वरूप-ग्रहण होता है, तब वैसे ज्ञानके परिणमनमें, श्रद्धा और

दोनों परस्पर स्व-स्थानमें होने / रहने चाहिये और तभी वास्तविकरूपसे परमार्थ सधता है।
(५३१)

※

वैराग्य तो तब आता है जब राग कम होता है और राग तब घटता है जब अंतर स्वभावकी रुचि पैदा होती है। इस तरह अंतर गुणस्वरूपके ज्ञानका वैराग्यके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है; जिसकी विचारणामें वैराग्य भावनाएँ सहज आ जाती है।

'ज्ञान रहित वैराग्य वह सचमुच वैराग्य नहीं है किन्तु रुंधा हुआ कषाय है।
(-पू. बहिनश्री चंपाबहिन)

इस वैराग्यके कारण धर्ममें चित्तकी स्थिरता होती है। स्वमे - आत्मामें चित्तकी स्थिरता होनेके लिये वैराग्य होना अपेक्षित है। परकी उपेक्षा हुए बिना स्वकी अपेक्षा कभी नहीं हो सकती। आर्तध्यानवालेको विकार एवं परका लक्ष होता है। सिर्फ वैरागी जीव ही विकारमें एकाग्र नहीं होता है, और फँसता नहीं है। इसलिये वह जीव धर्मध्यान कर सकता है। अतः हे जीव ! तू परसंगमें अटके बिना ही स्वभावके संगमें विचरण कर !! यही कर्त्तव्य है।
(५३२)

※

श्री जिनने जितने भी सिद्धांत कहे है वे सभी एक आत्मस्वरूप प्रगट करनेके हेतुसे कहे है। यह बात लक्षमें रखते हुए किसी भी सिद्धांतको समझना चाहिये। अगर ऐसा नहीं करनेमें आता है, तो प्रायः सिद्धांत संबंधित समझ विपर्यासको प्राप्त होती है और अनर्थ होता है। अतः आत्मार्थी जीवको सिद्धांतके प्ररुपक ऐसे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति अत्यंत भक्तिमान रहकर उक्त लक्षको साथमें रखते हुए सिद्धांतका विचार करना चाहिये। (५३३)

※

एक गुणको अनन्तगुणका रूप है, इसलिये ज्ञानको सुखका रूप होनेसे ज्ञानको सुखरूप कहनेमें आता है। और वह कषाय / आकुलताके अभावरूप स्पष्ट / प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जब ऐसा ही है, तो ज्ञान जब स्वयंका - खुदका स्वसंवेदन करता है तब अपने सुखरूप धर्मका अनुभवन भी करता है। उस वक्त वस्तु-स्वभावसे सुखगुणकी शुद्ध पर्यायका प्रगट परिणमन होता है, वह भी स्व-पर प्रकाशक ज्ञानमें मालूम पड़ती है और एक वस्तुभूतपनेके कारण अथवा वस्तु स्वभावमें एकत्व होनेके कारण और उस एकत्वका भी स्व-रूप अनुभव होनेके कारण, सुख-रूप और सुखगुणका सदृशभाव - (जैसे) एक रस होकर अनुभवमें आता है, वैसे अनन्त गुणधर्म स्वानुभवमें एकरस हो जाते है, जिसको 'आत्मरस' कहा जाता है, उसका

अभाव है, भव-भ्रमणका भय नहीं है। अतः मूर्तिमान मोक्षस्वरूप ऐसे सजीवनमूर्तिकी खोजका अभाव वर्तता है। यदि पूर्व पुण्ययोगसे सत्पुरुषका प्रत्यक्षयोग हो भी गया तो उपरोक्त स्थितिके कारण पहचान नहीं होती है। पहचान बिना भक्ति - प्रेमरूप (सर्वार्पणबुद्धियुक्त) नहीं होती। अतः भक्ति - प्रेमरूप बिना ज्ञान शून्य डीग्री पर होता है। ज्ञान-साधनके बिना साध्य कैसे सुलभ हो ? (१२६२)

⁂

स्वरूपदृष्टि होनेके पश्चात् जीव 'यथायोग्य उपशम भाव' को प्राप्त होता है। प्रथम उपशम सम्यक्दर्शन होता है तब आत्मा संसार और मोक्ष दोनों पर समवृतिवान होता है, क्योंकि 'स्वयं दोनोंसे पर है' - ऐसा दर्शन प्रगट हुआ है। (१२६३)

⁂

जो प्राणी भविष्यज्ञान (ज्योतिषादि) चमत्कार, सिद्धियाँ, इत्यादिमें रस लेते हैं, वे मोहाधीन हैं। उनके किये तो पारमार्थिक पात्रतामें आना भी दुर्लभ है। मुमुक्षु तो उसका स्मरण भी नहीं करता। (१२६४)

⁂

जीवको करना तो इतना ही है, कि ज्ञानमें (सामान्यमें) रहे हुए ज्ञानवेदनका अवलोकन करना है। 'सिर्फ इतना' करनेमें पुरुषार्थ क्यों नहीं चलता है ! कहाँ रुकावट हो रही है, इसकी गहरी गवेषणा कर्त्तव्य है।

ज्ञानकी निर्लेपता और असंगता प्रगट अनुभवगोचर है। इसका अवलोकन करने पर 'ज्ञानमात्र' का स्वरूप भास्यमान होता है। अकषायभावसे, कषायके संयोगमें अनन्तकाल रहने पर भी जो ज्ञान त्रिकाल भिन्न ही रहा है, वह यदि सुखस्वरूप भासित होवे तो चैतन्यवीर्यमें अपूर्व उछाला आये। (१२६५)

⁂

'पूर्णताके लक्ष' में साध्य निश्चित है। इससे साधनाकी यथार्थता उत्पन्न होती है। अन्यथा किसी भी प्रकारसे कोई भी / अनेक साधनमें भी यथार्थता उत्पन्न नहीं होती। जिसके कारण प्रायः जो भी साधन हो वह अभिनिवेशका कारण बनता है। साधनकी यथार्थताके लिए प्रथमसे ही पूर्णतारूप साध्य लक्षमें रहना चाहिए। (१२६६)

⁂

प्रश्न :- सत्पुरुषकी पहचान करनेवाले जीवके पूर्वभूमिकामें कैसे परिणाम होते हैं ?

समाधान :- जिसको जन्म-मरणसे छूटनेका लक्ष हुआ हो और इसके लिए जो अनुभवीपुरुषको

जिस मुमुक्षुको पहचानमें आती है, उसको आत्मभावकी पहचान आती है; जो आत्मभावकी प्राप्तिका / प्रगट होनेका कारणभूत है। (५३७)

※

श्रीगुरुकी आत्मदशा, चिंतन, मनन और घोलन आदिके विकल्पसे पर (- न्यारी) होती है। फिर भी संसारके दुःखी जीवोंके प्रति उन्हें अनन्त करुणा होती है; इसलिये उनके चिंतनमे से न्यायादि निकलते है। जिसकी मति सरल होती है उसको बिना परिश्रम वह न्याय/सिद्धांत सहज सम्मत होते हैं और वे आत्महितके कारणभूत होते हैं। जिनके रागांशमें भी अन्य जीवके शाश्वत कल्याणका निमित्तत्व है। उनकी आत्मदशाका गुण सिर्फ वचनातीत ही नहीं बल्कि अचिंत्य है। (५३८)

※

"सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टरूपसे लिखी गई (- कही गई) हो तो भी उसका परमार्थ, सत्पुरुषका सत्संग जिसको आज्ञाकिंतपने नहीं हुआ हो, उसको समझमें आना दुर्लभ होता है।" - श्रीमद्‌जी

सत्पुरुषकी वाणीमें `ज्ञानदशा' का विषय स्वानुभवपूर्वक व्यक्त होता है; उसमें जिस परमार्थमार्गमे खुदका निर्गमन हो रहा है उस मार्गके अपूर्वभावोंकी अभिव्यक्ति और उदयभाव एवं उसके सम्बन्धित चेष्टाओंमें रहा पर-अपर भावोंकी विलक्षणता समझनेके लिये योग्यताका होना अपेक्षित है। जिस प्रकारकी योग्यता अपेक्षित है वह प्रायः आज्ञांकितपनेमें संप्राप्त होती है।

अतः मुमुक्षुजीवको उक्त वचनामृतकी गंभीरता और आज्ञांकितपने सत्संगका मूल्यांकन आने पर परमार्थकी प्राप्तिका अवकाश होता है, जो परमहित होनेका बीज है। अतः एक लक्षसे ज्ञानीपुरुषकी विलक्षणता समझमें आती है तब वह समझ उनके प्रति अनन्य भक्ति - प्रेमका कारणभूत होती है। (५३९)

※

धर्म पानेकी आशासे जीव अनेक प्रकारसे कल्पित बाह्य साधनरूप धर्म-प्रवृत्ति करता है, परन्तु इससे कोई धर्म-साधना नहीं होती है बल्कि उलटा साधन किया, ऐसा दुष्ट अभिमान होता है, जो जीवको सत्-साधनसे वंचित रखता है अथवा सत्-साधन सम्बन्धित सूझ आने नहीं देता। अतः आत्मकल्याणका `अपूर्व विचार' आये बिना, कल्पित साधन मिटनेके लिये `अपूर्व ज्ञानीपुरुष'की आज्ञा पर चलनेका दृढ़ निश्चय होता है, तभी से जीवके आत्मार्थकी शुरूआत होती है, और जिन्होंने `मार्ग' देखा है, वैसे ज्ञानीपुरुष अगर बिराजमान हो तो उनके चरणका सेवन करता है और अगर अविद्यमान हो तो तीव्र आश्रय भावनामें रहता है। सिद्धांत ऐसा है कि `अपूर्व आत्मविचारपूर्वक' ज्ञानीपुरुषकी आज्ञाका आराधन ही मार्गप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ

विभावरस और परमें सुखबुद्धिके कारण जीवकी परप्रवेशभावरूप परिणति हो चुकी है। जिसके कारण जीवकी भेदसंवेदन शक्ति आवरित हो चुकी है, अतः जीवको भिन्न ज्ञानका वेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें नहीं आ रहा है। भेदज्ञानके प्रयोगाभ्यास द्वारा वह भेदसंवेदन शक्ति खुलती है।

भेदज्ञानका प्रयोग : ज्ञाताधारासे स्वभावको विभावसे भिन्न ग्रहण करना वह है। परसे व रागसे उपेक्षित होकर (अपेक्षा छोड़कर) भेदज्ञान कर्त्तव्य है। (१२८५)

※

फरवरी - १९९४

जब तक मोहासक्तिके परिणामोंमें अकुलाहटपूर्वक उसका निषेध नहीं आये, तब तक जीवको वैसे परिणामोंमें सुखबुद्धि और रस है। ऐसी परिस्थितिमें जीव इससे मुक्त होनेका प्रयास नहीं कर पाता। प्रयासके बिना सिर्फ बंध-मोक्षके विचारमात्रसे मुमुक्षुता नहीं आती है। वैसे विचार-स्वाध्यायादि केवल उदयभावरूप होते हैं, वह अनुदयका कारण कैसे हो? विचार-स्वाध्यायादिमें यदि भावना तीव्र हो तो प्रयास / प्रयोग चालू हो जाता है। (१२८६)

※

वस्तुस्थितिका उल्लंघन करके भावना प्रवर्तती है। जैसे कि श्री तीर्थंकरादि महापुरुष जगतके सर्व जीवोंके कल्याणकी भावनामें प्रवर्तते हैं और ज्ञानी परद्रव्यके अकर्ता हुए हैं फिर भी सत्संग और निवृत्ति आदिको भाते हैं। अथवा समयमात्रके अनअवकाशसे पूर्णताको भाते हैं। इस प्रकार भावनाबलके कारण सिद्धांत-ज्ञान गौणताको प्राप्त होता है। भावनाबलसे आगे बढ़ा जाता है।

(१२८७)

※

जो प्रथम मोक्षार्थी बने, वह आत्मार्थी बनता है। अर्थात् मोक्षार्थी हुए बिना आत्मार्थी हुआ ही नहीं जाता। आत्मार्थी अंतर अवलोकन करके भेदज्ञान द्वारा स्वानुभव - सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। पूर्णताका लक्ष हुए बिना त्रिकालीकी सच्ची जिज्ञासा जागृत नहीं होती। अपूर्व जिज्ञासा हुए बिना उदयमें नीरसता नहीं आती, तब तक उपयोगकी सावधानी उदयमें रहा करती है, उदयका खिंचाव रहा करता है, जिसके कारण बहिर्मुखता नहीं छूटती। सभीके मूलमें मोक्षार्थीपना है।

(१२८८)

※

प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमयी मेरा स्वभाव है। (-प्रकाशशक्ति होनेसे) वह मेरा ध्रुवस्वरूप - जीवंतस्वामी कहते हुए नित्य कारणरूप है। उसकी वर्तमान विशेषता, वही कारणशुद्ध 'पर्याय अर्थात् कारणरूप'

सामान्यरूपसे एक समयकी पर्यायसे त्रिकाली वस्तु अनन्तगुण महान है, ऐसा समझमे आता है। फिर भी जो एक समयकी पर्याय त्रिकालीको, एक समयमें ग्रासीभूत कर जाती है, उसकी अद्‌भुतता क्या आश्चर्यकारी नही है !!? आहाहा...! वाह रे पर्याय ! तेरा सामर्थ्य भी अचिंत्य है; अगम-निगमके तेरे खेलको देखते हुए देखनेवाला थम जाये ऐसा है। (५४५)

※

आत्मामें प्रति समय उत्पाद्-व्यय स्वतंत्ररूपसे चल रहे है। वह प्रगट पर्याय स्वयंके मूल स्वरूपको भूलकर परमें `अहम्' भाव करती है, जो असम्यक् है; जब कि अगर खुदके त्रिकाली असल स्वरूपमें `अहम्' भावसे परिणमन करें तो सम्यक्त्व प्रगट होवे। यहाँ पर पर्याय भावसे `स्वाकार - त्रिकाली स्वरूपाकार' भावरूप होने पर भी पर्यायत्वका त्याग नहीं होता है। अतः उस अपेक्षासे निरालंब भी है। त्रिकाली स्वभावमें `अहम्' भावकी अपेक्षा वह स्वभावावलंबी भी कही जाती है। (५४६)

※

"दृष्टिके निर्णयमें पूर्ण शुद्धि भरी हुयी है।" पू. सोगानीजी (द्रव्यदृष्टिप्रकाश : ४८०)

उक्त वचनामृत जो दृष्टिके विषयभूत पदार्थका यथार्थ निर्णय है, उसका महत्व / मूल्य दर्शाता है। जो यथार्थ है। यह निर्णय स्वरूप संस्कार डलनेका कारण होनेसे - आत्माको समाधि होनेके लिये, स्वरूपमें स्थिति होनेके लिये अपूर्व आधार है। अर्थात् सिद्धपद उसके गर्भमें आ जाता है - ऐसी वस्तुस्थिति है।

जब तक ऐसा बीजज्ञान उत्पन्न नही होता है तब तक अनादिका परलक्ष नहीं मिटता। `बीजज्ञान'की उत्पत्तिसे स्वलक्ष बंधता है, तबसे सभी प्रवृत्ति स्वरूपलक्षपूर्वक होती है, इसके पहले सभी प्रवृत्ति बिना लक्षके बाणकी तरह निरर्थक होती है। अर्थात् बाह्य दृष्टिसे होनेवाली सभी प्रवृत्ति बाहर ही बाहर होनेवाले परिणामवाली होती है, जिससे कोई आत्मलाभ नहीं होता है। वह सब पूर्वानुपूर्व चलता रहता है। यहाँसे अंतर क्रिया शुरू होकर अपूर्वता प्रगट होती है। (५४७)

※

समस्त संसार दुःखके कारण आर्त है। उसमें भी रोग, जरा, मरणादि प्रसंगोंमें जीवकी पराधीनता, अशरणता, असहायता प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हो रही है। विशेष विचार करने पर केवल क्लेश व शोक स्वरूप यह संसार है, उसमें सुखी होनेकी जीवको आस्था है, जिसको छोड़े बिना आत्मस्वभावको प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिन्होंने वैसी आस्था छोड़ी है, वे ही आत्मस्वभावको प्राप्त हुए है। मोहवशात् जीवको इस दिशामें विचार उत्पन्न नहीं होता।

ओघसंज्ञा दो प्रकारसे हैं।

१ : समझ किये बिना धर्मप्रवृत्ति होना।

२ : परलक्षी ज्ञानमें धारणा होना अथवा समझको प्रयोगान्वित किये बिना निश्चय कर लेना, वह भी ओघसंज्ञा है। (१३०७)

✻

'श्रुतज्ञान है वही आत्मा है' - इस शास्त्रवचनमें दो परम-अर्थ समाये हुए हैं।

१ : श्रुतज्ञानमें ज्ञानस्वभाव विद्यमान है - इसलिए वास्तवमें वही आत्मा है।

२ : ज्ञानसामान्य जो वेदनरूप है उसके आविर्भावसे स्वभावका सहज आश्रय होता है, यही मोक्षमार्गकी विधि है। - ऐसा पारमार्थिक आशय उसमें निहित है। अत्यंत गंभीर भाव उक्त वचनामृतमें भरे है। (१३०८)

✻

जो जीव पूरे उद्यमसे आत्महित करनेके लिए उत्सुक है, वह तदर्थ बलवान अवरोधक कारणोंके बीच भी यथार्थरूपसे समाधान कर सकता है। पूरे उद्यमसे स्वकार्य करनेका अभिप्राय होनेसे वैसे प्रसंगमें प्रमाद या शिथिलतामें नही आता। यदि प्रयत्नका प्रकार उक्त प्रकारसे नहीं होगा तो आत्महितके मार्ग पर आगे बढ़नेमें कठिनता होती है। उलझन खड़ी होती है। (१३०९)

✻

आत्मार्थीजीव भावि प्रतिकूलताके संदर्भमें घबराहटका अनुभव नहीं करता है, बल्कि उलटा वह ऐसी तैयारीमें रहता है कि 'भले ही प्रतिकूलता आ जाये, वह समय ही अधिकरूपसे कल्याणकारी होगा' और वास्तवमें योग्यतावान प्रतिकूल समयमें योग्यतामें वृद्धि ही करता है, पुरुषार्थकी उग्रतामें आता है। (१३१०)

✻

अस्तित्व अवलंबनका विषय है। स्वरूपप्राप्तिकी भावना - रुचिपूर्वक उसका पता लगता है और तब उसका ग्रहण होता है, तब रुचि अनन्यताको प्राप्त होती है, जो कि चैतन्य वीर्यकी स्फुरणाका कारण होती है। इस प्रकार स्व-आश्रयका पुरुषार्थ जागृत होने पर कार्य संपन्न होता है। (१३११)

✻

'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगका महत्त्व' सर्वाधिक है। ऐसा बोध नमस्कार मंत्रसे प्राप्त होता है। उसमें प्रथम श्री अरिहंतको नमस्कार किया है। उसमें सिद्ध भगवानका अविनय तो नहीं

विचारबलसे मुमुक्षुजीवको भविष्यकी चिंताका त्याग करने योग्य है। लोकसंज्ञासे, लोकलज्जाके भयसे, जब तक भविष्यकी चिंता रहा करती है तब तक परमार्थकी प्राप्ति होना असंभवित है। और अगर ऐसा होता रहे तो अमूल्य मनुष्य आयु व्यर्थ गवाँना हो जाय, इतना ही नहीं आगामी भवोंमें महा आपत्तियाँ आ पड़े। ऐसा नहीं हो इसके लिये वारंवार विचार कर्त्तव्य है। यथार्थ बोध होनेके लिये यह अति आवश्यक है। इस जगह पर भूल नहीं हो इसके लिये गंभीर उपयोग रखना योग्य है। कुटुम्बका ममत्व रखकर मुमुक्षु ऐसी भूल नहीं करता बल्कि `आत्म-विचार'को मुख्य करता है। (५५३)

⁂

सर्वत्र मुख्यता होनेका कारण, प्रयोजनका भासित होना वह है। ज्ञान सामान्य सर्व समाधानरूप तथा सुखरूप है। अतः निरंतर प्रत्यक्ष ऐसे इस ज्ञानकी मुख्यता रहे वैसा पुरुषार्थ कर्त्तव्य है - निश्चितरूपसे कर्त्तव्य है। इस प्रगट लक्षणसे - वेदनसे स्वभाव आविर्भूत हो यही एकमात्र कर्त्तव्य है। इस प्रकार ज्ञानभावमें रहने योग्य है। रहनेका अभ्यास होना आवश्यक है। ज्ञान मूल / वास्तविक दशा है जब कि उदयभावरूप स्वप्नदशा है। (५५४)

⁂

मुमुक्षुकी भूमिकामें परिपक्वता और अपरिपक्वताके दो भेद होनेसे, मतमतांतरके विषयको अति नाजुक समझने जैसा है। आत्मार्थ जिसको मुख्य है, उसको आत्मार्थके कारण सत्यका ग्रहण निर्दोषताके हेतुपूर्वक करने पर प्रायः `मत'का आग्रह नहीं होता है, तथापि अन्यमतका पक्ष भी नहीं होता है। यह भेदरेखा सूक्ष्म होनेके बावजूद भी आत्मार्थी जीव आत्मार्थताके कारण भूल करते हुए अटक जाता है अथवा बच जाता है। जब कि आत्मार्थकी न्यूनतामें `मत'का ज़ोर, `सत्यका आग्रही'- होनेके बहाने बढ़ जाता है, तब वह अनेक प्रकारसे नुकसान और संकुचितताका कारण बन जाता है। अतः मुमुक्षुजीवको बोध ग्रहण करनेकी मुख्य वृत्तिका सेवन करना योग्य है, परन्तु बोध देनेके स्थानमें बैठना उसके लिये हितावह नहीं है। परिपक्व मुमुक्षुता आने पर अभिप्राय स्वच्छरूपसे व्यक्त हो सकता है और तभी `सत्' की हानि नहीं होती है। जहाँ सत्की हानि है वहाँ `मत' है और जहाँ `मत' है वहाँ `सत्' नहीं है - यह लक्षमें रखने योग्य है। मतार्थ उत्पन्न होने पर आत्मार्थकी हानि होती है। तथापि असत्को सम्मत करनेसे / अनुमोदन करनेसे गृहीत मिथ्यात्वका प्रसंग आता है। अतः दोनों प्रकारके दोषोंसे बचनेके लिये सूक्ष्म प्रयोजनकी दृष्टि आवश्यक है। (५५५)

⁂

सिर्फ शास्त्रवांचनसे समझमें यथार्थता नहीं होती है, परन्तु समझके अनुसार परिणमन करनेका जब प्रयास होता है तब यथार्थता आती है। इस प्रकारका प्रयास अवश्य सफल होता है। (१३२७)

✲

ज्ञानदशामें जगत / उदय सब स्वप्नवत् हैं। क्योंकि ध्रुव तत्त्वका (खुदका) इससे कोई संबंध नहीं है। जगतके सर्व पदार्थों व प्रसंगोंकी आशा / अपेक्षा मिटे नहीं तब तक जीव ज्ञानदशाको प्राप्त नही होता है। (१३२८)

✲

स्वलक्षसे - आत्मकल्याणके लक्षसे, जब उपादानमें जागृति आती है, तब पात्रतावश वह जीव सत्पुरुषको / कल्याणके मार्गके खोजता है, उसके लिए दृढ़ होकर तरसता है, तब वह जीव अवश्य सत्‌को प्राप्त होता है। (१३२९)

✲

जीव चाहे कितने भी शास्त्र पढ़ ले, धारणा कर ले, तत्त्वचर्चा करे, परन्तु जब तक मोक्षाभिलाषी बनकर भेदज्ञान नहीं करता है, तब तक आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकता, परकी एकत्वबुद्धि नहीं टूटती। (१३३०)

✲

## मई - १९९४

भावभासन हुए बिना त्रिकाली स्वरूपके प्रति ज़ोर नहीं आता। फिर भी सिर्फ धारणाके कारण त्रिकालीके विकल्प द्वारा ज़ोर देनेसे, वह ज़ोर विकल्प पर जाता है और भावभासनकी विधि छूट जाती है। अतः विधिका विपर्यास होता है। वैसा ज़ोर कभी सफल नहीं होता। (१३३१)

✲

मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थ निर्मलता / पात्रता आनेमें मुख्य / खास कारण सत्पुरुषके प्रति परम प्रेमार्पण होना वह है। यह अद्‌भुत व सुगम उपाय है। (१३३२)

✲

गुणके प्रति प्रेमके कारण गुणानुवाद होना वह भक्तिका स्वरूप है। अनन्त निजात्मगुणोंकी खिलवटका यह बीज है। "वह केवल को बीजज्ञानी कहे।" - (गुरुरूप) प्रभुके गुणोंकी भक्तिके गर्भमें एक अंश निर्मलतासे लेकर पूर्ण निर्मलता प्रगट होनेका बीजभूत कारण पड़ा है। (गुरु) / प्रभु तो परम निर्मल प्रेमकी प्रतिमा है। उनके नयन / दृष्टि परम प्रेम बरसाते है, रेलमछेल

अनादिसे अज्ञान व मिथ्यात्वके कारण `पुद्गलमें सुख'की वासनासे जीव वासित है, उस वासनाका जय, स्वरूपमें निवास किये बिना संभवित नहीं है। स्वरूपमें निवास होनेके लिये मनका जय, मनोजयके लिए भेदज्ञानपूर्वक स्वभावका परिचय, स्वभावके परिचय हेतु स्वरूप निश्चय, स्वरूप निश्चय हेतु स्वरूप प्राप्तिकी भावना-रुचि, और उसके लिये पात्रताका होना आवश्यक है। इस प्रकार `सबका मूल आत्माकी सत्पात्रतामें रहा है।' उसकी वृद्धिका उपाय प्रत्यक्ष सत्पुरुष एवं सत्संगकी पर्युपासनाका सेवन करना वह है। इस प्रकारसे व्यवहारसे परिणामका क्रम है। निश्चयमें निश्चयअर्थकी (प्रयोजनकी) अर्थात् आत्मामें अंतर्मुख होकर जुड़नेकी `योजना'का अपूर्व प्रकार सत्पुरुषके अंतरमें रहा है। जो शब्दगोचर नही है बल्कि अनुभवगोचर है। जो प्रत्यक्ष योगमें जागृत चैतन्यकी चेष्टासे लक्षगत् हो सकता है। (५६०)

※

अविवेकसे या अविचारीपनेसे सत्पुरुषके कोई भी वचन सम्बन्धी हलका विचार या हलका (वचन) कथन हो जाता है, तो वह मुमुक्षु (!) जीवकी अभक्ति है। जो वचन स्वरूपकी पवित्र साधनाभूमिमें से उगे हो, ऐसे वचन मुमुक्षुजीवके लिये हितकारीपनेके कारण अत्यंत भक्ति करने योग्य अथवा होने योग्य है, उसके बजाय अभक्ति हो, वैसा तभी बनता है जब अवश्य ज्ञानीपुरुषके प्रति अविश्वास - अश्रद्धा होती है - ऐसा समझने योग्य है। यह दर्शनमोहकी तीव्रता जनित विराधना / अपराध किसी भी परिस्थितिमें कर्त्तव्य नहीं है। ऐसे अपराधके फलमें सत्पुरुषका वचनयोग दीर्धकाल पर्यंत प्राप्त नहीं हो वैसी परिस्थिति पैदा हो जाती है। जिसके कारण आत्महितके निमित्तसे अति दूर होना पड़ता है। खुदका ही उपार्जन किया हुआ यह महा अंतराय है। (५६१)

※

दुरन्त एवं असार ऐसे इस अनादि संसारमें मनुष्यत्वकी प्राप्तिका महत्व बहुत है। और उसमें भी गुणसहित मनुष्यपना होना, उसका मूल्य तो बहुत है। अगर गुणसहित मनुष्यपना हो तो खुदके स्वरूपका निश्चय हो सकता है, वरना मनुष्यपना छूटकर प्रायः अधोगतिमें जीव चला जाता है कि जहाँ पर आत्महितका अवकाश नहीं रहता।

मनुष्यपनेमें गुणग्राही होकर दोषसे बचनेके लिये अल्पभाषी, अल्प परिचयी, अल्प सहचारी होना। अल्प भावना दिखाना, अल्प आवकार देना, अन्यको उपदेश (हो सके वहाँ तक) नहीं देना। इसके अलावा किसी भी प्रवृत्तिमें जुड़नेके पहले इसके फलका विचार कर लेना, जिससे प्रवृत्तिमें से वापिस मुड़नेका प्रसंग उपस्थित न हो। (५६२)

※

प्रेमरूप होता है, सत्पुरुषकी पहचान होने पर भक्ति - प्रेमरूप होती है और वह ज्ञान प्राप्तिका मूल कारण है। (१३५०)

※

सम्यक्त्वके कारणभूत ऐसे सात तत्त्वोंका श्रद्धान - उसका प्रतिपादन हेय-उपादेयके दृष्टिकोणसे किया गया है। उसमें भी जीवतत्त्व एक ही उपादेय है और अजीव तत्त्व (विभाव और विभावका निमित्त) हेय है।

हेय = छोड़ने योग्य ऐसे अजीव तत्त्वके ग्रहणका कारण होनेसे आश्रव तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वके ग्रहणरूप होनेसे वहाँ प्रतिबंध होता है, इसलिए उसका बंधतत्त्वरूप निर्देश किया गया है।

संवर और निर्जरा, दोनों अजीवतत्त्वको (जो भावमें अनादिसे स्व-पने ग्रहण होता आया है) छोड़नेमें कारण होनेसे कहे गये हैं, तथा छोड़ने योग्य अजीवतत्त्वको छोड़ देनेसे जीवकी जो अवस्था विशेष होती है, उसे दर्शानेके लिए मोक्षतत्त्वका प्रतिपादन करनेमें आया है। (१३५१)

※

अंतरमें पूर्णताका ध्येय और बाहरमें सत्पुरुषका योग - ये दोनों साथमें होने पर मोक्षमार्ग सुलभ है। मुमुक्षुजीवको तिरनेके लिए दोनों परम आवश्यक है। दोमें से एक भी अगर नहीं हो तो आगे बढ़ना नहीं हो सकता। (१३५२)

※

**जुलाई - १९९४**

स्वरूप-लक्षसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए उसका बहुत महत्त्व है।

१ : प्रथम भावभासनके वक्त ही स्वभावके संस्कार प्राप्त होते हैं।

२ : प्राप्त संस्कार अविनाशी संपत्ति होनेसे, सम्यक्त्वसे अगर च्युत भी हो जाये, फिर भी अल्प प्रयाससे मार्गको ग्रहण कर लेता है।

३ : स्वरूप-निश्चय सम्यक्त्वके अंगभूत अस्तित्व ग्रहण होनेसे अल्पकालमें स्वानुभूति प्रगट हो जाये, ऐसा अनन्य कारण है।

४ : स्वरूपलक्ष होते ही सर्व उदयभावके परिणाम, सर्व भूमिका (मुमुक्षु, ज्ञानी, मुनि) की पर्यायें स्वरूप लक्षपूर्वक ही होती है। जिससे यथार्थता एवम् संतुलन बना रहता है।

५ : इस भूमिकामें प्रथम ही स्वरूप 'स्व-पने' भासित होता है। जिसके कारण परिणाममात्रमें 'स्व-पना' मिटनेका (वह) कारण बनता है। (१३५३)

रस अंतरसे कम करना - यह मार्गको प्राप्त करनेकी पूर्व भूमिका होनेसे उसको साधन गीनने योग्य है। परमार्थप्राप्तिकी चिंता रहना, वैसे भावकी तीव्रता रहना वह अच्छा लक्षण है। कल्पित अनुकूलताका आकर्षण / स्पृहा, उसकी अधिकता, अत्यंत हानिकारक है। जो जीवको स्वसन्मुख नहीं होने देती। (५६६)

✲

आत्मा वस्तु सहजस्वरूप है और तदाश्रित मार्ग भी सहज है। उस मार्गकी प्राप्ति हेतु एवं - वृद्धि हेतु व्यवहारके विधि - निषेधके परिणाम भी सहज ही होते है। उसमें जब तक कृत्रिमता रहती है तब तक सहज स्वरूपके साथ सुसंगता नहीं रहती / नहीं होती है। जैसे कि स्वरूप महिमा स्वरूप लक्षसे सहज उत्पन्न होने योग्य है क्योंकि सहज स्वरूप अनन्त महिमावंत है, परन्तु जैसा है वैसा ही ज्ञानमें आये बिना सिर्फ शास्त्र आज्ञासे महिमा करनेमे, महिमा प्रेरक विचारसे कृत्रिमता पूर्वक महिमा करनेमें आती है जब कि मार्ग वैसा नहीं है। ठीक इसी तरह निषेध भी निश्चय स्वरूपके आदरपूर्वक / उपास्यभावका सद्भाव होनेके लिए सहज होना चाहिये। यद्यपि सहजता उत्पन्न होनेके पहले कृत्रिमता - विपर्याससे बचनेके लिए हो तो भी वह सहजताके लक्षपूर्वक आती है, यदि ऐसा प्रकार हो तो फल स्वरूप लाभ है, वरना पूर्वानुपूर्व हो जाता है। अथवा अहंभाव आदि दूषण उत्पन्न होनेकी संभावना खड़ी होती है।

बाह्य निवृत्ति-प्रवृत्ति आदि सम्बन्धमें भी उपरोक्त प्रकारसे विवेक कर्त्तव्य है। (५६७)

✲

जीवको आत्मकल्याण करनेकी इच्छा होती है इसलिये वह अपनी मति अनुसार धर्म-साधन करने लगता है। परन्तु दूसरे कोई भी साधन करनेके पहले आत्मकल्याणके लिए जिनकी आज्ञाका आराधन कर्त्तव्य है, ऐसे जो मूर्तिमंत आत्मज्ञान स्वरूप, मार्गको प्राप्त, मार्गदृष्टा सत्पुरुष, उनकी खोज करना आवश्यक है और उसके लिए यथायोग्य जिज्ञासामें आना, अनंतकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है इसकी चिंता होना, पूर्वके आग्रह एवं असत्संगको छोड़ना इत्यादि प्रारम्भमें कर्त्तव्य है। वैराग्य समेत सत्संग योग्यता प्राप्तिका साधन है। (५६८)

✲

पुराणपुरुष, पुरुषोत्तम परमात्माकी प्राप्ति हेतु कुछ देना नही पड़ता, सिवाय कि शुद्ध अंतःकरणसे उसकी प्राप्तिकी भावना अथवा उसके प्रति अचल प्रेम। अचल प्रेमसे ग्राहक होनेवालेको वह निरंजनदेव केवल निर्विकार होने पर भी, पराभक्तिके वश होते हैं। ऐसा सभी

भी अशक्य तो नहीं है। सत्पुरुषके योगमें बीजज्ञानकी प्राप्ति होने पर, अपरिणामी, अविनाशी परम स्वरूपका लक्ष होने पर, पर्यायबुद्धि शिथिल होकर, द्रव्यदृष्टि प्रगट होनेका कारण बनता है। 'अनन्त सुखधाम' निजपदके निर्णयका बल, स्वानुभूति प्रगट करता है, तब दृष्टि सम्यक् होती है, ध्रुवपदमें अपनत्व स्थापित होता है, अनुभवमें आता है, परिणामका एकत्व मिटता है। और सहज पुरुषार्थ, विवेक, निर्मलता, पर्यायकी गौणता, साक्षीभाव आदि प्रगट होकर वृद्धिगत होने लगते हैं। फिर भी 'त्रिकाली हूँ' उसीकी मुख्यता रहती है। (१३७०)

※

मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थक्रमसे यथार्थप्रकारसे दर्शनमोहका रस / अनुभाग घटनेसे जब यथार्थ निर्मलता आती है, तब सुखके निश्चयपूर्वक जो सुखानुभव (सुखाभास) होता है, वह भूल पकड़में आती है। जिससे सुखबुद्धि और परकी आधारबुद्धि मिटती है और ज्ञानकी सुखरूपता खुदको ज्ञानमें भासित होती है। जो आत्मस्वरूपका बीजज्ञान है। (१३७१)

※

सत्शास्त्र, सत्संग और सिद्धांत जो कि सन्मार्ग प्राप्तिके लिए उपलब्ध है, फिर भी जो जीव ध्यानादिके लिए अन्यमतीका अनुसरण करता है, वह मूल मुक्तिमार्गको छोड़कर उन्मार्ग पर मार्गकी खोज करता है। (१३७२)

※

**सितम्बर - १९९४**

पात्रतामें जीवके मुख्य तीन गुणोंमें निम्नरूपसे फ़र्क पड़ता है।

* मिथ्याश्रद्धाका - दर्शनमोहका अनुभाग घटता है।
* ज्ञानमें विपर्यास घटता है - मिटता है और यथार्थता आती है।
* कषायरस मंद पड़ जाता है। (१३७३)

※

**अक्टूबर - १९९४**

सुविचारणा, अतःकरणकी शुद्धि, संसार सुखकी उपेक्षावृत्ति आदि पूर्णताका लक्ष बाँधनेके अंगभूत हैं। (१३७४)

※

मुमुक्षुजीवको निजकल्याणके हेतुसे जो अंदरसे सूझ आती है, उससे मुमुक्षुता / योग्यता वर्धमान होती है। बाह्यसे / श्रवण-वांचन आदिसे जो मार्गदर्शन मिले, वह अंतरसूझकी पुष्टि हेतु होने चाहिए अथवा आगे बढ़नेकी सूचना (Hint) रूप होने चाहिए; क्योंकि वह परायी

मिथ्यात्वका त्याग करनेके लिए मुमुक्षुजीवको ऐसी कौनसी प्रतिकूलता है जिसकी मुख्यता करके अटकने जैसा है ? इसका अति गंभीरभावसे विचार करने योग्य है। 'अल्प भी भय रखना नही, भविष्यके एक पलकी भी चिंता करनी नही' - ऐसी सत्पुरुषकी आज्ञा जयवंत वर्तो ! आत्महितके वीर्योल्लासके कारण सारा जगत और भविष्यकी तमाम जिम्मेदारीयाँ (?) का विस्मरण जब रहता है तभी सच्ची मुमुक्षुता प्रगट होती है और तभी सन्मार्गका प्रतिबंध मिटता है।
(५७३)

❋

यदि सत्पुरुषकी पहचानपूर्वक दृढ़ निश्चय हुआ तो उदयप्रसंगोमें नीरसता आयेगी और स्वरूपनिश्चय होगा, जिससे आकुलता मिटती है और निःशंकता आनेसे जीव सर्व प्रकारके भयसे / दुःखसे निर्भय होता है। पुरुषार्थका प्रतिबंध दूर होकर, सुखसागरमें निमग्न हुआ जाता है। दुरंत एवं दुष्कर ऐसे इस संसारको तिरनेका यह क्रम / उपाय है। (५७४)

❋

'सत्की सँभाल लेते हुए, 'सत्'की जागृतिमें, जगतकी विस्मृति हो जाना, यह योगीका / संतका लक्षण है।' फिर किसीका ममत्व नही रहता और इसलिये आकुलता और भय भी नहीं होते। ये कलियुग है इसलिये परमार्थका स्थान अनेक प्रकारके अनर्थोने ले लिया है। विचित्रता एवं विषमताका पार नहीं है। इस प्रकार उलझनमें आ जाये ऐसी परिस्थिति होने पर भी जो उलझनमें नहीं आते है वे धन्य है, भक्ति करने योग्य है। उन्हें नमस्कार हो !!
(५७५)

❋

मूर्तिमान मोक्ष ऐसे सत्पुरुषके प्रति सम्यक् प्रकारसे अखण्ड विश्वास रखने योग्य है। मुमुक्षुजीवको क्वचित् प्राप्त विश्वास खंडित हो जाता है, तब निश्चितरूपसे अभक्तिके परिणाम हो जाते है, जो कि संसारका कारण है; क्योंकि उक्त अखंडित विश्वासका फल अवश्य मोक्ष है। जिसको उक्त प्रकारसे विश्वासयुक्तपना नहीं हो, फिर भी पूर्वपुण्य के योगसे समागम प्राप्त हुआ हो उसको उनके कोई प्रसंगमें या कोई वचनमें नकार आता है। जब कि यथार्थ पहचान होने पर ऐसा दोष नहीं होता है। सत्पुरुषके लिये अपने समान कल्पना होने पर ऐसा दोष उत्पन्न होता है।
(५७६)

❋

आत्मार्थी जीव जब सत्संगमें रहते हुए खुदके दोष टालनेके प्रयोजनसे, अत्यंत सरल परिणामसे अर्थात् अंतःकरणसे खुदके दोषका अभाव करनेकी भावनापूर्वक प्रवर्तन करता है

समाधान :- सभी शास्त्रवचन परिभाषारूप होनेसे मार्गके मर्मकी अभिव्यक्ति पर्याप्त मात्रामें उसमेंसे नहीं होती। अतः उसमेंसे मर्म पकड़ना सुलभ नहीं है; प्रयोग - ज्ञानी / उत्कृष्ट मुमुक्षुके प्रत्यक्ष परिणमनमें वह (परमार्थ) विशिष्ट प्रकारसे व्यक्त होता है, अतः प्रत्यक्षयोगमें वह समझमें आता है; जब समझमें आता है तब वैसा बोध आत्मामें असर करता है, तब वह परिणमन अन्यको परिणमन लानेमें कारण बनता है। इसीलिए प्रत्यक्षयोगरूप सत्संगका अद्वितीय महत्त्व सर्व ज्ञानियोंने प्रकाशित किया है। जो अनुभवनीय है। (१३८७)

✵

तत्त्वज्ञानकी समझ जिसे हुई हो, उसे उस समझका अनुभव करनेका प्रयास अवश्य करना चाहिए। क्योंकि तत्त्वज्ञानका विषय सिर्फ व्याख्याका विषय नहीं है, परन्तु वह अनुभवका विषय है। यदि तथारूप प्रयत्नसे भावभासन नहीं किया जाये, तो समझके विषयमें जीवको कल्पना हो जाती है, और उसमेंसे विपर्यासका जन्म होता है, जिसका फल दुःख है। (१३८८)

✵

जिज्ञासा :- आत्मकल्याणके उपायकी मुख्य चाबी (Master Key) कौनसी है ?

समाधान :- आत्म-हितरूप जो प्रयोजन, उसकी तीक्ष्ण और सूक्ष्मदृष्टि होना वह आत्म-सिद्धिकी मुख्य चाबी है। उस कारणसे मार्ग सरल होता है और मार्गमें तेजीसे आगे बढ़ना हो सकता है। इसके अलावा आत्महितकी सूझ (भी) अंदरसे आती है, दृष्टि निर्मल होने लगती है। जिसने उक्त दृष्टिको साध्य की है, उसका परमार्थ मार्गमें चमत्कारिक विकास होने लगता है। (१३८९)

✵

मुमुक्षुको अगर अपनी योग्यताका भान हो, तो वहाँसे आगे बढ़नेका जो वर्तमान प्रयोजन, उसकी सूझ / समझ आती है, वरना प्रयोजनके विषयमें लक्ष नहीं जाता। साथ ही साथ पूर्णताका ध्येय भी होना चाहिए, कि जिससे ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें स्थित धर्मात्माओंको पहचाननेका प्रयोजन (भी) यथार्थरूपसे समझमें आये और भावना उत्पन्न होवे अथवा भावनाकी वृद्धि होवे। अंतिम प्रयोजन पूर्ण सुखका है।

प्रयोजनकी सूक्ष्म व तीक्ष्ण दृष्टिमें सर्व पर्यायोंका विकास गर्भित है। और वहीं वर्तमान प्रयोजन व अंतिम पूर्णताका प्रयोजन - दोनोंकी सुसंगतता व सुमेल सधता है। जिसके कारण चुकनेका अवकाश नहीं है। (१३९०)

✵

व सिद्धांतबोधकी यह सुसंगतता है। आराधनाका यह संक्षेप है। जो सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें सुलभ है। (५८०)

※

सितम्बर - १९९०

लोकभावना और लोक सहवासरूप जो लोकसंज्ञा है, वह भाव जीवको भवरूप होता है, अतः भव निवृत्तिकी अभिलाषावान जीवको लोकभावनाको कम करनेके लिए अथवा नाश होनेके लिए सुदीर्घकाल पर्यंत सत्संगका सेवन करना - यह सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी आज्ञा है, जिसका आत्मार्थी जीवको परम भावसे आदर कर्त्तव्य है, सत्कार करने योग्य है। आत्मकल्याण करनेकी भावना अर्थात् परमार्थ भावनाको यह लोकभावना आवरणकर्ता है। जिसके कारण परमार्थ भावनाकी परिणति उल्लसित नहीं हो सकती बल्कि जो मंद अर्थात् साधारण आत्मकल्याणकी भावना होती है उसकी निष्फलता होती है। इसप्रकार भवभ्रमण नहीं मिटनेका प्रकार चालू रहता है। (५८१)

※

मुमुक्षुकी भूमिकामें जीवको आत्महितकी भावनाको बाधा पहुँचानेवाले प्रसंग भी आते है, तब वैसे प्रसंगमें 'सद्‌उपयोगपूर्वक' विचार सहित प्रवर्तन करनेकी इच्छा रखना। 'सद्‌उपयोग' का मतलब जिसके फलमें आत्म-अहित न हो वैसी सावधानी रखना। और वैसा पुरुषार्थ जितना भी हो सके, उसके लिए दृढ़ता रखनी चाहिये। इस प्रकारसे प्रवर्तन करते वक्त 'अनन्तकालमें जो प्राप्त नहीं हुआ है उसको प्राप्त करना है', यह लक्षमें रहना जरूरी है। उसको प्राप्त करनेमें थोड़ा समय ज्यादा लग जाय उसमें इतनी हानि नहीं है परन्तु जिसकी प्राप्ति करनी है, उस विषयमें अगर भ्रांति हो गई या भूल हो गई तो उसमें बहुत हानि है। इसलिए सत्पुरुषके आश्रयमें / आज्ञामें रहते हुए, और अगर प्रत्यक्षका वियोग हो तो उसमें कल्याणका भी वियोग है, ऐसा समझकर समागमके लिए चित्त रहता हो तब तो हानि नहीं होगी, सत्पुरुषका स्वरूप भास्यमान हुआ हो तब तो हानि नहीं होगी बल्कि अनुक्रमसे हित साधता है। (५८२)

※

ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि किसी भी क्रिया संबंधी ज्ञानीपुरुषका मार्गदर्शन आत्मार्थी जीवके लिए परम फलका कारण है। - ऐसा निश्चय होना चाहिये - दृढ़ निश्चय उस प्रकारसे होना चाहिये, कि जिससे ज्ञानीपुरुषका वचन शिरोधार्य होनेमें पीछेसे भी बुद्धि मचक नहीं खा जाय। लोकसंज्ञाके कारण भी उन वचनोंकी गौणता नहीं हो। शास्त्रसंज्ञासे भी उन वचनोंके

जो अनन्तकालसे हो रहा है, उसकी चिंतना हो आती है। यह चिंतना वृद्धिगत होकर वेदना / झुरनामें परिणमित होती है, तब उस जीवके दर्शनमोहका गलना शुरू होता है और यथार्थ उन्नतिक्रममें प्रवेश होता है। इसके सिवा दूसरे किसी भी प्रकारसे यथार्थताका प्रारंभ नहीं होता अथवा वर्तमान एवं भावि संयोगोंकी चिंताके घेरेमेंसे यथार्थ प्रकारसे जीव बाहर नहीं निकल पाता, और उस घिरावमें रहकर जो भी धर्म-साधन किया जाये, वह निष्फल जाता है, क्योंकि उसमें क्रम विपर्यास है अथवा वह कल्पित साधन है। (१४०५)

※

किसी भी जीवको जहाँ प्रेम है, वहाँ उस प्रेममूरत आत्माकी एकाग्रता होती है। जिसे सद्‌गुणका प्रेम है, उसे सद्‌गुणीके प्रति प्रेम उत्पन्न होना यह सहज - स्वाभाविक है। आत्मा स्वयं दिव्यगुणोंका भंडार है। जिसको ऐसा भासित होता है, उसको निजस्वरूपका परम प्रेम प्रगट होकर, सहज एकाग्रता सधती है। एकाग्रताके लिए कृत्रिम प्रयास योग-ध्यानादि कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि प्रेमके बिना वास्तविक एकाग्रता नहीं हो सकती। (१४०६)

※

फरवरी - १९९५

सत्पुरुषके योगमें (कोई) जीव भवभ्रमणकी चिंतनामें आकर मार्गके यथार्थ क्रमको प्राप्त होता है, तो कोई जीव भवभ्रमणसे छूटनेके लिए मार्गदृष्टा ऐसे सत्पुरुषकी खोज करता है। दोनों प्रकारसे आत्मोन्नति संभवित है। (१४०७)

※

एक मरणकी या मृत्युके कारणकी जीवको जितनी गंभीर चिंता हो जाती है, उससे अल्प चिंता अनन्त जन्म-मरण व उसके कारणकी भी नहीं होती हो ! तो जीवको 'मार्ग' कैसे सूझे ? अथवा उसे दृढ़ मोक्षेच्छा कैसे प्रगट होगी ? (१४०८)

※

'संस्कार नयसे आत्मा अन्य पदार्थके संस्कार झेलनेवाला है।' (प्रवचनसार) यह जीवका पर्याय स्वभाव है। इसलिए मुमुक्षुको संगका विवेक होना आवश्यक है। संगकी असर होती ही है। अत: विवेकी सत्संगका आश्रय करता है। अन्य संगके योगसे यह जीव असंग स्वरूपको भूला हुआ है। उक्त सिद्धांतके कारण श्रीगुरुके चरण सानिध्य - सेवनका श्री जिनका उपदेश है, जो कि परम हितकारी है। (१४०९)

※

प्रश्न :- परमागमोंमें सत्पुरुषके 'प्रत्यक्ष योग' के महत्त्वका उल्लेख क्यों अधिकांश देखनेमें

प्रकारमें प्रवर्तन रहा करता होनेसे अंतरंग अंतराय-कारण खुदको समझमें नहीं आता है। अत
ऐसा निश्चय कर्त्तव्य है कि जगत और मोक्षका मार्ग - वे दोनों एक नहीं है। (५८६

※

'सत्'स्वरूप स्वयं ही है। स्वयं अपने आपसे (द्रव्यसे, क्षेत्रसे) ज़रा भी दूर नहीं है, फिर भी उसकी प्राप्ति होनेमें - भावसे अनुभव होनेमें अनेक अंतराय रहे है, जो खुदकी दशामे प्रगट होते रहते है, फिर भी प्राप्तिके लक्षपूर्वक अंतर अवलोकन नहीं होनेसे, उस अंतरायरूप आवरणके कारण 'सत्' आवरित रहता है, वह किस प्रकारसे ? वह खुदके देखनेमे नहीं आते है और इसप्रकारके उपायसे अनजान होनेसे जीव रुढ़िगत बाह्य प्रवृत्तिमें 'सत्'की प्राप्ति हेतु मिथ्या प्रयास करता है। जो कि स्वयं आवरण रूप है। अतः 'सत्'का श्रवण, मनन, गवेषणा कर्त्तव्य है। (५८७)

※

जब आत्मकल्याणकी अपूर्व भावना होती है तब आत्मार्थीजीवकी विचारज्ञानकी दशा विक्षेप रहित होती है और आत्मकल्याणके उपायरूप धर्ममें परिणाम निश्चल होते है।

व्यवहार प्रसंगमें चिंताके कारण, चारों ओरसे चिंता उत्पन्न हो ऐसे कारणोंको देखते हुए भी निर्भयता रहे, उसके प्रति उदासीन होकर एक लक्षसे, एक ध्येयरूप रखकर, एक लयसे, अविस्मरणरूपसे, चढ़ती श्रेणीके भावसे, अत्यंत प्रयोजनभूत भासित होनेसे सावधानीसे, सर्व अन्य वृत्तिके प्रतिके रागको मिटाकर, ज्ञानीपुरुषके आत्म-श्रेयकी पद्धति सूचक वचन / मार्गबोधका श्रवण प्राप्त होने पर अपूर्व लाभ होना संभवित है। (५८८)

※

धर्मात्माके प्रति निष्काम ऐसी भक्ति / प्रेम - वह वास्तवमें धर्मके प्रतिका प्रेम अथवा भक्ति है। अतः ऐसी अत्यंत भक्तिके कारण, भक्तिमानके प्रति भी भक्ति सहज आ जाती है, तब मुमुक्षुजीव समकित सम्बन्धित निर्मलतामें स्थित होता है - अथवा उस भूमिकाके बहुतसे दोषोंसे निवृत्त होनेके योग्य बनता है। ऐसी योग्यता ही ज्ञानप्राप्तिका कारण है, वरना अल्पज्ञान भूमिकामें अंतर्मुखताके अनजाने मार्गके प्रति ज्ञानप्रधानतासे जानेमें, स्वरूप सम्बन्धी भ्रांति अथ स्वच्छंदादि दोषकी प्राप्ति हो जाती है। अतः उक्त प्रकारकी भक्तिका मुमुक्षुजीवको प्रीतिपूर्व आराधन कर्त्तव्य है। (५८९

※

जिसको दर्शनमोह बलवानरूपसे वर्तता है, वह जीव ज्ञानीसे विमुख होकर उनकी अवज्ञ अवहेलना, अवर्णवाद करता है। ऐसा होनेका निमित्त / कारण खुदके कारणसे किसी जीवक

ऐसी भक्तिको नमस्कार हो । पुनः पुनः नमस्कार हो ।। (१४२३)

❊

मुमुक्षुजीव मार्गप्राप्तिके लिए आगे बढ़ना चाहता है तब 'आगे कैसे बढ़ना ?' इस विषयमें ज्ञानीको प्रश्न पूछता हो, परन्तु जिस प्रकारके प्रतिबंधके कारण अटकना होता है, उन दोषोंका निवेदन भी न करे और सिर्फ प्रश्नोंके उत्तर प्राप्त करके आगे बढ़ना चाहता हो, तो उसमें यथार्थ मार्गप्राप्तिकी भावनाका सद्‌भाव नहीं है। वास्तवमें जिसको ज़रूरत लगी हो, उसको ऐसी भूल नहीं होती। (१४२४)

❊

आगम विवक्षासे मतिज्ञानावरणादिका जितना क्षयोपशम (उघाड़) हो, उतना निरावरणपना गिना जाता है, परन्तु अध्यात्म पद्धतिमें तो जब देहादि अध्यास मिटे और अन्य द्रव्य- भावमें एकत्व मिटे और उपयोग स्वभावमें परिणमित हो तब निरावरणपना प्राप्त होता है, ऐसे निरावरणपनेका उघाड़के बढ़ने-घटनेके साथ सम्बन्ध नहीं है। (१४२५)

❊

आत्मकल्याणकी इच्छासे धर्मसाधन करनेवालेको, यह वारंवार जाँच करती रहनी चाहिए, कि चलती हुई प्रवृत्तिसे क्या लाभ हुआ ? अगर यथार्थता व निर्मलता ज्ञानमें नहीं आयी तो अवश्य किसी न किसी प्रकारसे विपर्यास हो रहा है, ऐसा विचार कर्त्तव्य है। और सत्समागममें उस विपर्यासको मिटाना चाहिए। (१४२६)

❊

जिसे आत्मकल्याणकी मुख्यता होती है, उसे आत्मकल्याणके मुख्य हेतुभूत ऐसे सत्संगकी मुख्यता रहती है। वह उस प्रकार कि सर्व प्रकारके प्रतिबंधको तोड़कर वह सत्संगकी उपासना करेगा। जिसको यथार्थ सत्संगकी उपासना करनेका विवेक / प्रयास नहीं है; उसको वास्तवमें आत्मकल्याण करना (ही) नहीं है। (१४२७)

❊

आत्म-परिणामकी निर्मलता होनेके लिए सत्पुरुषकी 'निष्काम भक्ति' मुमुक्षुको उत्कृष्ट कारण है। ऐसी निर्मलता समझकी यथार्थतामें और प्रयोजनकी सूक्ष्मताकी अंगभूत है। (१४२८)

❊

जिसके पास मनोबल हो, वह यदि प्रथम आत्मकल्याणका दृढ़ निर्धार करे, तो वैसा दृढ़ मोक्षेच्छाका भाव आत्मबल उत्पन्न होनेमें कारण बनता है, वरना प्रायः मनोबल हठ प्रयोगका कारण बनता है। (१४२९)

यथार्थ समझ / बोध प्राप्त होनेका मुख्य कारण, बोधस्वरूप ऐसे ज्ञानीपुरुषका आश्रय होन वह है; यद्यपि ज्ञानीपुरुषका संग बहुत बार हुआ है, फिर भी ये पुरुष कोई ज्ञानी है औ अब मुझे उनका आश्रय ग्रहण करना यही कर्त्तव्य है - ऐसा जीवको पहचानपूर्वक लगा नह है और इसीलिए परिभ्रमण चालू रहा है। ऐसा भासित होता है।

(श्रीमद्जी - ४१६)

असत्संगमें प्रीति, तद्जनित स्वच्छंदरूपी महादोष - जिसके कारण लोकसंज्ञा, 'मै भी समझता हूँ' - ऐसा मान, परिग्रहादिकके प्रति ज्ञानीपुरुषसे भी अधिक प्रेम, लोकभय, अपकीर्तिभयके कारण ज्ञानीकी अवहेलना / विमुखता; विनय - भक्तिमें कमी - इत्यादि कारण ज्ञानीकी पहचान होने नहीं देते। (५९३)

※

असत्संगके कारण जो सबसे बड़ा नुकसान जीवको होता है, वह ऐसा है कि उस कारणसे सत्पुरुषकी पहचान होना दुष्कर हो जाता है, और प्रायः असत्पुरुषमें प्रतीति आनेसे, जीव वहीं अटक जाता है। इसके अलावा अध्यात्म ग्रंथोंका वांचन, अध्ययन करते हुए उस विषयमे जीव कल्पना कर लेता है। अध्यात्म-वचनोंमें कुछएक विषय बुद्धिगम्य है, इस परसे उस विषयमें बिना भावभासन अनुमान लगाकर निर्धार करना, वह कल्पना अर्थात् अवास्तविकता है, जिसमें विपर्यास रहा है। अध्यात्म विषयमें अनुभवकी प्रधानता है। अतः स्पष्ट अनुभवांशके बिना सिर्फ बौद्धिक स्तरसे / प्रकारसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। अतः आत्मार्थीको वैसे प्रकारमे नहीं जाना चाहिए, परन्तु अनुभव पद्धतिसे सत्यका ग्रहण करना चाहिए और कथनमात्र अध्यात्म प्राप्त करके, भावसे अध्यात्म तत्त्व-स्वरूपका अवलंबन या अवलंबनका पुरुषार्थ नहीं वर्तता होने पर भी खुदके बारेमें मोक्षमार्गकी कल्पना कर लेता है और वैसी मति कल्पनाके कारण हुई मान्यताका आग्रह हो जानेसे, सत्पुरुषके समागमके प्रसंगमें, उस मान्यताका आग्रह आड़े आकर स्तंभभूत होता है; (परमार्थ ग्रहण होनेमें) उसका खयाल तक जीवको नहीं आता है, जिसके कारण सत्पुरुषकी सभी बातें जीवको सम्मत नहीं होती है, कोई-कोई बात सम्मत होती है परन्तु अनजानेमें कभी उसमें सत्पुरुषके प्रति अभक्ति हो जाती है, जो कि परमार्थके ग्रहणमें बड़ा प्रतिबंध है। (५९४)

※

सिद्धांतके ग्रंथ, एवं सिद्धांत आश्रित अध्यात्मका विषय जिसमें प्रतिपादित है वैसे ग्रंथोका, खुदकी तथाप्रकारकी विशेष योग्यता होनेके पहले सद्गुरुगमसे समझने के बजाय खुदकी कल्पनासे जैसे-तैसे पढ़कर, निर्धार करके, विभावरस मंद हुए बिना (और) अंतरदशा पलटे बिना (परिणति

पलटनेके लिए पूरी शक्तिसे जूझना पड़ता है, तत्पश्चात् ही सरलतासे मार्ग प्राप्ति हो सकती है। (१४४३)

※

यथार्थ मुमुक्षुता - दृढ़ मोक्षेच्छा, यह सिद्ध-पदका मंगल शिलान्यास है। इस शिलान्यासका उत्साह कोई निराला है - अपूर्व है। (१४४४)

※

परमार्थमार्गका मूल्यांकन आने पर समस्त संसार गौण हो जाता है और सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगका मूल्यांकन होता है। तथारूप योगसे बीजज्ञानकी प्राप्ति होकर आत्मस्वरूपका मूल्यांकन होता है, जिससे स्वरूपमहिमा सहज उत्पन्न होती है। स्वानुभूति जो है वह स्वरूपमहिमाकी पर्याय है। गुणस्थान अनुसार तारतम्य भेद होता है। (१४४५)

※

कोई भी शुरू किये हुए कार्यकी यथार्थताका नाप, उस कार्यके उद्देश्य - ध्येयके साथ सम्बन्ध रखता है। ध्येयका स्तर जितना ऊँचा, उतनी कार्यकी प्रक्रियाका स्तर ऊँचा एवं यथार्थ होता है। (१४४६)

※

जून - १९९५

जितना सत्पुरुषका घनिष्ट संग बढ़ता जाता है, उतना उनके भीतरका रहस्य दिखने लगता है, तब निर्मल प्रेम और ऐक्यभाव उत्पन्न होकर उन्नत परिणामोंका प्रयास चालू होने लगता है। (१४४७)

※

मित्रताका सम्बन्ध सिर्फ हास्य - विनोदकी सीमा पर्यंत नहीं होना चाहिए, परन्तु अगर कोई कुमार्ग पर चढ़ने लगे तो उसे रोकना - वह मित्रता है। अथवा सन्मार्ग पर ले जाये वह सच्ची मित्रता है। (१४४८)

※

बाह्य धर्मसाधनकी प्रवृत्ति आगे बढ़नेके लिए है। जीव यदि आगे नहीं बढ़ता है, तो वही प्रवृत्ति रुकावटका निमित्त बन जाती है। कोई भी धर्म प्रवृत्ति जब Routine बन जाती है, तब प्रायः जीव वहाँ अटक जाते है, अतः वहाँ जागृति आवश्यक है। (१४४९)

※

मुमुक्षुतामें जितनी निज हितके प्रयोजनकी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण पकड़ रहे, उतनी परिणमनमें

□ वस्तुके स्वरूपज्ञानको प्रकाशित करनेवाले वचनोंको सिद्धांत-बोध कहते है। जिसके द्वारा ग्रहण किये हुए उपदेशका स्थितिकरण होता है, वरना उपदेशबोधमें टिक नहीं सकते।

□ आत्मज्ञान और स्वरूपश्रद्धा प्रगट हो, वैसे आत्मश्रेयके पद्धतिसूचक वचनोंको मार्गबोध कहते है। जिसके द्वारा मार्गकी विधि (कथंचित् वक्तव्यरूप) व्यक्त होती है।

□ कठोर (बाह्य) तपश्चर्या या योगादि बलवान प्रयोग करने पर भी (उसप्रकारके साधनोंसे बलवान परिश्रम करने पर भी) प्राप्ति नही हुई, ऐसे स्वरूपकी सहजमात्रमे प्राप्ति हो, ऐसा उद्देश्य मुख्यरूपसे, प्रगटरूपसे जिन वचनोंमें प्रकाशित हो, उन वचनोंको श्री जिनेन्द्र भगवंतके उद्देश्य वचन कहनेमें आते है।

(५९८)

※

अनन्तकालसे जीवने खुदका कल्याण नही किया है, इसका कारण यह कि जीवको सच्ची मुमुक्षुता ही नहीं आयी और असत्संगकी उपासना चल रही है; अथवा वासना है; असत्संगमें रहना जो सुहाता है, वह असत्संगकी वासना है; वह जीवको अनादि भ्रांतिका मूल कारण है, और स्वच्छंद जैसे महा भयंकर रोगका उत्पादक है, आत्माके प्रति एवं सत्पुरुषके प्रति अरुचि होनेका कारण भी वही है। तीनों कालमें दुर्लभ ऐसे सत्पुरुषके योगमें बड़ा अंतराय होकर जीवको प्रतिबंध होनेके कारणके मूलमें भी असत्संगकी वासना ही रही है। लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा, एवं 'कल्पित ज्ञान' होनेका मूल असत्संगमें रहा है। अतः आत्मार्थी जीवको इस जगह बहुत-बहुत विचार और विवेक करने योग्य है। इस असत्संगसे छूटनेके लिए ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यंत अंगीकार होना वह उपाय है। (५९९)

※

वर्तमानमें जो-जो विषमताएँ वर्तती है, उसमें शहरके क्षेत्र अनार्यक्षेत्र जैसे हो गये हैं। पाँचों इन्द्रियके विषयकी इच्छाएँ अत्यंत प्रबलरूपसे प्रज्वलित होती हुई नज़रमें आती है। खान-पीन, रहन-सहनमें अत्यंत विवेक शून्यता आ चुकी है। आत्महित करनेकी बुद्धि मानो जैसे बिलकुल नष्ट हो चुकी हो ऐसा प्रत्यक्ष है, व्यवहारमें सरलता तो मानो जैसे परदेश चली गई हो, ऐसा है। ऐसी परिस्थितिमें आत्मार्थी जीवको बचनेका यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र निरंतर सत्संगकी उपासना करना वही है, कि जो संसारमें व्याप्त विषाक्त वातावरणमें समुद्रके बीच रही अमृतकी मीठी वीरडी है। 'मात्र आत्महितके वांछक' जीव भी क्वचित् ही मालूम पड़ते है।

(६००)

※

सच्ची मुमुक्षुताके प्रारम्भमें 'मोक्ष अभिलाष' अर्थात् 'पूर्णताका लक्ष' होकर शुरूआत होती

यह गुप्त आचरणा है। (१४६८)

※

मुमुक्षुके परिणाममें चढ़ाव-उतार होता रहता है, उसका कारण यह है कि अभी उर्ध्व श्रेणीमें प्रवेश नहीं हुआ है। परिणाममें दोष होवे और अगर उसका बचाव हो, तो वह दोष अभिप्राय सहित जानने योग्य है। यदि अभिप्राय विरुद्ध दोष होगा तो उसका बचाव नहीं होगा, परन्तु खेद होता है। अभिप्रायके बहाने बचाव होता है, वह अभिप्रायकी भूल है। (१४६९)

※

भूमिका प्रमाण आत्मभावना होनी चाहिए। प्रारम्भमें (१) आत्मकल्याणकी अपूर्व भावना अंतरकी गहराईसे होती है। फिर (२) स्वरूप प्राप्तिके लिए सत्पुरुषकी पराभक्ति उत्पन्न हो - वैसा भाव - ये भी आत्मभावना है। तत्पश्चात् (३) बीजज्ञानमें स्वरूपलक्ष होने पर स्वरूपकी अपूर्व महिमारूप आत्मभावना होती है। जिसके फलस्वरूप (४) स्वरूपलीनतारूप आत्मभावना होती है। (५) मोक्षमार्गमें स्वरूप समाधि वह आत्मभावना है। (१४७०)

※

मुमुक्षुके स्वलक्षी परिणाम हो इसके लिए अन्य मुमुक्षुकी अयोग्यता - योग्यताका नाप नहीं निकालना चाहिए। अन्यको नापनेकी क्षमता मुमुक्षु-भूमिकामें नहीं होती है, फिर भी परलक्षीपनेसे जीव यदि वैसी अनअधिकृत चेष्टा करता है तो इससे अवश्य खुदको नुकसान होता है। स्वलक्षी परिणमनवालेको सहज ही वैसी अप्रयोजनभूत प्रवृत्ति नहीं होती। (१४७१)

※

यथार्थ प्रकारसे निज दोषके अवलोकनसे जीवका स्वच्छंद घटता है अथवा नष्ट होता है, तब बीजज्ञान / स्वरूपनिश्चयके योग्य निर्मलता / भूमिका होती है। स्वरूपकी पहचान होनेकी यह एकमात्र अनुभव पद्धति है। (१४७२)

※

कोई जीव निज दोषके अवलोकनपूर्वक मुमुक्षुतामें आगे बढ़ता है, तब स्वच्छंद घटता है, और चंचलतामें कमी आनेसे परिणाममें बाह्य शाता आदि वर्तते हैं, तब अगर वह प्रिय लगे और उसकी मुख्यता हो जाये, तो जीवकी योग्यता अटक जाती है। क्योंकि वहाँ अभी बाह्य सुखकी अपेक्षा नहीं छूटी; इसलिए मानसिक शांति ठीक लगी, - वह लौकिक सुखकी जाति - एक जातिका सुख प्रिय लगा, वहाँ आत्मा 'सत् परमानंदरूप' है - ऐसा निश्चय नहीं है। इतना ही नहीं वैसा निश्चय होनेमें, उक्त भावोंकी मुख्यता प्रतिकूल है। वास्तवमें तो अपूर्व

हो !!

(६०४)

※

(यदि) शास्त्रवांचन करना पड़ता हो तो निष्कामभावसे, निष्काम करुणा - अनुकंपासे होना चाहिये, साथ ही साथ आत्मरस आविर्भूत होगा, तो खुद अपरिणामी रहकर एकांत दूसरेको ही सुनाता हो ऐसा नही होगा, वरना मुझे कितना अच्छा पढ़ना - समझाना आता है, मेरी शैली अच्छी है, उस प्रकारके परिणामसे संसारको बढ़ाना हो जाएगा। यहाँ उपरोक्त प्रकारसे जागृति रहनी चाहिये।

(६०५)

※

जीवको भोग-उपभोगका स्मरण आता है, क्योंकि अभिप्रायमें उसके प्रति सुखबुद्धि अभी गई नहीं, जिसके कारण इसके सम्बन्धी छोटी चिंता भी मिटती नहीं है। यह चिंतना जीवके गले पड़ी है, छूटती नहीं है इसलिए आत्मकल्याणकी चिंता नहीं हो रही है। परमार्थ चिंताका अभाव होना, यह स्थिति करुणाजनक है। मुमुक्षुको परमार्थकी अभिलाषाके आगे वैराग्य, इन्द्रियजय इत्यादि अथवा ममत्व छोड़नेकी कोई भी शर्त कठिन नहीं लगती। यदि कठिन लगती हो तो वह प्रबल विपर्यास है।

(६०६)

※

आत्मार्थीजीवोंके बीच परस्पर सत्संगका प्रसंग होनेसे, कभी कोई विचारभेद खड़ा हो तो भी मनभेद रखना नही चाहिये। अंतरभेद रखे बिना प्रेम एवं वात्सल्यपूर्वक एक साथ मिल जुलकर सत्संग करना चाहिये, ऐसा करने जाये तब अगर प्रकृति ज़ोर करे तो उसको धक्का दे देना; कि यहाँ पर तेरा ज़ोर चलने नहीं दुँगा; अर्थात् तब प्रकृतिको दबाना चाहिये। साधर्मीकी भूल प्रेमसे सुधारना सरल है।

(६०७)

※

**अक्टूबर - १९९०**

जिन-प्रभुके दर्शन करते वक्त स्वयंकी विद्यमानतामें जागृत रहते हुए दर्शन करने चाहिये, अथवा स्वयंके भावमें अपने स्वरूपको लक्षमें रखकर, विद्यमानताको जागृत करके दर्शन / नमस्कार करने चाहिये।

(६०८)

※

शरीरकी शुभा-शुभ क्रिया / प्रवृत्तिके कालमें उपयोगकी प्रवृत्ति उसमें होती है। जिसके कारण खुदको अपनी विद्यमानताके बारेमें अंतराय पड़ता है। अतः जितना हो सके वहाँ तक उपयोगको छूट्टा ही रखनेका सहज पुरुषार्थ / जागृति होनी चाहिये। शरीरमें अपनत्व होनेसे

है, जिसके कारण आगे जाकर पहचानपूर्वक सच्ची / यथार्थ भक्ति प्रगट होती है और जीवको वह आत्महितका कारण बनती है। सत्पुरुषकी पहचान होनेके पश्चात् 'अनन्य आश्रय भक्ति' आती है। जिसके कारण अनेक दोषोंकी निवृत्ति सहज होती है। (१४८५)

❋

**अक्टूबर - १९९५**

मुमुक्षुताकी प्रत्येक भूमिकामें उस भूमिकाका भावभासन आये, तो वह उस भूमिकाकी यथार्थता है - जैसे कि संसारके समस्त परिणाम परिभ्रमणके कारणरूप भासित होवे - दुःखरूप भासित होवे, तो यथार्थ वेदना आती है। तद्उपरांत अगर पूर्णताका भाव भासित होवे, तो लक्ष बंधे और जैसे-जैसे अवलोकन होता जाये, वैसे-वैसे स्वभावका भासन आता है। (१४८६)

❋

दर्शनमोहका ज्ञान और चारित्रके परिणमनके साथ सम्बन्ध है। ज्ञानमें विपरीत अभिप्राय होने पर दर्शनमोह तीव्र होता है, और अविपरीत / यथार्थ अभिप्राय होनेसे दर्शनमोह मंद होता है। चारित्रमें कषायरस तीव्र होने पर दर्शनमोह तीव्र होता है और कषायरस 'यथार्थ प्रकारसे' मंद होने पर दर्शनमोह मंद होता है। अतः मुमुक्षुजीवको विवेकपूर्वक परिणाममें दर्शनमोहका अनुभाग घटे उस प्रकारसे प्रवर्तन करने योग्य है। (१४८७)

❋

उदयभावोंके अवलोकनमें उन-उन भावोंके पीछे (निहित) अभिप्रायका अवलोकन होना जरूरी है। जिससे प्रतिबंध पकड़में आता है और उस प्रतिबंधसे मुक्त होनेके पुरुषार्थमें जुड़ना शक्य बनता है। (१४८८)

❋

मुमुक्षुता (पूर्णताका लक्ष) प्राप्त होनेके बाद भी, उदयभावमें उग्रतासे प्रकृतिमें जुड़ान होकर परिणाम बिगड़ते हैं, जिसका कारण जागृतिकी कमी, प्रयोजनकी पकड़में शिथिलता, स्वच्छंद और परम विनयकी क्षति है। सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति उक्त दोष मिटानेके लिए परम औषध है। परम सत्संग योग उसका साधन है। यह दोष पूर्वाग्रह और उदयप्रसंगकी पकड़ होनेसे जन्म लेता है। (१४८९)

❋

भक्ति अर्थात् सत्पुरुषके प्रति बहुमान, उसके साथ-साथ प्रेमरूप भक्ति प्रगट होने पर 'सोनेमें सुहागा' जैसा होता है, जो आत्मबोध प्रगट होनेका अंग है। उसे 'रहस्य भक्ति' भी कही जाती है। - इस 'रहस्य' को जो जानता है, वही इसकी मस्तीमें आता है। इस मस्तीमें

होता है। - यह सादी सरल परिणमनकी घटनाका अवलोकन करके निज मर्यादामें रहना उचित है। (६१३)

※

श्रीगुरुके श्रीमुखसे दो ही बातका श्रवण होने योग्य है, एक आत्मकल्याण और दूसरा आत्मस्वरूप। सत् शास्त्रोंमें भी ये दो ही पढ़ने योग्य है। अन्य सर्व सिर्फ जाननेका विषय है ऐसा जानकर गौण करने योग्य है। (६१४)

※

निष्काम मुमुक्षु - सत्पात्र जीवके प्रति वात्सल्यभाव होना, उसको सन्मार्गमें सहजरूपसे स्वयंके आचरणसे ज्ञानीपुरुषने स्थापित किया है। अतः वैसे जीवकी द्रव्यादि कारणसे, अनुकम्पाके योग्य स्थितिमें सेवा आदि कर्त्तव्य है, परन्तु ऐसा करने पर अगर सामनेवाले जीवको अपेक्षावृत्ति पैदा हो जाती हो तो, उसे परमार्थका रोधक कारण जानने योग्य है। उस वक्त वह जीव दीनवृत्ति, संयोगमें सुखबुद्धिकी वृद्धिरूप मलिन वासनाको प्राप्त होकर, क्रमशः मुमुक्षुताका नाश कर देवे, वैसा नहीं हो उसकी सावधानी रखकर, सामनेवाले जीवकी हितबुद्धिकी मुख्यता रखते हुए, वात्सल्यकी प्रवृत्तिमें विवेक कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य - अकर्त्तव्यकी भेदरेखा इस विषयमें सूक्ष्म होनेसे संतुलन बनाये रखना योग्य है। जिसके फलमें परमार्थ लाभ हो वैसा लक्ष रखनेसे संतुलन रह पाता है। (६१५)

※

आत्मार्थी जीवको ओघसंज्ञा, शिथिलता आदि दोष मिटनेके हेतु यह विचार गंभीरतासे करना जरूरी है किः- सुदीर्घकाल पर्यंत तत्त्व-अभ्यास, देव-गुरु-शास्त्रके प्रति भक्ति - अर्पणता इत्यादि होने पर भी, अभी तक ऐसा क्या 'करने योग्य' - बाकी रह जाता है ? कि जिसके कारण आत्म-कल्याणकी उर्ध्व श्रेणीका प्रकार नही चला ? अथवा ऐसा क्या परिणमनमें चल रहा है कि जिससे आत्मकल्याण होनेमें वह अवरोधरूप है ?

उपरोक्त विषयमें परम गंभीरतासे अवलोकन होकर, आत्मभावना ज्याप्रकारसे वृद्धिगत होकर, मार्ग प्राप्त होनेके लिए, सुगमतासे होनेके लिए, जैसी दशा होनी चाहिए वैसी दशा प्राप्त होवे, यह बात शीघ्र चेतनेके लिए है। (६१६)

※

एक आत्मार्थके अलावा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और इसके लिए जिन्होंने जगतको पीठ दी है, तथापि उस आत्मार्थको साधकर मात्र प्रारब्धवशात् जिन्हें देहादि हैं - ऐसे ज्ञानीपुरुष मुमुक्षुजीवको सिर्फ आत्मार्थकी ही प्रेरणा देते हैं, अथवा आत्मार्थ सधे वैसा

पक्षांतिक्रांत होनेके लिए आत्मार्थी जीव स्वरूप लक्षपूर्वक उत्पन्न विकल्पकी भी उपेक्षा करता है, जिससे स्वानुभव योग्य स्थिति होती है। - इस सिद्धांतसे स्वतः सिद्ध होता है कि आत्मार्थी जीव इसके पहले तो सर्व अन्य द्रव्य - भाव से अच्छी मात्रामें उदासीन हो चुका होता है।

अतः जब तक आत्मार्थीकी भूमिकामें अपेक्षाभाव रहा करता है, तब तक वह परमार्थमार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। परकी अपेक्षावृत्ति ही जीवको स्वरूपके प्रति - अंतर्मुख होनेमें रुकावट बनती है, अतः जो जीव अंतरमें झुकना चाहता है, उसको अपनी पर अपेक्षितवृत्तिको मिटाना जरूरी है। पर अपेक्षितवृत्ति स्वयं दीन भाव है, जो कि स्वयंके अनन्त सामर्थ्यका अनादर भाव है। (१५०५)

※

## दिसम्बर - १९९५

जिज्ञासा :- कोई जीव संसार प्रवृत्तिको छोड़कर, तत्त्वज्ञानका अभ्यास बहुत करता हो तो, उसे तत्त्वरुचि गिन सकते है या नहीं ?

समाधान :- यदि स्व-लक्षी तत्त्वज्ञानका अभ्यास हो, तो ही तत्त्वरुचिका सद्‌भाव गिन सकते है अथवा उस प्रकारसे अगर तत्त्वरुचिको पुष्टि मिलती हो और वह वृद्धिगत होती हो, तो तत्त्वरुचि गिन सकते हैं, वरना तत्त्व-अभ्यास करते-करते जानकारी बढ़ानेकी अपेक्षावृत्ति रहा करती है और इससे पररुचि - कुतूहलवृत्तिको पुष्टि मिलती है, और इससे दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। आत्मरुचि प्रयोजनके साथ जुड़ी हुई है। प्रयोग बिनाके वांचन-विचार शुष्कताको उत्पन्न करते हैं। उलटी रुचि सुलटी रुचिको रोकती है। पररुचिवाले जीवको निजप्रयोजन छूट जाता है। (१५०६)

※

जिज्ञासा :- भक्तिमार्गमें आये हुए जीवके भाव कैसे होते हैं ?

समाधान :- सत्पुरुषकी पहचान होने पर, उनके वचनकी प्रतीति, आज्ञाकी अपूर्व रुचि और स्वच्छंद निरोध भक्ति, इसके उपरांत आज्ञा आश्रितपने, सर्वार्पणता पूर्वक रहता है, उस जीवको यथार्थ भक्ति - कि जो अंतर वैराग्यको और ज्ञानकी निर्मलताको उत्पन्न करनेवाली होती है। (१५०७)

※

जो मुमुक्षुजीव सत्संग और आत्म-कल्याणकी यथार्थ भावनावान होता है, वह दूसरे मुमुक्षुकी तथाप्रकारकी भावनाको अच्छी तरह समझ सकता है। इसलिए उसकी अनुमोदनापूर्वक वह

कल्पना होती है, वह सब भ्रांति है, जिसकी निवृत्तिके हेतुसे सर्व साधन कहे गये हैं, इसलिए जो भी साधन अंगीकार किया जाय उस वक्त सर्वत्र भ्रांतिसे निवृत्त होनेके लक्षसे, अर्थात् सत्‌स्वरूपके लक्षसे ही सभी प्रवृत्ति होनी चाहिए, वरना उन क्रियाओंमें भ्रांतिगतरूपसे अहंबुद्धि, तद्‌जनित कदाग्रह इत्यादि अवगुण अवश्य उत्पन्न हो जाते है, अथवा पूजा श्लाघा होनेसे वह प्रिय लगता है, अथवा मताग्रहके कारण संप्रदाय चलानेकी रूढ़िमें आना बन जाता है, जो कि ज्ञानीकी आज्ञासे बाहर है। भ्रांतिसे निवृत्त होनेके लिए जीवको अत्यंत सावधानी / जागृति रखनी चाहिए। विशेषतः इस प्रकारमें ध्यान देने योग्य है। (६२०)

※

लौकिक भावसे वर्तना - अर्थात् आत्मस्वरूपका विस्मरण करना, सांसारिक प्रसंगोंमे या धार्मिक प्रसंगोंमें यह एकांत अहितका कारण है।

अनादिसे लोकसंज्ञाके कारण सहज ही लोकचेष्टामें सावधानी हो आती है। इस प्रकारकी सभी दरकारको छोड़कर अथवा उपेक्षित होकर आत्महितको ही मुख्य करना उचित है क्योंकि लौकिकभावके आड़े आत्महित होना असंभवित है। अथवा लोकचेष्टामें वर्तते हुए भी आत्महित कर सकेंगे, वैसी इच्छा रखना यह अशक्यको शक्य करने जैसी बात है। जो जीव लोकसंज्ञामें वर्तता है, वह आत्माकी हित-विचारणा भी यथार्थरूपसे नहीं कर सकता, तो उस हित विचारणासे प्राप्त फलकी अपेक्षाका तो विचार भी क्या करना ? और उस हित विचारणाका स्थान ऐसा जो सत्संग, उसकी असरको लोकावेश धो डालता है। अथवा इसका थोड़ा - बहुत फल आया हो तो उसे निर्मूल कर देता है; इसीलिए आत्मार्थी जीव लोकसंग-प्रसंगसे दूर रहकर निजहितका साधन करता है, जब कि ज्ञानी तो अत्यंत जागृत रहकर (व्यवसायादिमें प्रवर्तन करना पड़ता हो तब) उदयको वेदते है; आत्म अवस्थाकी सँभाल रखते-रखते प्रारब्धको भोगते हैं, जिससे उदासीनता सहज रहती है। (६२१)

※

प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषकी भक्ति और शासन नायक भगवान महावीरस्वामीकी प्रतिमा समक्ष भक्ति करनेवालेको खुदका विशेष हित किसमें है ? इसका खुदके भक्तिके परिणाम परसे विचार करके प्रत्यक्ष-योगका महत्त्व यदि समझमें आये, तो बाह्य क्रियामें अटकेगा नहीं और सत्संगकी आराधना करेगा। वहाँ सामान्य पात्रता संभवित है। उत्कृष्ट पात्रतामें तो ज्ञानीपुरुष देहधारी परमात्मा ही भासित होते है, जिससे ज्ञानीपुरुषके प्रति परमभक्ति संप्राप्त हो, वैसी बुद्धि होने पर मार्गकी प्राप्ति निकटमें है, ऐसा समझने योग्य है। (६२२)

※

है। (१५१९)

※

मुमुक्षुजीवके आत्मकल्याणकी योजना सत्पुरुषके अंतरमें रही है। इस बाबतसे अनजान होने पर भी जो जीव आज्ञाकारितामें रहता है, वह जीव गिरते हुए बच जाता है, और अंततः मार्गको प्राप्त कर लेता है। - यह जिसकी समझमें नहीं आता, वह प्रायः स्वच्छंदमें चढ़ जाता है और सन्मार्गसे दूर हो जाता है। (१५२०)

※

दर्शनमोहका अनुभाग कम हो, ऐसे अनेकविध परिणाम मुमुक्षुजीवको होते हैं, जिसकी यथार्थताको ज्ञानीपुरुष समझते हैं। उन्हें अनुभवसे यथार्थ क्रम पर ले जानेकी सूझ होती है, इसलिए उनकी आज्ञामें रहनेसे मार्ग-प्राप्ति सुलभ हो जाती है। आज्ञांकितपना नहीं हो तो वहाँ साथ ही साथ दर्शनमोह बढ़ जाये, वैसे परिणाम होनेसे जीव मार्गकी समीप नहीं हो पाता - जिसके कारण आखिरमें उलझनमें आना पड़ता है, अथवा मिथ्या समता आ जाती है। (१५२१)

※

ध्रुवतत्त्वके निजावलंबन सम्बन्धित तथारुप पुरुषार्थ ज्ञानमें स्वसंवेदनके आविर्भावको उत्पन्न करता है, और ज्ञानसामान्यके आविर्भावसे आत्मा निज ज्ञानस्वभावके स्वतः आलंबनमें परिणमित हो जाता है - दोनों प्रक्रिया समकालमें होती है। कथनमें क्रम पड़ता है, परंतु परिणमनमें अविरोध एवं समकाल है। ज्ञानसामान्यका आविर्भाव, वह स्वसंवेदनका आविर्भाव है, जो कि ज्ञानविशेषके तिरोभावपूर्वक होता है। परिणमनमें दोनों प्रयोग होने चाहिए, अतः दोनों प्रकारसे उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है। (१५२२)

※

आत्म-कल्याणके इच्छुक जीवोंकी योग्यता / अयोग्यता विभिन्न प्रकारकी होती है। ज्ञानीपुरुषके योग बिना वे जीव अँधेरेमें भटकते रहते हैं। अथवा स्वमति कल्पनासे आत्महितके उपायमें प्रवृत्ति करते है, परन्तु इससे कोई आत्मकल्याण हो नहीं जाता।

ज्ञानीपुरुष वैसे जीवोंके पूर्वाग्रहको समझते हैं। और उस पूर्वाग्रह (Misconcepts) को कैसे मिटाना, यह वे जानते हैं। सत्संगके योगमें उसका निदान व इलाज किया जाता है। इसलिए उपदेश अनेक भेदोंसे प्रवर्तित हुआ है, फिर भी परमार्थमार्ग एक ही प्रकारसे है। (१५२३)

※

मुमुक्षुजीवके लिए (देव, मुनि, ज्ञानी) सजीवनमूर्तिका योग परम कल्याणकारी है। तथापि

छोड़कर प्रवर्तनेसे उस पदकी श्रद्धा / भान नही होता। परन्तु परमात्मा / सर्वज्ञ वीतरागकी आशातना करने रूप प्रवृत्ति होती है अर्थात् स्वच्छंद होता है। (६२५)

⁂

ज्ञानदशा यानी कि स्वानुभूतिरूप निर्विकार दशामात्र, अन्य पदार्थकी / विषयकी इच्छाको निर्मूल करनेका एकमात्र औषध है, क्योकि उसमे तृप्ति एवं शांति साथमें है। उसके सिवा अनादि सुखाभास जनित विषय-वृत्ति शांत हो - उसका उद्भव नहीं हो, ऐसा बनना असंभवित है। अज्ञानभावसे विषय अर्थात् इच्छित पदार्थको भोगते हुए उसका विकल्प मिटानेके उपायका विचार करनेमें आता है, वह यथार्थ नही है, क्योंकि भोगते हुए रस आता है, वह विषयमूर्च्छा विकारको पराजित करनेके बजाय वर्धमान करती है। जो ज्ञानको आवरण करनेवाली है। ऐसे प्रसंगमें ज्ञानीकी दशा, बाह्यदृष्टि जीवोके लिए अगम्य है। अंतर्दृष्टिवाला तो जानता है कि पुरुषार्थ होनेके बावजूद भी, नहीं चाहते हुए, उदयका अनिच्छासे, पश्चाताप सहित अनुसरण करना पड़ता है, अतः जिसको नीरसता सहजरूपसे प्राप्त हुई है, (सिर्फ) वह बहुत मुश्किलसे जीत पाता है। उसको यथार्थ समझे बिना प्रायः भ्रांति होना संभवित है। (६२६)

⁂

पूर्णताके ध्येय लक्षित परम जागृति, इसके साथ अंतर प्रयोगपूर्वक स्वरूपलक्ष, और तद्जनित एक लयसे उत्पन्न पुरुषार्थ ही ग्रंथिभेद होनेके लिए पर्याप्त वीर्यगतिको धारण कर सकता है; अन्यथा अनन्त बार ग्रंथिभेद होनेके प्रसंगमें जीव क्षोभको प्राप्त होकर फिरसे संसार परिणामी हुआ है। (६२७)

⁂

अनन्त शांति, ज्ञान, वीर्यादि स्व-स्वरूपका अवलोकन करते हुए, निज ध्रुवपदकी धुनको एक लयसे हे जीव ! आराधन कर, प्रभावनासे आराधन कर !! अप्रमत्तरूपसे स्वयं सिद्धपद मस्तक पर रहो !! निरंतर रहो !! (६२८)

⁂

गुणभेदसे स्वस्वरूपकी विचारणा सिर्फ लक्ष / पहचान होने तक ही योग्य है, जब कि प्रतिभासित अभेद स्वरूप, आराधनाका विषय होनेसे, आराधनाकी विधि गुणभेदरूप भेदभाववाली नहीं होनेसे, श्रद्धा या ज्ञानके भेदसे आराधन नहीं हो सकता, अथवा जब तक द्रव्य, गुण, पर्यायका भेद लक्षमें रहता है, तब तक अभेदतारूप आराधना नहीं हो सकती। अतः अभेद आत्मभावसे, आत्मा आत्मामें आत्मत्वको भाए, यह विधिका स्वरूप है। इसमें भेदका निषेध सहज है। अतः स्वरूपनिश्चयके बिना आराधनाका प्रयास, वह सिर्फ क्रमका विपर्यास है। जिसका

तो ऐसा तीव्र दोषदृष्टिके सद्भावमें बनता है। वहाँ खुदको गुण प्रगट करनेकी रुचि नहीं है, गुणग्राहीपना नही है, गुणोंके प्रति प्रेम नहीं है। ऐसे दोषको मिटानेके लिए उसका नुकसान, इसमें जो स्वभाव विरुद्धता है, उसे समझना चाहिए। और उसका सखेद निषेध आना चाहिए। (१५३५)

※

## मार्च - १९९६

जिज्ञासा :- ध्यान कब सहजरूपसे हो सकता है ?

समाधान :- जहाँ - जिसमें आसक्ति हो वहाँ सहजरूपसे एकाग्रता हो जाती है। एकाग्रता होना उसीका नाम ध्यान है। और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आसक्ति होती है। अतः जिसे सत्पुरुषके प्रति प्रेमरूप भक्ति होती है, उसे सत्पुरुषके चरण-कमलका ध्यान वर्तता है। जो कि मोक्षका मूल है। (१५३६)

※

धार्मिक जगत भी यथार्थ भक्ति / निष्काम भक्तिसे अनभिज्ञ है, तो प्रेममय भक्ति व उसके रहस्यसे अनभिज्ञ हो, उसमें कौनसा आश्चर्य है ? कोई महाभाग्य वश ऐसी भूमिकाकी किसीको प्राप्ति होती है। तब फिर वह जगत - व्यवहारसे उपेक्षित होकर चलता है। उस जीवको, वैसी भूमिकामें आये बिना दूसरे जीव समझ नहीं सकते। क्योंकि ये बुद्धिका या न्यायका विषय नही है। (१५३७)

※

जिज्ञासा :- दर्शनमोह यथार्थरूपसे मंद होनेके कारणभूत परिभ्रमणकी चिंतना / वेदना उत्पन्न होनी ज़रूरी है - ऐसी समझ होने पर भी वैसी वेदना, दर्शनमोहकी बलवत्तरताके कारण, उत्पन्न नहीं होती हो, तो क्या उपाय कर्त्तव्य है ?

समाधान :- सत्पुरुषकी निष्काम भक्ति द्वारा दर्शनमोहकी मंदता होनेसे, जीव वेदनामें आता है, जिससे फिर उदासीनताके क्रममें प्रवेश होकर आगे बढ़नेका अवकाश प्राप्त होता है, अर्थात् मुमुक्षुताकी दृढ़ता प्राप्त होने योग्य भूमिका संप्राप्त होती है। (१५३८)

※

जिज्ञासा :- मुमुक्षुको सर्व उदयप्रसंगमें अपनी प्रयोजनकी पकड़ न छूटे, इस प्रकारका संतुलन बना रहे, ऐसी स्थिति सहज रहे - ऐसा किस प्रकार संभवित है ?

समाधान :- प्रयोजनकी पकड़ अभिप्रायमें बराबर बनी रहनेसे, उदय प्रसंगमें उपादेयबुद्धिसे प्रवृत्ति नहीं होती। प्रसंगकी गंभीरताको समझकर, खुदके परिणामोंकी शक्ति अनुसार अभिप्राय

अवश्य परमार्थको प्राप्त करता है। इसलिए कुलधर्मका ममत्व छोड़कर, बोधका निराबाधत्व और पूर्वापर अविरोधताका विचार कर्त्तव्य है। (६३२)

※

स्वयंमें पूर्णताको देखकर जो समस्त पदार्थकी तृष्णाका अभाव करता है, उसको भय एवं चिंता सम्बन्धित कोई दुःख नहीं होता। जिसको भय एवं चिंता नहीं है, उस पुरुषको आत्म स्थिरता हो सकती है, और वह पुरुष शांत चित्तवाला होकर शोभित होता है, उसकी शांतताको देखकर, देखनेवाला भी चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इतना ही नहीं जो विपत्तिके प्रसंग है उसमें दुःख उत्पन्न होनेके बजाय, वैसे प्रसंग परमार्थ लाभ होनेके निमित्त बन जाते है। ऐसे मार्गका मूल्य किस चीजसे हो सकता है ? (६३३)

※

कुसंगसे सर्वदोषकी उत्पत्ति हो जाती है। सर्व महा दोष, इस एक दोषसे बढ़ते हैं। जब सत्संगसे अगर एक गुण भी बलवान होता है तो दोषवाले पुरुषके सभी दोषोंका क्षय होता है; वैसे दूसरे गुण भी वर्धमान होते है, गुणरूपी संपत्ति प्राप्त हो उसके लिए सत्संग एक कल्पवृक्ष है। जिसके ऊपर अमृतफल पकता है। शर्त इतनी है कि शुद्ध अंतःकरणसे निजहितके हेतुसे उसका सेवन किया जाय तो... तभी सरलता, वैराग्य सहित उसका सेवन होगा जो कदापि निष्फल नहीं जायेगा। (६३४)

※

दर्शनमोहसे सर्व प्रकारके अनिष्ट जन्म लेते है, जिसमें `संप्रदायबुद्धि'का अनिष्ट कितना भयंकर है, इसका विचार कर्त्तव्य है।

* वेदांत जैसे संप्रदायमें `उपदेशबोध'का विषय अति सुंदर होने पर भी, सिर्फ संप्रदायबुद्धिके कारण उसका अनुसरण करनेवाले, मोह विरुद्ध उपदेश देनेवाले, जिनमार्गको अर्थात् सम्यक् मार्गको प्राप्त नही हो सके !! पहचान भी न सके !

* जैनियों भी `संप्रदायबुद्धि'के कारणसे जैनाभासत्वको प्राप्त होकर, आश्चर्यकारी अंगपूर्वके अध्ययन एवं जिनोक्त व्यवहार संयुक्त होने पर भी आत्मकल्याणसे वंचित रह गये, कोई-कोईने तो विराधनामें प्रवृत्ति की !!

* गहरे विचारसे ऐसा भासित होता है कि दर्शनमोहरूपी समुद्रके पानी बहुत गहरे है, (और) दूसरे किसी भी (स्वयंभूरमण) समुद्रसे विशाल भी (हैं), इसीलिए उसको पार करनेकी दुष्करता प्रसिद्ध है। (६३५)

अभिप्राय थे, वे सब उक्त अभिप्रायमें पलट जाते हैं। इस भूमिकामें बहुभाग जीवके अभिप्रायोंमें पलटा आता है।

(३) इसके बाद, खुदके दोष देखनेकी भूमिका आती है, जिसमें जो-जो दोष अभिप्रायपूर्वक होते है, वे अनुभवपूर्वक समझमें आते हैं और तत्सम्बन्धित प्रयोगपूर्वक उन सभी अभिप्रायोंमें पलटा आता है, जो कि व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न प्रकारसे होता है।

(४) बादमें, भेदज्ञानका प्रयोग शुरू होता है, जिसमें आत्मस्वरूपका भावभासन होता है, तब शेष विपरीत अभिप्राय मिटकर जीवका स्वरूप सन्मुखताका पुरुषार्थ शुरू होता है। जबतक प्रयोजनभूत विषयमें विपर्यास हो तबतक पुरुषार्थ स्वरूपसन्मुख नहीं हो सकता। (१५६१)

※

जीवको आत्मबुद्धिसे उदयका महत्त्व पूरा-पूरा है, जिसे छोड़नेकी जरूरत है। महिमावंत आत्माके आश्रयसे वह महत्त्व टलता है, परन्तु जीव अपने स्वरूपसे अनजान है। अतः प्रथम ज्ञानीगुरुकी पहचानसे अत्यंत महत्त्व आने पर उदय गौण होता है, तब मोक्षमार्ग मिलता है। स्वरूपकी पहचान होनेके लिए भी ज्ञानीका योग अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। - ऐसी समझ होना यह उपादानकी योग्यता है, और इसलिए यह आत्माका विवेक है। (१५६२)

※

पूर्णताका लक्ष होनेके पश्चात् मोक्षार्थी जीव निजावलोकनमें आता है, तब प्रथम तो अपने दोषोंको अपक्षपातरूपसे देखता है, - इस प्रकारके अभ्याससे अवलोकन सूक्ष्म होता जाता है, तब अपने कार्यक्षेत्रकी मर्यादाका अनुभव समझमें आता है, वह इस प्रकार कि, मैं सिर्फ भावरूपी कार्य करता हूँ, मेरा कार्यक्षेत्र यहाँ समाप्त होता है। पर पदार्थका कार्य करनेका उदयभाव होता है, परन्तु मेरी पहुँच वहाँ - परमें नहीं है। अतः परका कार्य करना अशक्य दिखता है, जिसके कारण उस उदयभावका जोर टूट जाता है। इस प्रकारके अभ्याससे परकी कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि कमजोर होती जाती है। देहके कार्यमें भी ऐसा ही अनुभव होता हुआ दिखनेसे देहात्मबुद्धि भी मंद होती जाती है। सुखबुद्धि व आधारबुद्धि भी मंद पड़नेसे दर्शनमोहका अनुभाग काफी मात्रामें घटता जाता है, एकत्व पतला पड़ता जाता है। (१५६३)

※

परमतत्त्व और स्वानुभूति मनातीत व वचनातीत होनेसे, वचन अगोचर है। बहुत ही अल्प मात्रामें उसका कथन आता है। परन्तु वह धर्मात्मा ज्ञानीपुरुषके ज्ञानगोचर (जरूर) है, इसलिए भले ही उस विषयमें पूरा-पूरा नही कहा जा सकता हो, फिर भी कहते-कहते ज्ञानीका परिणमन प्रदर्शित हो जाता है, जो कि आत्मभावोंका दर्शन है, और वही ज्ञानीका दर्शन है - जो

उत्पन्न होती है। ऐसी विसंगतताको वे नही चाहते। (६३८)

※

मुमुक्षुजीवको तत्त्व / गुण ग्रहण हो इसके लिए विचारकी विशालता एवं मध्यस्थता होना जरूरी है। अन्यथा संप्रदायबुद्धिका महा दोषरूपी सर्प काट लेगा।

परमपुरुष श्री सर्वज्ञदेवकी वाणीका अंशांश जैनेत्तर शास्त्रोंमें भी देखनेको मिलता है; उस अंशांशको अंशांशके रूपमें स्वीकार करनेमें क्या दोष है ? दोष तो तब होता है जब अंशांशको सर्वांश माना जाता है। वैसे ही जैनके नामसे ग्रंथोंमें और प्रवृत्तिमें अनेक विकृत्तिओने गहरे मूल डाले है। उसका स्वीकार करनेसे गुण कैसे हो ? अतः जो मुमुक्षु सिर्फ सत्यधर्मका अभिलाषी है, वह दोनों जगहसे सिर्फ गुण जन्य तत्त्व ग्रहण करनेका दृष्टिकोण अपनाता है, उसे विशाल सत्यका स्वीकार करनेकी विशालता है, एवं संप्रदायबुद्धिका अभाव होनेसे मध्यस्थता / निष्पक्षपातता भी है। - ये पात्रताके लक्षण है। (६३९)

※

सत्पुरुषकी वाणीमें रही विलक्षणताएँ :

(१) आशयभेद :- यानी कि उनकी वाणी मूल आत्मस्वरुपको केन्द्रस्थानमें रखती है, अथवा सर्व कथन-विस्तारका केन्द्र बिंदु, शुद्धात्मा और उसका आश्रय होना, वह है।

(२) पूर्वापर अविरोधता :- पदार्थ दर्शन एवं प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे, विरुद्ध धर्मोका ज्ञान भी अविरोधरुपसे होता है, इसके अतिरिक्त मुख्य-गौणकी परिणाम पद्धति, प्रयोजन अनुसार सहज वर्तती होनेसे संतुलित परिणमनदशाका द्योतक वचनयोग होता है।

(३) आत्मार्थ उपदेशक :- सर्व भूमिकाके शिष्यका आत्मार्थ सधे अथवा कहीं भी आत्मार्थकी विरुद्धता नहीं हो ऐसा ही उपदेश (होता है।)

(४) अपूर्व वाणी :- अपूर्व स्वभावको अपूर्वभावसे व्यक्त करती हुई वाणी सुनते हुए सुननेवालेको भी अपूर्वता ही भासित होती है (योग्यता हो तो)।

(५) अनुभवकी अभिव्यक्ति :- अनुभव सहित निर्मल चैतन्यदशा एवं अलौकिक गुणोंके अतिशयसे प्रभावित वचनयोग होनेसे, आत्माकी भानदशा - जागृत चैतन्यकी दशापूर्वकका वचन योग, श्रोताको भी सतत जागृत करनेवाला, पुरुषार्थको जगानेवाला होता है। तथापि भावनासे भीगी हुई, वास्तविकताकी प्रकाशक होनेसे शुष्कता, कल्पना एवं एकांतिकपनेसे रहित होती है। उत्कृष्ट मुमुक्षु एवं ज्ञानीको वह पहचाननेमें आती है। दूसरेको भ्रांति होनेकी संभावना है। (६४०)

※

समाधान :- अध्यात्मका उपदेश तथारूप पात्रतावान जीवको देनेमें आता है, सर्व साधारणको नहीं। बहुतसे आगे बढ़े हुए जीवको सूक्ष्म-व्यवहारनयका पक्ष रह जानेसे स्वरूप आश्रय नहीं हो पाता है। इस अटकावसे निकालने हेतु व्यवहारका कड़ा निषेध किया गया है, और वह उसके स्थानमें योग्य ही है। इससे नीचेकी योग्यतावाले जीवको उसका प्रयोग करने जाये तो नुकसान होनेका संभव है, इसी वजहसे गुरु-आज्ञामें चलनेकी शिक्षा दी गई है। गुरु-आज्ञामें चलनेवाला संभवित नुकसानसे बच जाता है। वही उसका विवेक है। यद्यपि कषायरस शुभमें कम होता है, यह विशुद्धि तो है, परन्तु इसमें यथार्थता होना आवश्यक है, अन्यथा परमार्थसे उसका कोई उपयोगीत्व नहीं है; क्योंकि बादमें कषायरस तीव्र हो जाता है।

पर्यायदृष्टिके निषेधमें सर्व पर्यायों परसे वज़न उठ जाता है, उसमें शुद्ध पर्यायोंका भी समावेश है, तो फिर शुभ (सकषाय) भावको तो क्या गिने ?

इस प्रकारकी योग्यतामें आये बिना अपूर्व ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट नहीं होती। इसलिए द्रव्य स्वभावका भावभासन होनेके साथ मुमुक्षुके प्रयासके प्रकारमें एकदम बड़ा फर्क आ जाता है। उसका पर्यायका लक्ष पलटकर द्रव्यकी धुनमें परिवर्तित हो जाता है - इस प्रकार व्यवहारके निषेधमें अति महत्त्वपूर्ण पारमार्थिक हेतु छिपा हुआ है; जिसका व्यवहार पर वज़न है, उसे यह रहस्य समझमें नहीं आता। (१५७३)

*

जिज्ञासा :- पक्षातिक्रांत होनेके पहले निश्चयनयका पक्ष रहता है, परन्तु स्वरूप लक्षमें है, तो फिर वहाँ आत्मार्थी जीवको पक्षकार क्यों कहा ? स्वरूपलक्ष होनेसे स्वरूपके प्रति खिँचाव सहज रहे, उसमें अनुचित क्या है ?

समाधान :- रागके साथ जीवका अनादिसे एकत्व चला आ रहा है, ऐसी स्थितिमें जब स्वरूप निश्चय हुआ; इसके पहले पर्याय पर जो वजन था; वह पलटकर स्वभावकी जो मुख्यता हुई, यह परिवर्तन तो उचित ही हुआ है, परन्तु अभी भी दर्शनमोह नहीं गया, इसलिए स्वरूप सम्बन्धित विकल्पमें अपनत्वका अनुभव चल रहा है। जो कि स्वरूपके अभेद अनुभवमें बाधक है। जिसको तोड़नेके लिए निर्विकल्प स्वरूप प्रति ज़ोरवाला पुरुषार्थ आवश्यक है; स्वरूप प्रत्यक्षताके कारण यह पुरुषार्थमें उग्रता आने पर स्वरूपमें एकाकार होनेसे - लीनता होनेसे चारित्रकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होती है, जिसके कारण रागमें 'मै पना' का अनुभव छूट जाता है, जिसके छूट जाने पर जो सूक्ष्म दर्शनमोह था, उसका अभाव हो जाता है और अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है। स्वरूप लक्ष होनेसे स्वरूपका खिँचाव रहे सो तो उचित है ही, परन्तु रागका एकत्व होनेसे 'नय पक्ष' कहा है। सम्यक्त्व होनेके पश्चात् स्वरूप लक्ष

मुमुक्षुकी भूमिकाके योग्य वैराग्य-उपशम आदि सहित दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेसे भूमिकाके योग्य ज्ञानकी निर्मलता भी आती है, और इससे समझकी यथार्थता, सुविचारणा, आत्मार्थीता इत्यादि प्राप्त होते है। परन्तु स्वयं-प्रत्यक्ष ऐसे परमपदका साक्षात्कार होने पर जो दृष्टि स्वयंकी मौजूदगीको देखती है / श्रद्धती है, और जहाँ स्व-स्वरूप प्रगट वर्तता है, उसकी भेदरेखा, दृष्टिबल, आत्मरस द्वारा प्रदर्शित होती है।

इस तरह मुमुक्षुतामें स्वरूप प्रत्यक्षताका अभाव है (जब कि) ज्ञानीपुरुषको वस्तु साक्षात् मौजूद है, वे उसरूप हुए है। अतः सर्वांग तथारूप विलक्षणताको सुपात्र मुमुक्षुके नेत्र देख सकते है, अन्य ज्ञानी भी देख सकते है। (६४३)

※

जब वस्तु-खुद स्वयंप्रत्यक्ष है, फिर न्याय, युक्ति, आगम, अनुमान आदि सम्बन्धित विकल्पोंका क्या प्रयोजन है ? 'मै खुद अत्यंत वेदन प्रत्यक्ष हूँ, विकल्पके अभाव स्वभावरूप हूँ' - जिसमें सर्व कर्त्तव्य समाहित है।

निजकी सँभालमें परकी सावधानी सहज छूट जाती है। परकी सावधानीमें निजकी सँभाल नहीं रह पाएगी - खुदका अमूल्य समय व्यर्थ जाएगा। अतः अप्रमत्तरूपसे स्वरूपकी सँभाल कर्त्तव्य है। जिस प्रकार आत्मभाव साध्य हो उसी प्रकार सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे प्रवर्तन करना - यही जिनाज्ञा है। सर्व सत्पुरुषोंके अंतर चारित्रका अवलोकन करने पर यह मालूम होता है कि उन्होंने ऐसे ही प्रवर्तन किया है। अहो ! उनकी धीरज ! अहो ! उनकी पारमार्थिक विचक्षणता ! परम भक्तिसे उन्हे नमस्कार हो ! (६४४)

※

'परम स्वरूप खुद ही सर्वस्वरूपसे उपादेय है।' - ऐसी द्रव्यदृष्टिपूर्वक उत्पन्न ज्ञानका यह महा विवेक है। जो हमेशा धर्मात्माको बना रहता है। इसलिए समग्र परिणमनमें इस प्रकारका झुकाव रहा करता है। तुल्य (वजन) देनेमें ज़रा-सा भी अयथार्थरूपसे अधिक या हिनपना नहीं हो - ऐसी सम्यक् मर्यादा उक्त दृष्टिके कारण सहज प्राप्त होनेसे, वह वास्तवमें कल्याणमूर्ति ही ('सम्यक्दर्शन') है। (६४५)

※

तिरनेके कामी जीव होते है तो ज्ञानीपुरुषको अनुकम्पा आती है और मूलमार्गका / जैन शासनका उद्योत होवे तो अच्छा, ऐसी वृत्ति उठती है। परन्तु अंतरंगमें ऐसा दृढ़ अभिप्राय शुरूसे ही होता है कि धर्म स्थापित करनेका मान बहुत बड़ा है, उससे अलिप्त रहनेकी यथायोग्यता, (अंतर्बाह्य त्याग-वैराग्यमय मार्गके अनुरूप स्थिति) बिना अगर मान-पूजाकी अल्प

होती है। (१५८६)

⁂

जिज्ञासा :- आग्रह और दृढ़तामें क्या फ़र्क है ?

समाधान :- आग्रहके परिणाम परलक्षी और कषाय युक्त होते हैं, इसलिए दुर्गुण है। जब कि दृढ़ता है, वह स्वलक्षी परिणाम है, जो अपने लिए सत्य अथवा सिद्धांतसे जुड़े रहनेकी दृढ़ता है, इसलिए वह सद्‌गुण है। इस तरह दोनों परिणामोंमें भेद है। (१५८७)

⁂

स्वकार्यकी अगंभीरता - यह जीवका अपराध है। दर्शनमोहकी प्रबलताके कारण जीव निज हितकी बातको गंभीरतासे उठाता नहीं है, और समझते हुए भी प्रमाद छोड़ता नहीं है। गंभीर उपयोग होनेके लिए तथारूप सत्संग उपकारी है। (१५८८)

⁂

## अगस्त - १९९६

खुदकी योग्यता / अयोग्यता अनुसार उपदेशको अंगीकार करने पर जीवका वज़न जाना चाहिए। विशाल श्रुतसमुद्र संसारसमुद्र तिरनेके लिए है। अन्यथा कल्पना नही हो जाये, इसके लिए सिद्धांतोंको जानना ज़रूरी है, वज़न देनेकी जरूरत नहीं है। यदि जानकारीके विषय पर वज़न गया, तो सहजमें शास्त्रीय अभिनिवेश हो जायेगा। वस्तु व्यवस्थाकी जानकारी हेतु सिद्धांतज्ञान उपकारी है, तथापि वजन देने - नहीं देनेमें प्रयोजनकी दृष्टि चाहिए।
(१५८९)

⁂

भावोंको व्यक्त करनेके लिए भाषामें शब्द हैं। इन शब्दोंके द्वारा भावोंको समझने-समझानेकी रीत है। बहुभाग मनुष्य शब्दार्थ - भावार्थको समझ लेता है, परन्तु यथार्थ समझ करनेके लिए विभिन्न भावोंको अनुभवपूर्वक - उसका मिलान करके समझनेकी पद्धति होनी चाहिए, तो उस समझसे भावभासन होवे और सर्व पहलूसे समझमें आये, जिससे निःशंकता आये; शब्दके अर्थको स्मरणमें रखनेका बोझा उठाना नहीं पड़े। - यह समझनेकी यथार्थ अनुभव-पद्धति है।
(१५९०)

⁂

पात्रताका यह लक्षण है कि जीवको अपने अज्ञानका भय लगे व संसार कारागृह लगे।
(१५९१)

⁂

है। (६४८)

※

पात्रतावान जीव अंतरसे असत्संग तथा असत्प्रसंगसे पीछे हटकर निज विचारमें / आत्मविचारमें सत्संगकी आराधना करता हुआ प्रवर्तता है।

आत्म-विचार बलवान होनेसे पुरुषार्थ-योग्य होकर यदि 'अंतर्भेदजागृति' आयी हो तो मोक्ष समीप है। - (यदि) ऐसी योग्यता आये तो मनुष्यपना सफल है। और इसप्रकार मनुष्यपना अवश्य सफल कर लेने जैसा है; बारबार ऐसी तक नहीं मिलनेवाली है ऐसा जानकर, शुद्ध अंतःकरणसे, अर्थात् निर्मल परिणामसे आत्महित करनेके लिए तत्पर रहना, कि जिससे अनन्तकालके लिए बीज बोया जाये।

आत्मविचारबल वर्धमान होने पर, अंतरमें स्वरूप ग्रहण होनेके पर्यंत, वीर्यकी स्फुरणा जागृत होती है, जिसमें अंतरभेद होकर अनुभव होनेका प्रयत्न है - यथार्थ प्रयत्न है जो निष्फल नहीं जाता।

अंतरका भेद होना अर्थात् गहरी चोट लगना जिससे तत्काल प्रयास चालू हो और आत्मजागृति आये। दूसरा भाव ऐसा भी है कि (यदि) मिथ्यात्वकी ग्रंथिका भेद (छेद) हुआ तो तत्क्षण संसारकी अनन्तताका अभाव होगा। (६४९)

※

आत्महितकी साधनाके पहले सिर्फ धारणाज्ञानसे धर्मप्रभावना (की प्रवृत्ति) कर्त्तव्य नहीं है। आत्मार्थी जीवको एक लयसे आत्म-हितके प्रयासमें तत्पर रहना चाहिये। उससे जो निश्चय प्रभावना होती है उसमें, निजसुख पीनेमें मग्न रहना चाहिए ऐसा होते हुए यदि शासनकी प्रभावनाका योग होगा तो तद्अनुसार सहज विकल्प आयेगा; और होनहारमे यदि प्रभावना होनेवाली होगी तो होगी। परन्तु आत्महित सधनेके पहले बाह्य प्रभावनाके संकल्प नहीं करने चाहिये, उसमें बड़ा जोखिम है; अर्थात् अहित होनेकी बहुत संभावनाएं हैं, फिर भी इसके बावजूद यदि मुमुक्षुकी भूमिकामें ऐसा योग बन जाय तो सत्पुरुषकी आज्ञामें रहते हुए, अंतरमें मान एवं लोभसे अत्यंत - अत्यंत जागृत रहकर, भवभयसे डरते-डरते, आत्मार्थकी मुख्यता रखकर प्रवर्तन करना योग्य है। (६५०)

※

महापुरुषके वचनोंका अगंभीरतासे विचार नहीं करना चाहिये, परन्तु उसमें छिपे हुए गंभीर आशयको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। और जब तक आत्महितरूप गंभीर आशय समझमें नहीं आये तब तक कोई भी अभिप्राय / निर्णय बना लेना यह योग्य नहीं है, प्रायः नुकसानका

व्यवस्थित कैसे परिणमन करते हैं ?

समाधान :- सम्यक्ज्ञानमें अभिप्रायकी दृष्टिसे तो सर्वथा एक अपना स्वरूप ही उपादेयरूप वर्तता है - यह निश्चय है। व्यवहारमें देव, शास्त्र, गुरुका आदर प्रसंगके अनुरूप होता है। जो उपयोग निज स्वरूपका अवलंबन लेता है, वह निश्चयरूप है, और उदय प्रसंगमें देव, शास्त्र, गुरुके प्रति जो उपयोग जाता है, वह व्यवहाररूप परिणमन है। इस प्रकार दोनों प्रकारके परिणामकी व्यवस्था मोक्षमार्गमें है। (१६०३)

*

जिज्ञासा :- कृपालुदेवने पत्रांक - २१३में आत्मा और जिनेन्द्र परमात्मासे भी प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी अधिक महिमा की है, उसमें क्या रहस्य है ?

समाधान :- अनादिसे परिभ्रमण कर रहा यह जीव अपने स्वरूपसे अनजान है, इसलिए वह दुःखी है, और सत्पुरुषकी पहचान हुए बिना कोई आत्मस्वरूपको पहचान नहीं सकता, क्योंकि वह शक्तिरूप है। जब कि सत्पुरुषमें आत्मा प्रगट है और वे ही आत्माको बतलानेवाले है। इतना ही नहीं जिनेन्द्रका सूक्ष्म स्वरूप बतलानेवाले भी सत्पुरुष ही है। और तो और वर्तमानमें जिनेन्द्रका प्रत्यक्षयोग संभवित भी नहीं है। वे तो पूर्ण वीतराग है। यदि प्रत्यक्ष होते तो भी जब जिज्ञासा उठे तब उनके साथ प्रश्नोतरीका सीधा प्रसंग नहीं होता। सत्पुरुषके साथ ऐसा प्रसंग जिज्ञासुको सुगमतासे उपलब्ध हो सकता है।

इस तरह सत्पुरुषका अधिक उपकारीपना होनेसे उनकी अधिक महिमा की गई है, जो यथार्थ ही है। यथा -

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।' (१६०४)

*

जिज्ञासा :- ज्ञानीका अभिप्राय श्रद्धाके अनुसार (स्वरूपमें लीन रहना) होता है, फिर भी प्रभावना आदि कार्यमें क्यों जुड़ते हैं ? अभिप्राय विरुद्ध प्रवृत्ति क्यों करते है ?

समाधान :- पुरुषार्थकी कमीके कारण उपयोग बाहर जाता है, तब ज्ञानीका उपयोग विवेकपूर्वक देव, गुरु, शास्त्र - सम्बन्धित प्रवृत्तिमें जुड़ता है। जो कि अशुभसे बचनेके लिए है। परमार्थसे उसका निषेध होनेसे उसे कम करते हुए अंततः वे संपूर्ण स्वरूप लीनताको प्राप्त करेंगे। जिसके लिए उनका पुरुषार्थ (धारावाही) होता है। (१६०५)

*

जिज्ञासा :- मुमुक्षुजीवकी योग्यता व पुरुषार्थ, उन दोनोंमें क्या फर्क़ है ? क्या मेल है ?

समाधान :- पुरुषार्थ जो है वह जीवकी वीर्य गुणकी पर्याय है। योग्यतामें, उसकी और

र्चा, वाद-विवादके प्रसंगमें खुद उपदेशक भावसे प्रवृत्ति नहीं कर ले इसकी जागृति आत्मार्थीको हती है। नम्रभावसे सिर्फ खुदकी समझको व्यक्त करके, सत्संग करनेकी बुद्धिसे परस्पर समागम र्त्तव्य है। (६५३)

※

दर्शनमोहकी तीव्रताके कारण स्वरूप अवलोकन नहीं हो पाता है, ऐसी स्थितिमें शास्त्रसे ई जानकारी व मंदकषाय भी सफल नहीं होते। अतः दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूप वलोकन दृष्टि परिणमित होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेमें मुख्य कारण, आत्महितके लक्षपूर्वक ज्ञानीपुरुषका विशेष मागम, गुण प्राप्तिकी जिज्ञासावृत्ति, तथा परमशांत रस प्रतिपादक वीतराग श्रुतकी गहरी चिंतवना - सब है। आत्मार्थीको निरंतर इसकी उपासना कर्त्तव्य है। आत्महितकी दुर्लभताको समझते ए (यदि) अप्रमादित होकर इसकी उपासना करनेमें नही आये तो वह इस जीवका अविचारीपना । पारमार्थिक श्रुतका अवलंबन इन्द्रियजय / इन्द्रिय निरोध पूर्वक होना चाहिये। उल्लासित र्यसे आत्महितको साधना चाहिये। (६५४)

※

आत्माकी अनन्त महिमा किससे ? निर्मल चैतन्यके अमृतरससे पूर्ण होनेसे। (६५५)

※

जिसको मुनिदशाकी भावना (पुरुषार्थ सहित) वर्तती हो वह श्रावक है। (६५६)

※

अनन्त शांतिके पिंड पर दृष्टि जाते ही (प्रत्यक्ष विद्यमान दिखने पर) शांतिके श्रोत ही ोत बहने लगते है। (६५७)

※

ध्येय शून्य तत्त्व-श्रवण, वांचन इत्यादि निष्फल हैं। (६५८)

※

सत्संगकी सकामतासे उपासना करनेसे सुलभ बोधिपनाका नाश होता है। बोध स्पर्शता हीं है। (६५९)

※

सत्शास्त्र एवं सत्संग आत्मरुचि, आत्मरस एवं भावनाकी पुष्टिके निमित्त हैं, वहाँ भी अगर ैमित्त प्रधानता हो गई तो उपादान गौण हो जाता है, इसे लक्षमें रखना चाहिये। (६६०)

अक्टूबर - १९९६

प्रथम, ज्ञानीके प्रत्यक्ष योगमें जीवको ओघभक्ति होती है। यदि सत्संगके दौरान जीवको बोधकी असर हुई होगी तो परम सत्संगमें आत्महित साधनेके प्रति वह आगे बढ़ता है; और उपकारबुद्धि पूर्वक भक्ति-स्नेह वर्धमान होते है ! ऐसा जीव भक्तिसे विचलित नहीं होता। परन्तु वैसा नहीं हुआ हो यानी कि बोधकी असर नहीं हुई हो तो, ज्ञानीके बाह्याचरणसे जीव प्रायः विचलित हो जाता है और अभक्तिके परिणाम हो जाते हैं। जिसके कारण योग निष्फल जाता है। (१६१८)

✻

संतोंका मार्ग अद्‌भुत है, गंभीर है, अलौकिक है, सामान्य जीव उसे समझ भी नहीं सकते, तो हज़म नहीं कर सके - यह सहज है। अतः उसका आश्चर्य क्यों ? ज्ञानीकी गंभीरताको नमस्कार हो !! (१६१९)

✻

जीव जो-जो उदय प्रसंगमें रस लेता है, उसकी असर खुद पर होती है। दीर्घकाल पर्यंतकी हुई सत्संगकी उपासनाकी असर एक क्षणके कुसंगसे नष्ट हो जाती है। जब कि अनन्तकालसे आराधन किया गया ऐसा संसारमार्ग, 'आत्मभावसे किये गये सत्संग' से पलटकर मोक्षमार्गकी राह ग्रहण करता है। मुमुक्षु जीवको इस बातका बहुत-बहुत प्रकारसे विचार कर्त्तव्य है। (१६२०)

✻

जीवके तीव्र रसपूर्वक हुए परिणाम अल्प समयमें बहुत कार्य कर लेते हैं। उसमें भी यदि कुसंग हो गया तो जीवके परिणाममें शीघ्रतासे गिरावट आ जाती है। ठीक उसी प्रकार तीव्र रसपूर्वक आत्मकल्याणकी भावना हो उस वक्त तथारूप सत्संग योग मिल जाये तो, अल्प समयमें आत्मोन्नतिकी प्रगति भी बहुत हो जाती है। (१६२१)

✻

'उदय देखकर उदास न होवे' (श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत - ४०२)

प्रतिकूल उदयको देखकर खेद - चिंता नहीं करनी चाहिए, ऐसा यहाँ पर उपदेश है। बहुभाग जीवोंके परिणाम प्रतिकूल उदय आने पर बिगड़ते हैं। जिससे अनिष्ट कर्म बंधते हैं। ज्ञानी समभावसे उदयका वेदन करते है और आत्मार्थी वैसे प्रयासमें रहता है - प्रयत्नदशामें रहता है - यह संसार तिरनेकी कला है। (१६२२)

✻

कि जिससे अस्थिरतासे परमार्थ प्रकाशनमें कृत्रिमता हो। परंतु सहज छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते-झूलते उपदेशका कहना या लिखना हो जाता है। परन्तु (जब कि) ज्ञानीपुरुष प्रारब्ध-उदयमें बाह्य प्रवृत्तिका विरोधाभासीपना जानते है इसलिये परमार्थ प्रवृत्ति करते हुए बाहरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर अत्यंत विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करते है, इसके उपरांत अंतरमें आत्मरसके आविर्भावपूर्वक (अस्थिरतावाले उदय-योगके अभावमें परमार्थ सम्बन्धी प्रवृत्ति करते है, इसके सिवा नही करते।

मुमुक्षुजीवको तो उपदेशकपना होता ही नही, वह खुद जिज्ञासाकी भूमिकामें है, इसलिए जिज्ञासुके रूपमें प्रवृत्ति करना ही उसके लिए उचित है। फिर भी खुदके स्वाध्याय हेतु दूसरे मुमुक्षुओंके साथ परमार्थ विषयक चर्चा आदि करनेमें आत्मरुचिको पुष्टि मिले उस लक्षसे प्रवृत्ति करनेमें दोष नही है। परन्तु लोकसंज्ञा या ओघसंज्ञासे प्रवृत्ति करनी नहीं चाहिये। इसके अलावा उपदेशक होनेका स्वच्छंद क्षयोपशमके कारण नहीं हो, इसकी अत्यंत जागृति रखनी चाहिये। (६६७)

※

जीव परिभ्रमण करते-करते कभी-कभार आत्मकल्याणकी भावनासे सत् देवादिके योगको प्राप्त होकर मोहको मंद करने तक आता है, परन्तु मोहका अभाव हो, ग्रंथिभेद हो इसके पहले ही संसार परिणामी होकर वापिस संसारमें जुड़ जाता है अथवा पीछे हट होती है, इसके कारणका विचार करने पर शुरूआत यथार्थ प्रकारसे नहीं हुई है। मोह मंद होनेके यथार्थ क्रममें नही चला। दृढ़ मोक्षेच्छा हुए विना, सप्रमाण वीर्यगति उत्पन्न ही नहीं हो सकती, यह स्वाभाविक है अथवा स्वलक्षीपना नही आनेके कारण परलक्षीपनेमें ही धर्मसाधनकी प्रवृत्ति होती है। अतः धारणाज्ञान उपयोगमें नहीं आ सकता। यह और इत्यादि निष्फलताके कारणका खचित विचार कर्त्तव्य है, और यथाक्रमसे, यथार्थरूपसे शुरूआत करने योग्य है। (६६८)

※

क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय अनेक अनर्थको उत्पन्न करते है। जिसका संक्षेपमे निम्न प्रकारसे विचार कर्त्तव्य है।

क्रोध होनेके वक्त आत्मामे बहुत क्लेश होता है। जिसके प्रति होता है वह यदि प्रियजन हो तो प्रीतिका नाश होता है, अन्य कोई हो तो वेर बंधता है और दुर्गतिका बंध पड़ता है। दूसरेको भय लगनेसे वह दुःखी होता है।

मान होनेसे विनय नष्ट होता है। अभिमानी जीवका श्रुत दूषित होता है, शील भी दूषित होता है। विनय करने योग्यके प्रति विनय नहीं रहता। बुद्धिमें संतुलन नहीं रह पाता।

जिज्ञासा :- गुण-दोषको देखनेकी यथार्थ पद्धति कैसी होनी चाहिए ? कि जिससे स्व-परका हित सधे ?

समाधान :- अन्य मुमुक्षुजीवके दोषका नाप विद्यमान दोष परसे नहीं निकालना चाहिए, परन्तु उसने पुरुषार्थसे दोष मिटाये हो या मंद किये हो, उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जबकि खुदकी वैसी बाबतमें विद्यमान दोषको मुख्य करना चाहिए और जो दोष कम हुए हो उसे गौण करने चाहिए। - यह गुण-दोषको देखनेकी यथार्थ पद्धति है। (१६३४)

※

सुमंगल घटना : किसी मुमुक्षुके जीवनमें कभी ऐसी सुमंगल घटना घटित होती है कि पूर्व पुण्यके योगसे किसी महापुरुषकी वाणीका श्रवण प्राप्त होता है और वह जीव अत्यंत रुचिपूर्वक सत्-श्रवण करता है। तब उसे 'सत्' के संस्कार डल जाते हैं, जो कि नज़दीकी भविष्यमें ही ज़ोर करके प्रगट हो जाते है और मोक्षमार्गकी प्राप्ति करा देते हैं। इस घटनामें श्रवणके कालमें 'सत्की रुचि' उत्पन्न हुई, उसमें सत्पुरुषका पहचानपूर्वक स्वीकार (भी) हो गया !! और सत्पुरुषका आदर भी हो गया !! (१६३५)

※

मुमुक्षु / आत्मार्थीको सर्व प्रथम स्वरूपकी अनन्त शुद्धत्व शक्तिका श्रवण - ज्ञानीपुरुषके वचन द्वारा प्राप्त होता है तब उसे उल्लासित वीर्यसे, वैसे स्वरूपके दर्शनकी भावना जागृत होती है, और वह अपूर्व अंतर जिज्ञासापूर्वक गुण निधानको पहचाननेका प्रयत्न करता है। उस जीवको स्वरूपकी हूंफके (आश्रयके) परिणाम होने पर, ज्ञानीपुरुषके प्रति विश्वास स्थापित हो जाता है। इस विश्वासका महत्त्व बहुत है। ऐसी प्रारम्भकी योग्यता, वह भावि होनहारका शुभ चिन्ह है। (१६३६)

※

जैसे ज्ञान आत्माका स्वरूप है, वैसे ज्ञानकी पर्यायमें भी वस्तुका स्वरूप है, परन्तु पर्यायमात्र रूप अवधारण करनेसे विपर्यास उत्पन्न होता है; वस्तुमात्रपने अवधारण करने पर समस्त पर्यायें - पर्यायके भेद रहित - ज्ञानमात्ररूप अनुभवमें आती है। अतः खुदका ज्ञानमात्ररूप अनुभव करने योग्य है। अनुभवमें जाननेकी प्रधानता नही है, किन्तु स्व-संवेदनकी प्रधानता है। महात्माओंने अगम-अगोचर परमार्थ मार्गको इस प्रकार सुगम किया है; नमस्कार हो उनके निष्कारण करुणा सभर उपकारको !! (१६३७)

※

जिज्ञासा :- खुदको राग और ज्ञानके भेदज्ञानका सिर्फ विचार चल रहा है या प्रयोग

सामान्यरूपसे स्वरूपका विचार करना, मनन करना, ऐसा उपदेश है, क्योंकि जीव उदयमे उदासीनता / नीरसताके अभावके कारण उदयपरिणामसे उपयोगकी निवृत्ति नहीं करता है।

परन्तु विशेषरूपसे सत्पुरुष ऐसा कहते है कि विचार करते रहनेसे तो विचारमें आत्मा परोक्ष रहता होनेसे आत्म-जागृति उत्पन्न नही होती। रुचिपूर्वक, ज्ञान लक्षणसे सदा स्फुरीत ऐसे अखण्ड स्वरूपको ग्रहण करनेका (मौजूदगीका वेदन करनेका) प्रयास होना चाहिए, क्योकि ग्रहण करनेमें आत्मा प्रत्यक्ष है, जब कि श्रवण-विचारमें आत्माकी परोक्षता होनेके कारण प्राप्ति नही होती। यह विधि विषयक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। (६७२)

※

ज्ञानमात्र आत्माका निश्चय होनेसे अध्यात्ममें वह परमसत्य, परम कल्याणस्वरूप, एवं अनुभव करने योग्य-रूप निश्चय करके उसकी रुचि / प्रीतिपूर्वक उसीमें संतोष प्राप्त करके, तृप्त होनेसे वचनातीत आनंदकी अनुभूति होती है। अतः `ज्ञानमात्र' मै-, इतना ही सत्य है, इतना ही कल्याणस्वरूप है और इतना ही अनुभव करने योग्य है। इसके लिए अधिक पूछने-कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि रुचि, संतोष एवं तृप्तिसे उत्पन्न प्रत्यक्ष आनंदका वेदन होनेके लिए वांच्छा, कुतूहल आदि रहते / होते नही है। (६७३)

※

जनवरी - १९९१

ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें चैतन्यकी झनकार होती है। जिससे ज्ञानीपुरुष पहचाने जाते हैं। (यदि) इस झनकारसे आत्मामें अपूर्वता लगे व साथ ही साथ पुरुषार्थ उठे, तो स्वरूप समीपता होकर जन्म-मरणका नाश हो जाता है। ऐसा अमृत ज्ञानीकी वाणीमें भरा है, इसीलिए उनकी वाणीको `वचनामृत' कहनेमें आता है। वह सिर्फ शब्द-अलंकार नहीं है।

ठीक उसी प्रकार द्रव्यदृष्टि व स्वरूप भावनासे प्रवाहित हुए आचार्यों व सत्पुरुषोके तीखे वचन कोई भाषा अलंकार नहीं है परन्तु उसमें शांत अमृतरसके सरोवर छलकते है, लेकिन इसके लिए नज़र चाहिए। (६७४)

※

धर्मात्माकी निर्दोष पवित्रदशा - गंभीरताको समझनेके लिए गहन / सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। इसमें भी कृपालुदेवकी सरलता व नम्रता तो अतीव स्तुति करने योग्य है। दूसरे किसीको भी संतापरूप होनेका स्वप्नमें भी जिनको विचार नहीं है, इसके बावजूद भी किसीको दुःखरूप हुए है ऐसा लगे तब दासत्वभावसे क्षमायाचना करनेके बाद कौन इसे दुःखरूप मानेगा ? उदयप्रसंगमें संतकी वर्तना कैसी होती है ! इसका बोध स्वयं मिल जाए ऐसे साक्षात् बोधस्वरूप

दिसम्बर - १९९६

ज्ञानकी निर्मलता दो स्तरमें होती है। एक ज्ञानीपुरुषकी पहचानपूर्वक परमेश्वरबुद्धि और सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनकी संगती - 'सेवा करनेसे' और दूसरी ज्ञान स्वयंका - ज्ञानका 'सेवन करे' तब निर्मलता आती है। प्रथम प्रकार मुमुक्षु भूमिकाका है, दूसरा प्रकार मोक्षमार्गी धर्मात्माको होता है। (१६५१)

※

जिज्ञासा :- 'अपेक्षाज्ञान' संबंधित स्पष्टीकरण दिजीये ?

समाधान :- अपेक्षामें आगम और अध्यात्म दोनों पहलू समझने चाहिए। सिद्धांत और वस्तुधर्मकी मर्यादाको समझानेके लिए अपेक्षा होती है और पारमार्थिक हेतु दर्शानेकी भी खास अपेक्षा होती है। दोनोंके ग्रहण पूर्वक, या मुख्य-गौण होकर उसका सुमेल होना चाहिए अर्थात् इसके फलस्वरुप आत्महित सधे तो अपेक्षाज्ञानकी यथार्थता है। (१६५२)

※

बाह्यदृष्टि और बाह्य चिन्ह / लक्षणसे सजीवनमूर्तिकी पहचान नहीं हो सकती। श्री सर्वज्ञ वीतरागदेव बाह्य स्थितिमें निर्दोष ध्यानस्थ अवस्थामें निरंतर बिराजमान होने पर भी, उनकी पहचान नहीं हुई है, न होती है, तो शुभयोग और शुभोपयोग द्वारा तो ज्ञानी या वीतरागको कैसे पहचानेंगे ?

तात्पर्य यह है कि सिर्फ अंतर परिणतिसे ही ज्ञानी या वीतरागको तथारुप योग्यता प्राप्त होने पर पहचाना जा सकता है - ऐसा निश्चय करना चाहिए। (१६५३)

※

परिभ्रमणकी वेदनापूर्वक यथार्थ वैराग्य और संसारसे छूटनेके परिणाम होते हैं, परन्तु बहुभाग धर्मप्रेमी जीवोंको यह वेदना दर्शनमोहके प्राबल्यके कारण आती नहीं है और 'नहीं आ रही है' - यह एक समस्या हो जाती है, तब कैसे आगे बढ़ा जाये ? यह उलझन होती है - व्यक्तिगतरूपसे उपरोक्त क्रमप्रवेश होनेके पहले, यानी कि परिभ्रमणकी चिंतना आनेके पहले 'ऐसा ही करना चाहिए' - ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु जिस प्रकार दर्शनमोह (मिथ्यात्व) कमजोर हो, वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए। उस प्रवृत्तिमें सत्संग, स्वाध्याय, सुविचारणा, आत्मभावना, प्रतिकूल उदयमें भिन्नताका प्रयोग, अवलोकनका बारंबार प्रयोग, ज्ञानीपुरुषकी भक्ति, आदि दर्शनमोह कमजोर होवे, (और) परमें अपनत्व कम हो, वैसे परिणाम होने चाहिए। और इसके दौरान क्रमसे आगे बढ़नेका अभिप्राय रखना चाहिए। उपरोक्त प्रवृत्ति व परिणामोंमें जिसे जिस प्रकारसे आत्मकल्याणकी भावना वृद्धिगत होती हो, उसे पसंद करना चाहिए। (१६५४)

प्रति व्यामोह होनेसे, वैसे लोगोंका अनुसरण हो जाता है।

अतः मोक्षके इच्छुक जीवोंको दर्शनमोहकी यथार्थ मंदता - उसरूप पात्रतापूर्वक, श्रद्धाकी प्रधानतावाले दृष्टिकोणसे अनुसरण करनेकी नीतिका ग्रहण करने योग्य है। (६७९)

✳

भेदज्ञानपूर्वक, राग व परसे भिन्नरूप खुदका अनुभव नही हुआ हो तो प्रारब्धका उदासीनतापूर्वक सहज वेदन नही हो सकता, ऐसेमें आत्मार्थीजीवको प्रयत्नवंत रहकर भेदज्ञानका प्रयोग बलवानरूपसे कर्त्तव्य है। धन्य है वैसे ज्ञानीपुरुषको, जो प्रारब्धका वेदन करते वक्त समाधि - विराधना नही होने देते, उतने आत्मभावमें रहते है। और प्रारब्धके तीव्र अनुभागका वेदन करते हुए विशेष निर्जरा करके अल्पकालमें सिद्धिको प्राप्त हो जाते है। ज्ञानी सहजभावसे वर्तते है, जिसमें स्वरूप जागृति एवं पुरुषार्थ-दशाका वर्धमान होना सहज बनता है। (६८०)

✳

समकितके पहले मुमुक्षुको अनन्तानुबंधी होता है, फिर भी प्रयत्नपूर्वक / जागृतिपूर्वक उदासभाव संयुक्त अथवा मंदरसयुक्त परिणामसे परिणमन करनेका मुमुक्षुधर्म है। वरना निरंकुश परिणामकी प्रवृत्ति संभवित है; (जहाँ) निर्ध्वंश परिणाम होते है, वहाँ भव भय नही होता; वैसी निर्भयतासे भोगादिके प्रति होनेवाले परिणामसे मुमुक्षुता भी कैसे बनी रहेगी ? (६८१)

✳

ज्ञानी अपना उपजीवन / आजीविका पूर्व प्रारब्ध अनुसार करते है, उस वक्त खुदकी दशाको हानि हो वैसे प्रवृत्ति नही करते है। तद्अनुसार मुमुक्षुजीवको सावधानी / जागृति विशेषरूपसे रखकर प्रारब्धको भुगतना योग्य है, मुख्यमें मुख्यरूपसे इस बातका लक्ष रखना योग्य है कि आत्मकल्याणसे विशेष जगतमें कोई पदार्थ नहीं है अतः कोई भी पदार्थ या प्रसंगको इतनी अधिकता नहीं देनी चाहिये कि जिससे निजहितका नुकसान हो। यद्यपि बलवान उदयकालमें ऐसी धीरज रहनी विकट है, बहुत विकट है फिर भी प्रयत्न साध्य होनेसे, प्रयत्न कर्त्तव्य है। (६८२)

✳

दानके लिए उत्कृष्ट पात्र मुनिभगवान है। मध्यम देशविरती श्रावक है। जघन्य अविरती सम्यक्‌दृष्टि है। तद्उपरांत जिनायतन और सत्‌शास्त्रादिकी प्रवृत्ति स्थान है। इसके अलावा संसारमें दुःखी प्राणीके प्रति करुणासे जो दान देनेमें आता है वह लौकिक है, जो गौणरूपसे होना चाहिए। इसके अलावा आत्मार्थी जीवको धर्मकी प्राप्ति हो - वैसी बुद्धिसे वात्सल्य भावसे मदद या दान देनेमें आता हो तो वह योग्य है, फिर भी इसमें इतनी सावधानी रखनी आवश्यक

समाधान :- अपना हित सधता हो, वैसे निमित्ततत्त्वका जहाँ अनुभव हो, वह सत्संग यथार्थ है।

* जहाँ, खुदकी भूमिकाके योग्य चर्चा मुख्यरूपसे होती हो, और तद्अनुसार अमलीकरणका मार्गदर्शन प्राप्त होता हो, वह यथार्थ सत्संग है।

* जहाँ, आत्मरस व आत्मरुचिको पुष्टि मिलती हो और वे वृद्धिगत होते हो।

* जहाँ, अध्यात्म तत्त्व और सिद्धांतोंकी चर्चा होती हो,

* जहाँ, ज्ञानीपुरुषोंके ज्ञान, ध्यान व पुरुषार्थकी प्रशंसा / बहुमान होते हो, वहाँ यथार्थ सत्संग है, ऐसा जानना। (१६६९)

※

उपदेशबोध जैनदर्शनमें है और अन्यदर्शनमें भी बहुत है, परन्तु जैनदर्शनमें जो उपदेशबोध है, वह सिद्धांतबोधके कारणभूत होवे, ऐसा है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप अनुसार है। अन्य दर्शनमें उपदेश न्याय अनुसार तो है, परन्तु वस्तु विज्ञान वहाँ नहीं होनेसे उसमें आधार भेद है। इसीलिए वैसे उपदेशमें स्थिर रहना संभवित नहीं है। जब कि जैनके महात्माएं, सदाके लिए स्वरूप ध्यानमें स्थिर रहकर परमेश्वरपद पर बिराजमान रहते हैं, क्योंकि उन्हें वस्तुस्वरूपका आधार है। (१६७०)

※

### फरवरी - १९९७

उपदेशबोध व्यवहार नयात्मक है, जब कि सिद्धांतबोध प्रधानरूपसे निश्चय नयात्मक है। यथार्थ शैलीमें कारण-कार्यकी संधि होती है। विधि और निषेध दोनों कथनमें प्रयोजनकी सिद्धि होती है, जो कि यथार्थताकी द्योतक है। यदि सिर्फ उपदेशबोध पर ही वज़न रहा तो 'पर्याय आश्रय' दृढ़ हो जायेगा, कि जिससे सिद्धांतबोधके तात्पर्यभूत ऐसे निश्चयस्वरूपका आश्रय होनेमें दिक्कत होगी, और कारण-कार्यकी श्रृंखला टूटेगी। वैसे ही उपदेशबोधका परिणमन हुए बिना सिद्धांतका परिणमन आना अशक्य है। इसलिए क्रम टूटना नहीं चाहिए और वजन भी यथायोग्य जाना चाहिए। "निश्चय राखी लक्ष्यमां, (व्यवहार) साधन करवा सोय।" (१६७१)

※

दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होने पर, निज परिणामोंका अवलोकन शुरू होता है और प्रारंभमें ही स्वरूपकी खोजरूप जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अत: उपदेशबोध यहाँ सिद्धांतबोधके कारणभूत होता है, अर्थात् परिणामोंका अवलोकन होनेमें परिणाम पर ज्यादा वज़न न रहे, ऐसा सहज बनता है। इस प्रकारसे अगर अवलोकन नहीं हुआ तो पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाती है, और

प्रत्येक कार्य यथार्थ होवे, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए यथार्थ समय पर यथार्थरूपसे और अचुकतासे कार्य हो, ऐसा सीखना चाहिए, जो कि सफलताका वैज्ञानिक क्रम है। कार्यकी यथार्थता वह कार्यकी सुंदरता है और इससे निपुणता व क्षमता प्राप्त होती है, शक्तिका अपव्यय नहीं होता है - अथवा समय व शक्तिका पूरा फायदा मिलता है। शक्तिके विकासका आधार भी यथार्थता पर है, जैसे कि यथार्थ सुविचारणासे आत्मज्ञान प्रगट होता है। (६८७)

※

मोक्षमार्गमें जैसे-जैसे स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा विज्ञानघन होता जाता है। विज्ञानघन होता जाता है यानी कि ज्ञानमें ज्ञानवेदन घनिष्टताको प्राप्त होता जाता है। ऊपर-ऊपरके गुणस्थानमें यह वेदन घनिष्ट होता है। इसीलिए मुनिदशामें वेदनकी घनिष्टताके कारण अन्य द्रव्यभाव ज्ञानमें प्रतिभासित होने पर भी ज्ञान अत्यंत निर्लेप भावसे सहज रहता है। उपसर्ग-परिषहको ज्ञानमें जानते हुए भी उसकी असर नहीं होती। केवलज्ञानमें संपूर्ण ज्ञानघनपना होनेसे लोकालोक प्रतिभासित होने पर भी ज्ञान संपूर्ण स्वसंवेदनमें रहता है। जो अरिहंत प्रतिमामें प्रसिद्ध होता है, और जिनेन्द्र दर्शनमें यह पूर्ण घनिष्ट स्वसंवेदन, दर्शनार्थीको निज स्वसंवेदनका स्मरण अथवा जागृतिका निमित्त होता है। अहो ! शाश्वत जिन प्रतिमा यह कुदरतका कैसा पारमार्थिक संकेत है !!

सत्य, सत्यधर्म, सत्यधर्मके निमित्त, अनादि अनन्त विश्वमें मौजूद है। कैसी गंभीर व कुदरती घटना !! रचना !!

आत्महित / परमार्थके प्रयोजनवानके लिए सहज नैसर्गिक व्यवस्था !! (६८८)

※

जैसे मोक्षकी प्राप्तिकी शुरूआत सम्यक्दर्शनसे है, वैसे मोक्षमार्गकी प्राप्तिकी शुरूआत पूर्णताके लक्षसे है। दोनों वैज्ञानिक होनेसे सहजताके उत्पादक है, अर्थात् दोनों पर्यायके अकर्तृत्वको उत्पन्न करनेवाले है। अतः मुमुक्षुजीवको कृत्रिमतासे श्रेय प्राप्तिका अभिप्राय छोड़कर सहजता अंगीकार करने योग्य है। जिसे पूर्णताका लक्ष होता है उसे उपदेशबोध ग्रहण करनेमें कृत्रिमता नहीं होती; अथवा विधि-निषेधके प्रकरणमें प्रायः मुमुक्षुजीव उपदेशका ग्रहण कर्तृत्वपनेसे करता है, और इसलिए निर्धारित सफलता नही मिलती है। ऐसी स्थितिमेंसे वह बच जाता है और सफलताकी ओर यथार्थ प्रकारसे आगे बढ़ता है। मार्गमें आगे बढ़नेमें अगर यथार्थता होगी तो हरएक स्तरमें संतुलन रहता है। (६८९)

※

निकट भवी होता है, तो इस बातका अंतरसे 'स्वागत' करके, वीर्योल्लासपूर्वक तत्काल भावना प्रगट करता है। (१६८७)

※

मुझे किसी दूसरेकी हूँफ (सहारा) नहीं चाहिए। मैं खुद ही मेरा सहारा हूँ। कँपकँपी ठंडमें मै ही मेरा अलाव हूँ। न तो मै किसीके पराधीन हूँ और ना ही मै किसीका मोहताज हूँ। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कोई तनाव / आर्त्तपना नहीं होता। लालसा मनुष्यको मार देती है अथवा गुण-संपत्तिको लूट लेती है, फिर चाहे वह धनकी हो या मानकी। उसका कोई अंत नहीं। सब कुछ होते हुए भी कम पड़ता है। जीवनमें असंतोषका दुःख बड़ा है। इसीलिए निःस्पृही सुखी है, निष्परिग्रही सबसे अधिक सुखी है। वह आशा-अपेक्षाके मृगजलमें नहीं डूबता। बेफिक्र व निर्भय जीवन मुक्तिका सोपान है। परमार्थका मार्ग निरालंब है, क्योंकि आत्मस्वरूप निरपेक्ष व निरालंब है। (१६८८)

※

हरएक सफल कार्यकी पूर्व तैयारी इसके कारणरूप होती है। सत्संग व स्वाध्याय यदि सफल होते हैं, तो जीव ज्ञानदशाको प्राप्त होता है, परन्तु इसकी सफलता होनेके लिए पूर्व तैयारी होनी अति आवश्यक है। अतः सत्संग / स्वाध्यायके पहले मुमुक्षुको दरकारपूर्वक लक्ष्य रखना आवश्यक है कि 'मेरे योग्य अथवा मुझे लागू पड़ती हो ऐसी कौन-कौनसी बात आती है ? ऐसा जो कुछ भी आता है उसे ग्रहण करके, उसे प्रयोगमें उतारकर, परिणति बन जाये वहाँ तक मेरा प्रयास चलना चाहिए।' ऐसा लक्ष्य पहलेसे ही होना चाहिए। यदि ऐसा लक्ष्य नहीं रहा, तो जीवको खुदके प्रयोजनकी दृष्टिका ही अभाव होनेसे कभी सफलता नहीं मिलती। (१६८९)

※

जिस जीवको स्वरूपलक्ष्य नहीं हुआ हो उसका स्वरूपकी शोधकवृत्तिपूर्वक और आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक शास्त्रस्वाध्याय होना चाहिए वरना यथार्थता रहनी असंभवित है। आत्मभावना और शोधकवृत्ति यथार्थताकी नियामक है। (१६९०)

※

चैतन्यकी अंतरकी गहराईमेंसे उत्पन्न हुई यथार्थ भावना, वह अनुदयभावरूप मुमुक्षुता है। ऐसी भावनावाला मुमुक्षुजीव उदयसे उपेक्षित होकर सन्मार्गके प्रति - आत्महितके प्रति आगे बढ़ता है। मोक्षमार्ग भी अनुदय भाव है, कि जो परिणाम उदयमें नहीं जुड़करके आत्मामें जुड़ते हैं। - इस प्रकार सदृशता / साम्यता 'भावना'में उत्पन्न होती है। जो कि वृद्धिगत होकर

अकृत्रिम सहज स्वभावके साथ, परिणामका सहजरूपसे होना, वह शोभा देता है, अथवा जहाँ स्वाभाविकता और सहजता हो, वही यथार्थता या सम्यक्ता होती है, अन्यथा नहीं होती। स्वद्रव्यका कर्ता-कर्मपना सहज अकर्ताभावसे 'पूर्णताके लक्षसे' प्रारम्भसे ही चालू होता है, और रागके कर्तृत्वका मूलसे छेद करके, कर्ता-कर्मकी मिथ्या प्रवृत्तिका नाश करके, अपूर्व सम्यक्त्व (निर्वाणको देनेवाला) को प्राप्त होता है। इसीलिए :

श्री समयसारजीमें परभाव और परद्रव्यके कर्तृत्वको संसारका मूल अथवा अज्ञानका फल बतलाया है। इसलिए यह निश्चित होता है कि कर्ता-कर्मपना अज्ञानके कारण है और ज्ञानके कारण अकर्तापना / ज्ञातापना है। (६९३)

※

मुमुक्षुको विचारकी भूमिकामें तत्त्व सम्बन्धी समझ प्राप्त होती है, जिसमें रस / बल का प्रमाण परोक्षताके कारण सामान्य अथवा अल्प होता है। परन्तु अवलोकनकी भूमिकामें अनुभवकी प्रत्यक्षता होनेसे ज्ञानबल, प्रतीति, कार्यरस विशेष होनेसे वह परिणमन आनेका कारण बनता है। अतः सिर्फ विचार-ज्ञानसे कार्यसिद्धि नही होती है - अथवा (सिर्फ) विचार करनेसे ज्ञानमें विकास होकर भावभासन नही हो सकता। भावभासन होनेके लिए प्रयोग अनिवार्य है, इसलिए,

सिर्फ विचारकी पद्धति परिणमन होनेके लिए पर्याप्त नहीं है, उसमें ध्येय शून्यताके कारण थकान लगती है। (यदि) प्रयोग ध्येयके लक्षसे होता है, तो उसमें थकान नही लगती, परन्तु कार्यरस वृद्धिगत होता जाता है। (६९४)

※

"मै प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र भाव हूँ।" इसमें सारा समयसार आ जाता है। साध्य-साधक अधिकार (कलश २७१)में उक्त वचनामृत भगवान अमृतचंद्राचार्यदेवका है। उसमें अन्य ज्ञेयको जानना, उसे भ्रांति कही है। उसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोषका निषेध किया है; परन्तु उसमें स्व-पर प्रकाशकपनेका - स्वभावका निषेध नहीं किया है, ऐसा समझने योग्य है। श्लोक २७१का तात्पर्य यह है कि - 'मै स्वयंको / स्वरूपको वेद्यवेदकरूप जानता हूँ' (अभेद अनुभवरूप) वहाँ अन्य ज्ञेयसे क्या प्रयोजन है ? (६९५)

※

उपयोगको अंतरंगमें ज्ञानसामान्य पर अनुभवदृष्टिसे ले जाना; अनुभव दृष्टि 'मै-पने' रूप होनेसे, ज्ञान सामान्य सदृश अति निकट द्रव्यमें 'मै पना' सहज अपनेआप आता है। इस प्रकार अंतरंगमें भेदज्ञान होना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे अर्थात् आत्महितके उल्लासपूर्वक सहज प्रयत्न -वारंवार स्वसन्मुखताका कर्त्तव्य है, धारावाही रहे तब तक। वह शुद्ध उपयोगका कारण

प्रसिद्ध न करना, इत्यादि इसमें माया नहीं है; क्योंकि इसमें मायाका हेतु नहीं है, अथवा गुप्त प्रपंच करनेका भाव नहीं है। (१७०४)

※

शुद्धोपयोगरूप धर्मध्यान चार भावनासे विभूषित हैं।

१. मैत्री = जगतके सर्व प्राणीके प्रति निर्वैरबुद्धि, अर्थात् सर्वके प्रति निष्काम प्रेमबुद्धि।

२. प्रमोद = किसीके अल्प गुणको भी देखकर उल्लास आना, रुचना, रोमांच उल्लसित होना।

३. अनुकंपा = जगतके जीवोंको दुःखी देखकर, वे सन्मार्ग पर आत्मिक सुखको प्राप्त करें ऐसी भावना।

४. माध्यस्थ = समदृष्टिके पुरुषार्थ सहित विपरीत योग्यतावाले जीवके प्रति उदासीनता / उपेक्षा।

उपरोक्त प्रकारके परिणाम अनुक्रमसे निःशल्यता, गुणके प्रति प्रेम, निष्कारण करुणायुक्त कोमलता और परदोषकी गौणता आदि सद्‌गुणोंका सेवन करते हैं, जिससे परिणाममें अनादि असम्यक्ता दूर होनेकी योग्यताकी संप्राप्ति होती है, और परके प्रति लगे हुए उपयोगको व्यावृत होनेका कारण बनता है। (१७०५)

※

प्रथम आत्माका विचार होता है, इससे आगे जाकर ज्ञान-वेदनसे स्वयंको देखनेसे, स्वयंकी अंतर्मुखता, सुखस्वभावपना, प्रत्यक्षता और ज्ञानके सातत्यसे अनन्त सामर्थ्य शाश्वतता आदि भासित होते है, जिससे आत्मभावना वृद्धिगत होती है। - यह भावना वृद्धिका प्रयोग है। (१७०६)

※

श्रीगुरुके अनुग्रह (कृपा) का दो प्रकारसे दर्शन होता है। एक तो उनकी चित्त प्रसन्नता द्वारा और दूसरा भूल / दोष दिखे तब डाँटते हो, तब भी उनकी कृपा ही दिखनी चाहिए, क्योंकि वे हितबुद्धिसे डाँटते हैं। (१७०७)

※

ज्ञानीपुरुषकी उपदेश प्रवृत्ति दो कारणसे होती है। स्व हितार्थ और पर हितार्थ। दोनोंमें एक सरीखी निष्कामता होती है। इसलिए अहम्‌भाव रहित और आडंबर रहित वह प्रवृति होती है। निज हितकी मुख्यतासे साधना करते-करते, परहितमें भाग्यवंत जीवोंको उनका निमितत्त्व प्राप्त हो जाता है। (१७०८)

※

जिसकी दशा मोहरहित हुई है ऐसे निर्मोही पुरुषकी दशाका बहुमान-भक्ति, भक्ति करनेवालेके दर्शनमोहको परिक्षीण कर देती है; अथवा ऐसे भक्तिवानके मोहका अनुभाग सहजरूपसे कम होता है / टूट जाता है; यह निःसंशय है। यह रहस्यभक्तिका स्वरूप है; जो सहजरूपसे निष्कामस्वरुप ही होती है। मोहका अभाव होना दुष्कर है, फिर भी सुगमतासे होवे इसके लिए महापुरुषोंने इस भक्तिका बोध दिया है। फिर भी (इसके लिए) वैसे निर्मोही महात्मा होने / मिलने चाहिए। जिस धरातल पर ऐसे आत्मा विचरते है, वह धरा भी धन्य है।

सत्पुरुषकी विद्यमानताकी दुर्लभता तीनोंकाल रही है, तो फिर इस कालमे दुर्लभ हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु मुमुक्षुजीवको आश्रयभक्तिकी भावनामें रहने जैसा है। अविद्यमानता देखकर, अगर भावना बढ़ती है तो पात्रता है और अविद्यमानता देखकर भावना छूट जाय या मंद पड़ जाय तो पात्रताका अभाव है। पात्रतावालेकी भावनामें फर्क नहीं पड़ता।

(७००)

मार्च - १९९१

स्वरूप प्रत्यक्षता - अनन्त प्रत्यक्षताके भासन बिना पुरुषार्थका अंतर्मुखी वेग जितना उठना चाहिए उतना नही उठता, और तब तक विचारकी भूमिकामें ही अटकना होता है; अथवा तब तक उदयभावसे भिन्नता नही हो सकती। उदयमान संयोग व उदयभावके साथ सिर्फ संयोग सम्बन्ध प्रारब्धयोगसे है; फिर भी स्वरूपकी अनन्त प्रत्यक्षता ही उन सभीसे प्रत्यक्ष भिन्नताकी प्रतीति कराकर वास्तविकरूपसे भिन्नताका अनुभव कराती है; जिससे कि विषम भावके निमित्त बलवानरूपसे प्राप्त होनेके बावजूद भी ज्ञानीपुरुषों अविषम उपयोगसे रहे है, रहते है और रहेंगे; ऐसे अविषम उपयोगको धारण करनेवाले - निरपेक्षभावसे रहनेवालेको नमस्कार हो !!

स्वयंके परमपदका - परमात्माका अभेद भावसे वेदन करनेमें, उपयोगमें उत्कृष्ट व्रत, तप, नियम, लब्धि व ऐश्वर्य समा जाते है। - ऐसा मूल्य अंकित हुए बिना शुभभावोंकी रुचि नहीं फिरती। (७०१)

※

बाह्यवृत्ति छूटनेके लिए बाह्य प्रसंग व वृत्तिकी निरर्थकता भासित होनी चाहिए, और बाह्यवृत्तिका उपाधिपना खटके, तो ही उदासीनता आती है; परमार्थका विषय तब तक लक्षगत होना दुर्लभ है। लक्ष विहीन धारणा बाह्यवृत्तिको रोक नहीं सकती, अतः तत्त्व-अभ्यासकी प्रवृत्ति करनेवाले, मुमुक्षुओंको अस्ति-नास्ति दोनों पहलूसे जागृतिपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। (७०२)

※

(१७१५)

विलक्षणता है।

✲

जिज्ञासा :- स्वाध्याय, श्रवणके वक्त काफी दृढ़ता आती है, परन्तु पीछेसे प्रयत्न नहीं चलता है तो उसका क्या कारण ?

समाधान :- यदि स्वलक्षसे स्वाध्याय-श्रवण आदि होते हैं तो प्रयास हुए बिना रहता ही नहीं। परलक्षीज्ञानमें अति परिणामीपना (Over Estimate) हो जाता है - यह दोष अहंभावरूप है। यथार्थ समझ तो नियमसे पुरुषार्थकी उत्पादक है। उसमें संशयको अवकाश नहीं है - परलक्षी दृढ़तासे पुरुषार्थ नहीं चल सकता। (१७१६)

✲

देखिये ! भावनाकी सुंदरता ! कोई भी जीव चाहे कभी भी स्वरूप प्राप्तिकी भावना अथवा निजकल्याणकी भावना कर सकता है। जिसे स्वरूप सुखकी सही चाहत उत्पन्न होती है, उसे कहीं भी बाह्य पौद्गलीक सुखमें संतोष नहीं होता, बल्कि आत्मसुखकी पिपासा बढ़ती जाती है। यद्यपि भौतिकसुखसे कभी किसीको तृप्ति नहीं हुई, परन्तु स्वरूपकी भावनावालेको कहीं भी चैन नहीं पड़ता है, और उसकी भावना बढ़ती जाती है। (१७१७)

✲

सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति आज्ञाकारिताको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक दोष तो मिटाने अति दुष्कर होते हैं; अथवा जो-जो दोषका दमन करना पड़ता है, वे सहजमात्रमें अत्यंत भक्ति और आज्ञाकारिताके कारण उत्पन्न ही नहीं होते। - यह कितना सरल उपाय है। इसलिए सद्गुरुकी आज्ञा सर्व धर्म सम्मत है। विचारवान व प्रयोजनकी पकड़वाला जीव इस उत्कृष्ट उपायको ग्रहण करके सिद्धपदको प्राप्त कर लेता है। (१७१८)

✲

भावनामें अपनत्व करनेकी प्रगट शक्ति है। इसलिए उसका फल भी महान् है। स्वरूपमें एकत्व / अपनत्व करनेसे उसके फलमें केवलज्ञानादि पूर्णदशा प्राप्त होती है। परन्तु अनादिसे जीव परकी भावना करते-करते भवभ्रमण कर रहा है। अत: यह स्पष्ट है कि जीवके परिभ्रमणका कारण परकी भावना है। जीव यदि भावनासे निज स्वरूपको भाये तो अवश्य तिर जाये। 'आतम् भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे।' -(परम कृपालुदेव) परकी भावनासे भवभ्रमण और स्वरूपकी भावनासे भवभ्रमणका नाश । क्योंकि आत्मस्वरूप स्वयं भव रहित है। इस प्रकार मोक्षमार्गमें स्वरूपकी भावनाका अनुपम व अगणित लाभ है। और यह सिद्धांत अफर होनेसे भावनाका अत्यंत महत्त्व है।

(१७१९)

उपरोक्त परिणाम यदि यथार्थ प्रकारसे होते हैं तो सर्वत्र ऐसे परिणाम सहज रहते हैं अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र और कोई भी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सत्पुरुष विषयक प्रभावनाका प्रसंग उदयमान होवे तब भक्ति, विनयादिमें फर्क नही पड़ता, जब कि अयथार्थतामें जीव कोई भी अवांतर (अन्य) हेतुसे अथवा विपरीत अभिनिवेशके कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका किसी न किसी बहाने निषेध करता है, और वैसे परिणामोंको विवेक समझकर उसका सेवन करता है, अथवा विपर्यासको दृढ़ करता है। किसी एक प्रसंगमें विरुद्धता होनेका कारण यह है कि जीव यथार्थतामें नही आया है; परन्तु अन्यत्र खुदके परिणाम भक्ति-विनयके होनेसे खुद भूलमें नहीं है, ऐसे भ्रममें रह जाता है - इस प्रकार गंभीर भूल हो जाती है। जो समय व्यतीत होने पर स्थूल गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न करा देनेके बीजभूत है। (७०६)

*

ज्ञानदशामें निज चैतन्यमूर्तिमें व्याप्य-व्यापकभावसे सुखानुभव अर्थात् अमृतरसका आस्वादन होता है। जिस स्वादके वशीभूत समस्त व्यवहार रत्नत्रयके परिणाम (जिसमें मनकी शांति। साताका वेदन होता है) उसके प्रति भी सहज उदासीनता आ जाती है। देवादिक परद्रव्य प्रतिके परिणाममें एकाकार भावसे रस अथवा जागृतिका रहना - होना, वह स्वभावके अरस परिणामको प्रदर्शित करते हैं। इसलिए बाह्य पदार्थ आश्रित बहिर्मुख परिणामोसे कोई लाभ नहीं है, यह न्याय तीरके माफिक लगे बिना बाह्यभावोंमें जो बहिर्लक्ष है, उसके ऊपर असर होवे तो, और तभी उन्मुखताका पुरुषार्थ बदलकर स्वभाव सन्मुखताका पुरुषार्थ होता है। अतः मुमुक्षुजीवको बाह्यभाव होते हो तब बाह्यलक्षका नुकसान समझकर, अंतर्लक्षमे आना चाहिए, और तीव्र बाह्यरस होनेके वक्त क्षोभ (अंतरमें) होना चाहिये (शुभ-अशुभ दोनों प्रकारमें)। (७०७)

*

प्रारब्ध अनुसार उदयमान संयोगोंके बीच रहते हुए भी जिनकी दशा भिन्न अथवा निराली रहती है, आश्चर्यकारक ऐसी वह चैतन्यमूर्ति विकल्पका स्पर्श भी नहीं करती है, ऐसे ज्ञानीपुरुष मिलनेके बावजूद भी जो मुमुक्षु होते हुए भी रस-रुचिसे, कामनापूर्वक, आत्मभावसे, स्वच्छंदपूर्वक, मिठासका वेदन करके, अधिकाई देकर, ज्ञानीपुरुषके वचनरूप आज्ञाकी उपेक्षा करके, अनुपयोग परिणामी होकर यानी कि आत्माके अहित सम्बन्धी ज़रा भी सावधानीका अंश नहीं रखते हुए उदयको / संसारको भजता (सेवन करता) है, उसे वास्तवमें ज्ञानीपुरुष मिले ही नहीं। और वह जीव तीर्थंकरदेवके मार्गसे बाहर है। सच्चे मुमुक्षुको तो उदयके बीच खड़े रहना पड़े उसका त्रास वर्तता है, उदयमें प्रतिबद्धताका भाव भयंकर यम दिखे, तो ही वहाँसे हटनेका

उसे मिटानेका मुख्य साधन आत्मजागृतिरूप अवलोकन है। अवलोकनसे कषायरस गलता है।

परलक्ष : यह ज्ञानका (अनादि) बड़ा दोष है। जो स्वाध्याय और सत्संगको निष्फल करता है और पररुचिको उग्र करता है और जिसके कारण दूसरे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस दोषके कारण जीव 'मैं समझता हूँ' - ऐसी भ्रांतिमें रहता है, और स्वलक्षसे विचार / प्रयोग नहीं कर सकता। स्वलक्ष और आत्मार्थीतासे उसे मिटाने योग्य है।

(परमें) अपनत्व : प्रारब्धयोगसे प्राप्त ऐसी सचेत-अचेत पदार्थरूप सामग्रीमें जीव निजबुद्धि करके परिभ्रमणके कारणका सेवन करता है। संसारमें जीवको ऐसे परिणाम एकदम सहज हो चुके है। अत: आत्मकल्याण होनेमें ये उसका बहुत बड़ा अवरोध है, इसका खयाल तक उसे नहीं आता है। इसलिए उसे दूर करनेका उपाय भी समझमें नहीं आता, तो इसके लिए पुरुषार्थ तो करे कैसे ? इस दोषसे दर्शनमोह - मिथ्यात्व गाढ़ होता जाता है, जिसके कारण मुमुक्षुताके क्रममें प्रवेश करना दुर्लभ / कठिन हो जाता है। ऐसा अपनत्व आत्महितका घातक होनेसे काला साँप और भयंकर अजगर जैसा भासित हो और साथमें आत्मकल्याणकी भावना तीव्ररूपसे जगे तभी अपनत्व मिटनेका प्रयास हो सकता है और परमार्थमार्गमें आगे बढ़ा जा सकता है। इस प्रकार अपनत्व पतला हो सकता है।

आधारबुद्धि : जीवने अनादिसे निज शाश्वत ध्रुव तत्त्वका आधार नहीं लिया होनेसे, सहज ही परकी आधारबुद्धि चालू है। शरीर, कुटुम्ब, संपत्ति, आहार, पानी इत्यादिका आधार ग्रहण करता है और वह परिणति अति प्रगाढ़ हुई है। जिसे तोड़नेमें शुरूआतमें ही जीवकी हिम्मत नहीं चलती है। जीव नाहिम्मत हो जाता है और आगे नहीं बढ़ सकता। परन्तु स्वरूपको पहचानकर उसे बदला जा सकता है। इसके पहले सत्पुरुष, श्रीगुरुका आधार मिले तो वह सुगम हो जाता है। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सुखबुद्धि : जीवको अनादि भ्रांतिवशात् पंचेन्द्रियके विषयमें और अनुकूलतामें सुखबुद्धि है। तद्उपरांत प्राप्त सामग्रीमें सुखाभासमें सुखानुभव कर-करके, उस सुखबुद्धिकी जीव दृढ़ता किये जाता है और अनन्त, अचिंत्य सुखधाम ऐसे निज स्वरूपसे दूर होता जाता है। और सुखसे वंचित रहता होनेसे अतृप्तदशामें अटका हुआ, बारबार सुखके लिये व्यर्थ प्रयत्न करता रहता है। परन्तु गुरुकृपासे जब स्वरूपकी पहचान होती है, सत्परमानंद स्वरूपका निश्चय होता है तब स्वरूपमें सुखबुद्धि होकर यह मिथ्या अभिप्राय मिटता है।

कर्ताबुद्धि : अनादिसे जीवको राग एवं परका कर्तृत्व है, जिसके मूल काफी गहरे हैं। इस प्रकारका मार्ग अवरोध मिटना अति दुर्लभ है लेकिन अगर यथाक्रमसे जीव भेदज्ञानके

है परन्तु जिस विद्यासे आत्मगुण प्रगट नहीं हो, आत्मगुण प्रगट हो इसके लिए विवेक प्रगट नही हो या समाधि नहीं हो, वैसी विद्या पर पात्र जीवका ज़रा भी वज़न जाना नहीं चाहिये। यदि वज़न रहा तो बाह्यवृत्ति (रस) वृद्धिगत् होती जायेगी और दुर्गुणोंकी उत्पत्तिमें वैसे प्रकार निमित्तभूत होते हैं। अतः निजहितके प्रयोजनकी सूक्ष्म व तीक्ष्णदृष्टिपूर्वक, इस प्रकारके कोई भी क्षयोपशमवाले जीवको प्रवर्तन करना चाहिए, तो (ही) व्यक्त शक्तिका सद्उपयोग होगा, अन्यथा संसारवृद्धिका कारण होगा। (७११)

※

जैसे-जैसे चित्तमें निर्मलता व अचंचलता हो / होती जाये वैसे-वैसे ज्ञानीके वचनोंका विचार यथायोग्य हो सकता है। चित्तकी शुद्धि आत्महितकी जागृति विशेष रहनेसे एवं सरलताका सेवन करनेसे होती है। जिस जीवके परिणाममें वक्रता (असरलता) होती है, उसका चित्त मलिन होता है, इससे विचारशक्ति हो तो भी विवेकका नाश होता है। विवेकके अभावमें अयोग्य निर्णय लेनेमें आ जाते है। इसके अलावा संगदोषसे अर्थात् जिसका संग करने योग्य नहीं है, उसका संग करनेसे भी विचारबल प्रवर्तता नहीं है। आत्मार्थी जीवको शुक्ल हृदयसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जिस तरह देव-पूजा परम आदरसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्य सामग्रीपूर्वक अंतर - बाह्य शुचि सहित करनेमें आती है वैसे परमतत्त्वकी प्राप्तिके निमित्तरूप तत्त्वज्ञानकी उपासना, अंतरभूमिकाकी शुचिपूर्वक पात्रता सहित होनी चाहिये। (७१२)

※

प्रयोजनभूत तत्त्व, अवलंबन लेने योग्य अपना आत्मस्वरूप है। द्रव्यदृष्टिका जितना विषय है, उतना ही प्रयोजनभूत तत्त्व है। इसके उपरांत पर्यायदृष्टिसे स्वरूपका अवलंबन लेना - यह प्रयोजन है। वह प्रयोजन सिद्ध करनेका है, इसलिए ये दोनों विषय उपदेशमें मुख्य होते है। तथापि उपदेशमें अनेकविध पहलूसे विशाल प्रमाणमें निरूपण है, इसका यह कारण है कि उपदेश ग्रहण करनेवालेकी योग्यता अनेकविध प्रकारकी होती है। अतः सर्व उपदेश किसी एक जीवके लिए प्रयोजनभूत नहीं हो सकता, तथापि सिर्फ एक प्रकारका उपदेश (भी) सर्व जीवको लागू नहीं होता है। इसलिए आत्मार्थी जीवको अपनी योग्यता, दोषके अथवा भूल होनेके प्रकारको समझकर, जिस प्रकार खुदका हित होवे, उस प्रकारसे उपदेशको अंगीकार करना चाहिए। ऐसा होनेसे 'प्रयोजनभूत' विषयमें अमुक बातके आग्रहका सेवन होना नहीं चाहिये। (७१३)

※

'ज्ञानमात्र' कहकर आचार्यदेवने जीवके शुद्ध स्वरूपको दर्शाया है। अतः खुदका अर्थात्

प्राप्त उपदेश तुरंत ग्रहण होता है, चुकता नहीं है। कभी-कभी ऊपरकी भूमिकाकी बात चले तो इसकी भावना भाता है परन्तु जानकारी बढ़ानेके लिए नहीं सुनता। जानकारी बढ़ानेके अभिप्रायसे (यदि) सुने / पढ़े तो परलक्ष बढ़ता है और शास्त्रीय अभिनिवेश - अहम्‌भाव उत्पन्न होता है। प्रयोजन तो अपनी वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़कर पूर्ण होनेका है। अत: ऊपरकी भूमिकाका विषय भावनाका बनता है। अनेक दृष्टिकोणसे अपने आत्महितके एक प्रयोजनको केन्द्रस्थानमें रखकर प्रवर्तन करना चाहिए। (१७३७)

❋

यथार्थ भावनाके साथ दृढ़ता होना अविनाभावी है। एक सिक्केकी दो पहलूकी तरह। भावना स्वयं कोमल स्वभावी है, परन्तु शिथिल नहीं है। भावनावालेकी दृढ़ता अद्‌भुत व आश्चर्यकारी होती है। जिसका प्रभाव कुदरत पर पड़ता है। इतना ही नहीं, भावना प्रयोजनकी दृष्टिको साधती है, जिससे मुमुक्षुता वृद्धिगत होती है। (१७३८)

❋

जिज्ञासा :- श्री सद्‌गुरुकी आज्ञाकारिता कैसे प्राप्त हो ?

समाधान :- सद्‌गुरुकी अत्यंत भक्ति आज्ञाकारिताको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक दोष तो मिटाने अति दुष्कर है, अथवा जो-जो दोषका दमन करना पड़ता है, ऐसे दोष सहजमात्रमें आज्ञाकारिता / आज्ञारुचिके परिणामोंसे उत्पन्न ही नहीं होते। - यह कैसा सरल उपाय है ! इसी वजहसे सद्‌गुरुकी आज्ञा सर्व धर्म सम्मत है। विचारवान जीव इस उत्कृष्ट उपायको ग्रहण करके अंतत: सिद्धपदको प्राप्त करता है। (१७३९)

❋

मुमुक्षुकी भूमिकामें कुछएक गुणका होना आवश्यक है; जिसमें आत्मरुचिकी प्रधानता है। जिसके कारण सरलता, प्रयोजनकी पकड़, यथार्थ उदासीनता इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं। आत्मरुचिके बिना क्षयोपशमज्ञान कार्यकारी नहीं होता, क्योंकि प्रयोजनभूत बात पर लक्ष नहीं जाता; पारमार्थिक सरलता उत्पन्न नहीं हो पाती। देव, गुरुके प्रति अर्पणता, आत्मार्थीता आदिके मूलमें आत्मरुचिका होना ज़रुरी है। आत्मरुचि ही जीवको संसारसे यथार्थ उदासीनतामें रखती है; और अंतर जिज्ञासापूर्वक अंतर खोजको उत्पन्न करती है। दर्शनमोहको मंद करनेवाला यह मुख्य गुण है। स्वरूपके भावभासनपूर्वक उत्पन्न हुई अनन्य रुचि सम्यक्‌त्वको उत्पन्न करनेवाला मुख्य गुण है। जिससे अपने अंदरमें देखना मुमुक्षुजीवके लिए ज़रुरी है। (१७४०)

❋

आत्मकल्याणकी तीव्र भावना सहित उदयमें प्रयोग होना चाहिए, वरना जीव उदयमें जुड़कर

स्वकी स्थापना, परके स्थापन बिना नहीं हो सकती। यदि परकी स्थापनाकी अपेक्षा ही नहीं लेनेमें आये तो स्वका स्थापन भी नही हो सकता। (७१६)

❋

शास्त्रवांचन व श्रवणके निमित्तसे तत्त्वअभ्यास करनेवाला मुमुक्षु प्रायः बुद्धिगम्य विषयोकी विचारणा करते-करते ही आत्मस्वरूपका निर्णय करता है। जैसे भौतिक पदार्थके विज्ञानको समझकर उसका निर्णय करता है वैसे ही आत्मस्वरूप सम्बन्धी, द्रव्य, गुण, पर्याय, धर्म इत्यादिका विचार करके निर्णय करता है, परन्तु आत्मस्वरूप मनातीत एवं विकल्पातीत है, ऐसा जाननेको मिलता है, और उसको सम्मत करनेके बावजूद भी, उस स्वरूपका जो मानसिक निर्णय होता है, (जो कि वास्तवमें एक कल्पना है।) उसको यथार्थ निर्णय समझ लेता है, परन्तु फिर जब उस निर्णयसे कोई दूसरे प्रकारसे किसी अनुभवी पुरुषकी वाणी सामने आती है, तब उनका कथन मान्य नहीं होता है अथवा समझमें नही आता है, और वह उलझनका अथवा विरोधका निमित्त बनता है, अतः स्वरूपनिर्णय करनेकी ऐसी पद्धति यथार्थ नहीं होनेसे, अनुभव पद्धतिसे, ज्ञान लक्षण द्वारा स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति हो, उस प्रकारसे निर्णय करना चाहिये, और ऐसा नहीं हो तब तक निर्णय कर लेनेके बजाय मुमुक्षुजीवको जिज्ञासामें रहना अच्छा है। अन्यथा सूक्ष्म गृहीत मिथ्यात्वमें प्रवेश हो जाता है; और आगे जाकर ज्ञानकी स्थूलता बढ़ जाती है। (७१७)

❋

अंतर्मुख होनेका मार्ग-उपाय, वास्तवमें अति-सूक्ष्म, एवं रहस्यभूत है, बहुभाग वचन अगोचर है। जो अति अल्प मात्रामें वचनगोचर है। जिसके द्वारा अनुभवी पुरुष वचन उपरांत चेष्टासे समझाते हो तो भी तथारूप पात्रता अपेक्षित पात्र जीवको समझमें आता है, और तब जाके प्रयोग द्वारा आगे बढ़ सकता है, तो फिर निराश्रयरूपसे अनादिसे अनजान ऐसी लोकोत्तर कलाको जीव कैसे प्राप्त कर सके ? अर्थात् कर ही नही सकता, यह प्रत्यक्ष समझमे आये ऐसा है। फिर भी जो स्वच्छंदसे प्रयत्न करता है - सद्गुरुके आश्रय बिना - वह प्रायः परिभ्रमण वृद्धिका कारण होना संभवित है। इस कारणसे श्रीगुरुका खास महत्त्व दर्शाया गया है। (७१८)

❋

ग्रंथ-ग्रंथोंमें श्रीगुरुका अतीव महत्त्व गानेमे आया है, जो यथार्थ ही है; क्योकि वे भावरोगसे बचाते है, अनन्त करुणा करके बचाते है। अतः सर्वदोष रहित श्रीगुरु जैसे इस जगतमे कोई उपकारी नहीं है। ऐसा समझनेवालेकी प्रतीति संपूर्ण आज्ञाकारिता उत्पन्न कराती है। जैसे

वह आतुर होता है। शास्त्रोंमें भी जिन-वचनोंमें परस्पर विरोधाभासी कथनका मेल / संधि, आसन्न भव्य जीव ही करता है - ऐसा विधान है। विधि पर्यायनयका विषय है, ऐसा मानकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अपेक्षासे वह प्रयोजनभूत विषय है। इतना ही नहीं स्वरूप महिमा भी पर्याय है, स्वानुभूति भी पर्याय है, अत: उसकी यथार्थता व सम्यक्ता होनी आवश्यक है। (१७५०)

※

सितम्बर - १९९८

जिज्ञासा :- कृपालुदेवने लिखा है कि, 'जीवको एक बार भी सच्ची मुमुक्षुता नहीं आयी है', तो ऐसी सच्ची मुमुक्षुताका स्वरूप कैसा है ?

समाधान :- 'अनन्त जन्म-मरण कर चुके ऐसे इस (आत्माकी) करुणा वैसे अधिकारी जीवको उत्पन्न होती है, और वही कर्म-मुक्त होनेका सच्चा अभिलाषी कहा जाता है।' अर्थात् जिस जीवको परिभ्रमणके दु:खोंसे छूटनेकी, (आत्माके अंतरमेंसे) भावना हुई - वेदना हुई उसे ही सच्ची मुमुक्षुता कह सकते है और वही जीव चाहे कैसे भी उदयमें छूटनेके यथार्थ पुरुषार्थमें जुड़ता है - वैसी सूझ उसे आती है। इस प्रकारकी सूझमें, स्वच्छन्द नहीं हो इसलिए वह आत्मज्ञान जिसे हुआ है, उस पुरुषके शरणमें रहकर ज्ञान प्राप्ति करना चाहता है। और आज्ञाधीन रहकर निजकल्याण साध लेता है। (१७५१)

※

वस्तुधर्म दो प्रकारसे है। वस्तु अपरिणामी भी है और परिणामी भी है। पूरी वस्तुका धर्म हमेशा परिणमनशील रहनेका है, जब कि त्रिकाली शुद्ध स्वभाव जो कि अनन्त गुणोंका एकरूप है, वह अपरिणामी है; वह कूटस्थ, ध्रुव रहता है। इस तरह वस्तुस्वरूपमें परस्पर विरुद्ध स्वभावपना है। निश्चयनय जब त्रिकाली आत्मस्वरूपका अवलंबन लेता है, तब स्वानुभूति प्रगट होती है, जिसमें द्रव्य-पर्यायका युगपत् अनुभव होता है, जिसे ज्ञानानुभूति भी कही जाती है, क्योंकि ज्ञेयाकार ऐसे ज्ञानविशेषका तिरोभाव करके ज्ञानसामान्यके आविर्भावरूप यह अनुभूति है। (१७५२)

※

स्वानुभूतिरूप ज्ञान मोक्षमार्ग है, द्वादशांगका ज्ञान विकल्प है, मोक्षमार्ग नहीं। द्वादशांगमें अनुभूति करनेका विधान है; परन्तु अनुभूति बाह्य (शास्त्र) ज्ञान करनेकी प्रेरणा नहीं देती। अध्यात्ममें अंतर्मुख परिणामोंका आदर है और बहिर्मुख परिणामोंका निषेध है। अंतर्मुखता स्वभावभूत है, जब कि बहिर्मुखभाव विभाव है, प्रत्येक गुणके परिणमन सम्बन्धित यह नियम है। (१७५३)

प्रत्यक्ष होते ही - वीर्यका उछाला आ जाता है। सुखनिधानको देखते ही उसमें लीन होनेका - थम जानेका सहज आवेग सहित होना, अत्यंत आत्मरसपूर्वक होना - वह पुरुषार्थका स्वरूप है। खुदका केवलीस्वरूपरूप / भावसे अनुभव होते ही, अन्यत्र सर्वमेंसे अहम्‌भाव छूट जाता है। (७२२)

*

आत्मामें अनेक धर्म होनेसे और परिणाममें भी हिनाधिकपना होता है, इसलिये तत् सम्बन्धित वक्तव्यमें यथार्थ ज्ञानपूर्वक कहनेवालेकी कोई न कोई अपेक्षा और मर्यादा होती है, जिसे यथायोग्यरूपसे समझनी चाहिये; उसमें भी उद्देश्यकी प्रधानता छूटनी नहीं चाहिये। मूल प्रयोजन सिद्ध होनेके उद्देश्यपूर्वक अध्यात्मके सिद्धांत जहाँ कहे गये हो, वहाँ अन्य (आगम की) अपेक्षाका बीचमें विचार करनेसे मूल उद्देश्य-रहस्यकी प्राप्तिमें वैसा अपेक्षा ज्ञान / विचार बाधक होता है। अतः चारों अनुयोग सम्बन्धी अपेक्षाओंसे निरपेक्ष, अध्यात्म तत्त्व है, ऐसा जानकर स्व आश्रयकी मुख्यता होवे, ऐसा उद्देश्य अध्यात्म-वचनोंमें अवलोकन होने योग्य है।

यह खास लक्षमें लेने योग्य है कि यह मार्ग अनुभवज्ञानका है। इसलिये सिर्फ विचारकी भूमिकामें सम्मत करके अटक जाना, वह योग्य नहीं है। अथवा समझको ज्ञानप्राप्ति नहीं मान लेना। (७२३)

*

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त हुए, परमकरुणाशील महापुरुषका योग प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। ऐसे महापुरुषके गुण अतिशयसे, सम्यक्‌दशासे समागम प्राप्त पात्र मुमुक्षुजीवकी वृत्ति स्वरूपके प्रति झुकती है। शुद्ध वृत्तिमान अर्थात् शुक्ल अंतःकरणसे आत्महितके कामी मुमुक्षुको वैसे पुरुषकी अभ्यंतरदशाकी परीक्षा होकर, प्रतीति आती है, तब परम विनयकी प्राप्ति होती है; और यह पुरुषके वचन आगमस्वरूप भासित होते है। प्रत्यक्ष वचनयोग बलवान उपकारी है; परन्तु वैसा प्रत्यक्षयोग निरंतर नहीं रहता होनेसे, उनके वचनोंकी अनुप्रेक्षा हेतु शास्त्र साधन है; फिर भी विशुद्ध दृष्टिवानको वह उपकारी होता है; जिसने प्रत्यक्ष सत्संगकी उपासना करके श्रुतके रहस्यको जाना हो, वह श्रीगुरुकी आज्ञाके परम अवलंबनसे भवसागर पार कर जाता है। वैसा स्वच्छंद निरोध हुआ है जिसका, उसे आगम अनर्थकारी नहीं होते। (७२४)

*

एकमात्र आश्रय करने योग्य, द्रव्यस्वभाव विकल्पातीत निर्विकल्प, स्व-रूपका मात्र विकल्प द्वारा, मुमुक्षुजीव वारंवार विकल्पसे चिंतवन करके (लक्ष / भावभासन हुए विना) आश्रय करना चाहे, तो भी नही हो सकता, परन्तु साधनकी भूल होनेसे मात्र विकल्पमें रुकना होता है;

कि जो अचल प्रतीति व प्रेमरूप भक्ति सहित होता है। यह जीव अवश्य दुस्तर ऐसे संसारको तिर जाता है। दूसरी ओर, अनेक लौकिक गुण और मंद कषायी जीव हो, परन्तु दर्शनमोह तीव्र हो, वैसे विराधक परिणामवाले जीवको बड़ा नुकसान होता है। अतः ऐसे गुण गौण करने योग्य है। ऐसा प्रकार अनुसरण करने योग्य नहीं है। गुण-दोषकी तुलना इस प्रकार होनी चाहिए, उसमें यदि विपरीतता हुई, तो नुकसान होता है। (१७६२)

*

श्रीगुरुके प्रति अर्पणता होनी - यह सर्व धर्म सम्मत है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेका ये बलवान कारण है और सुगम उपाय भी है। संसारी जीव संयोगके प्रति झुका हुआ है - समर्पित है, उसके लिए गुरुके प्रति अपने सर्व अभिप्रायको छोड़कर सद्गुरु आज्ञामें वर्तन करनेमें परम हित है। - ऐसा जिसकी समझमें आता है, उसे सच्ची अर्पणता आती है। सच्ची अर्पणता माने सर्वार्पणबुद्धि, - अभिन्नभाव होना वह। गुणका प्रेम होनेसे, अचल प्रतीति आने पर गुरु-आज्ञाका अमलीकरण होता है, जिससे निश्चित कल्याण सधता है, भवका अभाव हो जाता है। जिसे यथार्थ प्रतीति नहीं है, उसे अर्पणताके साथ अहम्भाव हो जाता है, वह बुद्धिपूर्वक गिनती, कायदे, वायदे इत्यादि भावोंसे प्रायः दर्शनमोह बढ़ा लेता है। उस जीवको अभी खुदको अर्पणताके कारण हुआ लाभ दिखा नहीं है। वास्तवमें तो जिसने गुरुका स्वीकार किया उसने अपना स्वीकार किया है और जो खुदका स्वीकार करता है वही गुरुका स्वीकार करता है। आत्मार्थीको सभी आग्रह छूट जाते हैं। गुरु वचनके आगे खुदका डेढ़-डहापन नहीं करते। (१७६३)

*

'लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदायी' - जिनपद समान निजपदका लक्ष-पहचान हो उस आशयसे शास्त्र कहे गये है। अतः मुमुक्षुको शास्त्र स्वाध्याय, निज परमपदकी पहचान हो, उस दृष्टिकोणसे करना उचित है। यदि बिना इस दृष्टिकोण शास्त्र स्वाध्याय किया जाये तो, शास्त्रकारका आशय ही ग्रहण नहीं होगा और अन्यथा ग्रहण होनेसे स्वाध्याय सफल नहीं होगा। शास्त्रोंमें जिन-जिन भावों सम्बन्धित बोध दिया हो, उसे खुदके अनुभवमें आनेवाले भावोंके साथ मिलान करके-अवलोकन करके भावभासन करना चाहिए। अर्थात् विभिन्न भावोंका अनुभवज्ञान करना चाहिए। जिससे आकुलतावाले विभावभावोंसे निराकुलरूप ज्ञान भाव भिन्न पहचानमें आये। परख-पहचानकी तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिए। (१७६४)

*

विचार है सो प्रयोग नहीं है। भले ही प्रयोगके कालमें विचार होते हैं तो भी। विचार

ंत-शून्य दिखते है। इसलिये पुण्ययोगसे भी सहज त्यागी - दशामें वे रह सकते है, या ते है, वैसा त्याग उनके ऐश्वर्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करता है, और वह उनकी अंतरंगदशाके साथ सुसंगत है। इतना ही नही दूसरे मुमुक्षुको भी उपकारभूत है ऐसा जानकर श्री भगवानने त्यागकी उत्कृष्टताका उपदेश किया है कि जो अकर्तृत्वसे कर्त्तव्य है। (७२८)

※

त्यागकी उत्कृष्टता होनेके बावजूद भी जिसकी इन्द्रियवृत्तियाँ शांत नही हुई है, अथवा वारंवार वैसी वृत्ति ज़ोर करती है, अथवा मोहगर्भित, मानगर्भित या लोभगर्भितपनेके कारण, ज्ञानीपुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करनेके लिए योग्य नहीं है, वैसे मंदवैराग्यवान जीवको त्याग नहीं लेना चाहिये, ऐसा जैन सिद्धांत कहता है, अर्थात् सिद्धांतमें त्यागका एकांत नहीं है। परन्तु त्याग किस प्रकारसे हुआ हो तो 'यथार्थ त्याग' कहा जाये ? उसका प्रथम विचार करके, शक्ति और देशकाल अनुसार त्याग करना हितावह है।

पुनः त्याग लेनेवालेको 'सर्वथा' अयाचकपना चित्तमें रहने योग्य है। यदि त्यागी होनेके बाद, याचकवृत्ति या अपेक्षावृत्ति दूसरेके प्रति रहा करे तो उसमें ज्ञानीका मार्ग नहीं रहता है, ऐसा समझने योग्य है।

त्याग-दशामें सहज वनवासीपना रह सके, ऐसा तीव्र वैराग्य वर्तता हो, और स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यका आधार तीव्र पुरुषार्थसे लिया जा सकता हो, तो उसे 'यथार्थ त्याग' गिनना योग्य है। (७२९)

※

जिज्ञासु जीवको पात्रता / यथार्थ मुमुक्षुकी भूमिकाके बारेमें विचार करते वक्त, मुख्य बाबत ऐसा जो मार्गानुसारीपना - उसका विचार करने योग्य है। श्री जिनने उसे संक्षेपमें कहा है, कि जो जीवको सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेमे कोई बाधकभाव नहीं आता हो अर्थात् सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेके लिए अच्छी सी योग्यता प्रगट हो, वैसे गुणवानको 'मार्गानुसारी' गिनना चाहिये।

'बीज रुचि सम्यक्त्व' अर्थात् सत्पुरुषकी (पहचानपूर्वक) स्वच्छंद निरोधपने, आज्ञारुचिरूप निष्काम भक्तिका कारण उक्त मार्गानुसारीपना होता है। 'बीजरुचि - सम्यक्त्व'- स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिका - उस रूप सम्यक्त्व सन्मुखका कारण होता है, जो कि निर्विकल्प परमार्थ सम्यक्त्वका अनन्य और निश्चय कारण है। इस प्रकार जिनवचनमें अनन्त भव छेदक कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शनका मूल नज़रमें आता है, इस हेतुसे इस वचनको नमस्कार हो । (७३०)

※

करने योग्य विषयकी मुख्यतापूर्वक अमलीकरणका पुरुषार्थ होना चाहिए।

(३) विकल्प वृद्धि न हो और अंतमें निर्विकल्प हुआ जाये उस प्रकारसे जिनागमोंका स्वाध्याय होना चाहिए। उसमें भेद-प्रभेद पर वज़न नहीं चला जाये ऐसा लक्ष होता है। वज़न अभेदता पर होता है।

(४) सुख-दुःखका सद्भाव व अभावका प्रयोजन होनेसे वर्तमानमें चलते हुए परिणमनमें जागृति होनी चाहिए, और विकल्प / बहिर्मुख भाव सिर्फ दुःखरूप है, विभाव (ज्ञानका भी) दुःखका कारण है, इसका अवलोकनपूर्वक अनुभवज्ञान होना चाहिए; तो ही जीव दुःखसे हटनेके अंतर्मुखताके सहज प्रयासमें आता है।

(५) दोष-अवगुण दुःखका उत्पादक है, और गुण अर्थात् निर्दोषता सुखका उत्पादक है, इसलिए गुण-दोषकी यथार्थ तुलना होनी चाहिए। उसमें दर्शनमोह और चारित्रमोह सम्बन्धित विवेक स्पष्ट होना चाहिए।

(६) अभेद आत्मस्वरूप जो त्रिकाल ध्रुव है, वह अंतर अवलंबनका विषय है, उसकी अपेक्षापूर्वक गुणभेद व पर्यायभेद गौण होने चाहिए। स्वरूपकी पहचान होकर इस प्रकार स्वरूपकी मुख्यता होती है, सिर्फ जानकारीसे विकल्प होते रहें, ऐसा नहीं होता।

परम कृपालुदेव (श्रीमद् राजचंद्रजी) ने सत्य ही कहा है कि,

'ज्यां-ज्यां जे-जे योग्य जे, तहां समझवुं तेह,<br>
त्यां-त्यां (मुख्यतासे) ते-ते आचरे, आत्मार्थी जन एह।' - (आत्मसिद्धि शास्त्र-८) (१७७३)

*

शास्त्रमें अध्यात्मके प्रकरणमें आत्मस्वरूपको समझानेके लिए, आत्मामें रहे अनेक गुण-धर्मोंके दृष्टांत, युक्तियाँ व विभिन्न न्यायसे समझाये गये हैं। जीव उघाड़ ज्ञानमें, अनादि रागकी प्रधानतामें भी, ये सभी बातें समझ सकता है, परन्तु अनुभव तो ज्ञानकी प्रधानतामें प्रयोग होने पर ही होता है। सिर्फ समझने मात्रसे छुटकारा नहीं है, परन्तु अनुभवसे छुटकारा है। अतः वज़न सिर्फ समझने पर नही रहना चाहिए, परन्तु प्रयोगमें चढ़कर अनुभव तक पहुँचना चाहिए। (१७७४)

*

आत्माका 'स्वरूप-ज्ञान जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें उत्पन्न होता है, उस प्रकार उनकी वाणीकी भी पूज्यता है।' प्रत्यक्षयोग बिना सजीवनमूर्तिके आत्मभावोंका दर्शन नहीं होता और उन आत्मभावोंकी अभिव्यक्ति उनकी वाणी द्वारा होती है, इसलिए स्वरूपज्ञान उत्पन्न होनेके लिए जिस प्रकार ज्ञानी उपकारी हैं, वैसे ही उनकी वाणी भी उपकारी है। भले

(५) आत्मरससे सराबोर वाणी आती है।

(६) स्वरूपप्राप्तिकी विधिका सूक्ष्म रहस्य अर्थात् अनुभव-विधिके रहस्य द्वारा तत्सम्बन्धित उलझनका उकेल मिलनेसे वह लक्षण ग्रहण होता है।

(७) निजस्वरूपकी सर्वस्वरूपसे उपादेयताका आंतरध्वनि वाणीमें रहा होता है।

(८) (अपने स्वरूपका) भानसहितपना होनेसे आत्मजागृति सूचक वचन, श्रवण करनेवालेको जागृतिमें निमित्तभूत होते है।

(९) स्वरूपकी प्रत्यक्षता, प्रत्यक्ष होनेसे, आशय भेद वाणीमें उत्पन्न होता है। वैसा आशय परोक्ष विचारसे उत्पन्न वाणीमें नही आ सकता।

(१०) स्वरूपसुखकी निराकूलतासे उत्पन्न परितोषपना, मुक्तपना - ज्ञानदशाको प्रदर्शित करता है।

(११) मुख्य-गौणता प्रकरण अनुसार होने पर भी, संतुलन गवाँये बिना, अनेकांतिक झुकाव सिर्फ ज्ञानदशामें ही वर्तता है।

(१२) अलौकिक सरलतायुक्त व्यवहार।

(१३) सम्यक्ज्ञानकी मध्यस्थताके कारण निष्पक्षता, इष्ट-अनिष्टपनेकी बुद्धिका अभाव, समतोलपना - समपना।

(१४) अंतरंग निस्पृहता - परिपूर्ण स्वरूपका अवलंबन - आधार होनेसे।

(१५) निर्भयता - अव्याबाध, शाश्वतस्वरूपकी प्रतीति भावके कारण।

(१६) वर्तमान उदयमें, उदयप्रवृत्तिसे प्राप्त फलमें उदासीनता, नीरसता, निःसार लगता होनेसे कार्योमें असावधानी, विषयोंमें अप्रयत्नदशा - ज्ञाताभाव।

(१७) निष्कामभावसे परम कारुण्यवृत्ति, सर्व जीवोंके प्रति परमार्थकी प्राप्ति हो - उसरूप भावना।

(१८) बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथदशाकी भावना, अचलितरूपसे स्वरूपस्थितिकी चाहना।

(१९) लोकदृष्टि / लोकसंज्ञाके अभावके कारण निर्मानता अर्थात् मान-अपमानकी कल्पनाका अभाव। अपनी गुरुता छिपानेवाले।

(२०) पवित्रता - निर्विकारताके प्रेमके कारण गुण प्रमोदपना।

(२१) कर्म-नोकर्मरूप समस्त परका सिर्फ ज्ञातापना-साक्षीभावसे, यह ज्ञानीका लक्षण है। (७३२)

*

परिणाममें रसवृद्धि होनेका उपाय, उस-उस विषयमें बार-बार अनुभव करनेसे होता है। पंचेन्द्रियके विषयमें जिसे जो विषयकी आसक्ति अथवा सुखबुद्धि होती है, वह बार-बार उस विषयका अनुभव करके रसवृद्धि करता है। यह सबको अनुभवगोचर है। इस सिद्धांत अनुसार ज्ञानानुभवसे ज्ञानरस - आत्मरसकी ज्ञानी वृद्धि करते हैं। आत्मार्थीको विभावरस तोड़नेके लिए कोई भी विषयमें पूर्वग्रह विरुद्ध परिणाम द्वारा उल्टे प्रयोगसे अंतर-बाह्य प्रयास कर्तव्य है। अशाता वेदनीके उदय प्रसंगमें भी देहात्मबुद्धि मंद होनेके लिए उपचारके परिणाम अल्प होने चाहिए। (१७८६)

※

परपदार्थमें अपनत्वके परिणाम और अपनत्वका अभि[illegible]ाय, परिभ्रमणकी वेदना आने पर मंद पड़ता है, देहात्मबुद्धि मंद होनेके लिए, देहमें अशाताका उदय आने पर यदि यथार्थ प्रकारसे अवलोकन आदि प्रयोग करनेसे आकुलता पकड़में आये तो आकुलतासे हटनेके प्रयासमें आंशिक सफलता मिलती है। रागसे एकत्व मिटना अति सूक्ष्म व कठिन है, यह एकत्व ज्ञान और रागकी संधि, - आकुलता, मलिनता और विपरीतताके अनुभवज्ञानसे पकड़में आता है, साथ ही मार्गकी अप्राप्तिकी खटक या वेदनासे उत्पन्न भेदज्ञानसे मंद पड़ता है। मुमुक्षुकी भूमिकामें उपरोक्त प्रकारसे परद्रव्य और परभावका एकत्व मंद हो तो, ज्ञानदशाकी प्राप्ति सहज होती है। जो कुछ भी दुर्लभ है वह तो मुमुक्षुतामें यथार्थता प्राप्त होना वह है, इस कारणकी दुर्लभता होनेसे अनन्तकालसे परिभ्रमण हो रहा है। कारण मिलने पर कार्य सहज और सुलभ है। (१७८७)

※

मुमुक्षुजीवको दर्शनमोह मंद होनेके लिए उदयभावमें खुदको नीरसता सहज रहे, यह ज़रूरी है। उसके लिए शाता-अशाता, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना इन सबमें प्रयोगसे योग्य फेरफार करना उचित है। विभावरस दर्शनमोहकी वृद्धिका कारण है, ऐसी समझपूर्वक उदयभावमें हो रही आकुलताके अनुभवसे हटनेके प्रयासमें यदि विभावरस सहज मंद पड़ जाये तो, जीवकी मुमुक्षुता निर्मल होती है। मुक्त होनेके अभिलाषी जीवको उक्त प्रयोगमें उमंग रहता है। (१७८८)

※

इच्छाकी पूर्ति करनेवालेके प्रति राग हो जाना सहज है। वीतराग होनेवाले मुनिराज इसीलिए आहार, निवास आदिकी दूसरे लोग द्वारा पूर्व योजित अनुकूल व्यवस्थाका स्वीकार नहीं करते, बल्कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रतिबंध रहित होकर विचरते हैं। जब कि उन्हें अनुकूल - प्रतिकूल जैसा कुछ होता ही नहीं, ऐसा समभाव होता है, इसलिए राग उत्पन्न हो वैसे कारण - प्रकारसे

ज्ञानी और मुमुक्षु दोनोंको पूर्व प्रारब्धकर्मका उदय वर्तता है, अतः बाह्यदशामे प्रायः साम्य है, परन्तु अंतरंगदशामें फर्क है, उस फर्कको समझकर, पहचानकर अनुसरण करे तो, भवपार होनेकी कला हाथ लग जाये। इसलिए जगह-जगह प्रत्यक्ष योगका महत्त्व अतीव हितकारी है - ऐसा दर्शाया गया है। (७३६)

※

प्रश्न :- ज्ञानीपुरुष प्रारब्धका किस प्रकार वेदन करते है ? कि जिससे वे बंधते नहीं ?

समाधान :- ज्ञानी प्रारब्धोदयका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते है, सम्यक् प्रकारसे यानी कि - अंतर परिणतिसे तो उदयसे भिन्न पड़ गये है। मुख्यवृत्ति ऐसी 'आत्मधारा' तो स्वरूपाकार होकर भिन्न ही प्रवर्तती है, उस परिणतिको तो उदयके साथ सम्बन्ध ही नहीं है परन्तु परिणामका जो बाह्य अंश प्रवर्तता है, उसमें भी सहज स्वरूप सावधानी वर्तती है। उसमें भी बाह्य पदार्थोंके साथ एकता / तन्मयता नहीं होती है। इसके अतिरिक्त उस बाह्य अंशके साथ आत्मा तन्मयता / एकताको प्राप्त नही होता। (और) इसके उपरांत उदयकालमें ज्ञानीपुरुषका मुख्यरूपसे जो अंतर्मुखी पुरुषार्थ है, वही मुख्यरूपसे नया बंध होनेमें बीचमें आड़े आकर बंधको रोकता है। एक तरफ पूर्व संस्कारसे उदयकी ओर परिणामका खिँचाव होता है तो दूसरी ओर उस परिणामसे विरुद्ध दिशामें पुरुषार्थ कार्य करता है, जो परिणामको बाहर जाते हुए रोकता है, अथवा अंदरकी ओर खीचता है। परिणामतः उस बाह्य परिणाममें ज़ोर नहीं रहता - बिलकुल उदासीनता हो जाती है। वारंवारके पुरुषार्थसे वे निर्बल होते-होते क्षय हो जाते हैं। ज्ञातापना तो कभी नही छूटता। (७३७)

※

प्रश्न :- रहस्यार्थ माने क्या ?

समाधान :- मुमुक्षुजीवको क्षयोपशमके प्रमाणमें शास्त्रवचनका शब्दार्थ, भावार्थ, मतार्थ, आगमार्थ समझमें आता है, परन्तु वह क्षयोपशम अपेक्षित है। जब कि शास्त्र वचन अनुसार रहस्यार्थ समझना वह पात्रता अपेक्षित है। दृष्टांतरूपसे क्षायिकभावको परद्रव्य, परभाव और हेय कहना (नियमसार गाथा - ५०) और 'श्रुतज्ञान स्वयं ही आत्मा है' ( स.सार गाथा - १५) ऐसा कहना - इन दोनों वचनोंमें शब्दार्थसे शायद विरोध भासित हो सकता है, परन्तु रहस्यार्थ समझनेवालेको वह अविरोधरूपसे समझमें आता है। और ऐसे रहस्यमूर्त वचन द्वारा पात्र जीव सर्वत्र आत्महितरूप जो रहस्य, उसका प्रीतिपूर्वक आराधन करता है। (७३८)

※

ज्ञेयाकार ज्ञान अनेकाकार है, आत्माका स्वरूप जो अवलंबन लेने योग्य है वह एकाकार

अभ्याससे ज्ञान सूक्ष्म और निर्मल होकर ज्ञानवेदन तक पहुँच जाये, जिसके आधारसे स्वरूप पहचानमें आये। अवलोकनका अभ्यास विभावरसको तत्काल तोड़ता है, जिससे दर्शनमोहकी यथार्थ प्रकारसे हानि होती है, यहाँ ज्ञानबल सहज बढ़नेसे मनोविकाररूप मन बिमार पड़ता है और भेदज्ञानके स्तरमें यथार्थ प्रकारसे मनोजय होता है। (१७९८)

※

जिज्ञासा :- जिस समयमें स्वरूपकी पहचान-रूप 'बीजज्ञान' की प्राप्ति होती है, उस वक्त परिणाम कैसे होते हैं ? और बीजज्ञानकी प्राप्ति हुई है, यह किन-किन लक्षणोंसे समझमें आये ?

समाधान :- प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुषका निश्चय हुआ है जिसको, और स्वरूपकी अंतर खोज - उस रूप अपूर्व जिज्ञासासे कषायरस जिसका अत्यंत मंद हुआ है, वह जीव ज्ञानीके निर्मल वचन व चेष्टा द्वारा वेदनभूत ज्ञानलक्षणके आधारसे, अंशतः रागके अवलंबनका अभाव करके ज्ञानवेदनकी प्रत्यक्षताके अनुभवांशसे पूर्ण स्वभावका निर्णय करता है। उस वक्त ज्ञानमें स्पष्ट प्रतीति उत्पन्न होती है क्योंकि यह निर्णय सविकल्पदशामें हुआ है फिर भी रागमें रागसे नहीं हुआ, परन्तु आत्मासे आत्मामें आत्माका हुआ है। स्वरूप निश्चयसे निश्चयबल - ज्ञानबल प्रगट होता है, वह चैतन्यवीर्यकी स्फुरणा है। पुरुषार्थ, निज निधानको देखनेसे, स्वरूप सन्मुख होकर उछलता है। स्वरूपकी अनन्य रुचि और बेहद स्वरूप महिमाका घुटन हुआ करता है। उपयोग बारबार उदयमेंसे छटक-छटक कर स्वरूपलक्षपूर्वक स्वरूप सन्मुख हुआ करता है - ऐसी सम्यक् सन्मुख दशा होने पर, उसे 'वह केवलको बीज ज्ञानी कहे'। (१७९९)

※

आत्मकल्याणकी अवगाढ़ भावना हुए बिना तत्त्वज्ञानका अभ्यास शुष्कज्ञान, स्वच्छंद और अतिपरिणामीपना इत्यादि दोषको उत्पन्न करता है। ऐसी स्थितिमें जीव अपने स्वरूपका - ज्ञायक स्वभावका विकल्प करता है, तो भी उसमें टिक नहीं सकता। कोई जीव यदि हठपूर्वक ज्ञायकके विकल्प करके, विकल्पमें चढ़कर, इसका आदी हो जाये, तो बहुत फँस जाता है, क्योंकि उसे वह हठकी वजहसे पड़ी हुई आदत, सहज दशा जैसी लगती है। उसमें भेदज्ञानके प्रयोगका - तथारूप पुरुषार्थका, अभाव होनेसे स्वानुभवकी प्राप्ति नहीं होती। मूलमें प्रयोजनकी दृष्टिका अभाव होनेसे (वह भी अवगाढ़ भावनाके अभावमें) जीव भूलमें / मिथ्यात्वमें रह जाता है। (१८००)

※

है। और ज्ञानानुभूतिरूप आत्मानुभूति प्रगट होकर भवभ्रमणका नाश होता है। अतः ऐसा सिद्ध हुआ कि 'अनुभूतिका मूल भेदविज्ञान है!' (७४१)

*

किसी भी कथनकी सत्यता कहनेवालेकी समझ पर आधारित है, अर्थात् जिसकी समझ सच्ची, तद्अनुसार (उसका) वचन भी सच्चा मानने योग्य है। परन्तु (यदि) समझमे भूल हो, वह सच्चा कहे तो भी वास्तवमें सच्चा नहीं है। इसके अलावा भले ही शास्त्र पठन द्वारा, वस्तुका स्वरूप जाननेमें, जानपनेकी भूल नहीं दिखती हो परन्तु अगर परिणमनमें यथार्थता न हो, अर्थात् परमार्थकी साधना नही चलती हो तो वज़न अन्यथा जाता है, अथवा किसी भी प्रकारसे विपर्यास सधता हो या भावसंतुलन नहीं बना रहनेके कारण एकांतिक परिणाम होते हो, तो भी वैसे वक्ताका अनुसरण करना उचित नहीं है। आत्मार्थी जीवको किसी भी तत्त्वकी प्ररूपणा करनेवालेका अनुसरण करनेसे पहले, इस प्रकारसे विचार करके, परीक्षा करके, यहाँ तक गहराईमें जाँच करनेके बाद अनुसरण करना उचित है; वरना विपर्यास होनेकी या उसकी दृढ़ता होनेकी संभावना रहती है। (७४२)

*

शास्त्र वांचन, श्रवण, विचार आदि बौद्धिक प्रक्रिया, बुद्धिपूर्वकके विपर्यासको मिटाने तक उपयोगी है - ऐसा शुरूसे ही लक्षमें रहना चाहिए; वरना विचारादिकी आदतमें फँस जाना होगा। प्रथमसे ही समझी हुई बातको यदि अंतरमें उतारनेका लक्ष रहा तो विचारादि पर लक्ष ही नहीं रहेगा अथवा वज़न ही नही रहेगा और प्रयास अथवा प्रयोगकी दिशामे आगे बढ़ना होगा। जब अंतर अवलोकनसे प्रयोग चालू होता है, तभी जो समझ हुई थी उसका भावभासन आने लगता है। और ज्यों-ज्यों भावभासन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह शिथिल होता जाता है; ये प्रक्रिया दर्शनमोहके अभाव तक चलनी चाहिये।

तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुजीवको विचार भूमिकाका मूल्यांकन उक्त प्रकारसे करना चाहिए, इससे ज्यादा नहीं। (७४३)

*

अंतर अवलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानवेदन पर्यंत पहुँचनेसे व्याप्य-व्यापक भावसे स्व-द्रव्यका लक्ष सहज ही होने योग्य है। स्वरूपलक्ष होते ही उत्पन्न चैतन्य-वीर्यकी स्फुरणा द्वारा ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे, स्वसंवेदन प्रगट होता है, तब ज्ञान अर्थात् आत्मा प्रगटरूपसे अनुभवमे आता है।

- इसप्रकार अंतर अवलोकनसे ज्ञान-सामान्य द्वारा ध्रुव तत्त्वका अवलंबन आता है।

देखनेमें और देखकर भानेसे, उसमें तदाकार होने पर स्वभाव प्रगट होता है। (१८१२

※

जिज्ञासा :- 'ज्ञानीपुरुषके प्रति प्रीति-भक्ति हुए बिना उपदेश परिणमता नहीं - कृपालुदेव इस वचनामृतमें प्रीति और भक्तिका स्वरूप / लक्षण कैसा होता है ?

समाधान :- दूसरे सब कार्य एक ओर (गौण) कर दे वह प्रीति है और उपकारबुद्धि सर्वाधिक मुख्यता हो, उसे भक्ति कहते हैं। उपदेश परिणमित होनेके लिए यह खास प्रकार योग्यता है। (१८१

※

खुदकी भूमिका समझे बिना, सिर्फ धारणाज्ञानसे यदि कोई जीव समाधान करता है, तब वर्तमानमें उसका कषाय तो मंद होगा, परन्तु आत्मदशामें उसका परिणमन नहीं आ बल्कि उससे बड़ा असमाधान खड़ा हो जाता है, कि जिसका निराकरण अपने आप हो बहुत कठिन हो जाता है। फिर भी यदि जीव खोजी हो तो मार्ग मिलना संभवित है। धारण प्राप्त समाधान मिथ्या समाधान है जो कि मिथ्यात्वको दृढ़ - बलवान करता है। अतः वह छुटना और भी मुश्किल हो जाता है। (१८१

※

जिज्ञासा :- भेदज्ञानके प्रथम स्तरमें, परद्रव्य और परभावसे भिन्नता कैसे आती है

समाधान :- भेदज्ञान भले ही सविकल्पदशामें होता है, तथापि वह विकल्पात्मक नहीं (बलि प्रयोगात्मक है। उसकी शुरूआतमें, सिर्फ भिन्नताके विकल्पमें - विचारमें नहीं अटक कर, ज्ञान स्वतः स्वतंत्र उत्पन्न होनेकी क्रियाके अनुभव द्वारा भिन्नता भासित होनी चाहिए। निजावलोक द्वारा खुदका ज्ञान अपने आप (स्वयं) उत्पन्न होता हुआ अनुभवमें आता है, तब वह ज्ञानाकार (सामान्य ज्ञानरूप) अनुभवमें आता है। यहाँसे स्वानुभवकी श्रेणीका प्रारम्भ होता है। ज्ञेयाव ज्ञान और ज्ञेयोंका अपने आप व्यवच्छेद हो जानेसे ज्ञानकी स्वयंमें व्यापकताका अवलोक करना आगे जाकर सुगम हो जाता है। जिससे भेदविज्ञानका विकास होता है। (१८१

※

जीवको यदि अंतरमें खुद ही 'अनन्त सुखधाम' भासित हो तो, अहोरात्र उसीका त रहा करे - यह यथार्थ भावभासनका स्वरूप है, अथवा वास्तविकता है वरना कल्पना यह गुण निधानका प्रेम है। जैसे तीव्र दुःखजनक चिंता विस्मरण नहीं होती, - उसका विस्म नहीं हो सकता, यदि करना चाहे तो भी, तो फिर 'अनन्त सुखधाम' का विस्मरण कैसे होग

रहा है।

इसलिए समयसार गाथा - ७१में भगवान अमृतचंद्राचार्यदेवने `ज्ञानस्य भवनं खलु आत्मा' - ऐसा विधान किया है। अर्थात् ज्ञानका होना - परिणमन होना वही आत्मा है। यह ज्ञान रागादिसे भिन्नपनेसे वर्तता है। भिन्नतासे रहने पर चित्तशक्तिका सहज विकास होता है, अर्थात् स्वसंवेदनका आविर्भाव होकर, विज्ञानघन होता है।

भेदज्ञान होनेके साथ ही कर्मविपाक शिथिल हो जाता है। बंध भी शिथिल होता है।
(७४७)

※

जून - १९९१

ज्ञानी ज्ञानवेदनमें, स्वयंका वेदन करनेमें निपुण है। इसलिए राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप उदयको ज्ञानवेदनसे भिन्न / बाह्य जानकर उसरूप ज़रा भी परिणमन नही करते है। वही ज्ञानके ज्ञानत्वका परिणमन है। ज्ञानके वेदनके अनुभवसे विरुद्ध ऐसे समस्त रागादि विभावका अनुभवमें सर्वथा भिन्न ही वेदन करते है, क्योंकि स्वयंके एकत्वमें, अन्यका एकत्व होना अशक्य ही है। पुनः पुद्‌गल पदार्थोंकी कुछएक अवस्थाएँ (रूप-रंग) सिर्फ जाननेका विषय बनती है; वहाँ इसके अनुभवका भ्रम नहीं होता। परन्तु कुछएक अवस्थाएँ, जैसे कि (सुख-दुःख) शाता-अशाता, कड़वा-मीठा, इत्यादि स्वादके प्रकार धारण करती है, वहाँ भेदज्ञानके अभावके कारण, जीवको अभेदता वेदनपूर्वक हो जाती है, जो ज्ञानके अज्ञानत्वका परिणमन है। तब जीव ज्ञान पर ज्ञेयकी असर हुई, ऐसा अनुभव करता है। जो कि अनुभवकी भूल है। जानकारी की भूल समझसे मिटती है, परन्तु अनुभवकी भूल टालनेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। अंतर अवलोकनका सूक्ष्म अभ्यास चाहिए।

प्रथम, अंतर अवलोकनसे पर विषयको भोगनेका रस टूटता है, बादमें एकत्वरूप अनुभवकी भूल जाननेमें आती है, और जाननेके पश्चात् टलती है। समयसारजी गाथा ९२-९३मे यह विषय है।
(७४८)

※

स्वरूपके विकल्प द्वारा जब तक स्वरूपमें अहंभाव होवे, तब तक आत्मामय परिणमन नहीं है, परन्तु वेदनपूर्वक स्वरूपलक्ष सहितका परिणमन - वह आत्मामय परिणमन है। जब तक विकल्प है, तब तक बाह्यवृत्ति हैं, वेदनमें स्व-पने अपना अनुभव वह अंतर्वृत्ति है। वेदनसे ही अस्तित्व ग्रहण है। ज्ञानवेदनके सिवाय मात्र स्वरूपके विकल्पमें अस्तित्व ग्रहण नहीं है। इसलिए मोक्षमार्गीको सविकल्पदशामें, परिणतिमें वेदन है। जितना वेदन है, उतना ही धर्म

परिभ्रमणकी चिंतनासे होती है। और जैसे-जैसे मुमुक्षुता वर्धमान होती है, वैसे-वैसे उदासीनता-नीरसता भी बढ़ती जाती है। उसका लक्षण यह है कि, अनुकूलतामें भी अच्छापना नहीं होता, और संसार प्रत्ययी परिणाम होने पर जीवको कायरता आ जाती है। यथार्थ विरक्तिसे अनंतानुबंधी कषाय व दर्शनमोहकी शक्ति कम होनेसे उसका अभाव होनेका अवसर आता है, और मोक्षमार्गमें प्रवेश होता है।

ओघसंज्ञामें बाह्यदृष्टिसे अयथार्थ वैराग्यसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है, और अवैराग्यदशामें - वैराग्य बिना भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है।

मोक्षमार्गमें शुद्ध स्वरूपका अनुभव ही वैराग्य और सर्व उदय प्रसंगमें समभावका उत्पादक है। शुद्धज्ञान जहाँ भिन्नरूपसे ही अनुभवमें आता है, वहाँ सहज नीरसता रहती है। (१८३०)

※

काललब्धि पकती है तब जीव परमार्थ मार्गके प्रति झुकता है। ऐसा होनेमें जीव स्वयं ही कारण-कार्यरूप है। उसकी यथार्थ समझ जिसकी काललब्धि पकी नहीं, उसे नहीं होती। जिसकी काललब्धि पक गई है, उसे उसकी यथार्थ समझ होती है। और उस वक्त सहज पुरुषार्थ और निमित्तादि होते है, उसका सभी पहलूसे समाधान भी आता है। जो जीव काललब्धि प्राप्त होनेके पहले आगमसे उस विषयकी धारणापूर्वक अपने लिए काललब्धिका अवलंबन लेता है, वह भूलावेमें पड़ता है, मार्ग / उपायकी भूल करता है। ज्ञानी भी काललब्धिका अवलंबन नही लेते, परन्तु उसका ज्ञान उन्हें होता है। (१८३१)

※

परम सत्संगमें अनुपम व अलभ्य ऐसा अपूर्व आत्मकल्याणकारी उपदेश स्पष्टरूपसे प्राप्त होने पर भी यदि जीव आज्ञांकित भावसे उस सत्संगकी उपासना नहीं करता है तो उसका पारमार्थिक लाभ जीवको प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि आज्ञाकारिता - वह ज्ञानकी निर्मलताका कारण है। संपूर्ण आज्ञाकारिता जिसे आती है, उसे परम सत्संग योगका सही मूल्यांकन हुआ है अथवा निज हितकी सही सूझ आयी है, जिसके फलस्वरूप जीवको अवश्य ज्ञान प्राप्ति होती है और वह संसार तिर जाता है। संपूर्ण आज्ञाकारितासे सर्वार्पणबुद्धि आती है। जिसके कारण फिर मोहको रहनेका कोई ठिकाना - आधार नहीं रहता। वह जीव आज्ञामें ही एकतान रहता है। (१८३२)

※

कोई-कोई धर्मात्माको श्रुतज्ञानकी लब्धि होती है। पूर्वमें द्रव्यश्रुतकी उपासनासे प्राप्त विशुद्धिके फल स्वरूप अनेकविध प्रकारसे लब्धि उत्पन्न होती है, जो प्रायः जिनशासन वृद्धिकर होती

है।

इस प्रकार सुगमतासे प्रयोगान्वित होनेके लिए मोक्षके कारणरूप भाव, भगवंतने निरूपण किये हैं। (७५२)

✵

जीवको खुदको स्वभावसे तो ज्ञातापना है। स्वयंके ज्ञातापनेको अनादिसे भूला हुआ जीव अपने पुरुषार्थको उदयमें रागी होकर अन्य कार्य करनेमें लगाता है, वहाँ कर्तृत्वको / एकत्वभावको प्राप्त होता है और बंधता है। इस प्रकार ज्ञातामात्र ऐसे स्वरूपका अज्ञान ही जीवको राग करनेके लिए प्रेरता है, रागमें उत्साहित करता है यानी कि अपने महानपदके बेभानपनेके कारण, जीव खुदको वर्तमान उदयजनित अवस्थारूप मानता हुआ, अनेक कल्पित कार्योंके लिए स्वामित्वभावसे उत्साहित होकर प्रवर्तता है।

परन्तु ज्ञानी ज्ञातापनेके कारण, उदयके प्रति उनको राग नहीं होनेसे निरुद्यमी होकर, ज्ञातापनेके पुरुषार्थमें वर्तता है। (७५३)

✵

अनउभयस्वरूप ज्ञान अपने स्वरूपरूप जाननक्रियामें प्रतिष्ठित है, अत: जाननक्रियाका ज्ञानसे अभिन्नपना है, उसमेंसे, उसके आधारसे ज्ञानको ग्रहण करना, स्वरूपरूप ग्रहण करना, निजरससे ग्रहण करना और उस प्रकार गृहीत ज्ञानके अवलंबनसे जाननक्रियाका मात्र ज्ञाताभावसे परिणमन होनेसे संवर उत्पन्न होता है, सर्व विभाव भावोंसे भिन्नता हो जाती है, और अनादि रागका आधार छूट जाता है। जब तक रागका आधार नहीं छूटता तब तक पुरुषार्थ रागके साथ जुड़ा रहता है, इससे विपरीतता सधती है। रागका आधार छुड़ानेके हेतुसे, ज्ञानके और रागके प्रदेश अत्यंत भिन्न है - ऐसा परमागममें विधान है। जो कि परमार्थका ही प्रतिपादक है, उसमें संशय कर्त्तव्य नहीं है। (७५४)

✵

प्रश्न :- ज्ञानका अनुभव कैसे करना ?

उत्तर :- ज्ञान स्वयं स्वसंवेद्यमान है, अनुभूति स्वरूप है, परन्तु ज्ञेयोके निमित्तसे ज्ञानमें अनेक भेद मालूम पड़ते है, उसे गौण करके, ज्ञानसामान्यका अवलंबन लेनेसे अर्थात् उसका मुख्यरूपसे अनुभव करनेसे, स्वसंवेदन प्रगटरूपसे अनुभवमें आता है। जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लेनेमें आता है, तब ज्ञानके सर्व भेद अपनेआप गौण हो जाते है। ज्ञानके सर्व भेद एक ज्ञान ही है। वही एक परमार्थ है, कि जिसकी प्राप्ति करके - अनुभव करके आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है। इसलिए यह ज्ञान ही परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष उपाय है। (७५५)

फरवरी - १९९१

योगका मार्ग विषम है। यदि मन, वचन, कायासे वह परमें जुड़े, तो आत्माको बंधन होता है। और यदि स्वरूपमें योगी योग साधते हैं, तो मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिए गुरुगमसे योगमोर्गका आराधन करना चाहिए। (१८४६)

✲

आगम स्वरूपमें प्रवेश करनेके लिए है, उसके बजाय स्वरूपको छोड़कर आगममें ही प्रवृत्त रहना - यह विपरीत प्रवृत्ति है। अध्यात्मदृष्टिसे भी आगममें प्रवृत्ति करना वह बहिर्भाव है, तथापि आगम स्वरूपमें प्रवेश करनेकी विधिका उपदेश - प्रेरणा देते होनेसे किसी एक भूमिकामें उपकारी (स्वरूपमें प्रवेश करनेके पुरुषार्थीको) गिना है। बाकी वैसे तो महामुनियोंने तो आगममें विचरनेवाली बुद्धिको व्यभिचारीणी कहकर - स्वरूप रमणताकी उपादेयताको विशिष्टरूपसे प्रकाशित की है। (१८४७)

✲

स्वभावका प्रतिबंध दुःख उत्पन्न करता है, ज्ञान रुकनेसे - आवरित होनेसे अकुलाहट होती है, आकुलता अनुभवज्ञानको रोकती है। जब कि विकल्पका अभाव होकर निर्विकल्प होते ही अपूर्व आनंदके फव्वारे छूटते है। तात्पर्य यह है कि जीवको अन्य द्रव्य-भावके प्रतिबंधसे मुक्त होनेके लिए पुरुषार्थ कर्त्तव्य है। (१८४८)

✲

मोक्षका कारण जीव द्रव्यका शुद्धत्व परिणमन है, और उसका कारण ज्ञानमें अनुभवशक्ति है, अतः ज्ञानवेदन है, उसका (अन्य द्रव्य-भाव के प्रतिबंधसे मुक्त होकर) आविर्भाव करना वह है। उसे ज्ञानगुण - ज्ञानस्वभाव जानने योग्य है। स्वरूपकी प्राप्ति ज्ञानगुणसे ही है, अन्य प्रकारसे नहीं। (१८४९)

✲

प्रयोग है वह अनुभवप्रधान परिणमन होनेसे प्रतीतिका कारण है। यथार्थ विचारणापूर्वक त्यागादि प्रयोग, परका परपना जानकर होनेवाला प्रयोग, मुक्तिसुखकी प्रतीति उत्पन्न करता है। ज्यों-ज्यों प्रयोगकी सहजता होती जाती है, त्यों-त्यों श्रद्धा-ज्ञानकी प्रगाढ़ता होती जाती है। भेदज्ञानका प्रयोग स्वसंवेदनमें परिणमित होता है, और वह सर्व सिद्धि-शुद्धिका कारण है। (१८५०)

✲

जिज्ञासा :- पूर्वमें हुए महात्माएं - तीर्थंकरादि सर्वज्ञ ज्यादा उपकारी या वर्तमानमें प्रत्यक्ष

ज्ञानीपुरुषकी आज्ञानुसार सिद्धांतको ग्रहण करनेके बजाय स्वच्छंदसे अपना मत हो जाना, उसमें आत्मार्थीपना नही है, मतार्थीपना है, जिसके कारण कुतर्क होता है, विराधना होती है, इसलिए महान अपराध है। (७५९)

*

एक ज्ञानमें ही एकाग्र होकर ज्ञानमें ही 'चेत रखना' वह ज्ञानकी संचेतनरूप ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञानकी शुद्धि / निर्मलता होती है, पूर्णता भी उसीसे होती है। मोक्षमार्गके प्रारम्भसे लेकर अंत तक यह प्रकार है, जो मुख्य है।

'जीव एव अेकः ज्ञानं।' जीव ही एक ज्ञान है, इसलिए ज्ञानको और जीवको अव्यतिरेक है, जो निःसंशय है, अर्थात् शंका करने योग्य नही है। यह परमार्थकी अपेक्षा योग्य ही है। इसप्रकार जीवको ज्ञानसे कहनेमें पारमार्थिक प्रयोजन रहा है। ऐसा श्रीगुरुका 'आशय' समझने योग्य है।

शुद्ध ज्ञानमय समयसार, वह सत्यार्थ परमात्मारूप है। इसलिए अपने आपको एक ज्ञानमयरूप अनुभव करनेका श्रीगुरुका फरमान है। (७६०)

*

शुभराग और तदाश्रित त्यागादि, वे अशुद्ध द्रव्यके अनुभवन स्वरूप होनेसे, उसको (व्यवहारको) परमार्थपनेका अभाव है। अतः जिसे व्यवहारका (शुभराग और द्रव्यक्रियाका) ममत्व रहता है, वैसे विवेकशून्य जीव परद्रव्यको ही आत्मा माननेवाले, केवल रागको ही साधते हैं।

तात्पर्य यह है कि व्यवहारका पक्ष (जिसको) है, वह परमार्थके विपक्षमें है। उसे, श्री गुरु आत्माको देखनेके लिए अंध कहते है।

इसलिए शुद्धज्ञान एक ही परमार्थकी अपेक्षा अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह शुद्ध द्रव्यके अनुभवन स्वरूप है। ज्ञान द्वारा आत्माका स्वद्रव्यरूप अस्तिरूप अवलोकन करनेमे जो निपुण हैं, वे विशुद्ध ज्ञानप्रकाश द्वारा आत्मामय जीवन जीते है - यह पारमार्थिक विवेक है। (७६१)

*

ज्ञानमात्र, सदा अस्खलित, एक वस्तुका निष्कंप ग्रहण करनेसे मुमुक्षुको तत्क्षण ही भूमिकाकी (साधकपनेकी) प्राप्ति होती है, अर्थात् ज्ञानमात्र ऐसे अपने स्वरूपका आश्रय करते हैं, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते है। और जो ज्ञानमात्रका आश्रय नहीं करते, उनका संसार परिभ्रमण मिटता नहीं है। इस प्रकार सारे 'समयसार'का सार 'ज्ञानमात्र' रूप खुदको ग्रहण करना, अनुभव करना - वह है। मोक्ष-उपायका यह संक्षेप है। वह सुगम होने पर भी, कोई वीरल

(१८६०)

है।

※

वर्तमान विषमकालमें हीन योग्यतावाले जीवोंकी संख्या अधिक मात्रामें है, इसलिए आत्मार्थी जीवको असत्संग और असत्प्रसंगसे दूर रहनेके लिए लोकपरिचयसे दूर रहना उचित है, यदि ऐसा विवेकपूर्ण वैराग्य हो तो ही निजहित साधा जा सकता है। उसमें भी जो प्रभावना-कार्य जैसे उदयमें प्रवृत्तियोगमें हो, उनको बलवानरूपसे उदासीनताका सेवन करना चाहिए - ऐसा महापुरुषोंने स्व-आचरणसे बोध दिया है। क्योंकि लोकत्याग बिना वैराग्यका सद्भाव नहीं होता। प्रभावक पुरुषकी शोभा निष्कामता और वैराग्यमें है, वही इनके आभुषण हैं। (१८६१)

※

आत्मार्थीको धर्म प्राप्तिके इस क्षेत्रमें प्रवेश किस हेतु - कारणसे किया है ? इसकी जाँच कर लेनी आवश्यक है। केवल आत्मशांतिके हेतु प्रवेश हुआ हो तो वह यथार्थ है। दूसरे किसी भी कारणसे प्रवेश हुआ हो तो, आत्मशांति प्राप्त होना असंभवित है। आत्मशांति अकषाय स्वरूप है। इसलिए उसकी प्राप्तिकी भावनामें अकषाय स्वभाव प्राप्त होनेका आशय गर्भित है। वरना सकषाय - हेतु भावसे हुआ प्रवेश अकषाय स्वरूप धर्म पानेमें सफल नहीं होता। जैसे कि प्रतिकूलताके दुःखके निमित्तसे हुआ प्रवेश, अनुकूलता होने पर अटकनेका कारण बनता है, यहाँ पर आशय अन्यथा होनेसे पारमार्थिक आशयका ग्रहण होना नहीं बनता। इसी तरह किसी भी प्रकारके राग-द्वेषसे प्रवेश हुआ हो, तो वह सफल नहीं होता। (१८६२)

※

स्वरूपमें आस्तिक्यभावकी उत्पत्ति हेतु प्रयोगके कालमें निज स्वरूपकी असंगता, शुद्धता बारबार देखें, उसमें भी उदयभावके वक्त उस उदय भाव विरुद्ध स्वभाव भावका लक्ष होना चाहिए। जैसे कि तन्मयता - अपनत्व होने पर असंगताको लक्षमें लेनी चाहिए, उपाधिके कालमें निरुपाधिकपना, विकारके वक्त निर्विकारता, पर अवलंबन - आधारके सामने निरावलंबनपना, अपेक्षाभावके सामने निरपेक्षता, अशांतिके आगे परम शांत स्वभाव, विकल्पके सामने निर्विकल्प स्वभाव आदि प्रकारसे अभेद एकरूप द्रव्यमें अहम्भाव होनेसे स्वरूपमें आस्तिक्य दृढ़ होता है। (१८६३)

※

निज विचार होनेका अवकाश प्राप्त हो, वैसे सत्संग योगमें जीवका पुरुषार्थ नहीं उठना, यह शिथिलताका प्रकार है। उसे सिर्फ शिथिलता समझकर, हलका दोष समझकर निर्भय रहना या अजागृत रहना - थोड़े समयके लिए भी निर्भय या उपेक्षित रहना यह जीवकी

सहित मध्यस्थ रहना योग्य है। वैसी परिपक्व विचारधारा होनेके पहले धार्मिक विषयोंमे या बाबतोंमे अपना मत देनेका अधिकार ही नही है - ऐसा जानकर मत देनेसे दूर रहना हितावह है। वरना स्वच्छंद और मताग्रहकी उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसे महादोषमे सहजमात्रमें आना हो जाता है इसलिए सत्पुरुषकी आज्ञाका अनुसरण श्रेयभूत है। यह निःसंशय है।

यद्यपि विद्यमान सत्पुरुषकी पहचान अगर होवे तो आज्ञारुचिरूप, प्रत्यक्ष कारण (समकितका) प्रगट होता है, जो जीवको अनेक प्रकारके संभवित दोषोंसे बचा लेता है। इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ और सलामत मार्ग है, ऐसा सत्पुरुषोंका अभिप्राय, गहरे अनुभवसे प्रसिद्ध हुआ है। आत्मलाभके लिए प्रवृत्ति करनेवाले जीवको जाने-अनजानेमें अनंत नुकसान - नहीं दिखे, नहीं समझमें आये ऐसा बन जाता है। इसलिए अत्यंत दरकार रहनी चाहिए। (७६५)

※

जुलाई - १९९१

मोक्षार्थीपना वह सामान्य मनुष्यसे नही हो सकता। संपूर्ण शुद्धिकी उपासना, जीवन समक्ष सिर्फ एक ही लक्ष / ध्येय रखनेवालेको, लक्षके प्रति आगे बढ़ते वक्त अनेक बार अग्निपरीक्षामेंसे गुज़रना पड़ता है।

असाधारण निश्चयशक्ति और प्रियजनोंका अभिप्राय जो कि परमार्थसे प्रतिकूल हो, उसके सामने अडिग रहनेकी अथवा जूझनेकी ताकत, नाहिंमत न होनेकी फ़ौलादी - वज्र जैसी हिंमत और फिर भी निर्दोषवृत्ति, यह मुमुक्षुका सात्विक खुराक है। अनादि अंधकारको भेदकर मार्ग निकालना है। उसमें जल्दबाज़ी भी नहीं चले और प्रमाद भी नहीं चले। उलझनमें उलझना भी नहीं पुसाता। धीरजसे मार्ग ग्रहण करनेका है। ऐसे निजहितके मार्गके साथ समस्त जीवोंके कल्याणकी भावना होना / रहना अविनाभावि है। ऐसी भावना होते हुए भी लोकसंज्ञा और लोकअविरुद्धताके अटपटे प्रश्नोंके साथ संतुलन बनाये रखनेकी कुशलता और धीरज सहजभावसे रहना अपेक्षित है। मार्गकी गंभीरता होनी ज़रूरी है। (७६६)

※

जैन सिद्धांतका वारंवार अभ्यास करनेसे दृढ़ प्रतीति होगी और इससे अनुभव आयेगा, ऐसा बाह्यदृष्टिसे विचार करके अथवा अभिप्राय रखकर अनेक जीव दीर्घकाल पर्यंत सिद्धांत शास्त्रोंका अध्ययन करते है - करते रहते है। परन्तु यदि खुदके दर्शनमोहका रस न टूटे तो अनुभव उत्पन्न नहीं होता - ऐसा श्रीगुरुका फरमान है। वास्तवमें तो सिद्धांतज्ञान और उपदेशबोध दोनोंके निमित्तसे यदि दर्शनमोहका रस घटे तो ही उसकी यथार्थता है। तथापि अयथार्थ पद्धतिसे दर्शनमोह नहीं घटता, यह लक्षमे रखने योग्य है।

आत्मा ज्ञानज्योत है। ज्ञान वेदनके रूपमें सदा ही प्रगट है परन्तु विभावरससे आच्छादित हो चुका है। जैसे धुंएँमें अग्नि आच्छादित हो जाती है वैसे। तथापि बिना अग्नि धुंआँ नहीं है। वैसे विचारवान आत्माकी हयातीको समझता है। ज्ञानीपुरुष सर्व प्रथम विभावरस यथार्थ प्रकारसे गले, इसका उपाय बतलाते हैं। ऐसी पारमार्थिक योजनामें जो योजनेवाले होते हैं, वे परमार्थ ज्ञानी है। विभावरस / रागरस यथार्थ प्रकारसे मंद होने पर मोह मंद पड़ता है; जिससे मोहका अभाव होनेका अवकाश होता है। मोह मंद होनेसे ज्ञानज्योति अवभासित होती है और अभाव होनेसे प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है, क्योंकि खुद अनुभूति स्वरूप है।

(१८७५)

⁂

परमार्थ प्रयोजन विरुद्ध ज्ञानकी प्रवृत्ति अथवा समझ वह एकांत है। वैसा (एकांत) होनेसे विपर्यास होता है, वज़न व मुख्यता इस प्रकारसे रहते हैं कि जिससे साधना - स्वानुभवके लिए जीव असमर्थ होता है। जैसे कि 'ज्ञान परको नहीं जानता' ऐसा एकांत ग्रहण करनेसे ज्ञानके जाननेके सामर्थ्यका अभाव माननेका प्रसंग है, श्रद्धामें ज्ञानकी निर्मलताका अस्वीकार होता है, कि जो निर्मलता-स्वच्छता पूर्ण होती है तब लोकालोक प्रतिबिंबित होता है। तथापि परज्ञेयको गौण करके, ज्ञानवेदनके आविर्भूत होनेके लिए उसी वचनकी सार्थकता भी है, सम्यक्ता भी है। इस प्रकार एक ही कथनके अनेक (सम्यक् व मिथ्या) अर्थ-भाव होते हैं। यदि जीवका लक्ष एकमात्र आत्मकल्याणका होता है तो 'अनर्थ' नहीं होता, वरना अनर्थ होता है।

(१८७६)

⁂

ज्ञानदशामें उदयकी गौणता वर्तती है। क्योंकि उदय स्वप्नवत् लगता है, इसके उपरांत जब जो भी उदय हो उसका स्वरूपमें अभाव लगता है, उस कारणसे भी उसकी गौणता होना स्वाभाविक है। और जब उदय गौण हुआ तो फिर प्रतिबद्धता किसके साथ ? जीव उदयमें अज्ञानभावसे सर्वस्व मानता है, इसलिए बँधता है। ज्ञानी-अज्ञानीको ऐसा सहज है वैसा जानकर मुमुक्षुजीवको यथार्थ प्रकारसे उदयको गौण करनेका प्रयास कर्तव्य है, जिससे कि अनेक प्रकारके दोषोंसे सहज बच सकें।

(१८७७)

⁂

आत्मकल्याणका उपाय किसे कठिन लगता है, कि जिसे संसारमें मोह ज्यादा होता है उसे। परन्तु जिसे आत्मकल्याण व उससे पूर्ण सर्व अनन्त काल पर्यंतका सुख प्राप्त होनेका मूल्यांकन होता है, उसे अंतरमेंसे स्वकार्यका उत्साह आता है, जिसके कारण कठिन नहीं

ज्ञान हमेशा लक्ष अनुसार प्रवर्तता है। अनादि संसार अवस्थामें परलक्षपूर्वक ज्ञानकी प्रवृत्ति रही है। इसलिए परका-उदयका अनुसरण सहजरूपसे होता है। इसलिए अगर स्वलक्ष उत्पन्न हो तो, उदयसे भिन्न होनेकी प्रक्रिया होवे। इस स्वलक्षके दो विषय है। एक पूर्णशुद्धि अर्थात् दृढ मोक्षेच्छा और दूसरा तद्जनित भास्यमान प्रत्यक्ष निज सिद्धपद। साधक अवस्थामें उक्त दोनों विषय लक्षमें रहते है, (युगपत्‌रूपसे) और स्वरूपकी मुख्यतामें सहज शुद्धिकी प्रक्रियाकी सिद्धि होने लगती है, इसलिए कभी भी संतुलन नही बना रहे, ऐसा नहीं बनता। जिसे संक्षेपमें ज्ञानीपुरुष यथार्थ लक्ष कहते हैं। ज्ञानमें लक्षका विषय नही बदलता। परिणामत: उपयोग फिरता है, परन्तु लक्ष नही फिरता। उदयभावमें अनेकविधता होने पर भी स्वलक्षपूर्वक ही प्रवृत्ति होती है। परिणामत: / फलस्वरूप अनुदय भाव उत्पन्न होते है, उसका कारण आत्मलक्ष ही है।
(७७०)

✵

जिन्हे अपना द्रव्य-स्वरूप, रागादि मलरहित, शुद्ध ही है, ऐसी प्रतीति अनुभव सहित वर्तती है, ऐसे जो सम्यक्‌दृष्टि, उन्हें पराश्रित अंशरूप रागांशमें अशुद्धत्व अर्थात् चिकनाई उत्पन्न नहीं होती। कर्म प्रसंग परसे दृष्टि अर्थात् भ्रांति छूट जानेसे, निर्भ्रांत दशा-द्रव्य आश्रित वर्तती दशाको, द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमन कर रहा है, ऐसे देखनेमें आता है।जिसकी जाति शुद्ध होनेसे, उनके सभी परिणाम अबंधक होते है। सर्व परिणाम मान्यताके आधारसे होते है। जैसे संसारीको भवकी प्रतीतिके आधारसे ही सारा परिणमन होता है, वैसे।

अनुभूति सहित, अनन्त सर्व गुणांश व्यक्त होनेसे, जैसे कोई अलौकिक विशेषता, शेष अशुद्धिकी जातिको भी परिवर्तित कर देती है, ऐसी विशेषताका जन्म होता है। इसलिए अन्य संसारी जीवोंके समान क्रिया और रागादि होने पर भी बड़ा परिणमन भेद है, कि जिससे बंधते नही।
(७७१)

✵

तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाला, आत्माके द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदसे आत्माका निर्णय करनेका प्रयास करता है और रुचि अनुसार आगमके कोई न कोई विषयका पक्षपात करता है। एक, अभेद, अखण्ड तत्त्वकी अनेकरूप कल्पना करता है, उसका नाम पक्षपात है। परन्तु यदि रागका अंशत: अभाव करके, स्पष्ट अनुभवांशसे परमपदार्थकी पहचान, अस्तित्व ग्रहण द्वारा होवे, तो सविकल्प दशामें 'नयपक्ष' में अटकनेका नहीं बनता, क्योंकि पहचानके कारण उत्पन्न अखण्डका ज़ोर अनुभव प्रत्ययी होता है। इसलिए पक्षपात रहित होकर, वेदन द्वारा, स्ववस्तुको प्रत्यक्ष करनेवालेको कल्पनाबुद्धि नहीं रहती - सहज ही मिट जाती है। उसका

इस कालमें मुमुक्षुजीवको संसारकी प्रतिकूल दशाएं प्राप्त होना, यह उसे संसारसे तिरनेके समान है। अनन्तकालसे अभ्यस्त इस संसारका स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल प्रसंगमें विशेष होता है। (श्रीमद्‌जी) (१८९९)

※

जो मुमुक्षुजीव व्यवहारमें वर्तता हो, उसे तो सर्व व्यवहारमें अखण्ड नीतिका मूल प्रथम आत्मामें स्थापित करना चाहिए, वरना उपदेशादि निष्फल जाते हैं। (श्रीमद्‌जी) (१९००)

※

आरम्भ और परिग्रह - ये वैराग्य और उपशमके कालरूप हैं। आरम्भ-परिग्रहका कारण वैराग्य-उपशम नहीं हो सकते - नहीं होते और यदि हो तो भी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। वैराग्य और उपशम ज्ञानके बीजभूत होनेसे, उसमें स्थित हुआ जीव आगे बढ़ सकता है। सिद्धांतज्ञान उस जीवमें परिणमन करता है। इसलिए वैराग्य और उपशमका ज्ञानीपुरुषोंने जगह - जगह उपदेश दिया है, वह यथार्थ है (सारे संसारको निर्मूल्य जानकर इसके प्रतिका रस कम हो जाना, वह वैराग्य-उपशम है।)

(१९०१)

※

ज्ञानीपुरुषकी उदयमें आयी हुई भोग प्रवृत्ति भी पुर्व-पश्चात् पश्चाताप सहित और अतिशय मंद परिणाम (रस) संयुक्त होती है। (श्रीमद्‌जी)

(१९०२)

※

ज्यों-ज्यों चित्तकी शुद्धता होती जाये, स्थिरत्व आता जाये, त्यों-त्यों ज्ञानीके वचनका यथायोग्य विचार हो सकता है। (श्रीमद्‌जी)

(१९०३)

※

संयमकी वृद्धिका कारण सम्यक्‌दर्शनका निर्मलत्व है। (श्रीमद्‌जी) (१९०४)

※

शुद्ध आत्मस्थितिके दो मुख्य अवलंबन हैं :- पारमार्थिक श्रुत और इन्द्रिय जय (वृत्ति जय)। सुदृढ़तासे उपासना करनेसे वे सिद्ध होते हैं। निराशाके वक्त महात्मापुरुषोंके अद्‌भुत आचरणका स्मरण करने योग्य है। उल्लासित वीर्यवान, परमतत्त्वकी उपासनाके लिए मुख्य अधिकारी है। (श्रीमद्‌जी)

(१९०५)

※

प्रमत्तभावने इस जीवका बुरा करनेमें कोई कसर नहीं छोड़ी। तथापि इस जीवको निजहितका उपयोग (सावधानी) नहीं है, यही अतिशय खेदकारक है। उस प्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे

अनित्य देहादिके प्रति रसको मिटाता है। इस प्रकार संयोगोंका मूल्य, निर्मूल्य होकर, स्वरूपका मूल्यांकन होता है, और नित्य, स्थिर स्व-पदार्थके आश्रयसे उपयोगको स्थिर होनेका अवसर आता है। जब तक अनित्य, अस्थिर पदार्थोंकी प्रतीति छूटे नहीं, तब तक उपयोगको स्थिरत्व प्राप्त नही हो सकता। इस तरह 'आत्मा नित्य है' - ऐसे यथार्थ निर्णयका उपयोगके स्थिर होनेके साथ अनुसंधान है। इसलिए आत्माके नित्यत्वका निर्णय अति महत्त्वका अंग है - ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है। (७७५)

※

ज्ञानी उदयका सम्यक् प्रकारसे वेदन करते है। वह ज्ञानीका ज्ञानीपना है। यहाँ सम्यक् प्रकारसे वेदन करना माने क्या ?

समाधान :- सामान्यरूपसे संसारमें जीव उदयको भोगते वक्त तदाश्रित राग / द्वेष भावसे परिणमन करके नया कर्मबंध करता है। परन्तु शुद्ध स्वरूपका जिन्हें अनुभव है, उन्हे वैसा नहीं होता। वैसे ज्ञानीपुरुषको शांत स्वरूप-रसका वेदन करते हुए, शुभ या अशुभ उदयका जानना होता है। स्वरूप जागृतिपूर्वक ऐसा निश्चय रहा करता है, कि यह उदय मेरा नहीं है, ज्ञानस्वरूपी ऐसे मुझे उदयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पहले सम्बन्धकी कल्पना करके उपाधिमें आकर, बहुत दुःख भोगा, परन्तु अब अनुभवमें भिन्नता अनुभवमें / वेदनमे आती है, इसलिए ऊपर-ऊपरके उपयोगसे जानते हुए, स्वरूपमें विशेष सावधान होनेका सहज बनता है। इस प्रकारको (कि जिसमें) उदयको वेदते हुए निर्जरा हो, उसे सम्यक् प्रकार जानने योग्य है। प्राप्त वीतरागताके कारण रागके निमित्त मिलने पर भी रागकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसी सहजता ज्ञानदशामें रहती है। अभ्यंतर परिणतिमें स्वरूपानुभव सुख वर्तता है, जो अत्यंत मुख्य है। इसलिए अति अल्प रागांशमें बिलकुल रुखापन होता है, उसे भी रोग जानते है। उसमें प्रीति - रति दर्शनमोह बिना उत्पन्न नहीं होती, परन्तु ज्ञानीको वैसा व्यामोह नहीं होनेसे, मात्र ज्ञाताभावसे रहना होता है। (७७६)

※

'चैतन्यशक्ते द्वौ आकारौ ज्ञानकारो ज्ञेयाकारश्च।' (राज वा. १-६-५-३४-२९)

अर्थ :- चैतन्य शक्तिके दो आकार है, ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। यह शक्तिका निश्चय स्वरूप है, उसका परज्ञेयाश्रित कथन - व्यवहार वचन है।

वस्तुस्वभावको समझकर हेय-उपादेय अथवा मुख्य-गौण हो सकता है, परन्तु स्वभावको अन्यथा समझनेमें तो दर्शनमोहका प्रभाव ही प्रवर्तता है। जिससे महा अनर्थ होता है। स्वभावको जैसा है, वैसा समझकर प्रयोजनको (यथार्थ विधिसे) साधना चाहिए, जिससे दर्शनमोहका अभाव

होनेसे, सहज ज्ञानके अलावा दूसरा कुछ उपादेय नहीं है। (नियमसार गाथा : १२) (१९२२)

※

संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन करना, वह गुप्ति है। (१९२३)

※

गुप्तपापसे माया होती है। योग्य स्थानमें धनके व्ययका अभाव, वह लोभ है। (नियमसार) (१९२४)

※

एक समयमें मै चिदानन्द परिपूर्ण हूँ, ऐसी प्रतीति भवके नाशका कारण है। ऐसी प्रतीति होनेके पश्चात् अल्प राग रहे, वह परके खातेमें जाता है। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९२५)

※

हे जीव ! लौकिक संग्रामकी रुचि छोड़कर भाव संग्रामको सँभाल !! (१९२६)

※

ज्ञानके सिवा अन्यभावमें 'मै पने' का स्वीकार करना वह अज्ञान चेतना है, कि जो अनन्त संसारका बीज है। इसलिए साराका सारा असद्‌भुत व्यवहार मोक्षमार्गसे बाह्य (विमुख) गिननेमें आया है। अतः मोक्षार्थी पुरुषको उस अज्ञानभावके त्यागकी भावनाकी दृढ़ता हेतु स्वभावभूत ऐसी ज्ञान चेतनाको ही हमेशा भाना चाहिए। (ज्ञानमात्रका अनुभव करना - चेतना, वह ज्ञान चेतना है) (समयसार गाथा - ३८८,३८९ परसे) (१९२७)

※

शुभ परिणामका ममत्व, श्रद्धानकी विपरीतताका सूचक है, क्योंकि शुभ परिणाम पराश्रित परिणाम है। जिसने आत्मा जाना है, उसे आत्मस्वरूपकी ही महिमा होती है, पराश्रित ऐसे शुभ परिणामोंकी नहीं। इसलिए शुभ परिणामकी महिमावालेने आत्माको नहीं जाना है, यह स्वतः सिद्ध होता है। (१९२८)

※

स्वभावके प्रति 'सर्व उद्यम' हुए बिना स्वभावकी प्राप्ति नहीं होती। चलती हुई परिणतिमें ऐसा पुरुषार्थ होते ही अनुभव होता है, अन्यथा नहीं। (१९२९)

※

पर्यायमें विकार होने पर भी, उसका अभाव कहना - यह अपूर्व अंतरदृष्टिकी बात है। शुद्ध द्रव्य पर जिसकी दृष्टि होती है उसीको वह समझमें आती है। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९३०)

※

लक्षण दु:खका अनुभव, सम्यक्‌दृष्टि जीवको होता है, इसलिए उससे छूटनेका भाव सहज रहता है, फिर भी संयोग नही छूटता, परवश होकर उदय भोगना पड़ता है। परन्तु जिससे छूटनेका बहुत प्रयास हो उससे सहज विरक्तता आती है, इसलिए परिणाम उसमें रंजित नहीं होते, अत: भावप्रतिबद्धता नही होनेसे कर्मबंध नहीं है - निर्जरा है। तथापि उसी वक्त चलते हुए ज्ञानमें भिन्नता - ज्ञानवेदनपूर्वक अनुभवमें आती है। इस अभिन्न ज्ञानवेदनमें (जो वेदन करता है वही अभेदरूपसे वेदनमें आता है) स्वपनेके कारण विज्ञानघन भावमें, वीतरागता, निराकुलता लक्षण सुखादि अनुभवमें आते हैं। ज्ञानदशामें उदयका वेदन इस प्रकार होता है। (जैसे जेलका कैदी सज़ा भुगतने वक्त काम करता हुआ दिखनेमें आता है, वैसे ज्ञानीकी प्रवृत्ति होती है।) (७८०)

※

जिस विषयमें हितबुद्धि होती है, उस विषयमें जीवको श्रद्धा उत्पन्न होती है। और जिस विषयमें श्रद्धा उक्त प्रकारसे सहज उत्पन्न हो जाती है, उस विषयमें परिणाम लीन हो जाते हैं। परन्तु जिस विषयमें हित / सुखका निर्णय नहीं हो वहाँसे रुचि हट जाती है और जहाँ रुचि नहीं हो, उस विषयमें रस नहीं आनेके कारण लीनता नहीं हो सकती - इस प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा और ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक चारित्र उत्पन्न होनेका विज्ञान है। तात्पर्य यह है कि आत्मामें सुख है, ऐसा निर्णय होना चाहिए, तो ही आत्मरुचि सहजरूपसे उत्पन्न होगी। और परमें सुख है ऐसा अनादिका निर्णय चला आ रहा है, वह यदि टले तो ही पररुचि मिटे। प्रयोजनके दृष्टिकोणसे देखा जाये तो 'सुख-वही आत्मा है' - इसलिए जहाँ सुखका निर्णय वहाँ स्व आत्माका निर्णय, और वहीं क्रमश: रुचि और लीनता होते हैं। अत: सर्व ज्ञानियोंका आदेश है कि 'हे जीव ! सुख आत्मामें है - यह मत भूल, भ्रांति छोड़ दे।' (७८१)

※

सम्यक् होने पर बाह्य संयोग तो जैसे थे वैसे ही चालू रहते हैं, परन्तु स्वामीत्वपनेसे ममत्व नहीं रहता, अर्थात् अवांछित भावसे ज्ञानीका प्रवर्तन होता है। संयोगोंके प्रति रुचि अंतरंगमें नहीं है, क्योंकि निज शुद्ध स्वरूपका अनुभव भी रहे और साथमें परद्रव्यमें रुचि भी रहे ऐसा नहीं बनता। ज्ञातापना और (परका) वांछकपना - दोनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। परकी अभिलाषा / रुचि - वह निश्चयसे पूरे मिथ्यात्वके परिणाम हैं - ऐसा श्रीगुरु कहते हैं। आत्मरुचि वह वास्तवमें सम्यक्‌दर्शन है। (७८२)

※

प्रयोगका प्रारम्भ, तत्त्वज्ञानकी समझको वर्तमान उदय कालमें लागू करनेसे होता है, ऐसा

है क्या ? तेरे निज कल्याणकी जवाबदारीका विस्मरण क्यों करते हो ? और भान भूलकर प्रवृति करते हो ? और बेजवाबदारकी कीमत कितनी ? बेजवाबदारीसे वर्तनेसे उसका फल भी भोगना ही पड़ेगा। (१९५०)

※

यह आत्मतत्त्व ऐसा है कि, जिसका लक्ष्य होने पर अन्य कुछ नहीं रुचता। अहो ! स्वभाव प्रतिके (अत्यंत मंदकषाययुक्त उच्च शुभरूप) विकल्पमात्रसे भी हटनेकी जिनकी तैयारी रूप योग्यता है, उन्हें संसारके संयोग - प्रसंग रुचे, यह असंभवित है; ज्ञानीका हृदय (अंतर परिणमन) अगम्य है। आत्मा वेदनमें आये उसे ही ज्ञानीकी पहचान होती है। (१९५१)

※

उच्च प्रकारके व्यवहारीक प्रवर्तनमें रहे जीवको भी उस व्यवहारकी मीठास लेने योग्य नहीं है। - उदासीनता ही कर्त्तव्य है ऐसा ज्ञानीका बोध है। आत्मा अनुपम, अनन्त गुणोंका धाम है, उसकी ही महिमा कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्व-रूपकी सावधानीमें क्षणिक अपूर्णभावरूप व्यवहार गौण होनेसे उसकी मीठास नहीं आती। यह व्यवहारकी मीठास तो आत्माके अमृतमय जीवनके आगे ज़हर है। (१९५२)

※

स्वरूप ध्याताके लक्षण : यथार्थ वस्तुज्ञान, वैराग्य सहितपना, इन्द्रिय मन वश, स्थिर चित्त, मुक्तिका इच्छुक, आलस रहित, उद्यमी, धैर्यवान। (१९५३)

※

दृष्टि सम्यक् होनेपर, अभिप्राय ऐसा रहता है कि, मैं तो वीतराग स्वरूप होनेसे, पूर्ण वीतरागरूप ही रहता हूँ। ये स्वरूपसे विरुद्ध जातिके प्रगट हो रहे भावोंमें मेरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् मै इन विजातीय, भावोंको करता नहीं, करवाता नहीं और हो रहे हैं उसमें मेरा कोई अनुमोदन भी नहीं है। (१९५४)

※

संवत - २०१८

'आत्मा परमानंदमय ही है' ऐसा दृढ़ नहीं रहने पर मुमुक्षुजीवको लौकिक सुख प्रति झुकाव रहता है, वह बाधक कारण है। स्वरूपकी असावधानी और जगतके प्रति सावधानी, यही अज्ञान है और परिभ्रमणका कारण है। (१९५५)

※

सत्पुरुषसे विमुख प्रवर्तन जिस जीवका बने, वह अनंतानुबंधीका प्रगट प्रकार है। (१९५६)

इसलिए उपादेय है, विकल्पमात्र हेय है, फिर भी विकल्प रस आता हो तो उसे अशुद्धताका मूल जानकर उसका त्याग करना। (७८६)

※

प्रयोजनभूत तत्त्वकी समझ करनेके पश्चात् योग्यताकी कुछ मात्रामें क्षतिके कारण, अनुभव उपादेय है - ऐसा लक्षमें होते हुए भी, अनुभवके पुरुषार्थमें जो जीव शिथिल है, वह अनेक प्रकारके विकल्पोंसे संयुक्त होनेके कारण, शुद्धोपयोगी नहीं होता। अतः स्वानुभवके पुरुषार्थकी शिथिलता ही अनेक प्रकारके विकल्पोंको उत्पन्न करती है। ऐसी शिथिलता और विकल्पको अशुद्धिका मूल जानकर वृद्धिगत नही हो जाय, इसके लिए जागृत होकर / रहकर, पुरुषार्थवंत होना जरूरी है। प्रमाद महा रीपु है, आयुष्यका प्रत्येक समय चिंतामणी रत्नसे अधिक मूल्यवान है, और रागका एक कण भी विषका कण है - ये सब प्रकारसे जागृत रहकर स्वरूप-सावधानीमें आना आवश्यक है। (७८७)

※

स्वयंके मूल स्वरूपमें अपनत्व नही करके, वर्तमान पर्यायमें जीव एकत्वभावसे - पर्यायबुद्धिसे प्रवर्तता है। इसलिए 'पर्याय मूढाः परसमयाः' कहकर श्रीगुरुने उसका - पर्यायबुद्धिका निषेध किया है। अतः उस प्रकारके एकत्वरूप मिथ्यात्वको छुडानेके लिए पर्यायके अकर्तृत्वका ज्ञानियोंने उपदेश दिया है, और 'पर्यायका कार्य पर्याय करती है, मै - त्रिकाली नहीं' - ऐसे परमार्थका ग्रहण करवाया है। जिसका परम उल्लासपूर्वक स्वीकार करने योग्य है।

त्रिकाली सामान्य कभी विशेष पर्यायरूप नहीं होता, ऐसी निरपेक्ष वस्तुस्थिति समझमें आये बिना, पर्यायके कर्तृत्वकी (प्रमाणकी) अपेक्षा भी यथार्थरूपसे समझमें नहीं आती। पर्यायकी स्वतंत्रताको (कारकोंसे), स्वरूपमें एकत्व हो इस हेतुसे स्वीकार करना, परम उपकारी है। पर्यायरत् जीव मिथ्यात्वभावसे परिणमन करता है। (७८८)

※

ज्ञानीपुरुषकी वाणी पूर्वापर अविरुद्ध अर्थात् नयात्मक होती है। फिर भी पारमार्थिक हेतुकी मुख्यतासे वस्तुके मूल स्वरूपको - साध्यको - यथार्थरूपसे, विशेषरूपसे, प्राप्त होनेका निमितत्व उसमें रहा है। इसलिए वह निर्दोष है। विशेष पात्रतावान मुमुक्षुको ही ज्ञानीपुरुषकी वाणीकी परख आती है। क्योंकि अध्यात्मरसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध प्राप्त होनेसे, वाणीमें जो अध्यात्मतत्त्व होता है, वह प्रतिभासित होता है। यह भी एक भावभासन है। (७८९)

※

पुनः नयज्ञान, मिथ्यात्वके अभावसे और शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप सम्यक्त्वसे खिला हुआ

ज्ञानीकी विकारांशवाली पर्याय, स्वरूपमानरूपी लगाममें है। इसलिए मर्यादामें परिणमन करती है। वह विकारांश मर्यादामें ही रहकर, जितने अंशमें उत्पन्न होता है, उतने अंशमें कमज़ोर पड़ते-पड़ते वहीं का वहीं नष्ट होता है और ज्ञान-बल बढ़ता जाता है। मुक्त भावकी मस्ती अलौकिक है। (१९७७)

⁂

संवत - २०२१

महा आनन्दके राशि ऐसे निज स्वरूपसे क्या अधिक है ? कि इसे छोड़कर तू परका ध्यावन करता है ? (१९७८)

⁂

तू व्यर्थ ही दूसरेकी वस्तुको खुदकी मान - मानकर नाहक खुशी मनाता है। झूठी भ्रमरूप कल्पना मानकर खुश होता है। कुछ भी सावधानीका अंश नहीं है। तीन-लोकका नाथ होने पर भी नीचपदमें अपनत्व मानकर व्याकुल होता है। - 'अनुभवप्रकाश' (१९७९)

⁂

व्यावसायिक प्रवृत्तिकालमें, (उत्साह रूप) भ्रांतिका रस नहीं बढ़ जाये, इस हेतु, शुरूसे ही सावधानी कर्त्तव्य है। जागृत रहना चाहिए। (१९८०)

⁂

जो कुछ भी करना है, वह आत्मश्रेयार्थ करना है, इसके सिवा किसी भी प्रकारकी बुद्धि - वासना - जिसके अभिप्रायमें नहीं है - दृढ़तापूर्वक नहीं है, ऐसा अंतर्लक्ष जिसका है, वह मुमुक्षु आत्मा आत्मश्रेयके प्रति जागृत हुआ होनेसे, परभावके प्रति (भिन्नतामें) सावधान होनेसे, संशोधकभावसे अंतरमें स्वरूपका निर्णय अवश्य कर सकता है। किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका अभिप्राय नहीं होता अर्थात् वह इष्ट-अनिष्टके अभिप्रायसे छूटता जाता है। (१९८१)

⁂

परपदार्थमें सुखाभासरूप भावको भ्रांति गिनना चाहिए, भ्रांतदशारूप अवस्थाको रोग गिनना चाहिए। (१९८२)

⁂

दुःख झूठ है - कल्पनामात्र है, क्योंकि निजस्वरूपमें दुःख नहीं है - फिर भी जीव आनंदमय ऐसे स्वरूपके विस्मरणसे (बेसावधानीके कारण) दुःखकी कल्पनामें घिर जाता है, यानी कि भ्रमसे खुदका दुःखमयरूप अनुभव करता है। (१९८३)

चैतन्य स्वरूपका अनुभव कर्त्तव्य है। 'मात्र ज्ञान' के अलावा सर्व द्रव्य - भावसे भिन्नताकी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न हो, उस प्रकारसे पुरुषार्थ और प्रयोजन होने चाहिए। वह स्वानुभवका मूल है। (७९२)

✻

वस्तु स्वरूप भले ही सामान्य-विशेषात्मक हो, भेदाभेद स्वरूप हो, परन्तु जो श्रद्धाका विषय है, वही ज्ञानमें मुख्य होना चाहिए। संसारीजीवका ज्ञान मुख्य-गौण भावसे परिणमन करता है; ऐसी परिस्थितिके कारण अनादि पर्यायबुद्धिके कारण विशेषकी / भेदकी मुख्यता चली आ रही है, और इसी वजहसे संसार है, अब मोक्षाभिलाषीको मूल स्वरूपकी पहचान करके, उस स्वरूपके अलावा, अन्य सर्व (सहजरूपसे) गौण होना चाहिये।

खास करके शास्त्र अध्ययन करनेवाले आत्मार्थी जीवको तो, पर्यायका एकत्व मिटानेके लिए, विशेष लक्ष देना चाहिए। सर्व उपदेशमेंसे यही तात्पर्य निकालना चाहिये, अथवा सर्व उपदेशका इस लक्षसे विचार कर्त्तव्य है। (७९३)

✻

त्रिकाली शुद्धि स्वरूपका अनुभव अर्थात् शुद्ध 'ज्ञानमात्र'का आस्वादन अर्थात् वेदन; ऐसा वेदन दृष्टि बलसे सम्यक्त्व होने पर उत्पन्न होता है। वहाँ रागांश होते हुए भी अनुभवमें आ रहा ज्ञान उससे रहित है, ऐसा प्रत्यक्ष / विशद्‌रूपसे अनुभवमें आता है, इसलिए सुख-दुःखरूप अशुद्ध चेतनासे रहित - ज्ञानमात्रपने स्वयं अनुभवमें आ रहा होनेसे, जब वर्तमान उदयसे परम उदासीन हुआ जाता है, तो भविष्यकी चिंता तो होवे ही कहाँ से ? जिस भविष्यकी चिंतासे मनुष्य छूट नहीं सकता; और जिसके कारण जीव अधोगतिमें चला जाता है, उससे इस प्रकार सहज ही छूटा जा सकता है।

अवलंबनभूत स्वस्वरूप त्रिकाल ज्ञान - और सुखादि वैभवसे पूर्ण और शाश्वत है। उसके (स्वयंके) आधारसे ही उपाधि रहित हुआ जा सकता है। सम्यक्त्वके प्रभावसे सर्व कर्मक्षय होते हैं, जब कि मिथ्यात्वके प्रभावसे कर्मका फैलाव होता है। (७९४)

✻

ज्ञानीपुरुष स्वतः तृप्त है, अर्थात् अतीन्द्रिय सुखके अनुभवके कारण तृप्त है। इसलिए निर्वाणपदको प्राप्त करते है, कि जो निर्वाणपद वर्तमान अनन्त सुखमय है और भावि अनन्तकाल पर्यंत अनंत सुखमय है। ऐसा होनेसे पूर्वकर्मके फलरूप वर्तमान उदय, अर्थात् संसार सम्बन्धी सुख-दुःखको भोगनेके भाव - कि जो चैतन्य प्राणके घातक होनेसे विष समान लगते हैं, उसकी वांच्छा नहीं करते।

'निर्विकल्प होना है' ऐसी इच्छा मात्रसे कार्य नहीं होता, परन्तु मैं स्वभावसे ही निर्विकल्प हूँ और स्वसंवेदनरूप ही रहनेका - परिणमन करनेका मेरा स्वभाव है, दूसरा कुछ होना, स्वभावसे अशक्य है, स्व-आश्रय होनेसे कार्य होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। (१९९५)

*

जबसे आत्मस्वरूपका भावभासन हुआ, तबसे उसका विस्मृत होना अशक्य है, ऐसा स्वरूप असाधारण महिमावंत है, और तबसे कोई दूसरा पदार्थ महिमा योग्य नहीं रहा - नहीं रहता। निज अभेद सिद्धपदसे अधिक दूसरा क्या हो सकता है ? अहो ! स्वरूप निधानका पता लगने पर अपूर्व-अपूर्व भाव ही बहे ना....।। (१९९६)

*

आत्मस्वरूप रागका विषय बिलकुल नहीं है, विकल्पगम्य नहीं है, परलक्षी क्षयोपशम ज्ञानकी कल्पनामें भी वह समाविष्ट नहीं हो सकता। सिर्फ अंतर्मुख ज्ञानमें ग्रहण हो सके, वैसा है। अतः केवल अंतर्मुख उपयोग कर्त्तव्य है। विकल्पके कालमें भी विकल्पकी आड़ बिना ज्ञान सीधा स्वरूपका ग्रहण करे, वह अंतर्मुखता है। उसमें आत्मा ज्ञानगोचर है। (१९९७)

*

'दंसण मूलो धम्मो' भगवान कुंदकुंद आचार्यदेवके इस सूत्रमें 'दर्शन-स्वभाव' (श्रद्धा स्वभाव) की बहुत गहराई (गंभीरता) भरी है, जिसका वास्तविक खयाल अनुभवीको ही होता है। जिस मूल धर्मसे 'धर्म' की शुरूआत होकर सर्व गुणांश स्वयं सम्यक् हो जाते हैं, जिसके बलसे मोक्षमार्गकी वृद्धि होकर मोक्षकी प्राप्ति हो ही जाती है, जिसके कारण सिद्ध भगवंत सिद्ध दशामें अनन्तकाल (से) टिके है, उस 'दंसण' मूल धर्मका हे भव्य ! तू सम्यक् प्रकारसे सेवन कर !

श्रद्धाके पुरसे पूरा परिणमन शुद्ध होता जाता है। अनन्तगुणोकी निर्मलतामें श्रद्धागुण (स्वभाव) निमित्त पड़ता होनेसे वह - मूलधर्म है। (१९९८)

*

सत्शास्त्र आत्मानुभवी पुरुषों द्वारा लिखे गये होनेसे उनकी लेखनीमें अनुभवकी गहराई भरी है, उसका अवलोकन अनुभवके दृष्टिकोणपूर्वक करना चाहिए, वरना इनके भावोंका वाच्य ज्ञानगोचर नहीं हो सकता। सिर्फ अनुभवदृष्टिसे ही यथार्थरूपसे वाच्यभूत भाव ज्ञानगम्य होते है, ऐसा शास्त्रवांचनका मर्म है। सिर्फ पंडिताईसे यानी कि परलक्षी ज्ञानके उघाड़से प्राप्ति नहीं होगी, इसलिए शास्त्रवांचन अनुभवप्रधान शैलीसे कर्त्तव्य है। शब्दार्थ-भावार्थसे संतुष्ट नहीं होना। (१९९९)

एकत्वरूप (पर्याय मूढता) वेदन करना - वह है। वेदन / अनुभवज्ञानके साथ मान्यता होती है। सिर्फ जानकारीसे मान्यता नहीं होती। इसलिए जिसको स्वरूपकी श्रद्धा-सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करना है, उसको स्वरूपानुभवमें आना आवश्यक है।

ज्ञेयाकार ज्ञान वृद्धिगत् होकर अंगपूर्वकी धारणा करने पर भी मिथ्याश्रद्धाका सद्भाव रहता है, जबकि तिर्यंच सिंह जैसा प्राणी भी मिथ्याश्रद्धाका अभाव कर सकता है। उसका कारण विचारणीय है। और इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञेयाकार ज्ञान द्वारा श्रद्धामें मिथ्यात्वको पलट करके सम्यक्‌त्व नही हो सकता - परन्तु बिलकुल अल्प उघाड़वाले तिर्यंच भी वेदनअंशके आधारसे, प्रतीतिमें स्वरूपको ग्रहण कर सकते है, अतः ज्ञानके अंतरंगरूप वेदन द्वारा, ज्ञानपूर्वक श्रद्धाकी उत्पत्ति होनेका नियम है।

व्यवहारिक प्रसंगोंमें भी, प्रत्यक्ष अनुभवसे जो प्रतीति होती है, वह परोक्ष समाचार जाननेसे नहीं होती।

इसके अतिरिक्त शास्त्रज्ञान परोक्ष माहितीरूप है और अनुभवांश प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि जहाँ स्वभाव व्यक्त / प्रगट है। जिसके आधारसे स्वरूपका प्रतिभास होने पर पुरुषार्थ समुत्पन्न होकर अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है। (७९९)

*

अनादिसे जीवको ज्ञेयाकार ज्ञानका परिचय व अनुभव है। अतः जीव स्वरूपकी वैसी ही प्रतीति वर्तती है। अथवा बहिर्दृष्टी अनादि होनेसे जीवकी श्रद्धा भी ज्ञानके बहिरंग (ज्ञेयाकार) रूप ही करता है, जिसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष वर्तता है। मूलमें ऐसी स्थिति होनेसे सर्व दोषोंकी परंपरा उसमेंसे पनपती है। भेदज्ञानसे ज्ञेयाकार ज्ञान और रागादि, ज्ञानवेदन द्वारा गौण होकर, स्वरूपकी प्राप्ति होती है अर्थात् ज्ञान स्वपने वेदनमें आता है। उसमें त्रिकालीका अवलंबन सहज है। (८००)

*

प्रतिकूल उदयमें सामान्यतः मुमुक्षुजीवको भी थोड़ी-बहुत चिंता होती है; तब आर्तध्यान होता है। जो आत्महितको प्रतिबंधक है और अहितकर भी है। ऐसे प्रसंगमें अहितसे बचनेका उपाय होना - वह मुमुक्षुता है। इस प्रयत्नमें स्वभावके लक्षसे, चिंताका अकार्यकारीपना, नुकसान जानकर - उसका निषेध आना चाहिए। यदि ऐसा यथार्थ परिणमन हुआ तो चिंताका रस मंद होगा, वर्तमानमें ही आकुलताका रस कम हो जायेगा, और फिर जब अनुकूलतारूप फल आयेगा तब उस वक्त भी तीव्र रससे वेदन नहीं होगा। परन्तु यदि उस प्रकार जागृतिपूर्वक प्रयत्न नहीं हुआ तो आर्तध्यानका रस बढ़ जायेगा और अनुकूलता होने पर भी तीव्र रससे

(परकी सावधानीरूप) पर वज़न जाना - वह शुभ परिणामका आग्रह भी मिथ्या आग्रह है।

(२) स्वच्छंदता :- 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी स्वरूप सावधानीके अभावमें, अन्य सर्व भाव दोषरूप होने पर भी उसे गौण करना, या नहीं देखना वह, अथवा परकी सावधानीमें उत्साह।

(३) प्रमाद :- 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी सतत जागृतिका अभाव और विपरीत भावका रस रहना-वह।

(४) इन्द्रिय विषयकी अपेक्षा :- यह भाव जड़में तीव्र सुखबुद्धि होनेसे उत्पन्न होता है, जिसे आत्मजागृतिपूर्वक उपेक्षित किये बगैर सत्संग, सन्मार्गको अनुकूल ऐसा योग, नहीं बनता। स्वरूपकी सावधानी अर्थात् 'मै ज्ञानमात्र हूँ' ऐसे ज्ञान-रस (आत्मरस) में इन्द्रियविषयका रस अभावको प्राप्त होता है। जो कि सत्संगका प्रत्यक्ष फल है।

(५) अपूर्व भक्तिका अभाव :- सत्संगदाता ऐसे ज्ञानी परमात्मामें 'अपूर्व भक्ति' के अभावमें उक्त चारों दोष सहज उत्पन्न हो जाते हैं, अतः ज्ञानीका योग परमहितकारी जानकर, परमस्नेहसे, सर्वार्पणरूपसे, सर्व संयोगको गौण करके, पूर्ण अर्पणतासे इसकी उपासना कर्त्तव्य है। (यद्यपि ज्ञानीको कोई अपेक्षा नहीं होती, परन्तु मुमुक्षुकी उपरोक्त स्थिति हुए बिना बोध परिणमित नहीं होता - ऐसी वस्तुस्थिति है।) (२०१५)

※

परविषयमें हो रही सुखकी कल्पना वह झूठा आनंद है, यानी कि उसमें सचमुच आनंद नहीं होने पर भी आनंदका आभास होता है, वह झूठ है - यह नियम, किसी भी कक्षाके मंद कषायमें लागू पड़ता है। प्रयोजनकी दृष्टिवाले जीवको खुद झूठे आनंदमें धोखा नहीं खा जाये इसकी सतत सावधानी प्रसंग-प्रसंगमें रखनी जरूरी है। (२०१६)

※

ज्ञानीके ज्ञानका विवेक : स्व-पर प्रकाशक ज्ञानमें...
स्व और पर / राग जाननेमें आये तब स्व-परमें,

| स्व | पर / राग |
|---|---|
| * अनन्त महिमावंत | * निर्मूल्य |
| * स्वरूपकी सावधानीमें एकत्व | * उपेक्षाभावपूर्वक, भिन्न |
| * स्वआश्रयभावसे, चैतन्यरसमयपने | * अरसपने (नीरसतापूर्वक) |

......सहज परिणमन करता है। (२०१७)

※

स्वरूप महिमामें डूबे रहनेसे पर्यायमें स्वरूपाकार भाव-प्रत्यक्ष अनुभव प्रगट होता है, तब ोई विकल्प विद्यमान नहीं रहते।

मनुष्यको सांसारिक प्रयोजनके विकल्प छोड़कर (देहार्थका विकल्प छोड़कर) आत्मार्थका ािकल्प प्रथम भूमिकामें आता है, परन्तु जब तक विकल्प रहता है, तब तक शुद्धस्वरूपका त्यक्ष अनुभव नहीं है। क्योंकि तब तक स्वरूप (विकल्पमें) परोक्ष रहता है। प्रत्यक्षस्वरूपका ानुभव भी प्रत्यक्षभावसे है। (८०४)

※

आत्माका परमस्वरूप, अनन्त शक्तियोंका सामर्थ्यरूप है। उसमें प्रत्येक शक्तिका सामर्थ्य, सीम अर्थात् बेहद है। उसमें भी जीव आकर्षित हो, वैसे गुण आनन्द और शांति है। भावश्रुतज्ञान, पने स्वरूपमें रहे गुणोंको अंतर्मुख होकर नापने जाता है, तब उसका अंत (तलवा) नहीं खता, ऐसे स्वरूपको (देखकर), देखते-देखते थम जाता है। उपयोग क्षयोपशम भावरूप है ौर शक्ति पारिणामिक भावरूप है। अमर्याद सामर्थ्यको देखते ही उपयोग थम जाये, ऐसा द्भुत वचनातीत सुधामय सुखस्वरूप स्वयं ही है। उससे उत्कृष्ट और अधिक कुछ नहीं । उक्तम्च:

`आत्मनः स्वभावमहिमा अदभूतात् अदभुतम् विजयते। (स. सार) (८०५)

※

अनादिसे पर्यायमें एकत्व हो रहा है, उसको मिटानेके लिए और `ज्ञानमात्र' स्वभावमें कत्व हो, इसके लिए पर्यायसे भिन्नताका और स्वभावकी महिमाका ज़ोर दिये बिना, दृष्टि ारूपमें अभेद हो - उसरूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। परिणामको परिणामके स्थानमें सिर्फ ाननेका विषय है। यथा-व्यवहार उस कालमें (उत्पाद्के वक्त) जाना हुआ प्रयोजनवान है' ा.सार-गाथा-१२)। वह मोक्षमार्गी जीवको सहज जाननेमें आता है, परन्तु इसके ऊपर वज़न हीं जाता।

भावना स्वभाव-स्वरूपकी हो तो ही वह आत्मभावना है। यह आत्मभावना दृष्टिका परिणमन ानेके लिए अनुकूल है। वैसे ही ज्ञानका विषय, अंतर दृष्टिको अनुकूल हो, उस प्रकारसे क्षमें लेना योग्य है। इससे ज्यादा सर्व न्यायोंका प्रयोजन नहीं है। विपर्यास न हो इसके ाए ज्ञानका विषय जानने योग्य है। (८०६)

※

अंतर स्वरूपकी दृष्टिमें, स्वरूपकी सर्वस्वपने उपादेयता वर्तती है, इसलिए द्रव्यदृष्टिवानको हिर्मुख परिणाम अंशरूप प्रवृत्तिका निषेध वर्तता है। राग तो बहिर्मुख है ही, परन्तु इसके

'ज्ञानके प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना वह अनुभव है।' (अनुभव प्रकाश - पन्ना -३६)
(२०३४)

※

पौष सुदी-११

(अपने) ज्ञानमें पर-प्रतिबिंबित होकर मालूम पड़ता है। वहाँ स्वमें परकी ओर देखनेसे 'पर-मात्र' मालूम पड़ता है (तो) वहाँ स्वको चुकनेसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। उसी स्वमें पर मालूम होने पर भी निजमें निजको देखनेकी दृष्टि सुखको उत्पन्न करनेवाली है। - दर्पणमें मोरको (मोरके प्रतिबिंबको) देखनेसे मोर ही दिखता है - दर्पणको देखे तो वह दर्पण ही है - ऐसा दिखता है। उस दृष्टांत अनुसार निजमें निजकी ओर देखनेसे निज ही है। परका संपूर्ण अभाव है।
(२०३५)

※

पौष-सुदी-१२

सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयका विवेक होने पर आखिरमें वह निर्विकल्प निजरस पीनेमें परिणमित होता है। प्रयोजनकी इस प्रकारकी सिद्धिका कारण प्रयोजनके दृष्टिकोणपूर्वक हेय-उपादेयकी छँटनी है।
(२०३६)

※

पौष-सुदी-१३

स्वरूपभावना - आत्मभावना वही सत् कार्यका मूल है। अंतरकी सच्ची भावना निज परिणतिको उत्पन्न करती है अथवा बढ़ाती है। यह भावना ही स्वरूपकी पहचान होनेमें ज्ञानको सहायक है। उसीसे भेदज्ञानका प्रयोग सुलभ होता है। - परिणति विहीन जीव, उपयोगको स्वरूपमें जोड़ना चाहे तो भी शुद्ध-उपयोग हो नहीं सकता। इसलिए परिणति रहित जीवका पुरुषार्थ सफल नहीं होता। यद्यपि परिणति बिना वह (पुरुषार्थ) यथार्थ है भी नहीं - वह भावना ऊपर-ऊपरकी है कि जब तक परिणति उत्पन्न नहीं हुई।
(२०३७)

※

पौष-वदि-२

मति-श्रुतका क्षयोपशम मिथ्यात्वके सद्भावमें परवेदन-रस बढ़ानेमें निमित्त होता है, जब कि वही क्षयोपशम कषाय घटनेसे व स्थिरता बढ़नेसे सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वसंवेदन रस वृद्धिका कारण बनता है। ऐसा स्वसंवेदन रस, वह अनन्त सुखका मूल है।
(२०३८)

※

अभाव होकर, अनंत आत्मबल प्रगट होता है। समयसारजीके संवर अधिकारमें गाथा - १८१, १८२, १८३की टीकामें इस विषयकी बहुत गंभीरता है, विशद एवं बलवान प्रतिपादन है। (८१०)

✻

सत्पुरुषके हृदयमें विराजमान प्रगट परमतत्त्वका दर्शन, धर्मात्माकी अंतर परिणति द्वारा मुमुक्षुजीवको होता है, तब ओधभक्तिका अभाव होकर सच्ची भक्ति प्रगट होती है। और सत्पुरुष परमात्मारूप दिखाई देते है। इस प्रकार सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आने पर, मुमुक्षुजीवकी पात्रता उत्तम कक्षाकी होती है। यहाँ पर दर्शनमोह भी अत्यंत मंद होता है, इतना ही नहीं जैसे-जैसे सत्पुरुषके प्रति भक्तिके भाव वर्धमान होते जाते है, वैसे-वैसे दर्शनमोह सहजरूपसे कमज़ोर/पतला पड़ता जाता है, और आत्मस्वरूपका भावभासन होनेके योग्य ज्ञानकी (मतिकी) निर्मलता आती है और सहज मार्गप्राप्ति होती है। (८११)

✻

ज्ञानके `स्वसंवेदन' रूप-स्पष्ट अनुभवांशसे स्वरूपलक्ष होता है। और लक्षपूर्वक सामान्यका आविर्भाव `निर्विकल्प स्वानुभूति'को प्रगट करता है। इसलिए ज्ञानमें रहे ज्ञानवेदनसे अनजान रहने योग्य नहीं है, अर्थात् अवलोकनके अभ्याससे - अथवा आधार-आधेयपनेके अवलोकनरूप अभ्याससे (मुक्तिका) मार्ग प्रगट करने योग्य है।

`आधार-आधेयत्वका अवलोकन' यानी कि ज्ञान अपने आधारसे, अपनी शक्तिसे स्वयं ही हो रहा है, उसमें अन्य कोई द्रव्यभावकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा अनुभवगोचर होना अर्थात् वैसे अनुभवका अवलोकन होना। (सिर्फ विचारज्ञानसे सम्मत नहीं करके, चलते हुए परिणमनमें प्राप्त अनुभवका अवलोकन करना।) वारंवार तथारूप अवलोकनसे स्वभाव/शक्तिकी पहचान और आत्मबल प्रगट होता है। स्वभावका निरालंबनपना प्रतिभासमें आये - वह पुरुषार्थ प्रगट होनेमें एक महत्त्वपूर्ण कारण है। जब तक निरालंब-स्वरूप लक्षमें नहीं आता, तब तक सहज पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता। (८१२)

✻

ओधसंज्ञासे ज्ञानीपुरुषकी, मोक्षमार्गकी और मोक्षकी महिमा आने पर भी आत्मकल्याणकी दिशामें यथार्थ प्रगति नही होती - और इसलिए उक्त परिस्थितिमें मुमुक्षुको बेचैनी भी होती है (तो) क्या करना ? कैसे करना ? यह सूझता नहीं है और काल व्यतीत होता जा रहा है। जिसके कारण आकुलता भी होती है। ऐसी स्थितिमें, उक्त महिमा आनेमें मूल्यांकनकी क्षति समझनी चाहिए और सही मूल्यांकन होनेके लिए, और उस (मूल्यांकन) सहित परिणामकी

(२४) विकल्पमात्रमें अंदरसे दुःख लगे। भेदज्ञानका प्रयासकाल होनेसे आत्मस्वरूप विकल्पमें भी आकुलता भासित होती हो - लगती हो। (G)

(२५) (इस वजहसे) स्वभावके सूक्ष्म विकल्पसे भी हटनेकी तैयारी (तत्परता) वा हो। (C)

(२६) उदयभाव बोझरूप लगे। (C) (इसके कारण)

(२७) उदयप्रसंगमें कही पर भी (सुहाता न हो) रुचता न हो। (C)

(२८) स्वकार्य - बादमें करूँगा, ऐसा कभी नहीं होता। (नास्ति) (C)

(२९) सत्पुरुष (प्रत्यक्ष ज्ञानी) की आज्ञाका आराधन एकनिष्ठासे करनेके लिए तत्परवृत्तिवा हो। (C)

(३०) ज्ञानीके प्रति सर्वार्पणबुद्धिवाला हो। (G)

(३१) गुण अभिलाषापूर्वक गुणके प्रति प्रमोदभाववाला। (C)

(३२) अंतर निवृत्तिपूर्वक स्वकार्यकी लगनवाला। (C)

(३३) विकल्पोंकी जालवृद्धिको अटकानेवाला - ब्रह्मचर्यकी चाहतवाला। (C)

फागुन सुदी-१

(३४) स्वदोषको अपक्षपातरूपसे देखनेवाला, जाँच करनेवाला (निजहितकी बुद्धिसे,) जिस स्वच्छंदसे बच सके। (G)

(३५) एकांत प्रियतावाला (अनेकका परिचय आत्मसाधनाको अनुकूल नहीं है।) (C)

(३६) आहार, विहार और निहारका नियमी, जिससे बाह्यवृत्तिका निरोध हो। तीव्र रागरसवा जीवका मर्यादा बाहर प्रवर्तन सहज होता है - ऐसे प्रकारका अभाव। (C)

(३७) अपनी गुरुताको दबानेवाला; आडंबरसे दूर रहनेवाला - मान-प्रसिद्धिसे दू रहनेवाला। (C)

(३८) मोक्ष / मोक्षमार्गका मूल्यांकन करनेवाला अनन्त दुःखका अभाव - अनन्त सुखर्क प्राप्तिकी वास्तविकताको समझनेवाला। (G)

(३९) निज परिणाम सम्बन्धित जागृतिपूर्वक सूक्ष्म अवलोकन द्वारा पर रसको तोड़नेवाला आत्मजागृतिवाला। (G)

(४०) सर्व न्यायोंको प्रयोजनके लक्षपूर्वक समझनेकी पद्धतिवाला, अर्थात् मिथ्यात्व औ रागादिका अभाव हो उस प्रकारका लक्ष रखनेवाला। (G)

(४१) स्वकार्यकी तीव्र उत्कंठाकी वजहसे सब तरफसे रस उड़ जाये। (G)

(४२) अपनी मुक्तिकी योग्यताके लिए निःशंक, आगामी भवमें नीचगतिकी शंका भी

जायेगा। इसलिए आत्मार्थी जीवको अहित हो जानेका भय रखना आवश्यक है। (८१५)

※

हेय-उपादेय सम्बन्धित अनेक भेद-प्रभेदसे विस्तृत उपदेश है, परन्तु परिणामोंका कर्तृत्व-जो कि पर्यायबुद्धिके कारण होता है, वैसा नहीं होना चाहिए, यह सर्वत्र लक्षमें रहना चाहिए। और ऐसा होनेके लिए (सहजरूपसे) अंतर स्वभावमें एकत्व होना, वही एक मात्र उपाय है। स्वरूपमें एकत्व होनेके पश्चात, भूमिका अनुसार विभाव मर्यादित हो जाता है। वीतरागताके सद्भावके कारण, जो भी गुणस्थान हो उसमें रागका अभाव होकर सहज अकर्ताभावसे हेय-हेयरूप ही भासित होता है, उपादेयकी सहज उपासना होती है। मोक्षमार्गकी कितनी सुंदरता।

उपदेशबोधका अनुसरण कर रहे जिज्ञासुजीवको खचितरूपसे, दर्शनमोहके अभावके हेतुभूत रहस्यमय परमार्थको प्राप्त करते हुए - यह प्रकार लक्षमें रखना चाहिए वरना विवेक अथवा कर्त्तव्यकी भावनाके वेगमें, कर्तृत्व दृढ़ हो जानेसे, परमार्थकी प्राप्तिसे वंचित रहना हो जाता है और मूल समस्या खड़ी रहती है, पर्यायका एकत्व नहीं छूटता। (८१६)

※

पर्यायमें सुधार करना है, अवगुण मिटाकर गुण प्रगट करनेका प्रयोजन होने पर भी, पर्यायका आश्रय छोड़नेसे, वैसा (स्वभावका आश्रय) हो सकता है। अनादि पर्यायबुद्धिके कारण पर्यायमें मै पना चला आ रहा है - पर्यायमात्रका अपनेरूप अनुभव हो रहा है, वहाँ तक स्वभावका ज़ोर किसी भी उपायसे नहीं हो पाता, अर्थात् पुरुषार्थ पर्यायाश्रित परिणमनमें लगता है; और स्वरूप चिंतवन `करनेके अभिप्रायसे' जो चिंतवनादि किये जाते है, उसमें सहज ही ठीकपना लगता है, इसलिए बहिर्मुखता छूटकर अंतरमें आया नहीं जा सकता। `पर्यायमें ठीकपना रहना' - यही अटकना हुआ - (जो) दर्शनमोहका स्वरूप है।

इसीलिए सर्वप्रथम `पूर्णताके लक्षसे', स्वरूपप्राप्तिकी भावनासे, स्वभावकी पहचान होनेके बाद, स्वभावके लक्षसे पुरुषार्थ / चैतन्यवीर्यकी स्फुरणासे अंतर्मुख होकर, स्वानुभव होता है। `स्वभावके लक्ष' बिना अंतर्मुखी पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता। अतः सर्व प्रथम ज्ञानलक्षणसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करना, यह श्रीगुरुकी आज्ञा है। (८१७)

※

मै ध्रुव असंग तत्त्व हूँ। उपयोग स्वभावी होने पर भी निर्लेप हूँ। संसारके कोई सम्बन्ध तो मुझे है नहीं - परन्तु धार्मिक क्षेत्रके कोई सम्बन्ध भी मुझे नहीं है। सबकुछ मेरेसे बाह्य है, भिन्न है।

पुद्गलात्मक शरीरका सम्बन्ध नहीं होनेसे, शरीरकी वेदनासे / शातासे भी मै भिन्न हूँ,

(१०) स्वभाव सुनते हुए रुचिकी पुष्टि हो - वृद्धि हो।

(११) सूक्ष्म अंतर विचारणापूर्वक भेदज्ञानका प्रयत्नशील।

(१२) पदार्थका यथार्थ निर्णय करनेकी भूमिकावाला।

(१३) उपकारी सत्पुरुषके प्रति विनय - भक्तिकी कमीके भाव न हो वैसा।

दूसरा श्रावण वदि-९

(१४) आत्माको अहितरूप परिणाम होने पर घबराहट हो जाना।

(१५) समझमें अयथार्थता उत्पन्न न हो, ऐसा वृत्तिवान।

(१६) प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत विषयको अलग-अलग छाँटनेवाला। और इसके फलस्वरूप अप्रयोजनभूतके प्रति उदास रहनेवाला तथा प्रयोजनभूत विषयकी गहराईमें जाकर ग्रहण करनेकी तत्परतावाला।

(१७) प्रतिकूलताके वक्त परिणाम बिगड़नेके बजाय पुरुषार्थके प्रति झुकनेवाला / आत्महितमें सावधान होनेवाला।

(१८) पात्रताका नाप - जीवको निजहितकी कितनी गरज है, उसके पर आधारित है।

(१९) भवभयसे डरनेवाला।

(२०) आत्मलक्ष्यी - आत्मामय जीवन - परिणमनवाला। (२०५०)

✻

दूसरा श्रावण सुदी-१३

आत्माका अध्यात्ममार्ग लोकसे निरपेक्ष होकर स्वयंके पराक्रमसे - पुरुषार्थसे अंतरंगमें विचरना, वह है। जगतमें पराक्रमीपुरुषको नेतापद पर स्थापित किया जाता है; तब जगत उस पुरुषके पराक्रमका आदर करते हैं और नेता भी उस पदके गौरवका अनुभव करता है, जिसमें लोगोंकी व पुण्यकी अपेक्षा है, जब कि मोक्षमार्गमें अलौकिक (पुरुषार्थका) पराक्रम है, कि जिसमें लोगसे व पुण्यसे निरपेक्ष पुरुषार्थमय सिद्धि है। - यह मोक्षमार्गीका अलौकिक गौरव है। मोक्षमार्गी जीवको भी पुण्योदयसे लोग मानते हैं, बहुमान देते हैं, प्रशंसा करते है, परन्तु खुद उन लोगोंका प्रेमसे - रागसे परिचय नहीं करता। वे प्रशंसा आदिसे निरपेक्ष रहकर अंतरमें विचरते हैं। यदि खुद रागसे परिचय करे (या) पूर्वमें हुए परिचयकी वृद्धि करने जाये / अपेक्षा रखें, तो खुदका (ही) पतन हो जाये। (२०५१)

✻

दूसरा श्रावण वदि-१

मनोविज्ञान (General Psychology) का सामान्य प्रकार ऐसा है कि, जिसमें पूर्वग्रह महत्त्वका

असंख्य प्रदेशात्मक अखण्ड चैतन्यदलमें व्याप्त स्वभावमें, स्व-पनेसे प्रसर जाने पर, स्वभावमयपनेके कारण, पर्याय मात्र मानो जैसे दिखती ही नहीं है - वहाँ पर्यायका कर्तृत्व, या पर्यायको ऐसे करूँ, इत्यादि कहाँसे रहेगा ? निज स्वरूप-महिमा द्वारा व्याप्य-व्यापकभावसे, अपनत्व होनेका पुरुषार्थ कार्यसाधक होता है। स्वभावके ज़ोर (पुरुषार्थ) बिना शुभाशुभ भावोंमे जीव खीचा चला जाता है। क्षणिक पर्यायमें ही पूरा आ जाता है। (८२१)

✵

प्रश्न :- वस्तुस्वरूप, उपदेश इत्यादि स्पष्ट जानने पर भी जीव मूल स्वस्वरूपमें स्व-पना क्यों नहीं करता ? अथवा 'इस कर्त्तव्यको' जानते हुए और चाहते हुए भी क्यों परिणमन नही हो रहा है ?

उत्तर :- सिर्फ जानकारीसे कार्य नहीं होता। आत्मशांतिकी तीव्र जरूरत न लगे, तबतक वर्तमान जानकारीके साथ मानसिक शांति होती है, उसमे ठीकपना रहता है, उसमे जाने-अनजानेमें संतोष रहा करता है, इसलिए स्वरूप सुखकी जरूरत नहीं लगती। इसलिए वहीं पर अटकना हुआ है। स्पष्टताकी विशेषता लगती है।

इसके अलावा सुखका स्वरूप स्पष्ट अनुभवांशसे जाना नहीं है, तथा वर्तमानमे (मिथ्यात्वमें) 'तीव्र दुःख होने पर भी, वह लगता नहीं है।' यदि लगे तब तो दुःखकी वेदनामे, सच्चा सुख मिले बगैर, संतोष या ठीकपना नही होता, (बल्कि) दुःख मिटानेका सहज प्रयत्न अवश्य होता। तब जानकारी कार्यगत् होकर परिणमनरूप होती है। जरूरत बिना पुरुषार्थ नहीं उठता - यह सिद्धांत है। (८२२)

✵

स्वभाव-स्वरूप, यह अवलंबनका विषय है, सिर्फ उसकी जानकारी करनेसे, स्पष्टता होनेसे परलक्षी ज्ञान, आत्मसुखको उत्पन्न नहीं करता। आत्मस्वभावका स्पष्ट ज्ञान, परलक्षी जानने/विचार करनेसे होता भी नही, क्योकि यह अनुभव ज्ञानका विषय है, और इसीलिए स्वभावके अनुभवांश बिना उसका निश्चय यथार्थरूपसे नहीं होता। इतना ही नहीं स्वभाव तो सुखरूप है, और सुख तो वेदनका विषय है - जाननेका / विचार करनेका नहीं। अतः सिर्फ विचारमें इसके स्वादकी स्पष्टता होवे भी कैसे ? अर्थात् हो ही नहीं सकती।

अतः ज्ञानलक्षण द्वारा अर्थात् वेदन अंश द्वारा अनन्तसुखकी खानका पता लगे तो ही त्रिकाली शाश्वत, अनन्त गुणनिधानका मूल्य भासित होवे और स्वभावमेंसे स्वभावका स्वभावके प्रति ज़ोर उत्पन्न होकर अनादि पर्यायका एकत्व छूटकर सुख प्रगट होवे।

सिर्फ विचार करते रहनेसे क्या प्राप्त होगा ? विकल्पकी मुख्यतासे जो जानना होता

(७) असरलता, जिद्दीपना होना या बढ़ना।

(८) अन्यथा अथवा विपरीत तत्त्वके ग्रहणका आग्रह होना।

(९) प्रमादका सेवन करना - अर्थात् निजहितमें उत्साहपूर्वक प्रवर्तन नहीं करना।

(१०) बाह्यसाधन - क्रिया, भक्ति, संयम, स्वाध्याय, एकांतवास, त्याग, वैराग्य, दया, मानसिक शांति, शास्त्रज्ञान, तप, आदिमें संतुष्ट होना, अथवा उपरोक्त भावोंमें शुद्धताका भ्रम रहना।

(११) खुदके दोषोंका पक्षपात / बचाव होना, तदुपरांत खुदको जिसके प्रति ममत्व हो - राग हो उसके दोषका पक्षपात होना।

(१२) प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञानीके उपकारके प्रति कृतघ्नी होना।

(१३) गुण व गुणवानके प्रति आदर न होना।

(१४) उच्चकोटिके सूक्ष्म बोधके प्रति उपेक्षित होना, अथवा अनुभूतिकी ऐसी उच्चस्तरकी बात - इस कालमें या हमारे जैसे लोगके लिए योग्य नहीं, ऐसा अभिप्राय रहना - होना।

(१५) ज्ञानीके वचनमें शंका होना।

(१६) अनेक लोगोंका परिचय बढ़ानेकी वृत्ति अथवा लोकदृष्टिकी मुख्यता रहे, (जिससे परमार्थकी गौणता हो।)

(१७) लौकिक मानकी तीव्रता रहा करे।

(१८) परविषयमें सुखबुद्धिका दृढ़ होना - तीव्र होना, जगतके किसी भी पदार्थ अथवा प्रसंगमें सुखकी कल्पना होना। (२०६३)

❋

ज्ञानसामान्यकी मुख्यतामें ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होनेसे स्वसन्मुखता आती है। इस प्रकार स्वरूपलक्षसे उत्पन्न स्वसन्मुखतामें स्व-वेदन सहजरूपसे उत्पन्न होता है। जो तारतम्यतासे वृद्धिगत होकर स्वसंवेदन / निर्विकल्पता तक पहुँचता है। यहाँ विकल्प शांत होनेका कारण-वेदनमें वस्तु 'प्रत्यक्ष' है। जहाँ ज्ञानका विषय परोक्ष हो, वहीं पर विकल्प सहित ज्ञान प्रवृत्ति करता है, परन्तु जहाँ खुद ही खुदको प्रत्यक्ष हो, वहाँ विकल्पकी आवश्यकता या अवकाश नहीं है। उसमें भी निर्विकल्प - निर्भेद और स्वयं प्रत्यक्ष हो, वहाँ सहज एकाकारता होनेसे, विकल्पकी उत्पत्ति ही न हो - यह बिलकुल स्वभाविक है। अहो ! मार्गकी गंभीरता और गहनता ! अहो ! अहो ! (८२७)

✻

गुरुगम बिना, पात्रता बिना, महान परमागमोंमें प्रतिपादित बोध किस प्रकार है ? कैसी योग्यतावाले जीवके लिए है ? कहाँ पर क्या आशय है ? कहाँ पर कितनी गंभीरता है? कहाँ पर आगमकी कौनसी शैली है ? एक ही ग्रंथकर्ताकी विभिन्न शैली, विभिन्न आगमोंमें होनेके पीछे क्या कारण है ? इत्यादि समझमें नहीं आता, जिसके कारण अन्यथा ग्रहण होनेकी संभावना रहती है और लाभ होनेके बजाय नुकसान होनेकी संभावना रहती है। अथवा विपर्यास हो गया, तो दर्शनमोह और नयी भ्रांति हुई तो बड़ा नुकसान भी हो जाता है। इसलिए सत्पुरुषकी आज्ञा अनुसार, चरण समीपमें आगम-परमागममेंसे श्रुतकी - आत्माकी उपासना कर्त्तव्य है। कौनसा विषय, कौनसे स्तरका, कौनसे स्तरके जीवके लिए है, यह समझमें आये बिना भी अस्थानमें विधि-निषेध हो जानेसे, विपर्यास हो जाता है। (८२८)

✻

स्वभाव और विभावकी पहचान बिना भेदज्ञान नहीं हो सकता, और भेदज्ञान बिना स्वरूपानंदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मात्र स्वरूप चिंतन (भेदज्ञान बिनाका) से मानसिक शांति या आनंदको आत्मानंद या आत्मशांति हुई ऐसा भ्रमसे माननेमें आये, तो गृहीत मिथ्यात्व होता है। अतः स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ द्वारा उत्पन्न शुद्धोपयोगमें, सर्व प्रदेशसे अंतर्मुख अतीन्द्रिय आनंद उत्पन्न होता है, समकालमें मिथ्यात्वका अभाव होता है; इसके पहले और बादमें सविकल्पदशामें, रागका जो कि मानसिक शांति-शाताके उदयरूप होता है, तथा बहिर्मुख भावसे होता है, उसका निषेध वर्तता है, वैसा लक्षण भ्रामकदशामें नहीं होता, अर्थात् जहाँ भ्रम होता है वहाँ आत्मभाव और अनात्मभावको भिन्न करनेकी प्रक्रिया / प्रयोग नहीं होता। फिर भी बुद्धिपूर्वककी भूल / भ्रम हो जाय तो ज्ञान स्थूल हो जाता है। अंतरमें विवेक नहीं हो पाता। सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। (८२९)

स्वस्वरूपका लक्ष एवं अनुभव हुए बिना ज्ञानका झुकाव नहीं बदलता। सहज अंतरकी ओर झुकाव होनेमें ये दोनों अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ है।

ज्ञान सामान्यमें वेदन है, परन्तु ज्ञानविशेष, जो कि ज्ञानका बहिरंग है, उसका अंतरकी ओर झुकाव हुए बिना वेदनका ग्रहण नहीं होता। अतः ऐसी सूक्ष्म विषयक बाबत समझते हुए भी, कृत्रिमतासे काम नही होता, परन्तु लक्ष होनेसे सहज होता है। इसीलिए महापुरुष (श्रीमद् राजचंद्रजी) ने कहा है, कि 'लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदायी'।

संसारकी उत्पत्तिकी घटना भी कैसी है ? ज्ञानकी एक ही पर्यायका बहिरंग, बाह्यदृष्टिके कारण, अपने ही अंतरंगको छोड़कर प्रवर्तता है । अर्थात् ग्रहण नहीं करता ! अरे ! ग्रहण करना भी कठिन लगे । अपनेमें ही अपने सम्बन्धित दुर्लभता । (८३४)

※

प्रश्न :- ध्यान - योगादि प्रयोग करने पर भी आत्म स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- स्थिर - ध्रुव स्वरूपमें एकत्व हुए बिना परिणामोंका अस्थिर भावोंमें अनादि एकत्व - पर्यायबुद्धिके कारण होनेसे स्थिरता नहीं हो पाती। स्थिर ध्रुव तत्त्वके अवलंबन बिना परिणाम स्थिरताको प्राप्त नही होते। अस्थिर भावोंमें अपनत्व सहित जब तक अवलंबन वर्तता है तब तक स्थिरता नहीं आ सकती। ध्रुवके अवलंबनसे सहज स्थिरता होती है - वृद्धिगत होकर पूर्ण स्थिरता प्रगट होती है। प्रथम श्रद्धा द्वारा आश्रय होना चाहिए। (८३५)

※

नवम्बर - १९९१

न्याय, युक्ति, आगमसे आत्मस्वरूपकी जो महिमा आती है, वह ऊपर-ऊपरसे ओघे-ओघे आती है; अर्थात् ऐसे प्रकारसे जगतमें जो-जो वस्तु और कर्मप्रसंगकी महत्ता दे दी है, वह नहीं छूटती परन्तु यदि सचमुच पहचानपूर्वक महिमा आये, तो जगतका महत्त्व छूट जाता है और खुद प्राप्ति न हो तब तक पीछे पड़ जाता है, प्रयत्न छूटता ही नहीं। अथवा स्वरूपकी महिमा उल्लासपूर्वक ऐसी आती है, कि वह कायम रह जाती है - उसकी असरसे छूट ही नहीं सकता। तब फिर अप्राप्तिका कोई कारण नहीं रहता। अवश्य प्राप्ति होती ही है। (८३६)

※

स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ स्वरूपका सीधा प्रतिभास आये बिना नहीं उठता, परन्तु यदि यथार्थ प्रतिभासपूर्वक पुरुषार्थका अंतर्मुखी वेग चालू हुआ, तो छः महिनेके अंदर-अंदर (किसी तीव्र पुरुषार्थवानको तो घंटोंमें) शुद्धोपयोग आ जाता है। यद्यपि स्वरूपलक्ष इस प्रकार होता है,

करना, सिर्फ अनुमान करते जाना - उसका सत्पुरुषोने निषेध किया है। जो वस्तु परोक्ष हो उसका यदि विचार / अनुमान करे तो ठीक है, परन्तु प्रत्यक्ष वस्तुके लिए वैसा होना आवश्यक नही है। इसलिए 'सिर्फ विचार करनेवाला' बहुत - चाहे कितना भी विचार कर ले, तो भी स्वरूप - ग्रहण नहीं होता। परन्तु प्रत्यक्ष अंश द्वारा उस रूप होकर / तन्मय होकर व्याप्य-व्यापकभावसे, प्रसर जानेसे अनुभव संप्राप्त होता है। (८४०)

※

अंतरमें अनन्त पुरुषार्थके सामर्थ्यरूप खानका पता लगनेसे, (अपनेरूप मालूम होते ही), उसका अवलंबन लेनेमें आ जाता है। उसमें अंतर्मुखी पुरुषार्थका परिणमन शुरू हो जाता है, इसलिए वहाँ पुरुषार्थको 'करनेकी' आकुलता और समस्या नहीं होती - नहीं रहती, अतः ज्ञानीपुरुषोंने अनन्त सामर्थ्य-स्वरूपको पहचाननेकी देशना दी है और कृत्रिम पुरुषार्थका निषेध किया है। स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यकी दृष्टिमें, पर तरफके आंशिक परिणामका जोर नहीं रहता· टूट जाता है, और जो सहज पुरुषार्थ वर्तता है, वह भी एक समयकी पर्याय होनेसे, उसकी भी गौणता ही रहती है। पर्यायमात्रकी गौणता द्रव्यदृष्टि होनेसे हो जाती है। पर्यायका एकत्व ही मिथ्यात्व-मूल है। इसलिए उसका - एकत्वका अभाव करनेके हेतुसे, पर्यायका निषेध किया जाता है। उसमें पर्यायका अभाव करनेका हेतु नहीं है। यद्यपि विभावके निषेधमें विभावका नाश करनेका हेतु है, और विभावके एकत्वको भी मिटाना है - इस तफावतमें भूल नहीं होनी चाहिए। (८४१)

※

स्वरूप प्रत्ययी पुरुषार्थ, रुचि या भावनाके बिना तत्त्वकी बात, चर्चा, श्रवण आदि सब मनोरंजन अथवा विषय सेवनवत् हो जाता है। अतः मुमुक्षुजीवको तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिमे अपने भावोंकी जाँच करनी चाहिए, वरना स्वयंको छोड़कर, यह प्रवृत्ति कि जो बाह्य विषय यानी कि बहिर्मुख भावका विषय है, वही वंचनाबुद्धिसे चलती रहेगी; उसीकी (बाह्य प्रवृत्तिकी ही) मुख्यता रहेगी। परन्तु बाह्य प्रवृत्तिके काल भी बाह्य प्रवृत्तिकी गौणता और स्वरूपकी मुख्यता रहनी चाहिए, तो ही तत्त्वरुचि है। अंतरतत्त्वकी रुचि होती है वहाँ शुरुआतसे पर्याय गौण हो जाती है। फिर भले ही पर्यायमें प्रतिक्षण विकास सधता हो तो भी, इस पद्धतिसे, वह गौण ही रहती है। इसलिए यह यथार्थ पद्धति है। (८४२)

※

ज्ञानदशामें ध्रुवतत्त्वकी जागृतिमें शरीरादि अनित्य संयोग स्वप्नवत् भासित होते हैं। जैसे स्वप्नका कोई मूल्य नहीं है, वैसे ध्रुव निज स्वरूपके आगे, संयोगोंका कोई मूल्य नहीं है।

समझमें आये, इसके उपरांत (३) अध्यात्मबोधके सिद्धांतोंके यथार्थ ग्रहणपूर्वक तद्अनुसार पुरुषार्थ और प्रयोग चले तो अवश्य आत्महित होवे, यानी कि प्रथम आत्महितके लक्षसे कषायरस और दर्शनमोहका अनुभाग कम हो, तो आत्मार्थीतामें स्वच्छंद निरोधरूपसे सिद्धांतबोधका ग्रहण, उपदेशके अनुरूप होगा। अर्थात् सिद्धांत ग्रहण होनेमें कल्पना या विपर्यास नहीं होगा। अथवा स्वरूपनिर्णय करनेके लिए प्रयोगकी कसौटीपूर्वक आगे बढ़ेगा, सिर्फ तर्क, अनुमान या युक्तिके आधारसे निर्णय नही करेगा, परन्तु यदि भेदज्ञानके प्रयोगपूर्वक स्वरूपनिर्णय हुआ, तो अध्यात्म अथवा स्वरूप आश्रयरूप सम्यक्एकांतको प्ररूपित करनेवाले सर्व सिद्धांतोका अविरोधरूपसे अवगाहन होकर, आत्महित सधता है। (८४६)

✻

सिद्धांतज्ञानमें अनेक सिद्धांत और भेद-प्रभेदका निरूपण है। उसमें सिर्फ जानकारी हेतु (विपर्यास नहीं हो जाय उतना ही प्रयोजन होनेसे) और वजन नहीं देनेमे आ जाये इसके लिए कौनसे सिद्धांत और वजन अथवा ज़ोर देने योग्य (अवलंबन लेनेके लिए) कौनसे सिद्धांत है, उसकी छँटनी होनी चाहिए। वरना जानकारी सही होने पर भी वज़न देनेकी भूल हुई तो, पूरी भूल होकर विपरीतता हो जाती है।

दृष्टांत : क्रमबद्ध पर्याय सम्बन्धित है। उसमें पर्यायकी क्रमबद्धता सिर्फ जाननेका विषय है। जिसका ज़ोर (अवलंबन) ज्ञायक पर होता है, उसको (पर्यायकी उपेक्षा होकर) इसकी क्रमबद्धता उपेक्षाका कारण होती है। वैसे ही भेद-प्रभेद सिर्फ जानकारीका विषय है। अवलंबन/आश्रय तो अभेदका रहे और वह तो सिर्फ जानकारीके लिए होना चाहिए।

छद्मस्थ अवस्थामें, गुणभेद और पर्यायभेद, वस्तुके अंग होने पर भी, लक्ष जानेसे विकल्प/रागकी उत्पत्तिका कारण होते है, इसलिए उक्त नीति (वज़न नहीं देनेकी) यथार्थ है। (८४७)

✻

मार्गका-परमार्थका रहस्य ढूँढ़नेके लिए प्रयासवंत जीव प्रायः आगम और आध्यात्मिक साहित्यका परिचय करके समय और शक्तिका व्यय करते हैं, जब कि कोई श्रवण और ध्यानादि क्रियाके पीछे समय - शक्तिका व्यय करते है। परन्तु प्रत्यक्ष सत्पुरुषके बिना (पूर्व संस्कारी आत्माको छोड़कर) बीजज्ञानकी प्राप्ति किसीको नहीं हुई है। यद्यपि सत्पुरुषकी पहचान होकर, परमेश्वरबुद्धि आना वह प्रथम बीजज्ञानका भी बीज है। इस बीजके बिना उद्धार नहीं है। ऐसा लक्षगत् हुए बिना, जीव जो भी व्यय करता है वह यथार्थ विवेक रहित प्रयास है। वास्तवमें उसको परमार्थकी अंतर जिज्ञासा हुई है, ऐसा कहना भी मुश्किल है। यदि प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी

मुमुक्षुजीवको आत्महितके / परमार्थके मार्ग पर चढ़नेके लिए एक ही रास्ता है और गिरनेके या गोते खानेके अनेक स्थान हैं, ऐसी स्थितिमें श्रीगुरुने करुणा करके महासिद्धांतका प्रदान किया है।

'पूर्णताके लक्षसे शुरूआत' करनेकी आज्ञा की है।

इस वास्तविकताका उल्लंघन करके कोई भी जीव परमार्थमें आगे नहीं बढ़ सकता, इतना ही नही यह मार्गदर्शन मुमुक्षुकी सर्व समस्या और उलझनोंका उकेल लानेमें समर्थ और पर्याप्त है। पूर्णताके ध्येयसे / लक्षसे शुरूआत करनेवाला सुरक्षित हो जाता है। अर्थात् ध्येय विरुद्ध भावमें जागृत्ति आ जानेसे, वहाँसे पीछेहट हो जाती है।

जिसका साध्य सच्चा, उसका साधन सच्चा - इस न्याय अनुसार, पूर्णताका ध्येय सर्वांग श्रेष्ठ होनेसे, उसका साधन भी तद्अनुसार और तद्अनुरूप उत्पन्न होता है। उसीको सम्यक्त्व कहा है। (८५१)

※

सर्व शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष सद्गुरु-योगका महत्त्व गाया है, जो कि अनुभवपूर्ण हकीकतकी प्रसिद्धि है। मुमुक्षुजीवको परमार्थ प्राप्तिके लिए वह परम आधार है; इस विषयमें परमकृपालुदेवका निम्न वचनामृत बहुत मार्मिक है।

"स्वरूप सहजमें है। ज्ञानीके चरणोंकी सेवाके बिना अनन्तकाल तक भी प्राप्त न हो ऐसा विकट भी है।" (वचनामृत - ३१५)

जीव खुद विपर्यास छोड़ दे तो सहजात्मस्वरूपकी प्राप्ति भी सहजमें ही है। परन्तु ज्ञानीके चरण-सेवनसे सर्व विपर्यासका मिटना संभवित है, वरना मिटनेके बजाय प्रायः मानादिक बढ़नेकी संभावना रहती है। अथवा खुदको ही लक्षमें नहीं आये उस प्रकारके दोष और अज्ञानकी स्थितिमें, सद्गुरु आज्ञा अनुसार चलनेसे सहजमात्रमें ही दोष टलना संभवित है, ऐसा जानकर, सर्व प्रकारसे परिमार्जन करनेवाले श्रीगुरुका मूल्य करनेके लिए जगतमें कोई पदार्थ नहीं है। (८५२)

※

ज्ञान-सामान्य, आबाल-गोपालको, सदा लक्षणरूपसे मौजूद है। इसलिए 'अज्ञानी हूँ' ऐसी उलझन मिट जाती है। अज्ञानीको लक्षणसे स्वभावकी पहचान कराकर, श्रीगुरुने स्वभाव-दर्शन करवाया है, बीजज्ञान दिया है।

यहाँ पर शायद ऐसा प्रश्न हो सकता है कि, ज्ञानमात्र ऐसा ज्ञानसामान्य सम्यक् है या मिथ्या ? अज्ञानीको तो मिथ्याज्ञान होता है ? उसमें स्वभावगत् लक्षण कैसे संभवित है?

प्रतिकूल हो जाये या शरीर छूटनेका प्रसंग आ जाये, तो भी धर्मात्माको भय नहीं होता, तथापि वे मार्गसे या सिद्धांतसे विचलित नहीं होते। अंदरमें शाश्वत, अव्याबाध स्वरूपका अवलंबन होनेके कारण, ज्ञानी अभेद आत्मगढ़में निर्भय है। पूर्ण ऐश्वर्य और आत्मसंपदावान होनेके कारण, उन्हें कहीं पर भी दीनता नही होती। (८५६)

✻

उपदेश अनुसार अमुक कार्य करने चाहिए अथवा अमुक नहीं करने चाहिए - यह सब जाननेका विषय है। परन्तु उसमें हेय-उपादेयकी विवक्षा होनेसे, उसके ऊपर ज़ोर / वज़न देनेमें नहीं आ जाये, यह स्वरूपके ज़ोरवाले साधकके लक्षमें रहता है, परन्तु जिसका लक्ष / ज़ोर पर्याय पर होता है, वैसे जीवको ऐसी उपदेश पद्धतिसे, उलटे और कर्तृत्वकी दृढ़ता हो जाती है। इस प्रकार अनजानपनेके कारण भी यथार्थ विधिसे वंचित रहना हो जाता है। और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी समझ अनुसार जीव कृत्रिम प्रयत्न अथवा कर्ताबुद्धिसे परिणामको सुधारनेका प्रयास करता है, जो कि यथार्थ नहीं है।

पुनः उपदेश / आदेशकी भाषाका प्रकार भी ऐसा होता है, कि तथारूप कर्त्तव्य पर वज़न रहनेका संभव है। फिर भी 'व्यवहार उस वक्त जाना हुआ (अवलंबन नहीं लिया हुआ) प्रयोजनवान है,।' - ऐसा जो शास्त्र वचन है, उसका लक्ष रखकर, उपदेशका अवधारण कर्त्तव्य है, अन्यथा पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जायेगी। (८५७)

✻

निश्चय आत्मस्वरूप अवलंबन लेने योग्य है। वह अवलंबन स्वरूप प्रत्ययी ज़ोर / पुरुषार्थ द्वारा लिया जाता है। प्रयोजनकी सिद्धि इसप्रकारके पुरुषार्थ आधारित है।

आत्मस्वरूप अनन्त सामर्थ्यवंत है। उसके स्व-रूप ज्ञानमें तथारूप आत्मबल उत्पन्न होना सहज और स्वाभाविक है।

ऐसे पुरुषार्थके ज़ोरमेंसे निकले हुए ज्ञानी धर्मात्माके वचन निश्चय प्रधान होते हैं, उसमें पुरुषार्थकी तीखाश होती है। जिसका परम प्रेमसे आदर कर्त्तव्य है, सत्कार करने योग्य है। इसके द्वारा आत्मरुचि और आत्मबलको वेग मिलता है।

ऐसे वचनके प्रतिपक्षरूप व्यवहारके विषयकी अपेक्षामें स्वरूप प्रत्ययी ज़ोर टूट जाये, ऐसा नहीं होना चाहिए। समझके विपर्यासकी वजहसे, वैसा अपेक्षाज्ञान पुरुषार्थको रोकता है, ऐसा समझने योग्य है। भले ही वैसा अपेक्षाज्ञान सिद्धांत विरुद्ध नहीं हो, फिर भी उसमें पुरुषार्थकी विरुद्धता हो जाये - ऐसा विपर्यास है। सच्चा ज्ञान तो वही है, कि जो पुरुषार्थको उत्पन्न करे या वृद्धि करे। ज्ञानका विपर्यास तो सम्यक्त्वको रोकता है। (८५८)

दोष नहीं है, गुण स्वभाव है। परन्तु ज्ञेयोंके भेदसे अभेदज्ञानमें भेद मालूम होना - अनुभवमें आना वह दोष - भ्रांति है। जो विकल्पको उत्पन्न करती है। अभेद ज्ञानमें भेदकी कल्पना हुई, वहींसे सूक्ष्म भूल (मिथ्यात्वकी) हुई। यह जानकारीकी भूल नहीं है, परन्तु अनुभवकी भूल है। फिर एक भूलमेंसे अनेक भूलकी परम्परा होती है। भ्रांतिसे जीव पहली सीढ़ी चूकता है, जिसमें अपने मूल स्वरूपका अन्यथा अवधारण करता है। इस स्थितिमें अमाप भूल होनेका अवकाश है। (८६४)

※

ज्ञेयोंके आकारसे तभी रागादि विकार नही होते, कि जब ज्ञानानुभूतिमें रहना होवे। (८६५)

※

परिणाम अंतर्मुख कैसे हो ?

ज्ञान (स्वलक्षसे) ज्ञानका (स्वयंका) वेदन करे, तब उसमें परिणाम (ज्ञानकी बहिर्मुखता छूटकर) अंतर्मुख होते है। (८६६)

※

क्रोध - प्रीति एवं प्रिय वस्तुका नाश करता है।

मान - विनयका नाश करता है।

माया - मित्रताका / विश्वासका नाश कर देती है।

लोभ - सर्व गुणोंका नाश करता है। (प्र. रति. प्र-२५ दश वै ८/३७) (८६७)

※

* मुमुक्षुका साधना क्रम :
  * पूर्णताके लक्षसे, तथाप्रमाण भावना और लगन।
  * भावना और लगनपूर्वक सुविचारणा, अवलोकन और अपूर्वजिज्ञासा।
  * अवलोकनके अभ्याससे स्वभावका भावभासन।
  * भावभासनके कारण स्वरूप महिमा।
  * अपूर्व स्वरूपमहिमा द्वारा स्वसन्मुख रहकर पुरुषार्थ।
  * स्वसन्मुखताके पुरुषार्थ सहित भेदज्ञान, अभेद वेद्य-वेदकपने।
  * भेदज्ञानके फलस्वरूप स्वानुभूति। (८६८)

(मार्ग प्राप्तिकी सप्तपदी)

※

जानेसे वांचन-श्रवणादिमें अटक जाता है, प्रायः बुद्धिपूर्वककी भूल विधिके विषयमें करता है। इसलिए बहिर्मुखतासे छूटकर अंतर्मुख नही हो सकता। मुमुक्षुकी भूमिकाकी यह एक बड़ी विपत्ति है। अतः बाह्य साधनमें प्रवर्तते हुए भी, बाह्य भावोंका निषेध सहज होना चाहिए, वरना बाह्यभावोंका रस और महिमा होने लगेगी, अथवा अभिप्रायकी भूल सहित बाह्य प्रवृत्ति चलेगी। यथार्थ क्रमकी शुरूआत करनेवालेको ऐसी विपत्ति नहीं होती। इसलिए क्रमका महत्त्व बहुत है - और क्रम विपर्याससे विपत्ति भी बहुत है। (८७५)

※

जैसे ऊपरके गुणस्थानमें - देशविरत और सर्वविरत प्रतिज्ञाबद्ध हुए बिना, स्वरूप स्थिरता प्राप्त नहीं होती, सविकल्प प्रतिबंध मिटता नहीं, अर्थात् सविकल्प निर्बलता चालू रहती है, वैसे 'पूर्णताका ध्येय' बाँधे बिना यथार्थरूपसे अवलोकन - प्रयोगादि नहीं हो पाते, चालू नहीं रह सकते। तथापि 'सच्ची मुमुक्षुता' प्रगट ही नहीं होती। जिसके कारण आत्म-कल्याण साधनेमें अनेक प्रकारसे संभवित भूलें रह जाती है। (८७६)

※

पूर्णताके ध्येयपूर्वक शुरूआत किये बिना, प्रायः तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेमे जीव भेदबुद्धिमें खड़ा होनेसे, भेदोकी जानकारी करके, परलक्षी ज्ञानमें, जो कुछ धारणा कर लेता है, उसमें अभेदका प्रतिभास / लक्ष नहीं हो सकता। अभेदवस्तुकी जो धारणा कभी होती है, वह कल्पनारूप होती है, यानी कि वास्तवमें खुदका अभेद स्वरूप जाननेमें आता ही नहीं। उसका कारण क्रमविपर्यास है। अथवा वास्तविकरूपसे शुरूआत नहीं होनेसे, भूमिकामें यथार्थताका अभाव है, पहचान नहीं होती, नहीं हो सकती। (८७७)

※

दर्शनमोहका यथार्थ प्रकारसे गलना होवे, उसमे सत्पुरुषके प्रति भक्ति सबसे सुगम कारण है। धन्य हैं वे, और परम उपकार है, वैसे सत्पुरुषका कि जो मुमुक्षुजीवको निष्कारण करुणा द्वारा सन्मार्ग पर चढ़ाते हैं।

दर्शनमोहकी मंदता भी जीवको अनेकबार हो चुकी है, परन्तु यथार्थ प्रकारसे नहीं हुई - 'ज्ञानीकी आज्ञानुसार नहीं हुई।' जिसके कारण अभावको प्राप्त होनेके पहले वृद्धिगत होकर जीव संसार परिणामी हुआ है। आत्महितकी सावधानीमें यह महत्त्वपूर्ण बात है। जिसको 'ज्ञानीकी आज्ञा पर' चलना है, वह सबसे बड़े दोषसे - स्वच्छंदसे बच जाता है और क्रमशः सर्व दोषसे मुक्त होता है। (८७८)

※

'सरलता' से ही सधता है। विरोध जाननेवालेको सरलताका अभाव है।

* आगम-अध्यात्मके बीच विरोध, असरल परिणामके कारण लगता है - यह पारमार्थिक असरलता है, जो कि छोड़ने योग्य है।

* सरलतापूर्वक सत्संग होता है तो ज्ञानीको पहचान सके वैसी योग्यता प्राप्त होती है। सत्य / गुण / तत्त्वका ग्रहण होना सुलभ होता है।

* सरलता स्व-पर कल्याणक है, असरलता स्व-पर कल्याणमें बाधक है।

* यह उपयोगकी सरलता है, कि अंतरमें रागको नहीं स्पर्श करते हुए - तिर्यक् / तिरछी गति नहीं करके - सरलतापूर्वक, अंतर्मुख होकर खुदको ग्रहण करे। असरलता अंतर्मुख होनेमें बाधक है।

* सरलता बिना मुमुक्षुता शून्य है।

* पर्यायबुद्धि असरलताका मूल है।

* त्रिकाली भगवान आत्माकी अधिकताको छोड़कर, एक समयकी पर्यायको या शुभाशुभ उदयको महत्त्व देना - वह परमार्थसे असरलता है।

* सत्य श्रवण होनेके पश्चात् भी यदि जिनदेवकी आज्ञाकी अवहेलना होती हो उसमें सरलता कहाँ रही ? (८८०)

जनवरी - १९९२

यदि पर्यायके षट्कारकका स्वीकार करनेमें नहीं आये तो स्वसंवेदनमें वेद्य-वेदकभावका अभाव हो जाय। परन्तु स्वसंवेदन तो वेद्यवेदक भावरूप प्रत्यक्ष है। और उसमें वेदकरूप - कर्तारूप कारक जो पर्याय है - वही पर्याय वेद्यरूप - कर्मरूप कारकके रूपमें है। उसमें वेदन करनेवाला ज्ञान स्वयं ही वेदनमें आता है। अतः पर्यायके कारकके अस्वीकारकी श्रद्धामें, स्वसंवेदनका अस्वीकार होता है, और स्वसंवेदनरूप स्वानुभवके अस्वीकारमें, आत्माका ही अस्वीकार है अथवा घात है। स्वसन्मुखता वेद्य-वेदकभावसे शुरू होती है। (८८१)

✻

ज्ञानी और मुमुक्षु अंतर परिणामकी निवृत्ति हेतु बाह्य निवृत्तिको चाहते हैं। परन्तु वह पूर्वकर्म अधीन है, फिर भी प्रवृत्तिकी प्रतिकूलतामें पुरुषार्थवंत रहकर ज्ञानी / मुमुक्षु स्वकार्यको साधते रहते है।

कोई-कोई तीव्र पुरुषार्थी धर्मात्मा तो वैसे प्रसंगमें, निवृत्तिकालसे भी अधिक निर्जरा करते है। अतः उनको तो पारमार्थिक दृष्टिसे प्रतिकूलता ही विशेष अनुकूलता बन जाती है। यथार्थ

सत्पुरुषोंकी अंतर आचरणारूप चारित्र-परिणतिका अवलोकन करना - वह दर्शनमोह टूटनेका और आत्मभावना-वृद्धिका कारण है। ज्ञानीपुरुष भी वैसा करते है - जिससे मुमुक्षुजीवको बोध लेने जैसा है। (८८६)

※

धारणा और विचारमें निज स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार परद्रव्य और परभावको, इसकी भिन्नता होने पर भी जीव ग्रहण करके उपाधि भोगता है, वैसे स्वद्रव्यको लक्षण द्वारा-वेदन द्वारा ज्ञानमें स्वके रूपमें ग्रहण करने पर अनुभव हो सकता है। इसलिए निमित्त, राग, परलक्षी उघाड़, धारणा - इत्यादिकी अपेक्षा छोड़कर निजावलोकनमें आना चाहिए। रुचि द्वारा पदार्थका ग्रहण होता है। (८८७)

※

दोम - दोम साह्यबी - वैभव जिसके पास है, उसको दीनतापूर्वक भीख माँगनेकी जरूरत नहीं होती, वैसे जिसके प्रदेश-प्रदेशमें अनन्त अनन्त, अपार सुख भरा है, उसको कहीं ओरसे सुखकी अपेक्षा क्यों होगी ?

सर्वज्ञ-वीतरागके इस वचन पर विश्वास नहीं है क्या ?!

अंतरसुख चाहे कितना भी भोगनेमें आये, फिर भी आत्मा अक्षयपात्र है। कम भी नहीं होगा। इसलिए हे जीव ! प्रमुदित हो !! प्रमुदित हो !! (८८८)

※

स्वरूप प्राप्तिकी भावना-रुचि जिसे हो, उसे स्वानुभवके लिए निज अवलोकन द्वारा, भेदज्ञान (प्रयोगात्मक) करना चाहिए।

भेदज्ञान है सो स्वरूपके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेकी प्रक्रिया (Process) है। विचार, धारणा वह अनुभव होनेकी प्रक्रिया नहीं है। इसलिए साधनकी भूल नहीं होनी चाहिए। कल्पना नहीं होनी चाहिए। - यह अनुभवी महात्माओंका वचन है। (८८९)

※

प्रश्न :- स्वरूपमहिमा कैसे आये ?

उत्तर :- आत्मामें अनन्त सुख और सुधामय शांति अनन्त- अनन्त भरी है। इससे आत्माकी महिमा है। महिमा होनेका यह मुख्य कारण है। इसीलिए स्वरूपके अनुभवसे जो महिमागर्भ होता है, वह अन्यथा नहीं होता। महिमा विचारका विषय नहीं है, परन्तु वेदनका विषय है। इसी वजहसे श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यदेवने कहा है, कि 'आत्मानुभव 'गम्य' एक महिमा' (स. कलश-१२) अर्थात् स्वरूपके सुखानुभवसे जो महिमा आती है, वह अद्वितीय होती है। यह सुखरस-

वह वेदनका विषय है (विचारका विषय नहीं है।) अतः उस विषयमें तो जीव प्रवेश होनेके पहले बिलकुल अँधेरेमें ही खड़ा है, फिर भी अभेदकी कल्पनामें यदि यथार्थता लगे तो गृहीत मिथ्यात्वमें आकर, मिथ्यात्व दृढ़ करता है। इसीलिए सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेकी शिक्षा दी गई है। उसमें बहुत गंभीरता और ज्ञानियोंकी करुणा-अनुग्रह समाविष्ट है। (८९४)

✳

जैसे देहकी गंभीर बिमारी होती है तो, मनुष्य शीघ्र ही कुशल डॉक्टरके पास जाकर, डॉक्टरकी संपूर्ण ताबेदारीका स्वीकार करके वर्तता है। वैसे ही जिस आत्मार्थी जीवको भवरोगकी गंभीरता भासित होती है, वह सत्पुरुषकी आज्ञारुचि पूर्ण भक्तिसे उपासना करता है। यदि ज़रा सा भी स्वच्छंद या निजमतके आग्रहका सेवन नहीं करता हो, तो उसे आज्ञारुचिरूप समकित जानने योग्य है। यह प्रकार सत्पुरुषकी पहचानपूर्वक बहुमान द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिए वहाँसे आत्मार्थ समझमें आता है, और स्वरूपकी पहचान - स्पष्ट अनुभवांशसे होकर, परमार्थ सम्यक्त्वकी समीपता होती है। मार्गप्राप्तिका यह क्रम अनन्त ज्ञानियों द्वारा अनुभव पूर्णतापूर्वक विहित है। इसलिए मुमुक्षुजीवको निःसंदेह होकर उसका सेवन करने योग्य है। (८९५)

✳

ज्ञान स्वयंका अवलोकन करे अर्थात् स्वयंके अनुभव पर उपयोग देवे, कि जिसके कारण परप्रवेशभाव मिथ्या लगे, - पर / रागके वेदनरूप अध्यास / भूल भासित हो तो भूल छूटे, अनुभव सम्बन्धी भूल मिटे। सच्ची समझ इस प्रकारसे होनी चाहिए।

स्वरूप-निश्चयके लिए स्वभावकी खोजके उद्देश्यपूर्वक अवलोकनका प्रयोग-अभ्यास होना आवश्यक है।

सूक्ष्म अनुभवदृष्टिपूर्वक ज्ञानसामान्यके अवलोकनमें प्रसिद्ध / प्रगट स्वसंवेदन द्वारा ज्ञानस्वभाव लक्षमें आता है, स्वभावकी निर्विकल्पता, प्रत्यक्षता, निर्विकारता आदि भासित होते है। अनन्त सुखादि अनन्त सामर्थ्यके अस्तित्व ग्रहणसे स्वरूप महिमा उमड़ पड़ती है, अत्यंत आत्मरसको यहाँ सुधारसकी संज्ञा मिलती है। तदुपरांत स्वसन्मुखी पुरुषार्थ शुरू होता है - यह स्वरूप निश्चयकी विधि और यथार्थ परिणमन है। स्वरूप निश्चय होनेके पश्चात् - सर्व परिणाम स्वरूपलक्षपूर्वक ही होते है। परिणामोंमें शुभाशुभ भावोंका महत्त्व नहीं है, परन्तु लक्ष किसके ऊपर है ? तद्अनुसार आराधना-विराधनाका आधार है। स्वानुभव, स्वरूपके उक्त निश्चयके साथ प्रतिबद्ध है। (८९६)

✳

करने योग्य है। पुनः अंतर्मुख परिणमनमें अनन्त सर्व गुण स्वरूपमें एकाग्रतापूर्वक व्याप्य-व्यापक होकर प्रवृत्ति करते है। उनको अन्य कोई अवलंबन नहीं है। (९००)

✻

सहजता दो प्रकारसे है, स्वाभाविक और अस्वाभाविक। जिस प्रकारके शुभाशुभ परिणाम अनेकबार होते हैं, उससे जीव उसका आदी हो जाता है, तब जीवको वैसे परिणाम सहज हो रहे है, ऐसा लगता है। परन्तु दोष जीवका स्वभाव नहीं होनेसे, वह वास्तवमें सहजता नहीं है, बल्कि कृत्रिमता है। जब कि निर्दोषता जीवका सहज स्वभाव होनेसे, पूर्णताके लक्षसे सहजताकी शुरूआत होती है और स्वरूपलक्ष होते ही, सहज परिणति और सहज उपयोग होता है। सहजता होती है, वहाँ थकान नहीं लगती, कृत्रिमता होती है, वहाँ थकान लगती है। ज्ञानीका जीवन - परिणमन सहज होता है। ज्ञानी कृत्रिमताके निषेधक है। कृत्रिमतासे लोकसंज्ञाका आविर्भाव होता है अथवा पुष्टि होती है, उससे कोई गुण नहीं होता। (९०१)

✻

सत्‌के सच्चे जिज्ञासुको पूर्वग्रह छूट जाता है। मिथ्या आग्रहरूप पूर्वग्रह पात्रताका दुश्मन है। इसी वजहसे आत्मार्थी कभी मताग्रही नहीं होते। जिसको सिर्फ आत्मा ही चाहिए, उसको अनात्माका - दोषका आग्रह-पक्ष कैसे हो सकता है ?

जो जीव पूर्वग्रह / मिथ्या आग्रह नहीं छोड़ते है, वे वास्तवमें जिज्ञासु नहीं है। इसलिए प्रथम तो वे जिज्ञासामें आये, यही कर्त्तव्य है। वैसे जीवको सीधा विधि-निषेधसे उपदेश या आदेश देना योग्य नहीं है। ऐसा करनेसे बहुभाग विपरीत परिणाम आता है। (९०२)

✻

सनातन सन्मार्गके प्रवर्तक और प्रभावक महात्माओंने हमेशा निस्पृही एवं निरपेक्षवृत्तिसे प्रवर्तन किया है। उसमें जितनी कसर रही, उतना शासनको नुकसान हुआ है। जिन्हें कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है, वैसे ज्ञानी धर्मात्माको स्पृहा या अपेक्षा कैसे हो सकती है ? सिर्फ निष्कारण कारुण्य - सहज वृत्तिसे उनका प्रभावना उदय होता है। अंतर आराधनाकी मुख्यतापूर्वक वह भी गौण है, यह उनकी विशेषता है। (९०३)

✻

विधिका विषय धारणाज्ञानमें नहीं आ सकता, क्योंकि वह अनुभवज्ञानका विषय है। इसलिए परलक्षी ज्ञानवाले जीव उसे कहनेमें असमर्थ है, या सुनकर ग्रहण करनेमे असमर्थ है।

अनुभवी ज्ञानी धर्मात्माकी वाणीमें स्वरूप प्राप्तिकी विधिका विषय कथंचित् वचनगोचर होता

होनेसे - उस सहज विकल्पके नाशका उपाय खयालमें होनेसे, असमाधान भी नही होता। विकल्प मिट नही रहा है, ऐसा असमाधान विकल्पके एकत्वके कारण रहता है; (अज्ञानतामे)। (९०८)

※

सर्व धर्मात्माएं एक ही परमतत्त्वकी महिमा करते है, और उस परमपदको एक ही विधिसे प्राप्त करते है, इसलिए सर्व एक ही बात करते है। फिर भी किसीको अमुक कथनकी रीत-शैली रसकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत होती है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। परन्तु कोई धर्मात्माकी शैली बराबर नहीं है, ऐसा कभी नहीं लगना चाहिए। फिर भी ऐसा कहीं पर लगे, तो वह यथार्थ नहीं है। उसमें भाषाका मोह है। यदि भावकी समझ हो तो भावके आकर्षणमें भाषाकी मुख्यता नहीं होती। भाषाका राग - वह पुद्गलका राग है। जो द्वेष सहित होता है - यानी कि किसी भी धर्मात्माकी शैलीके प्रति अरुचि होना, वह महा अपराध है। उसे कोई शैली अच्छी लगती हो, तो भी उसमें यथार्थता नहीं है। (९०९)

※

परसे शून्य होनेसे, परमेंसे सुख या कुछ और, खुदको लेना तो है नहीं, अतः परकी चिंतवना भी व्यर्थ ही है। स्वयं अनंत सुखसे भरपूर होनेसे, स्वयं ही सुखधाम है। दुःख - आकुलतासे रहित होनेके लिए, संक्षेपमें इस परमार्थका सेवन कर्त्तव्य है। (९१०)

※

साधना मात्र बुद्धि / विचारसे साध्य नहीं है। यद्यपि उसका मूल `अंतरकी भावना'में रहा है। फिर भी वास्तवमें वह प्रयत्न साध्य है। अंतरंग भावनाके बगैर जीव विचारमे अटकता है अथवा विचार द्वारा स्वरूपकी प्राप्ति करना चाहता है, परन्तु वैसा होना अशक्य है। अंतरकी भावना / रुचि जीवको प्रयोग - प्रयत्नमें लगाती है। तथा प्रयत्नवंत जीवको प्रयत्नके कालमें आराधना कैसे करनी ? उसका प्रयोग (- विधि) समझमें आती है। इसके सिवा आराधनाकी रीत समझनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। फिर भी अन्य उपाय करनेवाला जीव विधिकी भूल करता है। अर्थात् कल्पित उपाय करके गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाता है। और सच्ची-वास्तविक रीतिसे दूर हो जाता है। ऐसी भूल ऊपर-ऊपरकी भावनावाले जीवको होना संभवित है। (९११)

※

श्रद्धा और ज्ञानके बीच अत्यंत मैत्री है। अर्थात् घनिष्ट निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथा :

* ज्यों-ज्यों ज्ञानमें भावभासन होता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह शिथिल होता जाता है,

गुप्त रहते है। स्वधर्मकी मुख्यता होनेसे उसमें अविवेक नहीं होता। संप्रदायमेंसे आये हुए जीवोंमेंसे पात्रतावान जीवको प्रोत्साहन देनेसे नीतिकी रक्षा होती है। मूल सिद्धांतकी रक्षा होने पर ही आत्महित होता है, ऐसी कार्यपद्धतिका आयोजन संप्रदायके लोगोंके बीच रहकर करने जाये तो उसमें अनेक प्रकारसे रूढ़िवादियों द्वारा अवरोध होनेके प्रसंग खड़े होते है। परिणामतः शांतिके रास्ते पर चलनेवाला सामाजिक प्रवृत्तियोंसे दूर हो जाता है, कोई निडर और हिम्मतवान पुरुष क्रांति फैलाकर, अध्यात्ममार्गका प्रचार कर सकता है, वहाँ पुण्य और पवित्रताका सुमेल होना जरूरी है। (९१४)

※

मुमुक्षुजीवका जीवन ऐसा होना चाहिए कि, उसके सहवास / समागम द्वारा अन्य मुमुक्षुके भावमें - अंतरंगमें निर्मलता हो या निर्मलतामें वृद्धि हो। - यह प्रकार स्व-पर हितकारी है। सर्व ज्ञानीपुरुषोंकी यह शिक्षा परम आदर करने योग्य है। ऐसा होनेमें कृत्रिमता नहीं हो, यह लक्षमें रखने योग्य है। (९१५)

※

वर्तमानमें धार्मिकक्षेत्रमें देव, गुरु, शास्त्रकी महिमा जीव करते हैं, जो प्रायः ओघसंज्ञासे होती है। (जिसे) आत्मकल्याणकी सच्ची भावना होती है, वह तो प्रत्यक्ष सत्पुरुषको ही खोजता है।

ओघसंज्ञावानको सत्पुरुषका - उनकी विद्यमानताका महत्त्व लक्षमें नहीं आता है। इतना ही नहीं, उस विषयमें समझानेवाले मिलने पर भी लक्ष नहीं जाता है, वहाँ ओघसंज्ञा, लोकसंज्ञा और असत्संगके कारण दर्शनमोहकी बलवत्तरता समझने योग्य है। आत्मार्थी जीवको वैसा नहीं होता।

धर्मप्रवृत्ति होते हुए भी आत्मार्थीता नहीं होनेसे ही, प्रत्यक्ष सत्पुरुषके विषयमें खोज करने जितना भी लक्ष नहीं जाता और परिणामतः जीव स्वच्छंदपूर्वक प्रवृत्ति करता है। जिसके कारण दर्शनमोह बढ़ जानेसे कल्याणके बजाय अकल्याण होता है। (९१६)

※

ज्ञान (मोक्षमार्गमें) श्रद्धा अनुसार स्वरूपकी आराधना करता है, वह ज्ञानका मुख्य कर्त्तव्य है। परन्तु मुमुक्षुकी भूमिकामें सत्पात्रता आये बिना, अनादि विपरीत श्रद्धा स्वरूप सन्मुख नहीं होती। यह ज्ञान, विवेककी भूमिकामें, आचरण, पुरुषार्थ, इत्यादि अनेक गुणोंके कार्योंको और कार्य-पद्धतिको समझकर, विवेक (अंतर-बाह्य प्रवृत्ति सम्बन्धित) करता है, उसमें अभिप्राय श्रद्धाके साथ रहता है, फिर भी आचरणके क्रममें उत्सर्ग-अपवादके विवेकका स्वीकार करता है, कि

है। क्योंकि उस बाबतमें ज़रा भी अगंभीर न रहनेकी उसमें सूचना है।

आरंभ-परिग्रहके रसमें अत्यंत अपेक्षावृत्तिका प्रागट्य है। जो 'उपेक्षा करने योग्य' संबंधित विपर्यास है। इसकी गंभीरता ज्ञानीपुरुषको भास्यमान होनेसे उसका निषेध जगह-जगह किया है। और वह वास्तवमें हितोपदेश है - ऐसा जानकर उसका अंगीकार करने योग्य है। (९२१)

✻

पुर्व प्रारब्धवशात् ज्ञानी धर्मात्मा - निवृत्ति चाहते होने पर भी, प्रवृत्तिमें रहकर आराधना/पुरुषार्थ करते है। यद्यपि (व्यवहारसे) सांसारिक प्रवृत्ति आराधनाको अनुकूल नही है, बाह्य निवृत्ति ही निवृत्त स्वभावकी प्राप्तिके लिए, निवृत्तिके लिए अनुकूल है, फिर भी किसीका मुख्य अपराध होता दिखे अथवा उपकारके प्रति कृतघ्नीता होती हो तो वहाँ हठपूर्वक त्याग कर्त्तव्य नही है। (जहाँ मुनिदशा-योग्य वीतरागता / पुरुषार्थ हो वहाँ होनेवाले त्यागको हठ गिनना नही चाहिए) परन्तु अपनी सिर्फ बाह्य अनुकूलताके खातिर अन्यकी प्रतिकूलताका दुर्लक्ष या अवहेलना करके निवृत्तिमें रहना वह तो व्यवहारसे भी न्यायसंपन्न नहीं है। श्री जिनके पवित्र और निर्दोष मार्गके साथ सुसंगत भी नही है। इसलिए प्रवृत्तिकी प्रतिकूलतामें रहकर ज्ञानी (पुरुषार्थ) आराधना बढ़ाते है, महापुरुषका चित्त-चरित्र इतना उदात्त होता है, जो वंदनीय है। ज्ञानीपुरुषको प्रवृत्तिमें देखकर शंका या भ्रांतिमें पड़ने जैसा नहीं है। (९२२)

✻

संसारमें निवृत्तिका उदय हो तो संसारकी पापरूप प्रवृत्तिसे बचा जा सकता है, इसलिए निवृत्ति इच्छनीय है, फिर भी ज्ञानीको भी प्रारब्ध अधीन प्रवृत्ति होती है, परन्तु वह अकर्ताभावसे, राग-द्वेष और अज्ञान रहित होनेसे, उसका कारण सिर्फ उदय गिनना चाहिए। जो प्रवृत्ति राग-द्वेष और अज्ञानयुक्त हो, वहाँ कर्ताबुद्धिसे होनेवाली प्रवृत्तिको 'संसार' गिनना चाहिए। (९२३)

✻

सर्व धर्मात्माओंका ऐसा अभिप्राय होता है, कि प्रथम निजस्वरूपमे लीन रहकर, निजसुखका उपभोग करना, फिर व्यवहार प्रभावना तो द्रव्य, क्षेत्र, काल अनुसार जैसा प्रारब्ध योग होता है, उस प्रकारका विकल्प सहज ही आता है और जो होने योग्य होता है वैसे सभी परिणाम अथवा कार्य परमें (अन्य जीव और पुद्गलमे) होते है। निमित्त होते हुए भी ज्ञानी उसके कर्ता नही होते, उन्हे परमें ममत्व नहीं है। (९२४)

✻

आत्मरुचिको जगाता है। आत्मरुचि अनुसार पुरुषार्थ (वीर्य), सभी अनन्त गुणोंकी स्वरूप रचना करता है, उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनंद इत्यादि सर्व यथासंभव शुद्ध परिणमन करते है। अतः मुमुक्षुजीवको (मोक्षार्थीको) सर्वप्रथम, अपने स्व-रूपको लक्षमें लेना चाहिए; उस हेतुसे अनेक शास्त्रोंकी (मुख्यरूपसे) रचना हुई है।

स्वरूपज्ञानसे सर्व आत्मगुणोंका कार्य - 'मै पूर्ण - कृतकृत्य हूँ' - ऐसी सहज भजना होने लगती है, इसलिए उसे करनेके विकल्पकी आवश्यकता नहीं लगती। इस प्रकारसे कर्तृत्वका नाश होता है, और कमजोरीके कारण होनेवाले राग / विकल्पका निषेध आता है। इन सभीका मूल स्व-रूपका दर्शन होना वह है। (९३०)

※

देहादि परसंयोगका सम्बन्ध राग द्वारा जीव करता है।

असंग-अपरिणामी स्वरूपके अज्ञानके कारण, जीव रागादिमें एकत्व करता है और रागकी मलिनतासे जीवको दुःख होता है। अतः विधिदर्शक / अनुभवी महा-पुरुषोंने सर्वप्रथम रागसे भेदज्ञान करवाया है। (समयसारजी संवर अधिकार) (९३१)

※

ज्ञान और सुख अविनाभावी है। सुख रहित ज्ञान, वह शुष्कज्ञान है। निश्चयकी प्रधानता यथार्थरूपसे होने पर सुख उत्पन्न होता है, अयथार्थरूपसे (भावभासन बिना) होती है तो शुष्कता पैदा होती है, यह नियम है। अतः ज्ञानी सदा सुखी है, उन्हें उपाधिमें भी समाधि है। क्योंकि वे निज सुखधामका निरंतर अनुभव करते हैं, इस प्रकार सुखकी परिणति द्वारा ज्ञानीका निश्चय होता है, और इसलिए वे शुष्कज्ञानीसे अलग पड़ते हैं। (९३२)

※

अपेक्षा = आशा, आकांक्षा।

अपेक्षासे कहना / जानना = अमुक दृष्टिकोण मुख्य करके जानना - कहना।

अपेक्षा = मर्यादा, सीमा, इस प्रकार अनेक अर्थ हैं, इसलिए :-

जहाँ जिस प्रकरणमें योग्य अर्थ हो, उसप्रकार अर्थघटन करने योग्य है। कोई भी शास्त्रवचन, आत्म हितार्थ कहा गया होनेसे आत्महितके लक्षसे ही विचार कर्त्तव्य है। ऐसा सर्व सत्पुरुषोंका अभिमत है। (९३३)

※

पात्रता प्राप्त करनेके लिए, मुमुक्षुजीवको सत्संगका सेवन करना वह सर्वोत्तम उपाय है। निर्दोष होनेके लक्षसे 'बोधभूमिका' में रहना (योग्य है), जिससे जो-जो दोष साधारण हो चुके

अंतरमें निजहितके लक्षसे उत्पन्न जागृति, यथार्थ उदासीनता, वैराग्य और उपशम होनेका कारण बनती है, जो कि मुमुक्षुकी यथार्थ भूमिका है। यहाँ पर दर्शनमोहका रस घटता है। (९३८)

※

'चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोगः' उपयोगकी ये परिभाषा स्वभावकी प्रधानतासे है। यानी कि स्वभावकी मुख्यता जिसमें है, ऐसे स्वभावलक्षी परिणमनमें, उपयोगको स्वभाव सदृश - स्वभाव अंश जानकर, रागादि विभावसे अंतरंगमें भिन्न करके भेदज्ञान करानेके आशयसे यह व्याख्या समझने योग्य है।

चैतन्य स्वभाव 'प्रगट' है। वह तद्अनुविधायी परिणामसे दिखता है, अर्थात् उपयोगमे चैतन्यका अनुविधायीपना (विधिपूर्वक अनुसरण करके परिणमन करनेवाला - यायी) प्रत्यक्ष दिखता है, धारावाही परिणमनमें स्वयंके एकत्वको - एकरूपताको उपयोग प्रगट करता है, प्रसिद्ध करता है।

अत्यंत गंभीर भाव व अनुभवकी गहराईमेंसे इस वचनामृतका अवतरण हुआ है। (९३९)

※

तत्त्व-श्रवण, वांचन और विचारके समय, उन भावोंके अनुभवका दृष्टिकोण मुख्य रखनेसे यथार्थ समझ होती है अथवा भावभासन होता है। अनुभवका दृष्टिकोण लागू करना चाहिए, जिससे परिणाममें अनुभवपद्धतिसे कार्य होगा। तत्त्वअभ्यासकी यही सच्ची रीत है। अन्यथा प्रकारसे तत्त्व-अभ्यास करनेसे गुण नहीं होता, परन्तु 'मै जानता हूँ' - ऐसा प्रायः अभिमान हो जाता है। (९४०)

※

मनुष्यको अशांति और तनाव रहते है उसका क्या कारण है ?

उसका कारण वस्तुस्थिति अथवा कार्यक्षेत्रकी मर्यादाका अज्ञान है। अज्ञान कभी आशीर्वादरूप हो ही नहीं सकता। धर्मके बहाने अज्ञानसे वृत्तियोंका दमन करवाया जाता है, परन्तु इससे आत्माकी शक्तिका घात होता है, और फिर भी वृत्तियों पर जय तो प्राप्त होता ही नहीं।

शांतिसे जीनेके लिए तो ज्ञानका प्रकाश चाहिए, उसके बिना वृत्ति-दमन तो सहज शांतिमय जीवनका नाश करके, मनुष्यको दंभी बना देता है। इससे, अच्छा नहीं हुआ जा सकता, परन्तु अच्छे होनेका दिखाव किया जाता है। अतः एक दूषण मिटाने जाये, तो वह तो नहीं मिटता, बल्कि उलटा दंभ नामका दूसरा दूषण जन्म ले लेता है। (९४१)

※

मई - १९९२

मिथ्यात्वकी भूमिका ही ऐसी है कि कर्मका उदय प्राप्त होने पर जीव अशुद्ध परिणामसे परिणमन कर लेता है। यहाँ कर्मका उदय निरंतर चालू है, इसलिए प्राय: अशुद्धताको जीव छोड़ नहीं सकता और उदयमें अपनत्व करके दु:खी होता है।

ऐसी स्थितिमेंसे यदि जीव उदयसे भिन्न होकर, सुखी होनेके उपायमें जुड़ता है, तो शुद्ध स्वरूपका अनुभव करता हुआ, उदयमें रंजित नहीं होता। अत: शुद्ध स्वरूपके अनुभव हेतु पुरुषार्थ होना जरूरी है। जो कि मिथ्यात्वकी भूमिकामें उदयको अनुसरण करनेके झुकावसे विरुद्ध गतिमान होनेसे, जीवको अनउदयभावसे परिणमन कराता है और दु:ख मुक्त करता है। ऐसे पुरुषार्थको धन्य है। (९४६)

⁂

'ज्ञानमात्र'की अंतर सावधानी - उस रूप पुरुषार्थमें विकल्पबुद्धिका अभाव होकर स्वरूप सधता है। अर्थात् स्वरूपमें तन्मय हुआ जाता है।

विकल्पबुद्धि वह कल्पनाबुद्धि होनेसे 'वस्तुमात्र'के अनुभवसे विरुद्ध है। अत: तत्त्वगवेषणा - निर्णयके प्रयत्न कालमें, भेद / युक्तिका सहारा लेनेमें, विकल्पबुद्धिका पोषण न हो जाये, इसकी जागृति आवश्यक है। (९४७)

⁂

मिथ्यागृहीत, मिथ्याआग्रहसे असमाधान रहता है। अनेकान्तवादरूप वाणीसे मिथ्या समझका नाश होकर वैचारिक समाधान होता है। अनेक भेदोंसे वैसा समाधान, असमाधानसे उत्पन्न अशांतिको दूर करता है। फिर भी सम्यक् एकांत ऐसे निजपदकी प्राप्तिमें - अनेक भेद अपेक्षाके विकल्पका अतिक्रांत होना आवश्यक है। यही सर्वांग समाधानकी फलश्रुति है। अन्यथा अपेक्षाज्ञानका कोई साफल्य नहीं है। (९४८)

⁂

ज्ञान द्वारा परकी ओर तन्मयता रहनेसे, स्वयंको चुक जाता है; और परमें अपनत्व भासित होता है अथवा एकांत पर भासित होता है। परन्तु वही ज्ञान अगर अपनी ओर देखे तो ज्ञानमें निज (खुद) है - पर नहीं, ऐसा भासित होता है। ऐसी निज दृष्टि सुखकारी है।

निजदृष्टि निजमें निज अस्तित्वका ग्रहण करती है। परमें निजका ग्रहण तो दु:खदायी है। (९४९)

⁂

द्रव्यश्रुतरूप शब्दसे आत्माका स्व-रूपमें भावभासन होने योग्य है। भावभासन होते ही

आ जाते हैं। अतः धार्मिक कार्योंमें यथार्थ निर्णय होनेके लिए, यथार्थ अभिप्राय होना - यह नीवका विषय है। अभिप्राय विरुद्ध परिणाम आत्महितकी भावनाको सफल नहीं होने देते। अतः आत्महितकी सफलताके लिए आत्महितका अभिप्राय प्रथम होना चाहिए - ऐसा लक्षमे लिये बिना प्रायः क्रम विपर्यास होता है। (९५४)

❋

जो महाभाग्य आत्माके आनंद अमृतके आस्वादका अनुभव करता है, उस धर्म-जीवका अभिप्राय सहज स्वभावसे ऐसा हो जाता है, कि सर्व जीव इस निजानंदको प्राप्त हो। उसके कारणको और कारणके कारणको भी अनअवकाशरुपसे प्राप्त हो। श्री तीर्थंकरदेव इस सिद्धांतके साक्षात् मूर्तिमंत सबूत है। जिनशासन इस कारण विशेषसे प्रवर्तित है। यद्यपि मोक्षमार्गमें समस्त व्यवहार गौण ही है। तथापि बाह्यांश स्वस्थानमें सहजरूपसे जैसा है वैसा जानना जरूरी है। (९५५)

❋

ज्ञानके परिणमनमें, अभिप्राय प्रधान है। तद्अनुसार योग्यता स्वयं हो जाती है। यह प्रक्रिया स्वभावगत् है। दृष्टांतरूपसे धर्मप्राप्तिके अभिप्रायमें धर्मीके प्रति बहुमान - भक्ति होना सहज है तथा अधर्मका निषेध सहज है। अभिप्रायका विपर्यास सबसे बड़ा विपर्यास है, क्योंकि इससे मिथ्यात्व नहीं मिटता। आगमके अभ्यासीको भी कहीं कोई प्रयोजनभूत भूल हो जाती है, उसका कारण मूलमें अभिप्रायकी भूल रह गई होती है। अभिप्राय ('आत्महित' का) हुए बिना शास्त्रका पठन प्रायः अभिनिवेशरूप होता है। किसी भी मनुष्यके अभिप्रायको जाने बिना उसके शब्दोका या प्रवृत्तिका सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

अभिप्रायपूर्वक किया गया दोष अक्षम्य है, वरना क्षम्य है।

अभिप्रायमें जैसे ही स्वभावकी अधिकता हुई, (पहचान होनेसे) कि अन्य पदार्थ प्रतिके विकल्प / परिणामका शांत होना सहज है, क्योंकि परकी अधिकता छूट जाती है। (९५६)

❋

जो-जो बाह्यसाधनरूप निमित्त है, इसकी (सत्संग, शास्त्र अध्ययन) प्रवृत्ति करते हुए, तथा अंतरंग साधनरूप परिणामोंकी मुख्यता हो जानेसे, साधन अपने स्वस्थानमें साधनरूप नहीं रहता, परन्तु वह साध्यके स्थानमें आ जाता है, जिससे साध्य छूट जाता है - यह साधनका विपर्यास है। साध्यके लक्षसे साधन गौण रहना चाहिए। (९५७)

❋

स्वानुभवके बिना, शास्त्रमें अनुभवकी गहराईकी बात खयालमें नहीं आती। उसकी गहराईके

निष्कंप, गंभीर, ध्रुव स्वभाव है। उसमें अभेदभावसे, व्याप्य व्यापकतासे, एकाकार होकर, तन्मय होकर, गहराईमें उतरने पर सहज अनुभूतिसे सर्वार्थ सिद्धि है। स्वभावका खिँचाव रहनेसे - पर्यायका खिँचाव बंद हो जाता है। (९६२)

❋

ज्ञानका पर्याय-अभिप्राय और श्रद्धा अविनाभावी है, इसलिए प्रायः अभिप्राय द्वारा श्रद्धाको समझी जाती है। मुमुक्षुजीवको ज्ञानाभ्यास द्वारा प्रथम यथार्थ अभिप्राय गढ़ना चाहिए, जिससे कि विपरीत अभिप्राय बदल जाये। शास्त्र अध्ययनसे अपने अभिप्रायका पोषण नहीं करना चाहिए, परन्तु शास्त्रकर्ताके अभिप्राय अनुसार अपने अभिप्रायको गढ़ना चाहिए, वरना बड़ा नुकसान हो जाये। अभिप्रायकी भूल सुधरनेके बजाय दृढ़ नहीं हो जाये, यह लक्षमें रखने योग्य है, क्योंकि प्रायः ऐसी भूलसे जीव अनजान रह जाता है। अशुभभावका दोष पकड़में आता है, परन्तु अभिप्रायका दोष पकड़में नही आता। (९६३)

❋

बुद्धिगम्य हुआ हो तद्अनुसार जीव भावनापूर्वक उपदेश ग्रहण करनेके लिए उद्यम करता हो, उसमें यदि अनादि पर्यायबुद्धि दृढ़ हो गई, तो सम्यक्दर्शनकी समीपता भी नहीं होगी, (फिर) भले ही बाहरमें स्वाध्याय आदि मुमुक्षुके योग्य परिणाम हो। अतः शुरूसे ही सहजता रहे / हो, ऐसी कार्यपद्धति होनी चाहिए। और वह 'पूर्णताके लक्ष' से ही उत्पन्न होती है, उसका दूसरा विकल्प (Alternative) नहीं है। 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न भावना, लगन, अवलोकन इत्यादि सहज होते है, जो स्वरूप-निश्चय पर्यंत चालू रहते हैं। फिर आगे स्वरूप लक्षपूर्वक भेदज्ञान, स्वरूप-महिमा, स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ सहज ही होते है, जिससे पर्यायदृष्टिका अभाव होकर द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है। (९६४)

❋

जैनमार्ग तो पुरुषार्थप्रधान है। संयोगोंकी प्रतिकूलताके भयके कारण जो 'मार्ग भक्ति' से दूर रहते है, वे जीव वीर्य हीन होते हुए, स्त्रीवेद अथवा नपुंसकवेदको प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु वर्तमान स्त्रीवेद होने पर भी, जो निडरतासे मार्गको अनुकूल प्रवर्तन करे, वह जीव पुरुषवेदमें आ जाता है। बाह्यसंयोग पूर्वकर्म - पुण्य-पाप अनुसार होते है। उतना विश्वास और समझका बल भी जिसके पास नहीं है, वह अंतरके अलौकिक पुरुषार्थपूर्वक, निर्विकल्प तो हो ही कैसे सकता है ? यह साधारण विचारबलका प्रकार है, ऐसा आत्मार्थीको लगता है। (९६५)

❋

है' - वैसा ध्यान आश्रयभावनापूर्वक नही जाता। अतः वह 'योग' विषम परिणामी जीवक समान हो जाता है, 'प्रत्यक्षयोग'की दुर्लभता समझमें नही आनेसे आत्मकल्याणकी र जाता है।

जो जीव सत्पुरुषके वियोग कालमें 'आश्रय भावना'में नहीं आता, उसे प्रत्यक्षरूपर परिभ्रमणके दुःखका भय नहीं है। छूटनेका कामी (इच्छुक) तो 'सत्पुरुषकी खोज' वि रह ही नहीं सकता।

⁂

आत्मा चैतन्य-प्रकाशका पुर है अर्थात् आत्मामें चैतन्यका अनन्त प्रकाश भरा है दर्शनका प्रकाश प्रगट अनुभवगोचर है, उसके सातत्य और स्वातंत्र्यसे उसका अनन्त प्रतीत होता है। तथापि स्वरूपके अनुभवके प्रकाशमें - अचिंत्य प्रकाशमें, अचिंत्य ऐसा परमे अचिंत्य ऐसा केवलज्ञानका स्वरूप, मोक्षमार्ग - बंधमार्ग आदि सर्व जैसे हैं, वैसे प्रक होते है। इस चैतन्यरत्नको चिंतामणी रत्नकी उपमा कम पड़ती है। ऐसे रत्नका प्रकाश देहार्थमें ही खर्च हो जाये, तो दुःख दारिद्र्य कभी नही मिट सकता। अतः विवेकपूर्वक आ साधना कर्त्तव्य है। (

⁂

दर्शनमोहके कारण सुख रहित जड़ पदार्थमें जीवको व्यामोह होता है, अथवा अ द्रव्य / भावमें इष्ट-अनिष्टपनेकी कल्पना होती है, जिसके कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्वके प होते हैं, जो अनन्त दुःखमय है।

सम्यक्त्व द्वारा स्वाभिमुख होने पर, वास्तविक सुखानुभवकी उपलब्धि होनेसे कर्ता-भो आकुलता शांत हो जाती है। और अविनाशी परमसुखका बीजारोपण हो जाता है। (

⁂

जब ज्ञान निजमें निजको देखनेके उद्देश्यसे देखता है, तब ज्ञानमें पर (है ऐसा) नहीं होता। यद्यपि ज्ञानमें परका अस्तित्व है भी नही। ज्ञानमे तो सिर्फ ज्ञानका ही अ है। इसलिए ज्ञानमें ऐसा ही मालूम पड़ता है। परपदार्थके प्रतिभासके कालमे भी ज्ञ ज्ञेयाकाररूप हुआ है; ऐसे ज्ञाननिष्ठ होना सुखदायक है। इस ज्ञानमें स्वको देखनेका है, जिसके कारण पर जाननेमें आने पर भी उसमें स्वपनेकी भ्रांति अथवा परप्रवेशमा होता। पर पररूप भासित होवे तो उसमें विकृति होनेका अवकाश नहीं है, क्योंकि उस ज्ञानमें स्वपनेका वेदन होता है। सम्यक्ज्ञानके परिणमनकी यह रीति है। जिसमें निर्दोष निराकुलता है, इसलिए विसंवादके योग्य नही है, विवादके योग्य भी नहीं है। (

वैराग्य भी (ज्ञानीको) याचनावृत्तिमें आने नहीं देता। ज्ञानी अल्प राग हो, तब तक प्रारब्धकर्मकी निर्जरा हेतु प्रवृत्तिमें होते है, ममत्वके कारण नहीं ऐसा समझने योग्य है। (९७७)

❋

सत्पुरुषको संसारके संयोगोंके साथ आत्मिक बंधनपूर्वक सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् देहकी अनुकूलता हेतु, धनादि पदार्थकी प्राप्ति हेतु, प्राप्त सामग्रीके भोग हेतु, लौकिक किसी भी प्रकारके सुखके हेतु या किसी भी प्रकारके स्वार्थके हेतु, वे संसारमें नहीं रहते। ऐसा जो इनका अंतरंग है, उसका भेद (रहस्य) कोई निकट मोक्षगामी जीव ही समझ सकता है, अन्य नहीं। यानी कि सत्पुरुषके अंतरंगको समझनेवालेको मोक्ष निकटमें वर्तता है, यह निःसंदेह है। (९७८)

❋

प्रश्न :- भेदज्ञानका प्रयोग रागकी भिन्नता द्वारा ही क्यों ? परद्रव्यकी भिन्नता द्वारा क्यों नहीं ?

उत्तर :- (१) परद्रव्यसे अभिन्नता रागके द्वारा ही होती है, अतः रागसे भिन्नता होते ही, परद्रव्यसे सहज भिन्नता हो जाती है।

(२) प्रयोग वर्तमान प्रवृत्तिके कालमें ही हो सकता है। ज्ञान और राग निरंतर मौजूद होनेसे प्रयोग निरंतर हो सकता है। परद्रव्यकी प्रवृत्ति निरंतर संभवित नहीं है, यद्यपि बाह्यत्यागसे भेदज्ञानकी उत्पत्ति भी नहीं होती।

(३) तीव्र मुमुक्षुतारूप मोक्षार्थीजीव ही भेदज्ञानका प्रयोग कर सकता है। वैसे जीवको परद्रव्य (विषयों) और देहादिमें तीव्र आसक्तिके परिणाम नहीं होते। आत्मरुचि वश उपयोग सूक्ष्म हुआ होनेसे, अंतरमें ज्ञानसामान्यके वेदनको ग्रहण करनेकी योग्यता द्वारा 'यह अनुभूति है, सो ही मै हूँ' - ऐसे भेदज्ञानका - रागसे, सूक्ष्म रागसे भी भिन्नताका प्रयोग कर सकता है। जो स्वानुभवका कारण है। - यह विधिका क्रम है। (९७९)

❋

जैसे ही ज्ञानवेदनसे स्व-रूपमें ज्ञानका अनुभव हुआ कि तब श्रद्धा द्वारा स्वरूपका आश्रय हो जाता है। स्वरूपकी पहचानपूर्वक महिमा वर्तती हो वहाँ इस प्रकार ज्ञान-श्रद्धान होना सहज ही है।

स्वरूप-निश्चयपूर्वक सहज पुरुषार्थमें उक्त प्रकारसे श्रद्धा-ज्ञानमें एकसाथ स्व-आश्रय हो जाता है। मोक्षार्थी जीव मोक्षमार्गको इस विधिसे प्राप्त करता है। (९८०)

❋

बीच अध्यात्मका सेतु आवश्यक है। (९८५)

※

मुमुक्षुजीवके परिणाम उत्तरोत्तर दर्शनमोहको मंद करे, उस प्रकारके होने चाहिए; यदि दर्शनमोह तीव्र हुआ तो मुमुक्षुताका नाश होनेका अवसर आयेगा, यह लक्षमें होगा तब तो दर्शनमोह सम्बन्धित परिणामोंको समझकर उस-उस प्रकारमें जागृति / सावधानी रहेगी। जिसकी प्रयोजनकी दृष्टि तीक्ष्ण होती है उसका दर्शनमोह वृद्धिगत नहीं होता है। (९८६)

※

मोक्षमार्गमें स्वरूप-सावधानीका उपयोग अभ्यंतरमें सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण होता है। - ऐसा धर्मात्माका स्वरूप मुमुक्षुको बोध लेने जैसा है। धर्मात्माको - अंतर पुरुषार्थ द्वारा विषमभावोंको मिटाकर, समभावकी रक्षा एवं वृद्धि करते हुए बाह्यप्रवृत्तिका संक्षेप करनेका भाव एवं चिंतना रहा करती है। परलक्ष नहीं होनेसे दूसरोंको बोध प्राप्त करानेकी प्रवृत्तिमें भी उदासीनता रहती है। (९८७)

※

द्रव्य सामान्यका - स्वभावका यथार्थ लक्ष, ज्ञानसामान्यके आविर्भावका यानी कि स्वसंवेदनकी उत्पत्तिका अनन्य कारण है। अतः स्वरूपलक्षसे ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होना - यह विधि है। इस प्रकार स्वभावके लक्षसे - अवलंबनसे भेदज्ञान (परद्रव्य एवं परभावसे) होता है। (कि) जो स्वभाव अंतरंगमें प्रगट है, प्रत्यक्ष है और अनुभवगोचर है। (९८८)

※

प्रश्न :- तत्त्वका अभ्यासी जीव, आत्मस्वरूपका निश्चय करके, त्रिकाली ध्रुवको खयालमें लेकर महिमा करता है, फिर भी पुरुषार्थ जागृत होकर अभेदभावसे अनुभव नहीं होता है, इसका क्या कारण ?

उत्तर :- परलक्षीज्ञानमें परोक्ष रहकर, रागकी प्रधानतामें (रागके आधारसे) जो निश्चय होता है, वह यथार्थ पहचानरूप प्रतिभास नहीं होनेसे और उसमें स्व-रूपमें अस्तित्वका ग्रहण प्रत्यक्ष अंशसे-अनुभवांशसे नहीं होनेके कारण वस्तुदर्शनका अभाव होता है, इसलिए उसमे स्वसन्मुखता (दिशाफेर) नहीं होती है और अपूर्व महिमा भी उत्पन्न नहीं होती। अतः उसमें तथारूप पुरुषार्थका अभाव रहता है, सहजताका भी अभाव रहता है, विधिका भी अनभिज्ञपना रह जाता है। वहाँ प्रायः कृत्रिमताको सहजता और दृष्टिका ज़ोर मानकर कल्पित प्रयत्नमें रहना हो जाता है, इसलिए अनुभव नहीं होता। वस्तुदर्शन बिना, ओघसंज्ञासे (स्वरूपकी) कल्पना होती है। यह गंभीरतासे लक्षमें लेने योग्य है। जिज्ञासु रहे तो ऐसी कल्पनासे बच पाता

वह भी मुमुक्षुके लिए अनअधिकृत चेष्टा / प्रवृत्ति है, जिसे स्वच्छंद और अभक्तिका कारण जानकर, उससे जागृत रहने योग्य है, ऐसी चर्चा जहाँ पर होती हो वहाँसे दूर रहना हितावह है। (९९३)

※

प्रश्न :- सामान्यज्ञानके आविर्भावसे और विशेषज्ञानके तिरोभावसे ज्ञानका प्रगट अनुभव होता है, (स.सार. - गाथा -१५) आगम अनुसार इस विधिको जानते हुए भी सामान्यका आविर्भाव क्यों नहीं होता है ?

उत्तर :- लक्ष स्वरूपका नहीं होनेसे और परलक्षके सद्भावके कारण विशेषज्ञानका आविर्भाव नहीं मिटता, जिसके कारण सामान्यज्ञान (ज्ञानवेदन) तिरोभूत रहता है। इस प्रकार परिणाम लक्षके अनुसार चलते है। यह परिणामका विज्ञान है। इसीलिए प्रथम स्वभावका लक्ष करनेका श्रीगुरुका उपदेश है। लक्ष बिनाके परिणाम 'लक्ष रहित बाण' जैसे है। परिणामोका मूल्य भी लक्षको गिनतीमें लेकर करना चाहिए। (९९४)

※

सूर्यको अंधकारने घेर लिया हो - ऐसा कभी किसीने देखा है ? या सुना है ? वैसा चैतन्य सूर्य जिनको प्रगट है, ऐसे आत्मज्ञानीको कर्मका उदय घेर ले, ऐसा कभी नहीं बन सकता। (भव्यामृत श. ९९)

ध्रुवतत्त्वमें उपाधिकारक संयोगोंका और तद् निमित्तक उपाधिभावका प्रवेश ही नहीं है, ऐसा अनुभव स्वरूपज्ञानीको रहता है। पुन: निज ध्रुव सुखधामका अनुभव स्वयं सुखमय परिणमन है। कर्म इससे अति दूर है। अनुभवीको शंकाकी गुंजाइश नहीं है। (९९५)

※

सर्वोत्कृष्ट कारणपरमात्माकी भावना भाते हुए (नियमसार गाथा-५०), क्षायिक आदि भावोको परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहें हो, तो उदयभावकी मुख्यता करनेकी तो परिस्थिति ही कहाँ रहती है ? - ऐसा विचार करके स्वरूप-लक्ष पूर्वक, सर्व पर्याय परसे वज़न उठा लेना चाहिए। अथवा सहजात्म स्वरूपकी महानता भावमें इस प्रकारसे सहज भानेमें आनी चाहिए कि क्षायिक भाव पर भी वज़न नहीं जाये ! स्व तत्त्वकी रसिकता ही कोई विलक्षण प्रकारकी है। धन्य है वे महात्माएं, जो आत्मभावना भाते-भाते परमपदको प्राप्त होंगे !! परम भक्तिसे उन्हें नमस्कार हो ! (९९६)

※

सच्ची आत्मभावना प्रयोजनकी सूक्ष्मदृष्टिको उत्पन्न करती है। जिससे अप्रयोजनभूत विषयमें

स्वरूपलक्षमें निज परमपदकी महानता लक्षगत् होती है। आत्मस्वरूप ही ऐसा-इतना महा है कि लक्षगत् होते ही उसकी मुख्यता रहा ही करे, वह यहाँ तक, कि पर्यायकी शुद्धता उपशमसे लेकर क्षायिक पर्यंत चरमसीमा होने पर भी स्वरूपकी मुख्यता नहीं छूटती। वास्तव तो पूर्ण पर्यायसे आत्म-स्वभाव अनन्तगुण समृद्ध है, इसलिए उसीकी मुख्यता रहे। यह सहज है। (१००१

⁂

मुमुक्षुजीवको तत्त्वरुचि होनेसे वह स्वाध्याय, सत्संग इत्यादिमें प्रवर्तता है। वैसी रुचि वृद्धिगत होने पर उसकी प्रवृत्ति भी विशेष प्रमाणमें हो, यह संभवित है, परन्तु उसमें आगे बढ़कर प्रयोग पद्धतिसे भेदज्ञानपूर्वक भावभासन होना चाहिए, जिससे कि स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ प्रगट होवे और अपूर्व रुचि प्रगट होवे। यदि उक्त प्रकारसे प्रयोग पद्धतिमें प्रवेश नहीं हुआ तो तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्ति और अभ्यासमें अनजानेमें संतुष्ट होनेका या अटकनेका बन जायेगा और शायद आत्मरुचि मंदताको प्राप्त होगी। अतः सामान्य रुचिमें दीर्घकाल व्यतीत होने देना उचित नहीं है। (१००२)

⁂

जिस संगसे आत्मकल्याणका - परमार्थका जीवको रंग लगे, उसे सत्संग जानने योग्य है। महापुरुषोंने सत्संगको आत्मोन्नतिका मूल कहा है, उसके जैसा हितस्वी साधन इस जगतमें नहीं है। पवित्र होनेके लिए, प्रथम यमनियमादि अन्य साधनका आग्रह गौण करके (सहज हो सकते हो तो, हठ बिना होवे उसे छोड़ देना - वैसे नहीं) सत्संगकी उपासना करनी चाहिए। संसारकी उपासनाका आत्मभाव सर्वथा छोड़कर, अपनी सर्व शक्तिसे, पूर्वग्रहसे मुक्त होकर, परम विनयसे जो सत्संगकी उपासना करता है, वह अमर होनेके लिए अमृत पी रहा है। उसका मूल्य अन्यथा किस प्रकारसे हो ? संक्षेपमें, सत्संगका अन्य पर्याय (Alternate) है ही नहीं। (१००३)

⁂

आत्मार्थीको तत्त्व-अभ्यासमें प्रयोजनभूत विषयकी गहराईमें जानेके लिए हमेशा जिज्ञासावृत्ति सतेज रखनी चाहिए, कि जिससे भावभासन हुए बिना निर्णय होनेकी / करनेकी भूल नहीं हो। यदि धारणामें समझ हुई, तो उसीके भावभासनके लिए जिज्ञासा होनी चाहिए, परन्तु परलक्षी ज्ञानसे जिज्ञासा शांत नहीं होनी चाहिए। इस जगह जिज्ञासाका अभाव होनेसे धारणामें संतोष होकर, उसमें अहम्भाव होकर, अटकना हो जाता है, और दर्शनमोह वृद्धिगत होकर, भावभासनका पुरुषार्थ उत्पन्न ही न हो, ऐसी स्थिति हो जाती है। इसके अतिरिक्त खुदकी

अनुभूति स्वरूप हूँ। समस्त जगतसे शून्य हूँ। ॐ शांति। (१००६)

बाह्य उपयोग होना, शुक्लध्यानकी श्रेणीके पहले, अनिवार्य है, अतः मुमुक्षु / धर्मात्मा बाह्य (उस) प्रवृत्तिका विवेक करते हैं, और बाह्य धर्मसाधनमें प्रवर्तते हैं। उस वक्त भी उससे (अभिप्रायमें) लाभ जानते - मानते नहीं है। बाह्य प्रवृत्ति अर्थात् तत्त्व-श्रवण, वांचन, भक्ति-पूजा आदि होने पर भी, अभिप्राय एकांत अंतर्मुख रहनेका होनेसे, उसका सहज निषेध वर्तता है। जिन लोगोंसे अभिप्रायपूर्वक शुभराग 'करनेमें आता' है - उसका व्यवहार श्रद्धान भी नहीं है, अर्थात् विधिकी बुद्धिपूर्वक भूल होनेसे दर्शनमोह वृद्धिगत होकर, तब उसे गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न हो जाता है - इस तरह अभिप्रायकी भूलके कारण तत्त्वका अभ्यास (जो दर्शनमोह मंद होनेमे निमित्त है) दीर्घकाल पर्यंत करने पर भी, उसका सम्यक् फल नहीं आता। अभिप्रायके विपर्यास - सम्बन्धित उक्त भूल सूक्ष्म होनेसे प्रायः जीवको रह जाती है। अतः इसके लिए जागृत रहने योग्य है। शुभोपयोग सर्व, बाह्य उपयोगसे ही उत्पन्न होता है, और उपयोग बाहर जाने पर नियमसे रागकी उत्पत्ति होती है, इसी कारणसे रागके माफिक परसत्ता अवलंबित ज्ञानका बाधकपनेके कारण निषेध है। (१००७)

परिणामका परिणमन सहज हो रहा है। जिसमें 'करूँ-करूँ'-का भाव कर्तृत्वको (मिथ्यात्वको) और एकत्वको उत्पन्न करता है, स्वयं परिणमन कर रहे परिणामकी वास्तविकता, श्रद्धा और अभिप्रायमें नहीं रहती। परन्तु 'मैं तो अक्रिय ही हूँ' - इस अभिप्रायमें अर्थात् अपरिणामीके अभिप्रायमें, कोई क्रिया करनेका अभिप्राय नहीं रहता होनेसे सहज निरुपधि - स्वरूपाकार भावसे - द्रव्यसे रहा जाता है। प्रत्येक गुण अपना-अपना कार्य करते हुए दिखते हैं। इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ समाविष्ट है। ध्रुवके लक्षसे परिणामका ज्ञान यथार्थ होता है। सत्शास्त्रों ध्रुवका लक्ष होनेके लिए ध्रुवकी महिमा गाते हैं। वही सर्वोत्कृष्ट है, एकांत सर्वोत्कृष्ट है। (१००८)

परमगुरु श्री तीर्थंकर सर्वज्ञदेव और निर्ग्रंथगुरु भावलिंगी संत - ये दो पद उपदेशकपदे है। अंतरबाह्यदशाके कारण उनका उपदेश और दशा दोनों अविरोधताको प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं, स्वयंने मार्ग देखा होनेसे धर्मात्मा नीचेके गुणस्थानमें मार्ग (जिज्ञासुको) दिखाते हैं, परन्तु उपदेशकपना नहीं करते। तो फिर जो मुमुक्षु अभी मार्गसे अनभिज्ञ है, अभी तो उपदेश लेनेके पात्र है, वह यदि उक्त मर्यादाके अज्ञानके कारण उपदेशक बनकर

जानेसे स्व-पर अहित होनेकी संभावना रहती है। इस जवाबदारीकी गंभीरता समझ लेने यो
है। (१०१:

※

सर्वज्ञ स्वभावके अवलंबनसे आत्मारूप हुए धर्मात्माको केवलज्ञानकी लब्धि प्रगट होती है
उसमें से आश्चर्यकारी भाव / न्याय प्रगट होते हैं। अत: बारह अंग - संपूर्ण द्रव्यश्रुतधा
जो न्याय निकाले, वह समकिती धर्मात्मा निकाल सकते हैं। लब्धिमेंसे उपयोग, बिना विकल
हो जाता है। यह लब्धज्ञान नहीं है, परन्तु साधक अवस्थामें प्रगट हुई ऋद्धि है। लब्धज्ञा
तो श्रुतज्ञान पर्यायका अंश है, अवयव है, जो उपयोगपूर्वक उत्पन्न हुई परिणति है। वह ज्ञानी
अज्ञानी दोनोंको हमेशा होती है। ज्ञानीको स्वरूपाकार - स्वरूपके वेदनरूप होती है। व
स्मृति या धारणारूप नहीं है। (विचार और धारणामें स्वरूपका अनुभव करनेका सामर्थ्य नह
है।) परन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष शुद्धोपयोगसे प्राप्त लब्धज्ञानकी 'ज्ञानधारा' है। अज्ञानीको उदय
अनुसार विभावरसयुक्त विभावरूप कर्मधारा है। (१०१३)

※

महामुनिवरों - आचार्यदेवों द्वारा रचित महान परमागमों या अनुभवी सत्पुरुषोंके वचनरूप
सत्‌शास्त्रों - जिसे जिनवाणी कहते है, वह पूर्वसंस्कार संप्राप्त जीवको स्वरूप अनुसंधानमें निमितभूत
होती है, परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि, स्वभाव - संस्कार रहित जीवको परोक्ष जिनवाणीका वैसा
उपकार नहीं होता, उसके लिए तो प्रत्यक्ष, सजीवनमूर्ति ही चाहिए। यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानी भी
वाणीके माध्यम द्वारा ही बोध देते है, फिर भी वहाँ ऐसी क्या विशेषता है ?

समाधान :- दोनों जगह वाणी तो वाणी ही है। परन्तु 'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगमें' उस
वाणीके साथ / उपरांत जागृत 'चैतन्यकी चेष्टा' (इस चेष्टाकी क्रियाके साथ प्रत्यक्ष गुणातिशयवान
निर्मल चैतन्यसे प्रभावित वचन होते है) होती है, जिसके द्वारा पात्रजीवको आत्मभावके दर्शन
होते है, अर्थात् सम्यक् स्वभावका भावभासन होता है। प्रथम तो सत्पुरुषके चरणमें आज्ञारुचिरूप
पात्रता प्रगट होनेका सौभाग्य प्राप्त होता है, जो सम्यकत्व होनेका प्रत्यक्ष कारण है - प्रथम
ऐसा प्रकार 'प्रत्यक्ष योग' के बिना संभवित नहीं है। अमुक आत्मभाव - (अंतर्मुखता, स्वसंवेदकता,
शांतता, सम्यकता, इत्यादि) जो कि वाणीसे व्यक्त नहीं होते अथवा वक्तव्य नहीं हैं, वे चेष्टासे
विशेषरूपसे - व्यक्त होकर भावभासनमे निमित्तभूत होते हैं। अंतरध्वनि - आशय प्रत्यक्ष बोलनेमें
जितना आ सकता है, उतना लेखनीमें नहीं आ सकता। इत्यादि कारणोंसे अनुभवी पुरुषोंने
'प्रत्यक्षयोग' समान किसीको उपकारी नहीं जाना है। इसके सिवा आत्मज्ञान - दूसरोंको हो
सके ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। 'पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित।' (१०१४)

ऐसे द्रव्यकी, सम्यक् स्वभावकी सूक्ष्मता व गहराई अगाध है। परमार्थ संयमके बलसे, आत्म परिणामी, परमवीतराग दृष्टिवंत महात्माएं स्वभावकी गहराईमें अंदर ही अंदर विचरते हैं। उ समाधिका रहस्य, उनको द्रव्यानुयोग परिणमित हुआ है - वह है। (१०

※

अनन्तकालमें कई बार आत्मकल्याणकी भावनासे बहिर्मुख भावसे जीवने धर्म-क्षेत्रमें प्र की है। ज्ञानके क्षयोपशमसे और वीर्यके क्षयोपशमपूर्वक अत्यंत मंद कषाय हुआ है, फिर दिशा नहीं बदली है। बहुभाग तो दिशा बदलनेका लक्षमें आया ही नहीं। कभी कोई अंतर्मुख परिणाम करने योग्य है - ऐसा सम्मत होने पर भी अंतर्मुख होनेकी रीतको न समझा, उसका क्रम अर्थात् परिणामके कारण-कार्यकी परम्परामें उतरनेके विज्ञानसे अनज रहनेसे बाहर ही बाहर सब करता रहा। सच्ची भावनाके अभावके कारण ऐसा हुआ

(१०१

※

ज्ञानीको स्वरूपलक्षपूर्वक मुनिदशाकी, पूर्णदशाकी भावना होती है। इसलिए स्वरूप-आश्र होता है। उसमें फर्क नहीं पड़ता और यथार्थता बनी रहती है। अतः मुमुक्षुको भी पर्यायके लक्षसे कोई उच्च कोटिकी पर्याय - प्राप्तिकी (सम्यक्दर्शन-स्वानुभव इत्यादि) भावना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि स्वरूपके लक्षसे ही सहज ऊपर-ऊपरकी पर्याय प्रगट होती है। पर्यायके लक्षसे पर्यायका कर्तृत्व हो जाता है, जो कि विपरीतता है। विपरीतता या कर्तृत्व दृढ़ नहीं हो जाए इसकी सावधानी न रहे तो दर्शनमोह मंद होनेके बजाय तीव्र हो जाता है। (१०२०

※

अक्टूबर - १९९

संसारके त्रिविध तापाग्निमें जल रहे जीवको परम कारुण्यमूर्ति सत्पुरुषका बोध / सं ही शीतल जल है। परन्तु वैसा योग अति दुर्लभ है। फिर भी जो जीव छूटना चाहता उसको उसीकी भावना - जिज्ञासा और परम भक्ति रखनी चाहिए। परम भक्ति वह प्राप्ति लिए पूरी गरजरूपी पात्रता है। अतः उसीकी प्राप्तिके लिए अहोरात्र रटन रखना चाहिए और ऐसे योगके विरहमें रहकर, वैरागी और सरल चित्तवाले मुमुक्षुका संग करना चाहि जो कि चित्त शुद्धिका कारण है। रंगरागके रसवाले और वक्र परिणामवाले मनुष्योंके संग नहीं रहना चाहिए। तथापि सुपात्र मुमुक्षुके संगसे संतुष्ट नहीं होकर, विरहकी वेदना वृद्धिग होनी चाहिए, विरहाग्नि जलनेसे उसका फल साक्षात् प्राप्ति है, संत एवं परम निजस्वरूपके विषयमें, यह नियमबद्ध है। (१०२१

श्री वीतरागदेव निरूपित सर्व सिद्धांत केवल आत्महितके हेतुभूत हैं। फिर भी शुद्ध अंतःकरणसे इसका अवगाहन अगर नहीं किया गया तो मति विपर्यास होकर, जीवका उन्मार्ग पर जाना बनता है। अतः पूर्वके ज्ञानीपुरुषोंने जब जो भी सिद्धांतका निरूपण किया है, उस वक्त संभवित विपर्यासके निरोध हेतु, यथायोग्य मार्गदर्शन देकर परम उपकार किया है। नमस्कार हो उनकी कारुण्यवृत्तिको !

प्रतिपादित सिद्धांत द्वारा आत्मलाभ किस प्रकारसे हो, और वही सिद्धांतका अयथार्थ ग्रहण करनेसे, किस प्रकारसे विकृति उत्पन्न हो जाती है अथवा एकांत हो जाता है, इत्यादि चारों पहलूसे मुख्य-गौण, कारण-कार्यका क्रम, आगम-अध्यात्मकी अविरोधता, आदिकी स्पष्टताको (आत्मलक्ष सहित / सम्यक् प्रकारसे) प्रकाशित करनेवाले महात्माओंका अनुपम उपकार है। (१०२५)

※

अंतर अवलोकन बिना, सिर्फ विचार-तर्कणासे प्रयोगका विषय समझमें नहीं आता। राग और परद्रव्यके साथ एकत्व हो रहा है - यह विपरीत-उलटा प्रयोग निरंतर चालू है, हो रहा है। जो अवलोकनसे समझमें आने पर मिटता है और सुलटा प्रयोग करनेकी रीत भी समझमें आये, तब भेदज्ञानका प्रयोगाभ्यास चालू होता है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेमें भेदज्ञानका प्रयोग उत्कृष्ट साधन है, वह स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ है। (१०२६)

※

जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूपसे प्रकाशमान है, जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है, ऐसा जीवका स्वरूप ज्ञायकता अत्यंत अनुभवका कारण है - अनुभूतिस्वरूप है। परकी ओर देखनेसे अर्थात् अपनेमें अपने आपको नहीं देखनेसे, परन्तु अपनेमें - पर नहीं होते हुए भी - परको देखनेसे (परके प्रतिभासमें परके अस्तित्वका भ्रम होनेसे) खुद अपनी विद्यमानताको भूलता है। परन्तु अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य, जो जीवका स्वरूप, वह जीवके प्रति (स्वयंके प्रति) उपयोग मोड़नेसे प्रगट दिखता है - वेदनमें आता है। खुद अपनेसे परोक्ष कैसे रह सकता है ? खुद तो प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्षको प्रत्यक्षरूपसे देखनेसे वेदनप्रत्यक्षता आविर्भूत होती है। अनन्त ज्ञानी प्रतीतिमें स्वयंको प्रत्यक्ष कर-करके अजर-अमर हुए - यह स्वमें अभेदज्ञानका प्रयोग है। (१०२७)

※

अपनेमें / निजमें परके अस्तित्वका भ्रमसे अनुभव करनेवाले, (अपनेमें) स्वयंके सम्यक् स्वरूपकी विद्यमानताको भूले हुए जीवको, सम्यक्मार्ग पर चढ़ानेके लिए, पर प्रकाशनके कालमें,

मार्ग लोकोत्तर निर्दोष - पवित्र है। पूर्ण पवित्र निज स्वरूपको निहारनेके लि
होती है। पवित्रताकी रुचि वह आत्मरुचि है। जिसकी रुचि, उसकी सावधानी र
स्वभावकी सावधानीमें सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होनेका कारणपना है। क
परम्पराका ऐसा क्रम है।

※

परपदार्थको जाननेका आत्माको कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी स्व-पर प्रकाशक
कारण, दर्पणवत् ज्ञानमें परपदार्थका प्रतिबिंब उठता है, अतः परका मालूम होना
है। अनादिसे भेदविज्ञानके अभावके कारण, जीवको अपने ज्ञानमय भिन्न अस्तित्वका ज्ञा
होनेसे, पर मालूम होते ही परसे एकत्व हो रहा है। ऐसी स्थिति होनेसे 'परको पररूप जा
यह ज़रूरी है, जिससे परका ममत्व / एकत्वका दोष मिटे - यह प्रयोजनभूत है। दो
नहीं जाननेमें (नहीं समझनेमें) आये तो, उसका क्षय करनेका सम्यक् उपाय नहीं हो सक
कल्पितरूपसे अथवा युक्ति द्वारा 'पर सर्वथा जाननेमें नही आता है' - ऐसा दृढ़ करनेसे, पदार्थ
स्वरूपज्ञानका विपर्यय होता है। भेदज्ञान - प्रयोग द्वारा निज अस्तित्वको ग्रहण करनेके पुरुषार्थमें,
निजमें मात्र निजका ही वेदन करके जानना, कि जिससे भावमें परसे एकत्व मिटे। जहाँ-
जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ मैं ऐसा दृढ़ भाव, वह सम्यक्त्व है।' (-अनुभवप्रकाश) (१०३८)

※

सत्‌श्रुत प्राप्त होने पर भी जीवको निजस्वरूपका यथार्थ निश्चय होनेमें, यानी कि स्वरूपकी
पहचान होनेमें अंतरायरूप जीवका मति विपर्यास है। ये मति विपर्यास, परमें सुखबुद्धिके कारण
उत्पन्न हुए रसके कारण है। अंतरसे आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक, इस विभावरसको ज़हर
जानकर, कमज़ोर (फीका) किया जाये तब वैराग्य और उपशम प्रगट होते हैं। इस प्रकार
यथार्थरूपसे विभाव भावोंमें नीरसता होनेके पहले, स्वरूपको समझने जानेमें, जाने-अनजानेमें
स्वरूपका अन्यथा - कल्पित निर्धार हो जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व पतला नहीं पड़ा। अतः
परमें सुखबुद्धि वही आरंभ - परिग्रह है, कि जो यथार्थ वैराग्य-उपशमरूप आत्मार्थीकी यथार्थ
भूमिकाके वैरी हैं, विरोधी और घातक है। आत्मार्थी जीवको सर्व उपदेश व सिद्धांतका उपशम
हेतु (विभावरस तोड़नेके लिए) ग्रहण करने योग्य है और इसीमें यथार्थता है। (१०३९)

※

तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाला जीव अगर अवलोकन पद्धतिमें नहीं आये तो अध्यात्मके
विषयका जानकार बन जाता है, फिर भी वेदन-अनुभवके विषयसे अनभिज्ञ रहता है। अतः
विधिके विषयमें 'जानकारीकी प्रधानता' सम्बन्धित (स्थुल) जानकारी हो जाने पर भी, अनुभवकी

भावनाके अलावा दूसरे किसी भी प्रकारसे प्राप्त होना असंभवित है। (१०४

✻

प्रश्न :- पूर्णताका लक्ष्य-ध्येय हुआ है, इसका लक्षण-स्वरूप क्या ?

उत्तर :- स्वरूपकी भावना निरंतर रहे, लगन / चटपटी लगे, उसे प्राप्त करके छोड़ना है, वहाँ तक चैन नहीं हो, प्राप्तिके ही कारण खोजता रहे, सच्चे मोक्षार्थीकी ऐ परिस्थिति होती है। ऐसा प्रकार भूमिकाकी यथार्थताको उत्पन्न करता है। जो यथार्थता विकसि होकर सम्यक्त्वको उत्पन्न करती है। मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थता उत्पन्न होने पर, वह अप प्रयोजनके विषयको, प्रयोजन (आत्महित) सधे उस प्रकार पूर्णताके लक्ष अनुसार जानता है (१०४४

✻

सामान्यके आविर्भावरूप ज्ञानवेदन तक जिसकी पहुँच नहीं है, वह अध्यात्मके विषयका अध्यात्म शास्त्र अनुसार, न्याय - युक्ति (अनुभवके दृष्टांत) अनुसार अवधारण करे, तो भी उसमें जानकारीकी प्रधानतासे कथन तो आ सकता है, परन्तु वेदन प्रधानता अथवा वेदन सम्बन्धित कार्य पद्धति और उस विषयमें हो रही विपरीतता - अविपरीतता आदि - (सभी पहलूसे विषयकी अनभिज्ञताके कारण) कथनमें नहीं आ सकते। यद्यपि वेदनका विषय अधिकांश अवक्तव्य है, फिर भी जितना अल्प अंशमें वक्तव्य है, उसे व्यक्त होनेमें उस दशाके अनुभवकी झलक अनुभवरस सहित होती है। अतः वहाँ तक जिसकी पहुँच नहीं है, उसके वक्तव्यमें तफ़ावत रहता है, जो उस विषयके अनुभवीको समझमें आता है, साधारण मुमुक्षुको या मध्यम कोटिके मुमुक्षुको इस प्रकारका भेद समझमें नहीं आनेसे, वह भ्रांतिमें पड़ता है। (१०४५)

✻

प्रश्न :- यदि पूर्णताका लक्ष नहीं बंधा हो तो क्या करना ? ध्येय बाँधना है, लेकिन उसके लिए क्या करें, यह उलझन है ?

समाधान :- ध्येय शून्य प्रवृत्तिका मूल्य शून्य जानना, जिससे निरहंता रहेगी और धार्मिक प्रवृत्तिमें रुकावटका कारण उत्पन्न नहीं होगा। सत्संगको अमृत जानकर, संसारके सभी प्रसंगोंकी गौणता हो जानी चाहिए। संसारकी सर्व महत्वाकांक्षाओंको बिलकुल छोड़ देना चाहिए (और) तीव्र अपेक्षा कहीं पर भी नहीं रखनी चाहिए।

सत्संगमें भी 'पूर्णताका लक्ष' नहीं हुआ है, इसकी खटक रखते हुए, उसी हेतुसे सर्व विचारणा - मंथन चले, उसीका प्रयत्न चालू रहे - वही 'उसका' कारण है। कारणमें कार्यको गर्भित समझना। जिसको छूटना ही है, उसे कौन बांध सकता है ? ऐसा शुद्ध अंतःकरण

हुए हितबुद्धि या प्रमादबुद्धि होना संभवित नही है, वैसे ज्ञानी भी व्यवसायादिक सांसारिक प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी भावना करते है, तो फिर मुमुक्षुजीवको निजज्ञानके परिचय - पुरुषार्थ हेतु निवृत्तिकी चाहत रखना, यह विचारवान जीवका विवेक है। इस प्रकारके विवेकका अभाव - परभावकी रुचिका द्योतक है। सच्ची मुमुक्षुतामें तो उदय-प्रसंगमें असारता भासित होती है, वृथा समय खोना पड़ रहा है, - ऐसा जानकर निवृत्तिकी तीव्र चाह रहा करती है और पूरी शक्तिसे आत्मार्थके पीछे समय व्यतीत हो, वैसा उपयोग रहता है। (१०५०)

दिसम्बर - १९९२

अनुपम चिद्रुपको - निज परमेश्वरपदको अंतरमें जिन्होंने व्यापक(रूपमें) निहारा, उनको रागादिमें स्वपदका भ्रमभाव मिटा। रागकी मिठास छूट गई, क्योंकि अशुचि व दुःख लगनेसे, अपेक्षा छूटकर उपेक्षा हुई। जिसे रागकी उपेक्षा हुई, उसे रागके विषयभूत देहादि और इन्द्रिय विषयोंकी माया छोड़ना सहज है। शाश्वतपदमें निवास होनेसे, भवउदासी होकर निजसुखराशीको प्राप्त होता है। पूरे भवसे उपेक्षाबुद्धि हुई है, वहाँ भवके पेटाभेदरूप उदय प्रसंगोंमें भी गौणता होना सहज है। सत्संगको निष्फल करनेवाले लौकिकभावको तो इस अलौकिक सन्मार्गमे ज़रा भी अवकाश नही है। (१०५१)

※

अहो ! सत्पुरुषके हृदयका गांभीर्य ! मान-अपमानकी बुद्धि नहीं होने पर भी, अपना आत्मा बाह्य माहत्म्यको नहीं भजने लगे, इसके लिए जो अत्यंत जागृत है, (और) अन्य महात्माओंके प्रति और पात्रतावान उत्कृष्ट मुमुक्षुके प्रति वे सहज बहुमानपूर्वक विनम्रतापूर्ण व्यवहारसे प्रवर्तते हैं। दृष्टि सम्यक् होनेसे जिन्हे महा विवेक प्रगट हुआ है। धर्म प्रभावना करते हुए, मुमुक्षुओंको `आश्रयमार्ग' का बोध देते हुए भी, प्राप्त महत्त्वसे जो अंतरसे निस्पृह रहते है, फिर भी अंतेवासी सुपात्र जीवकी भक्ति-भावनाका केवल निष्कारण करुणासे अनुमोदन करते हैं, स्वदोषको भी प्रगट करके जो आपसमें ऐक्यताको वृद्धिगत करते है, ऐसी स्व-पर कल्याणक विचक्षणताके धारक धर्मात्माके प्रति हृदय नत्‌मस्तक हो जाता है। वास्तवमें वे आश्चर्यकी प्रतिमा ही है। जितना - जितना उनके सम्यक् चरणके समीप जाना होता है, हृदय वारंवार बहुमानसे पुकार उठता है - अहो...! अहो...! (१०५२)

※

अवगुणके प्रति अनगमा होना वह प्रशस्त द्वेष है। चाहे वह स्वका हो चाहे परका। गुण जिज्ञासा - चाहनाकी भूमिकामें ऐसा हुए बिना नहीं रहता। सम्यक् वीर्यकी उत्पत्ति होनेके पहलेका

जिसको छोड़नेका उपाय सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, उसको गौण करके, छोटे-छोटे दोष छोड़नेमें समय व शक्तिका खर्च करना उचित नहीं है। (१०५७)

※

'ज्ञानमात्र'से वेदनगोचर हो रहा जो निज अस्तित्व - वही आत्मा है; जो प्रत्यक्षतासे (द्वारा) साक्षात्कार होकर निःशंक प्रतीतिको पैदा करता है। आत्मवेदन शांत सुधामय होनेसे उसमें थम जाना - जमना सहजरुपसे होने योग्य है।

'ज्ञानमात्र' भावमे अनंत निज ऐश्वर्यका अवलंबन है, वीर्यकी स्फुरणा है। (१०५८)

※

उदय प्रसंगोंमें अपेक्षावृत्तिके कारण दीनता होनेसे निज सामर्थ्यका सहज अस्वीकार हो जाता है, जो अज्ञानीका लक्षण है। जब कि स्वयंके अनंत सामर्थ्यके स्वीकारके कारण, निरालंब, निर्पेक्ष परम तत्त्वके आधारसे उदयमात्रमें उदासीनता रहे, वह ज्ञानीका लक्षण है। इसीलीए ज्ञानी हमेशा असंगताकी ही भावना भाते है, जो असंगदशाकी प्राप्तिका कारण है। मुमुक्षुजीवको शुभयोगकी प्रवृत्ति करते हुए अगर द्रव्यादिकी वांच्छा रही, तो वह मुमुक्षुताका नाश कर देती है। इस प्रकारकी वांच्छाके परिणाम वह भूमिकासे बाहरके परिणाम है। (१०५९)

※

अनुभवज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न हुआ निश्चय बदलता नहीं है, कि दूसरे पदार्थके संगसे प्रवर्तन करनेमें आस्रव है और आत्मपरिणामकी अस्वस्थता अर्थात् असमाधि है। जितनी आत्मपरिणामकी स्वस्थता, उतनी ही समाधि है। इसी वजहसे सर्व संग-प्रसंगमे ज्ञानी उदास है। मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति दो कर सकते है, एक ज्ञानी और दूसरा ज्ञानीके आश्रयमें वर्तता हो, वह। सर्व उद्यमसे असंगतासे, आत्मभाव साध्य हो उस प्रकारसे प्रवर्तन करनेकी श्री जिनेश्वरकी आज्ञा है। (१०६०)

※

बाह्यमें खुदका माहत्म्य दिखे, वैसा कुछ भी करना, करवाना, या अनुमोदन करना - यह ज्ञानीको प्रिय नही होता, बाह्य दृष्टिवानको प्रिय होता है। मनुष्य पर्यायमें मानको जीतना अति दुष्कर है। उसका सुगम - सरल उपाय सत्पुरुषका चरण-आश्रय है। इसके सिवा मानसे मुक्त होना अति दुष्कर है। - इस दुष्कर कार्यकी सिद्धिका अद्भुत उपायका संतोंने बोध दिया है। जिसकी मुमुक्षुजीवको परमहितका मूल समझकर उपासना कर्त्तव्य है। (१०६१)

※

सम्यक्‌प्रकारसे अनुकम्पाकी उत्पत्ति होने पर सर्व जीवके प्रति भेदभाव बिना निर्वैरबुद्धि

विरतिका। अनुक्रम टूटने जैसा प्रवर्तन खुदसे नहीं हो, इत्यादि लक्षमें रखकर प्रवर्तन करना चाहिए। उदयमें उदासीनता आये बिना आत्मजागृति संभवित नहीं है। (१०६६)

※

लोकसंज्ञाका श्रद्धाके साथ सम्बन्ध है। जो लोगोंके अभिप्राय अनुसार जीता है, उसे खुदके ऊपर श्रद्धा नहीं है। जिसे खुदमें श्रद्धा है, उसे लोगोंकी दरकार नहीं होती। खुदकी निर्दोषता ही निःशंकताका आधार होनी चाहिए। सत्यको यदि दूसरेके सर्टिफिकेटकी जरूरत पड़े, तो वह पंगु / अपंग हो जाये। लोगोके अभिप्रायको खरीदनेवाले सत्यको बेचकर, आत्मघात करते है। ऐसे जीवनमें शांति नहीं होती। सम्यक्मार्ग पर चलनेवाला स्वतंत्र विचारक, किसीकी भी परवा किये बिना, मस्तीमें जीता है। उसे कोई भी घटना या दुर्घटना चलीत नहीं कर सकती, बल्कि सर्व प्रसंग मार्गकी दृढ़ता होनेमें ही उसे, उपकारी होते है। सच्ची समझका ऐसा स्वभाव है। (१०६७)

※

परमार्थसे आत्म-स्वरूप असंग है। वैसी स्वरूपाकार दशाकी-असंगदशाकी प्राप्ति होना, वह मोक्ष है। ऐसी दशाकी प्राप्तिके उपायसे जो अनजान है, उसे मार्गके अनुभवी पुरुषके सत्संगकी उपासना करनी चाहिए - ऐसा अनुभवी महात्माओंने कहा है, जो अत्यंत सत्य है। निर्वाणमार्ग अगम और अगोचर है। श्रीगुरुके आश्रय बिना वह मार्ग मिलना अशक्य है। यद्यपि जिन्हें मार्ग प्राप्त है, वे भी सत्संगकी उपासनाको आवश्यक समझते है, अन्यथा प्राप्त बोध स्थिर रहना विकट है, तो आत्मार्थीको तो इसकी आवश्यकता विशेषरूपसे भासित होगी ही - यह निःसंशय है। (१०६८)

※

निजदोष देखनेके दृढ़ निश्चयके कारण तथारूप लक्ष रहता हो, जिससे स्वच्छंद रहितता हुई हो, वैसा मुमुक्षुजीव शास्त्र पढ़ सकता है, इसके पहले शास्त्रज्ञान करनेसे, शास्त्रीय अभिनिवेश हो जानेका प्रायः संभव है। स्वच्छंद रहित जीवको आत्मा समझनेके लिए शास्त्र उपकारी होते हैं। अनेकविध शास्त्र वचनोंमें पूर्वापर अविरोधता, क्रमभंग रहित यथार्थता, एवं योग्य प्रकारसे वज़न हीनाधिक देना - इत्यादि सूक्ष्म प्रकारको, सत्संग बिना समझना दुर्गम है।

`पूर्णताके लक्षसे' प्राप्त उपशमदशा द्वारा जीव शास्त्रका अवगाहन करनेके लिए अधिकारी बनता है। अनअधिकारी जीवके लिए शास्त्र, वह शस्त्रके बराबर हो जाता है। (१०६९)

※

ज्ञानीको स्वरूपमें स्थिरता वर्धमान होनेसे वीतरागताके कारण सहज त्याग वर्तता है, जो

आज्ञा की है, और जगह-जगह पर सत्संगका माहत्म्य दर्शाया है, साथ ही साथ असत्संगसे दूर रहनेकी हितशिक्षा भी दी है। इसका यथार्थ लक्ष नही होनेसे जीव उसका विस्मरण कर जाता है। अतः परिणाम अखण्ड नही रहते। आत्मरुचि वृद्धिगत् हो ऐसी इच्छावान मुमुक्षुको दूसरे सर्व बाह्य साधनको गौण करके सत्संगकी उपासना कर्त्तव्य है। जिसे ऐसा विवेक नहीं है, उसे निमित्तका भी विवेक नही है, तो उपादानका विवेक तो उसे होगा ही कहाँसे ? फिर भी उपादानका नाम लेकर जो सत्संगको गौण करता है, वह ज्ञानीकी आज्ञाकी विराधना/उल्लंधन करके स्वच्छंदका सेवन करता है। यह निःसंशय है। (१०७४)

❋

मनुष्यपना अनन्तबार प्राप्त हुआ है, परन्तु आत्महितार्थ उसकी सफलता हुए बिना प्रायः देहार्थ प्रवृत्ति करनेमें व्यतीत हुआ है। जिसमें जन्म-मरणका नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिनको वर्तता है, ऐसे ज्ञानीपुरुषकी पहचान करके, आश्रय किया, वह मनुष्यपना सफल है। जिस आश्रयसे जीव अनेक प्रकारके मिथ्याग्रहसे मुक्त होकर, उस भवमें अथवा समीपके अल्पकालमें स्वस्वरूपको प्राप्त करेगा। ज्ञानीपुरुषके आश्रय बिना, जीवको धर्मप्रवृत्ति करनेमे, ऊपर चढ़नेके बजाय गिरनेके अनेक स्थान है, अटकनेके शुभयोगके अनेक हेतु है। जीवकी दृढ़ मोक्षेच्छा, उसे सत्पुरुषकी खोज एवं आश्रयभावनाके लिए प्रेरित करती है। तभी जीव सर्वार्पणभावसे आज्ञाश्रित रहनेकी योग्यताको प्राप्त होता है। विचारवान जीव इस प्रकार स्वरूपप्राप्तिकी परम अवगाढ़ भावनामें - दशामें आकर मार्ग पर चढ़ता है। (१०७५)

❋

लोकसंज्ञाका दोष अति भयंकर है। 'लोगोंमें स्वयंकी महत्ता होना'-वही जिसका आत्मा है, वह इसके लिए देव, गुरु, शास्त्रकी विरोधरूप विराधना सहजमात्रमें कर बैठता है। विद्वता और शास्त्रज्ञान होने पर भी, मति-मूढ़ताके कारण यह महादोष होता है। परन्तु लोक समूहको गौण करनेवाले सामान्य मुमुक्षुसे (भी) ऐसी भूल नही होती। योग्यताकी इस विलक्षणताका गहराईसे विचार कर्त्तव्य है। इतना ही नही लोकसंज्ञा जीवको गृहीत मिथ्यात्वमे ले जाती है, यह भी विशेषरूपसे लक्षमें रखने योग्य है। जीवके परिणाममें लोकसंज्ञा मल वृद्धि करती है और इस वजहसे जीव आत्मकल्याणसे दूर हो जाता है। (१०७६)

❋

धर्म-अधर्मके विषयसे जो अनजान है, वह शुभ परिणामसे धर्म क्यों नही होता ? इस समस्यामें उलझता है, जब कि अधर्म होनेमें मुख्य कारण सिर्फ अशुभ परिणाम ही नहीं है, परन्तु मुख्यतः अज्ञान और मिथ्यात्व सहित सर्व आचरण / परिणमन वह अधर्मका स्वरूप

तब तक जीवंत रहती है, जब तक भोगोपभोगमें अनासक्ति नहीं होती और लौकिकमें अपनी विशेषता - संयोगोंसे दिखानेका अभिप्राय रहता है। अतः मुमुक्षुजीवको लौकिक मानकी तुच्छता समझमें आये और सत्पुरुषके वचन द्वारा आसक्तिके परिणाममें नीरसता आये, तो तृष्णाका पराभव हो सकता है; वरना तृष्णाके कारण जीवको अनेक प्रकारसे आवरण प्राप्त हो वैसे परिणाम होते ही रहते है। लौकिकमानकी कल्पनाके पीछे कितना अहित हो जाता है? इसका विवेक खचितरूपसे होना चाहिए। (१०८०)

फरवरी - १९९३

अनन्तकाल बाद महँगा ऐसा मनुष्यपना मिला है। उसमें देहार्थकी सर्व बाबतोंको गौण करके, एक आत्मार्थको ही मुख्य करके, आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना चाहिए, - ऐसा अखण्ड निश्चय होने पर आत्मार्थीता प्रगट होती है। देहार्थसे सुखी होंगे - यह केवल कल्पना है, ऐसा यदि यथार्थरूपसे भासित होगा तो, जीव संसार मार्गसे पीछे हटकर परमार्थमें अग्रेसर होगा और सर्व शक्तिसे आत्महितका ही पुरुषार्थ करेगा। संयोगोंकी चिंता एकांत आत्मगुणरोधक है, यह विस्मरण करने योग्य नहीं है। (१०८१)

जब तक स्वच्छंद है तब तक बोधबीज योग्य भूमिका नहीं है। स्वच्छंद अनादिसे जीवका महादोष है। उसे मिटानेके दो उत्तम उपाय है। एक उपादान सापेक्ष और दूसरा निमित्त सापेक्ष। अपने दोषोंको अपक्षपातरूपसे देखनेसे स्वच्छंदकी अवश्य हानि होती है। जब तक उस प्रकारसे निजावलोकनरुप आत्मजागृति उत्पन्न नही हो, तब तक स्वच्छंदपूर्वक ही जीव धर्मप्रवृत्तिमें जप, तप, शास्त्रवांचनादिमें प्रवर्तता है, परन्तु इससे आत्महित नहीं होता। दृढ़ मोक्षेच्छावानको स्वयंके अवलोकनका प्रकार उत्पन्न होता है।

दूसरा उपाय :- प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगमें, उनकी आज्ञाका एक निष्ठासे आराधन करनेसे सहजमात्रमें स्वच्छंद दबता है - यह सुगम उपाय है। परन्तु सत्पुरुष मिलने चाहिए और उनका आश्रय करनेका निश्चय होना चाहिए। 'प्रत्यक्षयोग' का महत्त्व स्वच्छंद मिटानेके लिए समझना आवश्यक है। अर्थात् जिसे 'प्रत्यक्षयोग' का महत्त्व भासित नहीं हुआ, उसे वास्तवमें आत्महित करना ही नहीं है, यह निश्चित होता है और वह महास्वच्छंद ही है। क्योंकि निज छंदसे अनन्तकाल परिश्रम करने पर भी मार्ग प्राप्ति नहीं हुई है। 'स्वच्छंद निरोधपने सत्पुरुष/आप्तपुरुषकी भक्ति' को समकितका प्रत्यक्ष / अनन्य कारण जानकर, उसे एक न्यायसे समकित कहनेमें आया है, जो यथार्थ ही है। (१०८२)

है। `मात्र मोक्ष अभिलाष' में से ऐसी निर्मलताका जन्म होता है। (१०८

✻

स्वयंका ज्ञानानुभवन ही सुखाभासरूप भ्रमणाकी निवृत्तिका प्रयोगसिद्ध उपाय है, एका उपाय है। वेदना - दुःख निवृत्तिका भी यही उपाय है। यह उपाय सिद्ध-प्राप्त होने पर ज संसार तिर जाता है। ऐसा ज्ञानानुभवन वह स्व-का अभेदज्ञान है और पर-का परसे भेदज्ञ है। (१०८

✻

आत्मार्थी जीवको सर्व प्रथम यह विचार करना चाहिए कि कोई भी कर्त्तव्यका ग्रहण अ अकर्त्तव्यका त्याग करते वक्त तत्सम्बन्धी `अहम्' उत्पन्न ही न हो, वैसी सहज स्थिति र ऐसे उपायकी गवेषणा कर्त्तव्य है। वरना पर्यायदृष्टिपनेके कारण दर्शनमोह तीव्र हो जाने सहज ही `अहम्' हो जानेकी संभावना रहती है। इसलिए महात्माओंने सर्व प्रथम `पूर्णता' क `लक्ष' करनेको फरमाया है। यह लक्ष रहनेसे पूर्ण शुद्धि पर्यंत अतिपरिणामीपनेके कारण उत्प होनेवाला `अहम्' भाव उत्पन्न नहीं होता, परन्तु `बहुत बाकी है'- ऐसा ही लगता रहता है। (१०८८)

✻

आत्मार्थी जीवको प्रयोग पद्धतिके विषयको समझनेके लिए जल्दबाजी या जानकारी करनेके लोभसे पहलेसे ही धारणामें लेना हितावह नही है। परन्तु प्रयोग द्वारा ही उसका Practical ज्ञान करनेका प्रयत्न करना चाहिए, वरना प्रायः धारणामें अटकना हो जायेगा। अतः समझनेमें प्रयोग पद्धति रखना ही उत्तम है। अर्थात् प्रयोग द्वारा ही प्रयोगको समझना उचित है। बिना प्रयोग किये प्रयोगकी पर्याप्त जानकारी हो भी नहीं सकती। इतना ही नहीं परन्तु जानकारी करनेका लोभ, जानकारी होने पर संतोषमें परिवर्तित होता है, जो कि प्रयोगमे आने नहीं देगा। यह भी लक्षमें लेने योग्य है। (१०८९

✻

अध्यात्ममें कुछएक सिद्धांत विभिन्न कोटिके साधक-अधिकारी आत्माओके लिए होते हैं जिसके द्वारा उन जीवोंका आत्मकल्याण शीघ्र सधता है। तथारूप योग्यताके बिना प्रायः उस विषयका श्रवणयोग होने पर भी, उसका पारमार्थिक लाभ होना संभवित नहीं है। बिना योग्यता और तत्सम्बन्धित प्रयत्न दशाके बिना, सिर्फ धारणा करनेमें, उस विषयमें कल्पित निश्चय होता है, जो अभिनिवेशका हेतु होता है। अतः वैसे प्रसंगमें प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञामें चलना हितावह है। दृष्टांत रूपसे :-

रहकर / प्रवेश करके अवगाहन कर्त्तव्य है। इसके पहले परलक्षी विचारमें उसकी कल
होनेका संभव है। ऐसे गंभीर विषयको अधीरजसे, अपरिपक्व दशासे समझनेकी कोशिश कर
कल्पित निश्चय होता है, जिससे दूर रहना उचित है। (१०९

※

उपाधिमय उपयोग, ज्ञानसामान्यको तिरोभूत करता है, इसीलिए श्री जिनेश्वरदेवने वैरा
और उदासीनताका उपदेश दिया है। निरूपाधि ज्ञान ही ज्ञानवेदनरूप ज्ञानसामान्यके प्रति झुकने
लिए सक्षम है। अतः सर्व अन्य द्रव्य-भावसे अपनी असंगताका अवलोकन करके उपाधि रहि
होकर, अव्याबाध अनुभवरूप ऐसे खुदको प्रत्यक्ष करनेमें सर्व ज्ञान समाहित है। द्वादशांगी
विस्तारका यह सार है। केवल असंग और अनन्त प्रत्यक्षकी प्रतीतिमें सम्यक्दर्शन समावि
है। स्वरूपाकार वीतरागीदशामें सर्व चारित्र समाविष्ट है। ऐसी दशा जिन्होंने प्राप्त की, उ
भगवानरूप पुरुषको नमस्कार। (१०९४

※

जिस मार्ग पर चलकर ज्ञानी ज्ञानदशाको प्राप्त हुए, उस ज्ञानीके मार्ग पर चलनेका
अगर निश्चय हो तो वह योग्यताका सही एवं बहुत अच्छा लक्षण है। प्रायः अनेक शास्त्रो
पढ़नेके बाद भी ऐसा निश्चय किसी वीरल जीवको होता है। जिस जीवको ऐसा निश्चय होता
है, वह जीव अवश्य तिर जाता है। 'श्री सोभागभाईका ज्ञानीके मार्ग प्रतिका निश्चय अद्भुत
था' - ऐसा कृपालुदेवके ज्ञानमें था - (पत्रांक-७८३)। और इसी वजहसे उनकी प्रसन्नता /
कृपा श्री सोभागभाईके प्रति थी। इस कारणसे उनमें मुमुक्षुताके अद्भुत गुण प्रगट हुए थे,
इसी कारणसे कृपालुदेवका पारमार्थिक बोध वे अंगीकार कर सके थे। आत्मार्थीको मुख्यतया
यह बात लक्षगत करने योग्य है। (१०९५)

※

सत्पुरुषके चरणमें निवास वह परम सत्संग है। इसके जैसा हितकारी साधन जगतमें
दूसरा कोई नहीं है। सत्पुरुष अर्थात् मूर्तिमान मोक्ष - ऐसा जिसे भासित हुआ है, उसे सच्ची
पहचान हुई है। अन्यथा ओघसंज्ञासे सत्पुरुषकी मान्यता है। सच्ची पहचान होने पर, बिना
समझाने पर भी जीवको स्वरूप स्थिति होना संभवित है। यह सत्संगका अद्भुत एवं अलौकिक
चमत्कार है। ऐसा दर्शानेके आशय / हेतुसे ही सर्व जिनागममें जगह-जगह पर सत्संगकी
महिमा गायी है। जीवको विवेकपूर्वक सत्संगका, सर्व प्रसंगको गौण करके, आराधन कर्त्तव्य
है। (१०९६)

※

वर्णन किया गया है, वहाँ विषय कषायका पोषण या अनुमोदन नहीं हो जाये, इसकी जागृ
रखना जरूरी है। विपरीत रुचिसे किसी एक दृष्टांतको ग्रहण कर लेनेसे, अभिप्रायपूर्वक दो
हो जाता है, (और) शुद्ध परिणामकी हानि हो जाती है। अर्थात् दोषदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) बलवा
हो जाती है। (११०१

※

प्रश्न :- प्रयत्नदशाकी शुरूआत किस प्रकारसे करनी चाहिए ?

उत्तर :- चलते हुए उदय प्रसंगमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्टपनेका अनुभव हो रहा है, वहाँ समझको लागू करके उदयको 'मात्र ज्ञेय' रूप अवलोकनमें लेना; और प्रथम परपदार्थ संबंधी इष्ट-अनिष्टपनेका अभिप्राय मिटाना चाहिए। अभिप्रायका पलटना हुए बिना 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' - वैसा अस्तिका पुरुषार्थ चलेगा नहीं और राग-द्वेष होनेके कालमें जागृतिपूर्वक सहज भावसे निषेध आयेगा नहीं। अभिप्राय बदलनेके बाद सर्व उदय प्रसंगमे ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् साक्षीभावसे रहनेका पुरुषार्थ करना है।

इष्ट-अनिष्ट लगना वह मात्र काल्पनिक है - ऐसा प्रयोगके कालमें लगे तो विपरीत अभिप्राय मिटता है। जबतक कल्पना, कल्पना न लगे तबतक उसकी जाँच चालू रखनी है, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक प्रसंगमें। (११०२)

※

परमार्थकी प्राप्ति करनेमें जीवको अपार अंतराय है। किसी भी भूमिकामें निर्विघ्नपने आगे बढ़नेमें सत्संग जैसा दूसरा कोई साधन नही है। सत्पुरुषके संगको इसलिए अपूर्व जानकर उसका आराधन करना चाहिए और सत्पुरुषके वियोगमें, शुद्ध अंतःकरणसे केवल परमार्थको ही चाहनेवाले मुमुक्षुओंके समागममें रहना चाहिए, जिससे कि असत्संगसे बचा जा सके। इस कालमें सत्पुरुषका संग तो अत्यंत दुर्लभ है ही, परन्तु मोक्षार्थीका संग भी दुर्लभ जानकर, उसका उपकारीपना जानकर, दासत्व भावसे रहना चाहिए। ऐसे दासत्वका स्वीकार करना, यह परमार्थ प्राप्तिकी परम योग्यताका द्योतक है। ज्ञानीपुरुष भी ऐसे अभिप्रायका सेवन करते है, जो मोक्षार्थीको बोधका निमित्त है। परसंगके योगसे जीव भूला है, यह विस्मरण करने जैसा नही है। (११०३)

※

बंधबुद्धिसे प्रवर्तित जीव, अपने विषयमें अबंध (ज्ञायकशुद्ध) स्वरूपकी कल्पना करे, वह निश्चयाभास है। अतः प्रथम विपरीत अभिप्रायको-सुखाभासको टालनेका प्रयास करना चाहिए, इसके बिना अस्तिका - ज्ञायकका पुरुषार्थ (सहज संवेग) उत्पन्न नहीं होगा। फिर भी कृत्रिम

आत्मवृत्तिसे और आत्माकाररूप होती हुई चेष्टासे प्रभावित वचन परम उपकारी होते हैं। प्रत्यक्ष प्रगट आत्मवृत्तिका बोध आत्मार्थीको, शीघ्र रुचि उत्पन्न होकर, असर करता है। तथा सत्पुरुषका आत्माकाररूप वर्तता पुरुषार्थ, आत्मार्थीके आत्मवीर्यको जागृत करता है, अथवा आत्मजागृतिको उत्पन्न करता है, अनुभव-उत्साहकी प्रेरणा करता है - ऐसे परम सत्संगको अत्यंत - अत्यंत भक्तिसे नमस्कार। जयवंत वर्तो प्रत्यक्षयोग !! (११०८)

✻

आत्मदर्शनके लिए सारे जगतसे उदास होकर, अंतरलक्ष करनेकी जिसकी अत्यंत तत्परता रहती हो, वैसे उत्कृष्ट पात्र जीवको, प्रत्यक्ष मूर्तिमान आत्मज्ञान स्वरूप, गुणातिशय जिनको प्रगट हुआ है; पवित्रता जिनकी शोभा है, जो दिव्यगुणोंसे दिव्य मूर्तिरूप दृश्यमान हो रहे हैं, वैसे पुरुषरूप भगवानके, आत्मस्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले वचन-अमृतधारा-अंतरमें प्रदेश-प्रदेशमें प्रसर जाती है। क्योंकि वह सुपात्र जीव दिव्यामृतको प्रदेश-प्रदेशसे चाहता हुआ खड़ा है। वह पुरुषप्रत्यक्षकी आत्मवृत्ति एवम् आत्मजागृति आत्मार्थी जीवको बिना कहे भी बोधका निमित्त होती है, वहाँ वाणी दिव्यध्वनि ही भासित होवे उसमें क्या आश्चर्य है ? (११०९)

✻

अध्यात्ममार्गमें ज्ञानकी साधन अपेक्षासे प्रधानता है। ज्ञानवेदनका आविर्भाव होनेसे स्वानुभूति समुत्पन्न होती है, स्वानुभूति सम्यक्त्व उत्पन्न होनेका कारण है। और सम्यक्त्व होते ही आत्माके अनन्त-सर्वगुण सम्यक् होकर - आत्माभिमुख होकर, जात्यांतर होकर, परिणमन करने लगते है, जो भव निवृत्तिका - परम कल्याणका एकमात्र कारण है। इसलिए सम्यक्त्वकी अनन्त महिमा श्री जिनने गायी है। सर्व धर्मात्माओंने सम्यक्भावकी अभिवंदनाकी है, उसे अभिनंदित किया है। (१११०)

✻

## अप्रैल - १९९३

स्वरूपका अनुभव नहीं होनेमें अंतराय दर्शनमोहका है। दर्शनमोहका अनुभाग अधिक मात्रामे घटने पर स्वरूपदृष्टि सहजमें परिणमती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेके लिए आत्महितके लक्षपूर्वक सत्संग, वीतरागश्रुत चिंतवना, गुण जिज्ञासापूर्वक अंतर अवलोकन और स्वरूपके लक्षसे भेदज्ञान अर्थात् स्वसन्मुखका पुरुषार्थ होना जरूरी है। (११११)

✻

जो महत्पुरुष निर्मल सम्यक्दर्शनसे और परमार्थ संयमसे परम पवित्र आत्मस्वरूपमें स्थित हैं, उनके चरणोंकी उपासनासे निर्ग्रंथ प्रवचनका रहस्य ग्रहण होनेकी योग्यताकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें मान्य नहीं है। 'गुणकी उपासना और भक्ति अविनाभावी है' अथवा कारण-कार्यरूप है। सद्‌वर्तनरूप गुणका आचरण वह ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है। अगर जीव इसकी उपासना करे तो बहुत शास्त्रोंके अभ्याससे प्राप्त होनेवाला फल, सहजमें उपरोक्त भक्तिसे प्राप्त हो सकता है। क्रमशः आगे जाकर इससे आत्मनिष्ठता प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके चरणकमलकी उपासना जिसका मूल है, ऐसे मार्गका क्रम, इस प्रकार जानने योग्य है। (१११६)

※

गंभीर उपयोगसे व अविक्षिप्त चित्तसे परम-शांत श्रुतका अनुप्रेक्षण होना चाहिए। अपूर्व स्वभावकी अंतर सावधानी प्रेरक, स्वरूप प्रत्यक्षता-दर्शक महत्पुरुषोंके वचनामृतोंका गहरा अवगाहन आत्माको सम्यक् पुरुषार्थमे लगाकर परमश्रेयके मूलको दृढ़ीभूत करता है और क्रमसे आगे जाकर परमपदकी संप्राप्ति होती है। स्वाध्याय पद्धति और स्वाध्यायका विषय - इस प्रकारसे इच्छनीय है। तद्‌अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वांच्छनीय है। (१११७)

※

वर्तमान जीवन - व्यवहारकी स्थिति ऐसी है कि प्रायः उसमें चित्तविक्षेप रहा करता है। अविक्षिप्त चित्त रहना दुर्घट है। ऐसेमें सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सके - ऐसा अमुक अंशमें होनेके लिए, कल्याणरूप अवलंबन (ऐसे) - सत्संगका महत्व - उसकी आवश्यकता, समझमें आनी भी उनको कठिन है। शुद्ध अंतःकरणसे जीवको आत्मकल्याणकी भावना होती है, तो वह सत्संगके लिए गरज़वान बनता है। जो सत्संगके महत्वको नहीं समझते है, उनको वास्तवमें आत्मकल्याण करना है - ऐसा कहना (भी) कठिन है। (१११८)

※

जबतक बाह्य पदार्थमें सुख - अभिप्रायपूर्वक अनुभवमें आता है, तबतक परिणामकी दिशा - वृत्तिका प्रवाह बहिर्मुख जाता है और अंतर्मुख नहीं हो सकता। भेदज्ञानके प्रयोग पूर्वक जड़-चेतनकी भिन्नताका अभिप्राय पकड़नेके अभ्याससे चैतन्यतत्त्वकी प्रतीति द्वारा जीवकी वृत्तिका प्रवाह विषयसे उदासीन होकर, शुद्ध चैतन्यके प्रति सहजरूपसे जाता है। क्योंकि स्वयं अनन्त अचिंत्य अव्याबाध सुखसे भरितावस्थ है। सहज प्रत्यक्ष स्वरूपको प्रगट दिखानेवाले अनुभवीपुरुषके वचनके श्रवणसे उल्लासित होनेवाला जीव दर्शनमोहके रसको तोड़कर निज स्वरूपकी यथार्थरूपसे प्रतीत करता है। तत्त्वश्रवणकी उल्लासितता, तत्त्वप्रतीतिकी पूर्व भूमिका है। और प्रतीति अनुसार जीवकी वृत्तिका प्रवाह सहज बहता है। इसीलिए उल्लासित वीर्यवान जीवको परमकृपालुदेवने, तत्त्वपानेका मुख्य अधिकारी / पात्र कहा है। मुक्तिका उल्लास नहीं आना वह अत्यंत अस्वाभाविक है, अपात्रताका लक्षण है। (१११९)

त्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञा अनुसार चलनेका निर्धार कर्त्तव्य है। (११२२)

※

कारणशुद्ध पर्याय अर्थात् 'अवलंबनके योग्य ऐसा निजस्वरूपपना वर्तमान अवस्थितपना' कि ो उसी समयमें पर्यायशुद्धिका कारण बनती है। सर्व वर्तमानमें जहाँ सहज स्वरूप शुद्ध कार्यके ारणरूप मौजूद ही है, वहाँ अन्य प्रवृत्तिके विकल्पको अवकाश नहीं है- इस प्रकार ारणपरमात्मपना स्वयं स्वरूप है ऐसा बतलाकर संतोंने अनन्त उपकार किया है। (११२३)

※

देव-दर्शन : अनन्त अचिंत्य प्रगट अव्याबाध सौख्य - परमानंदकी मूर्ति, अनन्त वीतरागता ौर निरवशेष अंतर्मुखभावसे चैतन्यके पूर्ण प्रत्यक्ष तेजके पुंजरूप, अनन्त स्वसंवेदनमय परिपूर्ण वित्रता - आदि दिव्यगुणोंसे अलंकृत - देदिप्यमान प्रभु दर्शन, तथारूप आत्मभावोंके आविर्भावका रमोत्कृष्ट निमित्त है।

गुरु-दर्शन : प्रचुर स्वसंवेदनसे शोभायमान - जो प्रशमरसमें निमग्न हैं, जिनके दर्शनमें ालते - फिरते सिद्ध परमात्माके दर्शन होते हैं - ऐसे भिष्म पुरुषार्थकी मूर्ति, स्वरूपस्थित, ेस्पृही, निष्काम करुणाकी प्रतिमारूप निर्ग्रंथ गुरु - तथारूप गुणप्राप्तिके लिए वंदनीय हैं।

शास्त्र-दर्शन : सम्यक् स्वभावके द्योतक वचन भंडारसे जो समृद्ध है। हितोपदेशके रत्नोंकी ो खान है। सर्व शांतरस जिसमें गर्भित है, मोह स्वयंभुरमण समुद्रको तिर रहे ऐसे - शास्ता पवित्र पुरुषोंकी जो वाणी है। वीतराग - परम शांत रस रहस्यमय निर्मल चैतन्यसे प्रभावित प्रभावशाली वचनोंसे जो पूजित है। ऐसा सुश्रुत - सत्श्रुत उपासनीय है।

सत्पुरुष-दर्शन : त्रिलोकीनाथ जिनके वश हुए हैं, ऐसी दृष्टि संपन्न होने पर भी जिनको ार्व नहीं है, जिनको उन्मतता नहीं है। गुणातिशयवान समर्थता होते हुए भी जो अंतरंगसे ेस्पृह रहकर बाहरमें अटपटी दशासे वर्तते है। जो मूर्तिमंत आत्मज्ञान स्वरूप हैं, जिनकी हचान होनेसे मुमुक्षुको परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होकर, आप्तपुरुषकी प्रतीति / भक्ति संप्राप्त होकर, ामकितके बीजका रोपण होता है, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप गुणवंत ज्ञानी, नमस्कार आदिसे ेकर सर्व प्रकारसे भक्ति करने योग्य है।

परमतत्त्वके दर्शनाभिलाषीको परमार्थकी प्राप्तिके सन्मार्गमें उपासना करने योग्य सत् देव- ुरु-शास्त्र और सत्पुरुषके दर्शनके कालमें, भावमें ऐसा उनका स्वरूप - दर्शन होता है। (११२४)

※

अयथार्थ त्याग और यथार्थ त्याग।

उसमें वास्तविकता नहीं है। (११२८)

✻

ज्ञानीपुरुषकी वाणीका आशय ग्रहण होनेसे आत्मार्थ समझमें आता है अथवा उत्पन्न होता है। वैसी ही अन्य जीवकी वाणी होने पर भी, उसमें वैसा आशय नहीं होता है। स्वस्वरूपकी उपासना करते-करते निकली हुई वाणी उपासकभावसे प्रभावित होती है, आराधकभावसे प्रभावित होती है। अन्य वाणी विभावके एकत्वसे प्रभावित होती है। स्वरूपकी उपासनाकी अभिव्यक्ति उसरूप आशय, उपासनासे जो अनजान हो वह उसे कैसे कह सकता है ? (११२९)

✻

आत्महितके हेतुपूर्वक किया गया तर्क सुतर्क है।

कुतर्क = आत्महितके हेतु शून्य तर्क।

तत्त्वचर्चाकी संज्ञा भी आत्महितके हेतुसे हो रही चर्चाको मिलती है, परंतु जहाँ आत्महितके दृष्टिकोण विहीन चर्चा होती है, वह तत्त्वचर्चा नहीं परंतु व्यर्थ विवाद है। जो इष्ट नहीं है - परंतु जीवको अहितकर है। (११३०)

✻

मई - १९९३

जीवका प्रदेशत्व - अस्तित्व अरूपी है, अतः (छद्मस्थको) जाननेमें नहीं आता। परन्तु ज्ञानवेदन द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है। अतः वेदन द्वारा अस्तित्वग्रहण होवे, उसीको तद्‌जनित ज्ञानबल द्वारा स्वानुभव होनेसे, श्रद्धानमें अस्तित्व आता है। आगम, युक्ति, न्यायसे अस्तित्वका खयाल आता है, (परन्तु) इसमें तत्‌सम्बन्धित बल उत्पन्न नहीं हो पाता। वेदन वह अनुभवांश है, अनुभवांशमें प्रत्यक्षता है जो वीर्यकी स्फुरणाका कारण है। विचार - खयालमें परोक्षता है, जो कि पुरुषार्थकी उत्पत्तिके लिए समर्थ नहीं है। वेदन - ज्ञानपूर्वक इस प्रकारसे सम्यक्‌दर्शन होनेकी विधि है। (११३१)

✻

आत्महितके लक्षसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास - शास्त्रवांचन, श्रवण, चर्चा - विचारणा आदि और न्याय, युक्तिसे जो कुछ भी सम्मत किया हो उसकी यथार्थता है या नहीं, इसकी जाँच करनेके लिए उसमें कोई कल्पना या अयथार्थता / अन्यथापना रह नहीं जाये - हो नहीं जाये इसके लिए आत्मार्थी जीवको, खुदकी समझको प्रयोगकी कसौटी पर चढ़ाकर भावभासनपूर्वक यथार्थ निर्णय करना चाहिए, ऐसा नहीं हो तबतक जिज्ञासाबुद्धिसे प्रवर्तन करना चाहिए, परन्तु खयालमें विचारपूर्वक जो लिया हो उसकी पकड़ नहीं करनी चाहिए, आग्रहका सेवन नहीं करना चाहिए। जिससे कि आत्मार्थीता बनी रहे। (११३२)

परमपुण्यके उदयसे धर्मात्माके दर्शन और समागमका योग संप्राप्त होता है, उनकी प्रत्यक्षतामें आत्मार्थी जीवकी आत्मवृत्तिको पोषण मिलता है। ऐसे धर्मात्माकी वर्तमान कालमें विद्यमानता वह परम - परम सौभाग्य है।

ऐसे धर्मात्माके वियोगमें, वेदनायुक्त स्मरण आत्मार्थीको सहज होता है। उसमें सत्संगकी बलवान भावना वृद्धिगत होती है। धर्मात्माके विरहका ताप भावि समागमका कारण बनता है। अनादिसे परिभ्रमण कर रहे जीवको, (जब) धर्मात्मा 'साक्षात् मोक्ष' भासित होते हैं, तब अपने स्वरूपकी समीपता होती है, बोधका परिणमन होनेकी योग्यता आती है। (११३७)

※

रागसे भेदज्ञान करानेका प्रयोजन यह है कि वेदनसे हो रहे एकत्वको छुड़ाना है। जीवको परप्रवेश भाव द्वारा और विभावरूपसे स्वयंका एकत्व वेदनसे हो रहा है - ऐसा उलटा प्रयोग अनादिसे चल रहा है, जिसके कारण भेदसंवेदन शक्ति आवरित हो चुकी है, जो कि सुलटे प्रयोगसे खुलती है। रागका आकुलतारूप स्वाद आनेसे सहज उपेक्षा होती है, ज्ञानवेदनकी निराकुल मधुर परम शांतिका वेदन अभेद आत्मभावसे वेदनमें आये, वह भेद संवेदनरूप भेदज्ञान है। अज्ञानी मिटकर ज्ञानी बननेकी यह विधि है। (११३८)

※

अनादिसे ज्ञान विशेष - ज्ञेयाकार ज्ञानमें - अनेकरूप ज्ञानमें, ज्ञेय-ज्ञायक शंकरदोष चल रहा है, अतः वैसा मिथ्यात्वभाव जीवका लक्षण नहीं हो सकता। ज्ञानसामान्य एकाकार ज्ञानसंवेदनरूप परिणाम स्वभावरूप होनेसे, वह जीवके लक्षण - स्वरूपरूप प्रतीतमें आते हैं।
'ज्ञानमात्र' की स्वसंवेदनसे सिद्धि (प्राप्ति) है।' - परम पूज्य अमृतचंद्राचार्यदेव (समयसार परिशिष्ट)

यह 'ज्ञानमात्र' भाव स्वरूपको पहचाननेकी बानगी है। (११३९)

※

इच्छासे छूटे तो मोक्ष होवे। इच्छा रखकर मोक्षेच्छा करनेवाला मोक्षका स्वरूप नहीं जानता। ठीक उसी तरह दोषोंका ग्रहण वेसाका वैसा रखकरके ज्ञानप्राप्ति - बिना योग्यताके आये - जीवने उसकी चाहना की है, जो कि अशक्य है।

अंतरात्माकी आवाजका उल्लंघन करके जीव जो दोष करे, वह कैसे छूटे ? समर्पण, विनयादि करके दूसरोंसे श्रेष्ठ गिनती करवानी हो, वहाँ तक बेमानपना है, ज्ञानीका मार्ग इससे अभी दूर है। धर्मात्मारूप परमात्माकी कृपा बिना, खुदके दोष (भी) नहीं दिखते, तो आत्मदर्शन तो होवे ही कैसे ? (११४०)

※

सम्यक्‌बोध - श्रवण होनेके पश्चात् जीवको अपने अंदर क्या जाँच करनी चाहिए ? क्या

उपेक्षा करनेमें भय लगता है। जिसके कारण उदय प्रवृत्तिमें जीवन चला जाता है, और वह आवरणकर्ता बन जाता है। और मिला हुआ अपूर्व योग अफल जाता है, मौका हाथसे निकल जाता है। देहादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही भवांतरमें देहादि बंधन प्राप्तिका कारण है। वर्तमानमें भी व्यामोह छोड़ते हुए यदि जीवको दुःखी होना पड़ता है, तो परभवमें कितना दुःखी होना पड़ेगा ? उस वक्त दुःखकी वेदना कितनी अकथ्य होगी !! इसका गंभीरतासे विचार करके वीर्य उछालना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे आत्महितका प्रारम्भ होना चाहिए। (११४३)

*

विकल्पसे स्वरूपको समझकर, आनंदके निर्विकल्प अनुभवके लिए, एकाग्रताकी विचारणा करनेके लिए कोई एकांतमें बैठता है, और अनुभव हुआ कि नहीं ? ऐसा विचार करता है। उसमें अनजानेमें खुदने की हुई अनुभवकी कल्पनासे (अनुभव होनेके पहले) अनुभवमें संतुष्ट होनेका अभिप्राय पड़ा रहता है। (जो कि पर्यायबुद्धि है।) ज्ञानीका तो वैसा अभिप्राय होता है कि सदा निर्विकल्पदशा रहे तो भी, स्वभावकी मुख्यताके आगे, उसकी मुख्यता नहीं करनी है। ऐसा ही कोई महा आश्चर्यकारी महिमावंत स्वयं स्व-रूप है। जैसा परिपूर्ण स्वरूप है वैसी ही दशाका होना - रहना - ऐसा आत्मस्वभाव तो है ही, इसलिए वैसा स्वभाव वर्तमानमें ही जिसको स्वरूपसे प्रत्यक्ष है (कारण) शुद्ध पर्याय सहित, उसको उत्पाद अंशकी शुद्ध-अशुद्धकी विकल्पना / चिंतना नहीं होती है, कि जैसी चिंता पर्यायबुद्धिवानको (मिथ्यादृष्टिको) होती है। (११४४)

*

सहज प्रत्यक्ष सदा उद्योतरूप अनन्त चतुष्टय मंडित परम स्वभावके वर्तमानको - (मौजूदगीको), परम पूज्य श्री पद्मप्रभमलधारीदेवने (नियमसार गाथा - १५की टीकामें) पूजित पंचमभाव परिणति - कारण शुद्ध पर्याय कहकर - दिखाकर परम उपकार किया है। वर्तमान प्रत्येक समयमें पूर्ण स्वरूपरूप वर्तता हुआ - प्रत्यक्ष विराजमान परमात्म तत्त्व स्वयं कारणपर्याय ही है, वहाँ अन्य कार्य - पर्यायकी शुद्धि-अशुद्धिकी चिंता / विकल्प कैसा ? भय कैसा ? खेद कैसा ? यथार्थ ही कहा है :

"एक देखिये, एक जानीये, रमी रहीये एक ठौर,
समल-विमल न विचारीये, यही सिद्धि नहीं और।" - पूज्य श्री बनारसीदासजी

अखण्ड प्रदेशमें वस्तु स्वयं वेदन - प्रत्यक्ष है। इति (११४५)

*

जीव भावभासनके लिए प्रयोगाभ्यास न करे और शास्त्राभ्यास बढ़ा देवे, तो प्रायः अनेक जगह कल्पना करता है। अतः मार्गप्राप्तिकी दिशामें जरा भी विकास नहीं हो पाता है, परन्तु

निराकुल ज्ञानवेदन द्वारा भगवान आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष है, परम पवित्र है, उसे गौण करके (अनादर करके) अपवित्र और अशांत भावमें रहना, यह सर्वाधिक अविवेक और अपराध है। बाह्य भावमें एकांतरूपसे रस / जागृति होना वह स्वभावकी अरसताकी द्योतक है, जो कि 'निश्चय स्वच्छंद' है। जिसके कारण अंधत्वको प्राप्त जीवको बाह्यवृत्तिमें आकुलता होते हुए भी उसमें दुःख नही लगता, प्रत्यक्ष विषरूप परिणामोंका भय नहीं लगता, अनन्त जन्म-मरणके भयंकर परिभ्रमणका डर नहीं सताता। ध्रुव अचलित स्वरूपका व्याप्य-व्यापकरूपसे आश्रय लेना, वह एकमात्र उपाय है, इसके बिना निस्तार नहीं है। स्वयंका मूल स्वरूप ही परिणामोंका विश्रामधाम है। (११५०)

※

## जून - १९९३

जीव अनादिसे परिणाममें अस्तित्वका अनुभव कर रहा है, दुःखी भी है, दोषित भी है, इसलिए उसकी पर्याय प्रधानताकी भाषा - शैलीसे उपदेशबोधकी प्रवृत्ति हुई है। 'परिणाम ऐसे करो, वैसे मत करो' - इत्यादि प्रकारसे आदेश होने पर भी, पर्यायके एकत्व - कर्तृत्वकी स्थापना करनेका ज्ञानीका आशय नहीं होता, इस अपेक्षाको रखते हुए उनके वचन होते हैं। 'वास्तवमें ध्रुव आत्मा स्वयं अक्रिय चिद्‌बिंब परिणामोंमें कुछ नहीं कर सकता' - ऐसी अचलित श्रद्धापूर्वक वह उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है। ध्रुवकी एकताको साध्य हुए ज्ञानमें परिणाम स्वयं परिणमन करते हुए अनुभवमें आते हैं, साथ ही साथ वर्तमान शुद्धि-अशुद्धिके यथार्थ ज्ञान(में) समाधानपूर्वक, शुद्धिकी भावि पूर्णताकी निःशंकता ज्ञानीको आती है। (११५१)

※

'वर्तमानमें चल रहे एक समयमें मै परिपूर्ण अखण्ड ध्रुव चैतन्य हूँ' - ऐसे स्वरूपानुभव द्वारा ज्ञान-वेदनका उदय - आविर्भाव है। कि जो ज्ञानवेदन रागसे भेद करता हुआ निःशंकित व निराकुल सुख सहित प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट हो रहा है और क्रमशः वृद्धिगत होता हुआ पूर्ण हो जायेगा। इस आत्माको जगतमें किसीसे कोई लाभ-नुकसान नहीं है - यह न्याय अगर बाहर जानेवाली वृत्ति पर तीरकी माफिक असर करे, तथारूप जागृति रहे, तो परसन्मुखता छूट जाये। इस आत्मासे शून्य ऐसा जगत पूर्णरूपेण उपेक्षा करने योग्य है। उसके प्रति जानेवाली वृत्ति स्वानुभूतिमें विघ्न करनेवाली है, स्वरूप-शांतिका काल (धातक) है - ऐसा जानकर हे जीव ! स्वरूपस्थ हो !! (११५२)

※

उपादेयभूत आत्मस्वरूप ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होने पर, वीर्योल्लास पूर्वक अंतर अवलंबनसे

केवल अंतःतत्त्व होनेसे संपूर्ण अंतर्मुख हूँ। परिपूर्ण होनेसे सर्वथा निरालंब निरपेक्ष हूँ।
(११५६)

✻

प्रत्यक्ष धर्मात्माकी पहचान होने पर, मुमुक्षुजीवको परमेश्वरबुद्धिसे परम भक्ति प्रगट होती है, सर्वस्व देनेवालेके प्रति परम प्रेमार्पण भाव उल्लसित होता है। जिसके कारण स्वच्छंद और मानादि शत्रु-महादोषका नाश होकर नम्रता उत्पन्न होती है, सर्वार्पणबुद्धि आनेसे, तन-धनादिकी आसक्तिका प्रतिबंध मिटता है और वैराग्यमय परिणाम होनेसे लोभकी चिकाश मिटती है। भक्ति वह निजहितकी गरजरूप पात्रता होनेसे, सत्संगरूपी वृक्षकी उपासना करनेके लिए आवश्यक सरलता सहित सेवन होनेसे, अमृत फलकी उत्पत्ति होती है। इसलिए परम कृपालुदेवने मुमुक्षुके लिए भक्तिको 'श्रेष्ठमार्ग' कहा है, अर्थात् सरल - सुगम कहकर परम उपकार किया है। मुमुक्षुकी भूमिकामें भक्तिसे भीगे हुए परिणाम भावनावृद्धि करके अनेक दोषोंके निवृत्तिकारक है। ज्ञान तो बहुमूल्य गिना जाता है, तथापि भक्तिके बिना वह शून्य है। (११५७)

✻

मुमुक्षुजीवको सत्संग-ज्ञानगोष्ठि आदि ज्ञानीपुरुषकी आज्ञानुसार कर्त्तव्य है। यानी कि प्रथम 'पूर्णताका लक्ष' कर्त्तव्य है। इस हेतुसे सर्व विचारणा कर्त्तव्य है। अन्यथा क्रमभंग हो जानेसे नुकसान होनेकी पूरी संभावना है। उक्त लक्ष्यार्थसे भक्ति, स्वच्छंद निरोध, सरलता, वैराग्य, निज-दोषोंका देखना इत्यादि होने चाहिए। यह मार्ग परम विनय-विवेकसे प्राप्य है, यह विस्मरण नहीं होना चाहिए। उपरोक्त क्रमका अनुसरण करके अपूर्व जिज्ञासापूर्वक पदार्थ निर्णयके हेतुसे ज्ञानाभ्यास नहीं होता है, तो अन्यथा अभिप्रायपूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति अहितकारक फलती है।
(११५८)

✻

अंतरंग त्याग रागके ममत्वका होना चाहिए। ऐसी श्री जिनदेवकी आज्ञा है। आत्मस्वरूप परम पवित्र है। उसकी दशामे मलिन ऐसा राग है, उसका तो जीव ममत्व रखें और परपदार्थके त्याग द्वारा शुद्धिकी प्राप्तिका प्रयत्न करे तो उसमें तो सफलता कैसे प्राप्त होगी ? रागका अभाव भी, रागके ममत्वका त्याग हुए विना नहीं हो सकता। इसलिए भेदज्ञान द्वारा प्रथम रागका ममत्व छुड़ाया है, जिससे कि राग और रागके विषय सहजमात्रमे छूट सके। प्रथम राग और ज्ञानके बीच भेदज्ञान करनेके उपदेशके पीछे यह रहस्य है। प्रथम अभ्यासका त्याग होना चाहिए। (११५९)

✻

बीजका चंद्र दिखानेवालेकी उँगलीको देखकर, जिस प्रकार उस परसे नज़र हटाकर चंद्रको दिखाया जाता है, वैसे ज्ञानक्रियाके आधारसे त्रिकाली ज्ञानस्वभावको - अनुभवी महात्माओंने दर्शाया है। प्रगट लक्षणसे जो प्रगट या अप्रगट नहीं है, वैसे अलखका लक्ष कराया है। तीनोकाल स्वरूप तक पहुँचनेका यही प्रकार है। (११६५)

*

जुलाई - १९९३

'काललब्धि' और 'पुरुषार्थ' दोनों एक ही पर्यायकी भिन्न-भिन्न विवक्षा है। जिस जीवको आत्मकार्यका वीर्योल्लास सहज वर्तता है, वही उसकी योग्यतारूप काललब्धि है। कोई काललब्धिका अवलम्बन लेकर स्वच्छंदका सेवन नहीं कर ले इसलिए 'पुरुषार्थ करना चाहिए' ऐसा उपदेश दिया जाता है, फिर भी योग्यता अनुसार जीव परिणमन करता है। जिसे स्वरूप सन्मुखता होती है, उसे तथारूप पुरुषार्थ होता ही है। कर्तृत्वके दोषसे बचानेके लिए 'काललब्धि' की विवक्षा है। (११६६)

*

आत्मार्थी जीवको आत्मिक सुखकी जरूरतमेंसे आत्मरुचि प्रगट होती है, इसलिए वैसे सुखके अभावमें किसी भी पर्यायमें संतुष्ट होनेका नहीं बनता, बल्कि खेद ही रहता है। जिसे 'आत्मा अनन्त सुखसे भरा है' ऐसे जिनवचनमें विश्वास है, उसे - आत्मार्थीको उस सुखका सदंतर अभाव होने पर भी, (वर्तमानमें) चैन पड़े, यह कैसे बन सकता है ? बन ही नहीं सकता, उसे तो बेहद चटपटी लग जायेगी ! आत्मरुचिके अभावमें ही जब क्षयोपशम बढ़ता है तब प्रसन्नताका अनुभव होता है। जिसे अंदरमें स्वकार्यकी तालावेली (लगन) लगी हो उसे तो कहीं पर भी नहीं सुहाता। ऐसा सहज होता है। (११६७)

*

ज्ञानदशामें स्वरूपसुख अनंतवें भागमें वेदनमें आता है, इसलिए जबतक पूर्णता नहीं हो जाती तबतक शांतिसे बैठे रहनेका असंभवित है। अनन्त सुखधामका निशदिन ध्यान रहता है, फिर भी पुरुषार्थकी शिथिलता नहीं पुसाती है, उन्हें मुनिदशाकी उत्कंठा रहती है।

मुनिराज तो समस्त जगतको तिलांजलि देकर निकल पड़े हैं, प्रचुर आनंदमय देहातीत दशा होने पर भी महाआनंदकी अपेक्षासे उन्हें 'धीमी धार' लगती है, इसलिए अविरतरूपसे स्वरूपको साधते हैं। जो कि आत्मार्थीके लिए प्रेरणा पुंज है। (११६८)

*

भेदज्ञानके प्रयोगका रहस्य दर्शाते हुए पूज्य गुरुदेवश्रीने (परमागमसार-७३३में) कहा है

विषयमें रस नहीं आना, वह वैराग्य है। ऐसी दशामें 'लोभ नहीं जो प्रबल सिद्धि निदान...' 'सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव...' - इस प्रकारकी सहज उदासीनता रहती है।
(११७२)

✻

किसी भी जीवको अध्यात्म रुचता हो, तो उसे अच्छा चिन्ह गिन सकते हैं, तथापि ओघसंज्ञाके कारण या लोकसंज्ञाके कारण जब उसका व्यामोह होता है, तब उस जीवमें शुष्कता, अतिप्रलापता इत्यादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसा नहीं हो, इसके लिए श्री देव-गुरु आदि महापुरुषोंकी भक्ति उपकारी होती है, अथवा यदि जीव आत्मकल्याणके विषयमें शुद्ध नैष्ठिक हो तो, स्वाभाविक अध्यात्मकी उच्च दशाको प्राप्त होता है। - इस प्रकारकी शुद्ध नैष्ठिकता प्रायः 'पूर्णताके लक्षसे' उत्पन्न भावनाके रूपमें वर्तती है। (११७३)

✻

उपयोगकी स्थूलताके कारण ज्ञानवेदन खयालमें नहीं आता है। परन्तु निजहितकी रुचिपूर्वक सूक्ष्म उपयोगसे 'स्व-पने ज्ञानवेदन' द्वारा ही लक्षकी प्रसिद्धि होती है। स्वरूप ज्ञानमात्रपने लक्षमें रहता होनेसे, ज्ञानवेदनका सहज आविर्भाव होकर शुद्धोपयोग प्रगट होता है, क्योंकि जिसका लक्ष होता है उसी तरफ वीर्य जाता है, उसीकी मुख्यता रहती है - इस प्रकार प्रथम वेदन द्वारा लक्ष और फिर लक्षके कारणसे स्वसंवेदन होता है। (११७४)

✻

ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके कारण पर्यायकी उपेक्षा वर्तती है, परंतु द्रव्य स्वभावकी सावधानी पर्यायमें वर्तती होनेसे, उस सम्यक् पर्यायकी चिंता करना आवश्यक है भी नहीं। इसलिए ज्ञानी स्वभाव सावधानीके वशात् ऐसा कहते है कि, 'पर्याय चाहे कैसे भी प्रवृत्ति करो मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।' परन्तु ऐसा कहते वक्त प्रतीति वर्तती है कि पर्याय मर्यादामें ही रहनेवाली है। और पर्यायमें फेरफार होनेसे स्वभावमें फ़र्क नहीं पड़ता, यह भी परम सत्य ही है। तथापि जिसकी श्रद्धा ही स्वरूपको छोड़कर, अन्य स्थानमें परको / रागको आत्मारूप ग्रहण करती है, वह अगर ज्ञानीकी नकल करे, तो पर्यायमें विपर्यास वृद्धिगत होता है अथवा मिथ्याश्रद्धाके कारण पर्यायकी सावधानी रहती है। इसलिए उसीकी उपेक्षा नहीं हो सकेगी। मिथ्यात्व अवस्थामें परके साथ एकत्व रहता है, तो वहाँ 'भले ही वैसा हो तो हो' - इस प्रकारका उपेक्षितपना इच्छनीय नहीं है। फिर भी अज्ञानसे कहता है तो स्वच्छंद हो जाता है। - पर्यायकी उपेक्षा सम्यक् प्रकारसे होनी चाहिए। (११७५)

✻

ज्ञानको कर्म परमाणुओंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिए उसको आगम पद्धतिसे समझाया जाता है। अध्यात्ममें बाह्य भाव निषिद्ध हैं। अंतर स्वरूप लक्षसे उत्पन्न सामान्य ज्ञानका मुख बाहरकी ओर नहीं है। आगमसे अध्यात्मका विषय पर है। इसलिए परस्पर इनकी बराबरी करने योग्य नहीं है। (११८०)

※

हे जीव ! अनन्त परम अमृतमय शांति स्वरूप स्वयमेव खुद ही हो। खुदके सिवा कहीं पर भी शांति नहीं है। बहिर्भावमें सर्वत्र अशांति ही है, ऐसे भाव कैसे रुचे ? फिर परम शांति - धामसे विमुखता क्यों ? धर्मात्मा स्व-सन्मुखता नहीं छोड़ते और परिपूर्ण अंतर्मुख होनेके उद्यममें रत हैं, रत रहते हैं। (११८१)

※

अगस्त - १९९३

जीवको जब परमार्थ मार्गका वास्तविक मूल्यांकन आता है तभी, उसकी प्राप्ति हेतु पर्याप्त मात्रामें गंभीरता और प्रयत्नका उपाड़ आता है, तभी जीव इसके लिए पूरी दरकारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, तभी जीव ओघसंज्ञासे निवृत्त हो सकता है, तभी जीव लोकसंज्ञा छोड़कर, असत्संगसे दूर होकर, यथार्थरूपसे आत्मार्थको साधनेकी योग्यतामें आता है। तभी समस्त जगतकी उपेक्षा होती है, फिर उससे प्रतिबंध किसका ? (११८२)

※

आचार्य भगवानने आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहकर वर्तमानमें ही स्वरूपको प्रत्यक्ष दिखाकर, प्रत्यक्ष कराके, आत्माको आत्मामें स्थिर कर दिया है। और अंतरमेंसे आनंदके ओघ उछाले हैं। धन्य वीतराग ! (११८३)

※

निज अवलोकनमें रागका और पर्यायका लक्ष छुड़ानेका हेतु है। इसके अलावा एकांत परकी ओर चल रहे झुकावके प्रवाहको बदलकर स्वकी ओर झुकाव हो वैसा हेतु है। परलक्षी ज्ञान द्वारा मात्र तर्क - युक्तिसे अनुभवमें आ रहे भावोंका - भावभासन नहीं हो सकता, अतः वैसी अभ्यासकी अयोग्य पद्धतिको बदलकर, भावभासन होवे, ऐसा इसमें खास हेतु है। स्वभावके भावभासनसे स्वभावका लक्ष होने पर, राग व पर्यायका लक्ष सहज छूट जाता है। यथार्थरूपसे अवलोकन होनेका फल पर्यायबुद्धि छूट जाये, ऐसा आता है, क्योंकि यह अनुभवपद्धति है। पर्यायबुद्धिमें दीनता आती है। (११८४)

※

पद्धतिमें कल्पना होनेका अवकाश नहीं है। भावभासनके बिना हुई समझमें कहीं न कहीं जीव कल्पना कर लेता है, जो उचित नहीं है। (११८८)

✱

इस कालमें जो उत्कृष्ट पात्र हो, कि जिनकी एकाध भवमें मुक्ति होनेवाली हो, उनको देहांतके कालमें निर्विकल्प समाधि दशा आ जाये उतना उग्र पुरुषार्थ हो जाता है। साधकदशा सहज है, जिसमें परमतत्त्वकी मुख्य परिणति सर्वदा वर्तती है। इसमें इस कालके चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट पात्रका यह लक्षण बतलाया। (११८९)

✱

तत्त्व अभ्यास तत्त्वरुचिपूर्वक होना चाहिए, क्योंकि सिर्फ विचारसे वस्तुका ग्रहण नहीं होता है। रुचि जरूरतमेंसे उत्पन्न हुई है, इसलिए वह वस्तुका ग्रहण करनेके लिए समर्थ है। पुनः रुचि अनुसार जागृति और रुचिका विषय ज्ञानमें - परिणमनमें मुख्य रहता होनेसे रुचिसे प्रयोजन सधता है। पात्रता ज्ञानके क्षयोपशम आधारित नहीं है, परन्तु रुचि - तत्त्वरुचि आधारित है। रुचिवंतको प्रतिकूलता-अनुकूलता रोक नहीं सकती, विघ्न नहीं कर सकती। (११९०)

✱

पर्यायमात्रमें अहंबुद्धिका अभाव होकर - द्रव्यदृष्टि होते ही पूरी सृष्टि बदल जाती है। विज्ञानघन परमतत्त्वके रसिक जीव, भव-मोक्षके भेदको गौण करके परम समभावको प्राप्त होते हैं। - वे ऐसा अनुभव करते हैं कि पर्यायके कोई भी फेरफारसे मेरेमें कोई भी फेरफार नहीं होता, पर्याय मुझे स्पर्श ही नहीं करती। जहाँ ऐसा सम्यक् अनुभव वर्तता हो, वहाँ देहादि संयोगकी तो क्या गिनती करना ? चिंता कैसी ? वहाँ ऐसी दशा है कि :

'एक देखिये, एक जानीये, रमी रहीये एक ठौर,
समल विमल न विचारीये, यही सिद्धि नहीं और।'

(कविवर पूज्य बनारसीदासजी) (११९१)

✱

परिणाममें विकल्पको मत देखो, परन्तु अनुभवको देखो। मुख्यता किसकी हो रही है ? वह देखो। शुभाशुभकी रुचि कितनी है ? उसकी जाँच करो। विकल्पमें आकुलता है, पर तरफके झुकावमें आकुलता है, उसकी अरुचि क्यों नहीं हो रही है ? उसे खोजो। सत्पुरुषके वचनमें भी सिर्फ न्यायका ही विचार मत करो, परन्तु उनके अनुभवको और अनुभवकी गहराईको देखनेका प्रयास करो। मार्ग अनुभवप्रधान होनेसे, सर्वत्र अनुभवकी प्रधानता होनी चाहिए, कि जिससे कहीं भी अयथार्थता न हो। (११९२)

त्रिकाल बंध नहीं है तो मोक्ष होनेका कैसे बने ? (११९८)

※

ज्ञेयाकार ज्ञान (दुर्लक्ष) गौण करने योग्य है, क्योंकि सर्व ज्ञेयाकार विनश्वर हैं और मैं अविनश्वर हूँ। उस प्रकार शाश्वत स्वरूपकी मुख्यतामें सर्व क्षणिक भावको गौण करने योग्य है। मेरा तादात्म्य स्वभावके साथ है कि जिसमें परिणाम मात्रका अभाव है। यद्यपि परिणाममें वेदन होता है, तथापि वह अवलंबनके योग्य नहीं है। पर्यायकी सावधानी रहनेसे स्वभावका ग्रहण नहीं हो सकता। स्वभाव सदाय स्वयं प्रसिद्ध है, परन्तु प्रगट पर्यायत्व पर दृष्टि (अहंबुद्धि) होनेसे स्वभाव पर लक्ष नहीं जाता। प्रगट अप्रगट अवस्थाभेदसे भिन्न, अनुभव स्वरूप जैसा है वैसा ग्रहण - ज्ञानमात्रपने करना (चाहिए)। (११९९)

※

एकांत आत्मकल्याणका लक्ष रहे तो मुख्य-गौण होनेमें विपरीतता नहीं होती और अनेकांतिक ज्ञान होनेके बावजूद भी आत्मसंतुलन बना रहता है। व्यवहारके, न्यायके अनेक भंगभेद हैं। यदि उपरोक्त लक्ष नहीं रहा तो विपरीतता हो जाती है - अहित हो जाता है। सर्व सिद्धांत व सर्व उपदेशका केन्द्रस्थान आत्मकल्याण है, वही सम्यक् एकांतरूप निजपदकी प्राप्ति है। ज्ञाता-दृष्टारूप साम्यभावमें ही आत्मशांति है। जो सम्यक् अनेकांतका फल है। (१२००)

※

सितम्बर - १९९३

समाजमें बाह्य प्रसिद्धिसे आत्माको कोई लाभ नहीं है। बहुत लोगोंसे परिचय बढ़ना - यह अंतर साधनामें अनुकूल नहीं है, विकल्पवृद्धिका एक निमित्त है। अभिप्रायमें प्रसिद्धि भोगनेके भावसे परिणति दूषित रहती है, व्यग्र रहती है। मै केवल निर्विकल्प स्वरूप हूँ। विकल्पके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। विकल्पके कालमें भी मै जैसा (निर्विकल्प) हूँ वैसा ही हूँ। (१२०१)

※

छद्मस्थके ज्ञानमें मुख्य-गौण होनेकी परिस्थिति रही है। प्रत्येक स्तरमें, प्रत्येक प्रसंगमें मुख्यता किसी एक विषयकी और बाकी सब गौण रहते हैं, उसमें जब विवेक नहीं रहता है तब, गौण होने योग्य मुख्य हो जाता है और मुख्य होने योग्य गौण हो जाता है, तब उसमें पूरा विपर्यास हो जाता है। जिसको पूर्णताके ध्येयपूर्वक निश्चय अर्थात् परमतत्त्व सहजात्मस्वरूप मुख्यपने वर्तता है, उस जीवको कहीं पर भी विपर्यास नहीं होता है और वह तिर जाता है। (१२०२)

शुभकी रुचि - मंदकषायकी रुचि सुखाभासको उत्पन्न करती है, वह दुःखमें सुखकी भ्रांति है। - यह दर्शनमोहका प्रभाव है। जबतक दर्शनमोहसे आत्मा इस प्रकार आवरित है, तबतक स्वसंवेदन होनेमें अवरोध है। सुखाभास निजमें निज - वेदन ग्रहण होनेमें विघ्न है। (१२०७)

✻

ज्ञान सुखरूप है, यह अगर वेदनसे समझमें आये तो स्वरूपनिश्चय होता है - स्वरूपलक्ष होता है। ज्ञानको वेदनसे जाननेके लिए परप्रवेशभाव रूप मिथ्या अनुभवको अवलोकनसे समझनेका प्रयास करना चाहिए। जो जीव मोक्षार्थी होकर, निष्पक्षरूपसे अपने दोषोंका अवलोकन करता है, उसे दोषसे उत्पन्न दुःख - उसरूप विभावस्वभाव वेदनसे समझमें आता है। वेदनसे - अनुभवसे समझनेकी रीत द्वारा ज्ञानको ज्ञानवेदनसे समझनेसे स्वभावका - अस्तित्वका ग्रहण होता है। ज्ञान स्वयं वेद्यवेदकरूपसे प्रवृत्ति करे तो ही स्वसन्मुखता होती है। अन्य उपायसे परसन्मुखताका अभाव नहीं होता। (१२०८)

✻

ज्ञानवेदनसे भेदज्ञान होता है, तब चैतन्यदलमें सहज अभिन्नताका अनुभव आता है। परावलंबन छूटनेके कारण स्वावलंबन आना सहज है। ज्ञानवेदनका स्वपने वेदन होते ही सहजमें चैतन्यदलका अवलंबन आ जाता है। - यह एक अनुभव - मार्गका चमत्कार है। (१२०९)

✻

समाधि सुखामृतका स्वरूप ऐसा है कि जहाँ इन्द्रादि संपदा रोग-वत् भासित होती है (लगती है) और कोई भी परिषहकी वेदना नहीं होती। स्वरूप ध्यानसे उसकी उत्पत्ति होती है। स्वरूपध्यान अन्य चिंताके निरोधसे उत्पन्न होता है, एकाग्र होनेसे। राग-द्वेष मिटनेसे ही स्वरूप - एकाग्रता होती है। ज्ञेय पदार्थमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिका अभाव होनेसे, ये राग-द्वेष मिटते हैं। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे कोई इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होता।- इस प्रकार आत्मिकसुखकी प्राप्तिके कारणोंकी श्रृंखलाके मूलमें 'दर्शनमोहका अभाव' रहा है। (१२१०)

✻

आत्मार्थीकी भूमिकाके योग्य ज्ञानकी निर्मलता द्वारा, ज्ञान अपनेमें स्वरूपशक्तिको वेदन-लक्षण द्वारा जानता है, तब लक्ष्य-लक्षण 'प्रत्यक्ष तेज' स्वयं अपनेमें ही भासित होता है, तब स्वरूपकी अनन्य रुचि प्रगट होती है। स्वरूपसे अन्यपने रहना - जीना सहन न हो - पुसाता न हो, वही स्वानुभूतिका बीजरूप ज्ञान। (१२११)

✻

प्रायः यथार्थता रहती है। आत्महितके लक्षसे तत्त्व-निर्णय कर्त्तव्य है। (१२१६

✻

पवित्रता - निर्दोषता प्राप्त हो, वह जैन नीति है। सर्व न्यायोंका उस हेतुसे प्रतिपाद किया गया है। न्यायमें अनेकविधता है, परन्तु नीति सर्वदा एकरूप रहती है, उसे बदलने अवकाश नहीं है। (१२१८

✻

मुमुक्षुजीवको सत्‌की जिज्ञासामें रहना योग्य है। जिज्ञासा गौण होकर, अन्यको स्पष्टीकर मिले उस हेतुसे यदि प्रश्न हुआ तो 'परलक्ष' की मुख्यता हो जाती है। ऐसा नहीं हो जा इसके लिए अभिप्रायपूर्वक जागृतिका रहना आवश्यक है। (१२१९

✻

अंतरअवलोकन द्वारा जीव अपने परिणामके अनेक महत्वके व प्रयोजनभूत पहलूओंक समझकर यथार्थतामें आ सकता है, उसमें दोषका निष्पक्षपातरूपसे अवलोकन करने पर, अभिप्रायपूर्वक हो रहे दोष समझमें आने पर अभिप्रायमें सुधार होनेका अवसर प्राप्त होता है। इसप्रकार मूलमेंसे दोष मिटनेका कारण - अवलोकन है। ज्यों-ज्यों अवलोकनका अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों परिणमनका अनुभवज्ञान व उसकी गहराई अनुभवमें आती है। जो अंततः 'अनुभवांशसे परमार्थकी स्पष्ट प्रतीति' रूप समकितपने प्राप्त होती है। (१२२०)

✻

धर्मात्माको उदयभावकी भिन्नता परद्रव्यवत् वर्तती है, जिसके कारण वे उदयभावमें अप्रयत्नदशासे वर्तते हैं। प्रयत्नदशा तो स्वरूपके प्रति सहजरूपसे रहती है, अतः निराधार वर्तता हुआ वह उदयभाव स्वाभाविक मर्यादामें रहकर व्यतीत होता हुआ - क्षीणताके प्रति गमन करता है। स्वरूपकी मुख्यतामें विभाव गौण होते हुए भी वहाँ स्वच्छंदका अवकाश नहीं है। ऐसी अलौकिक दशा वंदनीय है। (१२२१)

✻

जीव यदि सत्-दृष्टिवान हो तो, किसी भी धर्ममें रहे हुए मार्गानुसारीको पहचान सकता है। गुणदृष्टिकी यह अलौकिक विशिष्टता है। संप्रदायबुद्धिमें गुणदृष्टिका अभाव होनेसे मति कुंठित हो जाती है, जिसके कारण सत्-धर्मके परम हितकारी सिद्धांत एवम् उपदेश प्राप्त होने पर भी जीव उसमेंसे विपर्यासपने परिणमन करता है। ये द्रव्यकी स्वतंत्रताकी द्योतक परिस्थिति है। (१२२२)

✻

रागादिभाव चारित्रगुणका विभाव है। वैसे ही परलक्षी ज्ञान ज्ञानगुणका विभाव है। विभावमें स्वभावकी पहुँच नहीं है। अतः परलक्षी ज्ञानसे कार्यसिद्धि नहीं है। मुमुक्षुको आत्महितके आशयसे यथार्थता रहती है। आशय अन्यथा हो वहाँ चाहे कैसी भी प्रवृत्ति हो, उससे आत्मसिद्धि नहीं है। (१२२९)

✻

* धर्मका फल मोक्ष है।
* धर्मका मूल सम्यक्दर्शन है।
* सहज स्वरूपमें स्थिति रहना वह धर्म है।
* धर्मका बीज स्वरूप निश्चय है। उसका भी बीज 'पूर्णताका लक्ष' है। 'पूर्णताके लक्ष' में सर्व ऊपरकी दशाएं गर्भित हैं। बरगदके बीजमें बरगदका पेड़ रहा हुआ है।

(१२३०)

✻

नवम्बर - १९९३

आत्मस्वभावका परिचय होने पर परमशांत सुधामय स्वभावमें सहज उपयुक्त (उपयोगका जुड़ना) हुआ जाता है। अतः स्वभावका परिचय स्वभावमें उपयुक्तिका प्रयोजक है। स्वभावका परिचय ज्ञानमें ज्ञानकी स्वयं अवलोकना द्वारा - सतत अवलोकना द्वारा होता है। अतः ज्ञानका निजावलोकन साधन है और स्वभावका परिचय साध्य है। (१२३१)

✻

अध्यात्म पद्धतिमें आत्माकी एकाकारताके कारण द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद नहीं। उस प्रकारके (भेदपूर्वकके) स्पष्टीकरणसे उसका आंतरध्वनि तथारूप नहीं रह पाता है। अतः उसे वहाँ अनआवश्यक जानने योग्य है। द्रव्य-गुण-पर्याय आगम पद्धतिका विषय है। अध्यात्ममें उसकी अपेक्षा लागू करके विचार करना योग्य नहीं है। दृष्टांतरूपसे स्वरूप निश्चयके कालमें 'आत्मासे आत्माका निर्णय होता है' और 'स्वरूप भावनामें आत्मा ही आत्माको उपादेय है' तथा (स.सार गाथा - १५) 'श्रुत ज्ञान ही आत्मा है।' (१२३२)

✻

एक मृत्युके प्रसंगसे बचनेके लिए जीव कोई भी कीमत चुकानेके लिए तैयार हो जाता है। परन्तु अनन्त जन्म-मरणसे छूटनेके लिए नहीं जैसे बहाने बनाता है, क्या यह अनन्त विपरीतता नहीं है ? सचमुच (ईमानदारीसे) जिसे छूटना हो, उसे तो सारा जगत गौण हो जाता है, और एक आत्महित ही मुख्य होता है। छूटनेका कामी छूटनेकी कोई भी तक

तीर्थंकरप्रभुका निर्वाण प्रसंग भी साधक जीवको आत्मकल्याणमें निमित्तभूत होता है, इसलिए 'कल्याणक' कहा जाता है। यद्यपि वह प्रसंग तो प्रभुके वियोगका है, परन्तु जैसे संयोग हितमें निमित्त होता है, वैसे वियोग भी हितमें ही निमित्त पड़ता है। भले ही बाह्यमें संयोग प्रशस्त रागका निमित्त है और वियोग प्रशस्त द्वेषका निमित्त है, परन्तु अंतरंगमें उन दोनों निमित्तसे साधक जीव, साधनावृद्धिमें परिणमन करते हैं।

मुमुक्षुजीवको, यदि योग्यतावान हो तो, सत्संगका संयोग योग्यता-वृद्धिमें निमित्त पड़ता है, तद्उपरांत सत्संगके वियोगकी वेदना और निज परमात्माके वियोगकी वेदना - दर्शनपरिषह, योग्यता वर्धमान होनेमें ही कारण बनता है। (१२३९)

※

जिस जीवकी विचारशैली आदर्श-प्रधानता युक्त होती है, उसका अंतःकरण निर्मल होता है, अतः वैसे निर्मल अंतःकरणवाला जीव सुगमतासे 'पूर्णताका लक्ष' बाँध सकता है। उसका तो प्रथमसे ही उच्च कोटिका जीवन घड़नेका अभिप्राय होता है। इसलिए तथारूप अवकाश मिलते ही वह जीवन बदलनेके लिए सहज तैयार हो जाता है। ऐसा जीव प्रायः वीर्यवान एवं समर्पणबुद्धियुक्त होता है। जो कि 'लक्ष' बाँधनेके लिए सुसंगत है, सुयोग्य है। (१२४०)

※

जो जीव दूसरोंके लक्षसे स्वाध्याय-भक्ति आदि करता है, उसमें मान अथवा लोभका आशय रहा होनेसे, वह व्यापार है। सिर्फ अपने लिए स्वाध्यायादि कर्त्तव्य है। (१२४१)

※

किसी भी कीमत पर, अभी ही आत्महित कर ही लेना है - ऐसा ज़ोर आये बिना वास्तविक शुरूआत नहीं हो सकती। जब मुमुक्षुताकी शुरूआत भी नहीं होती, तो आगे बढ़नेकी तो बात ही क्या करें ? यदि उपरोक्त प्रकारसे उठना हुआ तो उस प्रकारके वीर्यसे सत्संगकी सर्वार्पणबुद्धिसे उपासना होती है, और जीव ज्ञानीके मार्ग पर चढ़ जाता है। (१२४२)

※

'श्रद्धा स्वभावरूप ज्ञानका परिणमन वह सम्यक्दर्शन है।' यहाँ (समयसारजी गाथा - १५५)में ज्ञान सो आत्मा ऐसा अर्थ है, परन्तु शब्द प्रयोग 'ज्ञान' करनेमें क्या विशेषत्व है ? कि ज्ञानमें, स्व-पने परिणमन होने पर स्वरूप-प्रतीति आती है। रागमें स्व-पना रहता है तब तक नौ तत्त्वकी श्रद्धा वह सिर्फ विकल्प है, सम्यक्दर्शन नहीं। मुमुक्षुको ज्ञान ही साधन है। अतः ज्ञान सो आत्मा है। अंतर्मुख होनेकी विधि सूचक यह विधान अति गंभीर रहस्य गर्भित है। (अनुसंधान

चारित्र हो जाते हैं। इसी वज़हसे ज्ञानकी मुख्यतासे स्वरूपबोध मुख्यरूपसे परमागमोंमें प्रवर्तित हुआ है। ज्ञान और आत्माका द्वैत मिट जाये, वैसा आशय - विधिका विधान `ज्ञान सो आत्मा' है। (१२४९)

※

ज्ञान और रागके बीच भेदज्ञानकी प्रयोजना ध्रुवतत्त्वके आश्रयकी प्रयोजक है। अपरिणामी तत्त्वमें आत्मबुद्धि होने पर, आंशिक विभावकी चिंता छूटकर सम्यक् उदासीनता आती है - यह ज्ञानीका हृदय है। (१२५०)

※

दिसम्बर - १९९३

`मार्गका मर्म' पाए बिना कभी किसीको मोक्ष नहीं मिलता।

प्रश्न :- मार्गका मर्म पाना इसका मतलब क्या ?

समाधान :- `प्रत्यक्ष स्वरूप' के लक्षसे अभेद भावसे आत्म-वेदन, वेदन गम्य होना वह। `योग्यता' आने पर, आत्मत्व प्राप्त पुरुष, तद्‌विषयक `आत्मत्व देते हैं,' तभी वह मार्ग मिलता है।

जिज्ञासा :- योग्यता प्राप्त होना माने क्या ?

समाधान :- मार्गकी अपूर्व अंतर खोज चले तब मार्ग प्राप्त पुरुषकी पहचान होकर उनके प्रति सर्वार्पणबुद्धिसे और एकमात्र आत्मलक्षसे प्रवर्तन होता है।

जिज्ञासा :- `आत्मत्वका देना' किस प्रकार होता है ?

समाधान :- स्वरूप-प्रत्यक्षतामें वर्तते हुए, तद्‌विषयक निर्देशकी चेष्टा और वाणी, इसके ग्रहण होनेकी योग्यतामें निमित्त पड़ता है। जो स्वरूप दर्शाया जाता है, वह (परमार्थ) जब अनुभवांशसे लक्षगोचर होवे तब अंतर्मुख होनेकी विधि प्राप्त होती है और स्वसन्मुखताका प्रतिभास आता है, जो बीजरूप है। इसतरह ज्ञानीपुरुष बीजज्ञान देते है, ऐसा लगता है। (१२५१)

※

जिस `अर्थ' का वर्णन - कथन किया जाता हो, वह ज्ञानमें ग्रहण हुए बिना, कथनको या श्रवणको `व्यवहार' ऐसा स्थान प्राप्त नहीं होता। अतः कहनेवाले या सुननेवालेको विवक्षित द्रव्य - भावरूप `अर्थ' को ज्ञानमें ग्रहण (Visualize) करके कहना या सुनना चाहिए - अन्यथा विकल्प कल्पनामात्र होंगे। (१२५२)

※

त्रिकाली स्वरूपकी समझ केवल बहिर्मुख - परलक्षी क्षयोपशम ज्ञान द्वारा कर्त्तव्य नहीं है। परन्तु ज्ञान स्वयं अपनी ओर झुककर अर्थात् लक्षणसे और वेदनसे स्वरूपको समझे तो विधि सहित स्वरूप समझमें आये, वरना अध्यात्मतत्त्वकी आगम अनुकूल समझ भी अविधिपूर्वक होनेसे, विधिका अनभिज्ञपना रहता है।

प्रश्न :- पहले तो परलक्षी ज्ञानमें ही समझना होवे न ?

समाधान :- पहलेसे ही यथार्थ विधिमें आकर समझना क्यों नहीं हो सकता ? अविधिसे समझनेका प्रयत्न करनेके बजाय सुविधिसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। सिर्फ उसी पर - विधि पर वज़न रहना चाहिए, जिससे कि उस विषयमें दरकार रहे। आत्मस्वरूपका विधान, श्रीगुरु तो विधिपूर्वक ही कर रहे हैं, यह क्यों लक्षमें लेनेमें नहीं आता ? जैसे कि समयसार गाथा - १५में 'श्रुतज्ञान है, सो ही आत्मा है।' और गाथा - १८३में 'उपयोग शुद्धप्पा' ऐसा विधान है। यह कथन जो विधिसे अनजान हो उसे समझमें नहीं आता। श्रीगुरु जिस प्रयोगात्मक विधिसे कहते हैं, उसी प्रयोगात्मक विधिसे ग्रहण करना - वह आज्ञाकारिता है। (१२५८)

⁂

जिस प्रकार जड़ खाद्य पदार्थका स्वाद भिन्न है और जीवका वेदन भिन्न है, परस्पर पर्यायोंमें अभाव है, वैसे अशाताकी वेदना और ज्ञानवेदन भिन्न - भिन्न है। सिर्फ भिन्नताके अनुभवका अभ्यास चाहिए। ज्ञानमें स्वपना वेदनमें आना चाहिए। (१२५९)

⁂

सत्ताप्राप्ति, धनप्राप्ति, कीर्तिप्राप्ति आदिका नशा, मदिराके नशेसे भी अत्यंत भयंकर व अनिष्ट है। मदिराका नशा थोड़े समयमें उतर (भी) जाता है और आदमी भानमें आता है, परन्तु उपरोक्त नशा प्रायः जीवन पर्यंत उतरना मुश्किल है। किसी हलुकर्मी जीवको वैसा नशा, सन्मार्ग प्राप्तिकी भावनासे उतरता है, तब उसके लिए बहुत परिश्रम करके निरामय हो सकता है। (१२६०)

⁂

जो जीव धर्म करनेमें यदि कुल, संप्रदाय, या समाज-परम्पराका अनुसरण करके प्रवृत्ति करता है, तो उसे वास्तवमें धर्मबुद्धि है ही नहीं, परन्तु विपरीत अभिप्राय है। (१२६१)

⁂

प्रश्न :- (जगतके) जीवोंको आत्मकल्याणरूप मोक्षमार्ग किस कारणसे दुर्लभ है ?

समाधान :- जन्म-मरणसे छूटनेकी जरूरियात नहीं लगी, इसलिए मुक्त होनेकी रुचिका

खोजता हो, उस जीवकी सर्वार्पणबुद्धिसे सत्संगकी उपासना करनेकी पूर्व तैयारीरूप पात्रता होनेसे, वह जीव निज प्रयोजनकी मुख्यतापूर्वक तीक्ष्णदृष्टि और अपूर्व जिज्ञासासे सत्पुरुषको पहचान लेता है। (१२६७)

※

जिन्हें अंतरमें स्वभाव-विभावकी भिन्नता वर्तती है अथवा पर्यायसे भी भिन्न ऐसे द्रव्यकी दृष्टि वर्तती है, उन्हें दूसरे जीवोंके दोष मुख्य होते ही नहीं, क्योंकि दोष पर्यायमें है, द्रव्यमें नही। इसलिए द्रव्य-दृष्टिकी मुख्यतामें, द्रव्यको भूले हुए जीवके दोषको, खुद द्रव्यसे भिन्न देखते है। उस परिस्थितिमें दोषके ज्ञाताभावपूर्वक, एक अंशमें दोषका निषेध वर्तता होने पर भी, सामनेवाले जीवके प्रभु आत्माका अनादर नहीं आता। अतः वैसा प्रशस्त द्वेष (= दोषका निषेध) अस्थानके रागका रोधक है। (१२६८)

※

अंतर्मुखभाव एकांतरूपसे उपादेय है - इस अपेक्षाको लेकर सर्व बहिर्मुखी परिणामोंका निषेध आता है। तथापि अंतर्मुख होनेके क्रमका - दर्शनमोहादिकी हानि हो - उसका अस्वीकार होनेके लिए वह नहीं है। उन्नतिक्रममें आगे बढ़ रहा जीव आदर करने योग्य है, सत्कार करने योग्य है। उन्नतिक्रममें बीजारोपण होता है। (१२६९)

※

स्वरूपलक्षके अभावके कारण, ज्ञानविशेषका आविर्भाव होते ही, राग और रागके विषयभूत परद्रव्यका आश्रय व एकत्व सहज हो जाता है। परलक्षी परिणमनका ऐसा स्वरूप है। परन्तु स्वरूपलक्ष होनेपर स्वरूपके लक्षसे ज्ञानसामान्यका आविर्भाव होते ही त्रिकाली द्रव्यका सहज आश्रय हो जाता है। - यह स्वरूप-आश्रयकी विधि है। (१२७०)

※

जनवरी - १९९४

लक्ष यथार्थ हो तो परिणमनमें संतुलन बना रहता है। अन्यथा संतुलन छूट जाता है ज्यों-ज्यों प्रयोगका अभ्यास (Practice) विशेष त्यों-त्यों संतुलन बनाये रखनेमें सूक्ष्मता व क्षमता विशेष आती है। (१२७१)

※

स्वसंवेदनसे स्वरूप सावधानी आये - यह आराधनाका स्वरूप है। (१२७२)

※

पूर्वमें हो चुके महाज्ञानीके अक्षरदेहसे संतुष्ट होकर जो 'प्रत्यक्षयोग' के महत्त्वको नहीं

सम्यक् अनेकांतका यह स्वरूप है। ऐसे कथनका हेतु जिसे नहीं समझमें आता उसको अन्यथा कल्पना हो जाती है। (१२७९)

*

पूर्वमें हो चुके ज्ञानीकी वाणी 'आशय' परसे निश्चित होती है। यह आशयका निश्चय होनेमें सूक्ष्म अनुभवज्ञान काम करता है। अनुभव रहित ज्ञान शब्दार्थ, भावार्थ, नयार्थ आदिको साध सकता है, परन्तु आशय तक नही पहुँचता। 'आशय' ग्रहण करनेवाला ज्ञान, जिस भूमिकासे वाणी उत्पन्न हुई है, उसके तलवे तक चला जाता है और चारों पहलूको समझ लेता है। क्योंकि इस प्रकारकी ज्ञानकी योग्यता 'विशेष प्रज्ञावंत पुरुष' को होती है। (१२८०)

*

इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान बहिर्मुख होनेसे आकुलता उत्पन्न करता है, इसलिए उससे आत्मलाभ नहीं होता। परन्तु शास्त्रज्ञानमें बुद्धिपूर्वक विपर्यास नहीं हो तो उस ज्ञानमें यथार्थता होनेका संभव है। और इस यथार्थतापूर्वक वह ज्ञान विकसित होकर - आगे जाकर सम्यक्ताको प्राप्त होता है। अतः आत्मोन्नतिके क्रममें उस यथार्थताका स्वीकार होना चाहिए। व्यवहारके स्थानमें व्यवहार सम्मत होना जरूरी है। (१२८१)

*

ज्ञानमें परका जानना होवे वह दोषकी उत्पत्तिका कारण नहीं है। परन्तु जाननेकी रीत पर दोष या निर्दोषताका आधार है। परको पररूप जाननेसे भेदज्ञानपूर्वक वीतरागताकी उत्पत्ति होती है। और परको स्व-रूपमें जाननेसे मिथ्यात्व सहित रागकी उत्पत्ति होती है। रीतकी अनभिज्ञताके कारण परका जानना दोष उत्पादक समझमें आता है, जो तत्त्वकी भूल है। (१२८२)

*

आत्मार्थीको एवम् ज्ञानीको सत्संगके दौरान आत्मभावकी पुष्टि होती है - और वह उस भूमिकामें मोक्षका परम औषधरूप अमृत है। योग्य औषध है। उसकी बराबरीमें दूसरा कोई औषध नहीं है। अनुभवी पुरुषोंके अनुभवकी यह पुकार है, निचोड़ है। (१२८३)

*

आत्माका सामर्थ्य जीवंत - बेहद जीवंत है। अतः उसका अनुभव इसके अवलंबनसे प्रत्यक्ष होता है। श्रीगुरु फरमाते है कि : देखो रे ! अपने जीवंत स्वामीको देखो ! देखते ही सर्वस्व मिल जाएगा। कृतकृत्यता अनुभवमें आयेगी। सच्चे आत्मार्थीको मार्गकी सुगमता होनेमें स्वभाव सामर्थ्यरूप उपादान कारण है। (१२८४)

रही स्थिति जिसका 'भानमात्र' (निजाश्रयभावसे) होते ही प्रगट शुद्ध कार्य होता है; प्रत्यक्षतासे स्वसंवेदनबल प्रगट होता है। प्रत्येक वर्तमानमें स्वयं आधारभूत स्वरूपरूप है, है और है।
(१२८९)

⁂

वस्तुस्वरूपकी असंगता - भिन्नता, परमें अनादिसे सुखबुद्धि और आधारबुद्धिका अभाव करती है। ज्ञानका रूप 'सुख' अवलोकनमें आने पर स्वयं - सुखधामकी प्रतीति और अपनेमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि उत्पन्न होती है। जिसके कारण उपयोग सहज वहाँ खींचता है। उपयोगका झुकाव हमेशा सुखके निश्चयकी ओर सहज ही रहे, ऐसा वस्तु स्वभाव है।
(१२९०)

⁂

जिज्ञासा :- उत्तम मुमुक्षुको कैसे भाव होते है ?

समाधान :- जो जीव भवरोगसे मुक्त होनेके लिए सिर्फ मुक्ति दातार सत्पुरुषको ही चाहता है, उनके चरण सानिध्यको परमप्रेमसे चाहता है, उनको पहचानता है, और प्रत्यक्षयोगमें या परोक्षतामें उनको ही भजता है - इस प्रकारके सहज परिणाम जिसे हो, वह उत्तम मुमुक्षु है। धन्य है उसे । (१२९१)

⁂

ज्ञानीकी आज्ञा पर चलनेकी समझके अभाव वश बहुभाग जीव अपनी रुचि अनुसार बाह्य धर्म-प्रवृत्ति करते है, जो कि प्रायः स्वच्छंदरूप होनेसे पारमार्थिक लाभ होनेके बजाय नुकसानकर्ता हो जाती है। परन्तु यदि जीव सत्य शोधकवृत्तिवान होता है तो विचारकी भूमिकामे सत्यके लिए अवकाश रखता है, तो प्रायः वह जीव नुकसानसे बच जाता है। (१२९२)

⁂

शीघ्रातिशीघ्र आत्मकल्याणकी वृत्तिमान मुमुक्षु प्रायः असमर्थतामें नहीं आता। ऐसा मुमुक्षु प्रायः कहीं पर भी अटकता नही अथवा अटकनेके स्थान प्राप्त होने पर भी वह उसमे फँसता नहीं है। (१२९३)

⁂

जो अति तीव्र रुचिसे परम सत्संगको चाहता है, वह वास्तवमें आत्माके अमृतको चाहता है। वैसा परम सत्संग प्राप्त होने पर, सर्वस्व प्राप्त होनेरूप तृप्तिका अनुभव होता है।
(१२९४)

⁂

अपवादमार्गमें बाह्य प्रवृत्तिमें Adjustment हो सकता है, परन्तु परिणमनमें शिथिलता य विचलितता हो जाये, वह उचित नहीं है। आत्मार्थीको एवं ज्ञानीको प्रारब्धयोग अनुसार उदय प्रवृत्तिमें अनिवार्यरूपसे उपयोग देना पड़ता है, फिर भी मूलमेंसे विचलित हुए बिना ही उदयमें प्रवृत्ति होती है, जो कि यथार्थ है। (१३०१)

*

मार्च - १९९४

'अनुभूति है सो आत्मा ही है' - ऐसा (श्री समयसारजी गा. १४में) प्रतिपादन करते हुए श्रीगुरु अनुभूतिकी विधि दर्शाते हैं। - यह विधिको बतलानेकी प्रयोगात्मक शैली है। यह परमागमकी इस प्रकारकी मुख्य शैली है, विशिष्ट शैली है। (१३०२)

*

अभेदस्वरूपके स्वानुभवके कालमें ही भेदका यथार्थ ज्ञान होता है। भेदका अवलंबन लिए बगैर ही भेद जाननेमें - समझनेमे आता है, परन्तु भेदका अनुभव नहीं होता है। (१३०३)

*

जो जीव शुद्ध अंतःकरणके अभावके कारण निज आत्मकल्याणके विषयमें ईमानदार नहीं हो, उसकी अन्यत्र ईमानदारी कितनी हद तक विश्वसनीय है ? इसका विचार कर्त्तव्य है। (१३०४)

*

जिज्ञासा :- आत्मस्वभावका ग्रहण हो इसके लिए प्रगट प्रमाण कोनसा है ?

समाधान :- ज्ञान - वेदन, ज्ञानका सातत्य, ज्ञानका उर्ध्वत्व - प्रत्यक्षता आदि (निर्मलता - निर्लेपता) प्रगटरूपसे स्वभावका ग्रहण होनेमें प्रमाण है। यदि जीव शुद्ध भावनासे अंतर अवलोकन करे, तो उसे सहज मात्रमें अनुभवांशसे प्रतीत हो सकती है। (१३०५)

*

मुमुक्षुजीव जब सचमुच संसारसे छूटनेके लिए कृतनिश्चयी होता है तब प्रायः पूर्वमें संसार रुचिसे बाँधे हुए पूर्वकर्म उदयके रूपमें सामने आते है। जिससे कि वह सन्मार्गसे च्युत होनेकी परिस्थितिमें आता है। ऐसी स्थितिमे यदि निश्चयबल नहीं रहा तो जीव हार जाता है, मार्ग-प्राप्ति तक नहीं पहुँच सकता। परन्तु यदि निश्चय बलवान हो तो अवश्य मार्गकी प्राप्ति होती है। मार्ग पर चढ़ जाता है। (१३०६)

*

है, परन्तु परम विवेक है। ज्ञानी भी सत्संगको सर्वाधिक महत्त्व देते है। जिसमें सर्व सिद्धि समाविष्ट है। अतः जिस धरातल पर सत्पुरुषकी विद्यमानता हो, उसके जैसा परम सौभाग्य अन्य कहाँ हो सकता है ? (१३१२)

※

प्रश्न :- निज स्वरूपका बोध प्राप्त हो, ऐसी बोधबीज योग्य भूमिका कब प्राप्त होती है ?

समाधान :- सत्पुरुषके प्रति पराभक्ति प्रगट होवे तब। 'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे, सब आगम भेद सुउर बसे।' यह एक सानंद आश्चर्य है कि : परमात्मा और स्वआत्मा भी सत्पुरुषके चरण सानिध्यके आगे मुख्य नहीं होते हैं !! तथापि उस जीवको पारमार्थिक लाभ होता है। सत्पुरुषके प्रति बहुमान आत्माको निर्मल करता है। उस भूमिकाका वह अमृत है।

(१३१३)

※

'सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योग' का अत्यंत महत्त्व होनेका कारण यह है कि वैसा दुर्लभ- दुर्लभ योग संप्राप्त होने पर पात्र जीवको सत्पुरुषकी पहचान होनेका अपूर्व प्रसंग संप्राप्त होता है। जो प्रसंग बोधबीजरूप है। समकितके बीजका यहाँ बीजारोपण होता है, जो फिर उगे बिना नहीं रहता। 'प्रत्यक्षयोग' के बिना परमार्थ - लाभका दूसरा कोई प्रसंग नहीं है। इस प्रकार सत्पुरुषने अत्यंत सरल मार्गको निष्कारण करुणा करके अनुगृहीत कराया है; उनकी महिमा किस प्रकार किस उपमासे हो सकती है ?

परमकृपालुदेवने 'प्रत्यक्ष सत्पुरुष' के विषयमें सर्वाधिक जोर क्यों दिया है ? उसका रहस्य उपरोक्त प्रकारसे अनादि मूलमंत्र - णमोकार मंत्र द्वारा भी प्रदर्शित होता है। (१३१४)

※

## अप्रैल - १९९४

प्रश्न :- शास्त्र स्वाध्याय बहुत होने पर भी (स्थूल) भूल रहनेका क्या कारण ? अथवा वैसे जीवको पारमार्थिक लाभ नही होनेका क्या कारण ?

समाधान :- शास्त्रमें जो खुदको लागू पड़ता हो, उस प्रयोजनभूत बात पर लक्ष नहीं जानेसे ऐसा बनता है। जितनी प्रयोजनकी पकड़ ज्यादा उतना जीवको लाभ होता है अथवा अपनेमें सुधार होता है। (१३१५)

※

अनादि बंध / सम्बन्ध वशात् परके साथ एकत्वका / अपनत्वका निश्चय होनेसे, जीवको

विचारसे समझमें नहीं आये, ऐसा पदार्थ है; इसलिए आचार्यदेव कहते है कि, 'ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदन सिद्धत्वात्।' (समयसार - परिशिष्ट) (१३२२)

※

अध्यात्मका यथार्थ ज्ञान, स्वरूपकी महिमा, स्वरूप दर्शानेवालेकी महिमा लाता है। साथ ही साथ अंदरसे विरक्तता होने पर राग, गृद्धि, कषाय, एकत्वबुद्धि इत्यादि ढीले पड़ जाते है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो ज्ञान शुष्क है, ऐसा समझना। (१३२३)

※

प्रश्न :- ज्ञानीको शुभभाव भट्ठीरूप लगता है, परन्तु पूर्व भूमिकामें भी भट्ठी जैसा वेदन लगता है क्या ?

समाधान :- जो जीव स्वानुभवके एकदम नजदीककी भूमिकामें हो, तो उसे भट्ठी से भी ज्यादा (दु:ख) लगता है। ज्ञानीको तो सर्वांग समाधान स्वरूप प्रत्यक्ष है, इसलिए अमुक समाधान भी रहता है, परन्तु इस जीवको तो विभावमें खड़े रहना ही नहीं है इसलिए भट्ठीसे भी अधिक लगता है, आँखसे पर्वत उठाने जितना बोझ लगता है। सूक्ष्म विकल्प भी सहन नहीं हो पाता, तो स्थूलमें तो बहुत जलन होती ही है, तभी उपयोग वहाँसे हटकर अंदरमें जाता है। (१३२४)

※

उपयोगमें सूक्ष्मता आना ज़रूरी है। अंदरमें राग और ज्ञानकी सूक्ष्म संधि, सूक्ष्म उपयोग द्वारा ही जाननेमें आती है। वह वर्तमान प्रयोजन है। इतना ही नहीं ज्ञानमें आत्मस्वभाव तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। उपयोगको अपनेमें ही (उपयोग द्वारमें ही) स्वरूपशक्तिका ग्रहण करनेकी जरूरत है। अग्निकणमें दहनशक्तिकी माफ़िक। जिससे कि उपयोगकी सूक्ष्मता, चलते हुए परिणमनमें राग और ज्ञानको भिन्न-भिन्नरूपसे अवलोकनमें लेकर प्रयोजनको साधे। (१३२५)

※

परिणामका स्वभाव ध्येयका अनुसरण करनेका है। इसलिए 'पूर्णताका ध्येय' बाँधनेकी श्रीगुरुकी आज्ञा है। अनादिसे जीवको संसारका ध्येय है, उसको बदले बिना जो कुछ भी किया जायेगा, वह संसार हेतु ही होगा। पूर्वमें अनन्तबार ऐसा हुआ है। इसलिए सर्व प्रथम 'दृढ़ मोक्षेच्छा' होनी जरूरी है। जिससे तदनुसार साधन प्रगट होवे और प्रयोजन चुक नहीं जाये। (१३२६)

※

करके जीवको प्रेमरसमें सराबोर कर देते हैं। अहो ! उनका वात्सल्य ! (१३३३)

※

'ज्ञानमात्र' स्वमें अपनत्वके निश्चयसे ज्ञानसामान्यका / ज्ञानवेदनका आविर्भाव होता है, स्वभावकी सुखबुद्धि और आधारबुद्धि होती है। (१३३४)

※

'प्रत्यक्ष सत्पुरुषका योग' स्वरूपस्थितिका कारण बनता है। (परमकृपालुदेव - २४९) तो फिर 'परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति' - रूप अनन्त प्रत्यक्ष स्वरूप-निश्चय स्वानुभूतिको प्रगट करे इसमें कौनसा आश्चर्य है ? (१३३५)

※

परके साथ एकत्वका (स्वपनेका) निश्चय होनेसे ज्ञानवेदन तिरोभूत रहता है। यही ज्ञानवेदन स्वरूप निश्चय (लक्ष) होने पर आविर्भूत होने लगता है। ऐसा जो स्वरूप - निश्चय वह ज्ञानमें स्वयंके वेदनभूत लक्षणसे प्राप्त होता है। इस प्रकार ज्ञानवेदन और स्वरूप लक्षको परस्पर कारण-कार्य संबंध है। (१३३६)

※

मिथ्यात्वके कारण ही बंधन है और सम्यक्त्वके कारण निर्जरा है। श्री समयसारजीमें सम्यक्दृष्टिको 'निर्जरातत्त्व' बतलाया है। तत्त्वदृष्टि प्रगट होनेके लिए यह निरूपण है। सत्पुरुषकी पहचान करानेके लिए आचार्य भगवानने परम करुणा करके यह अधिकार लिखा है। सम्यक्त्वके रूपमें सत्पुरुषको पहचाननेवालेको तत्त्वदृष्टि प्राप्त है। (१३३७)

※

निजस्वरूप सहज अनन्त प्रत्यक्ष है। जो विचारदशामें प्रगट नहीं होता है। यथार्थ विचारदशा - सुविचारणामें प्रत्यक्ष स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेका अभ्यास होता है, जिसमें परोक्षताका निषेध रहता है। सुविचारणामें ज्ञानके साथ स्वरूप ग्रहण करनेके प्रयासरूप रुचि होती है। ऐसी रुचि रहित ज्ञान हमेशा शुष्क होता है। (१३३८)

※

जीवको सत्पुरुषकी पहचान होने पर परमार्थ समझमें आता है। इस हेतुसे ही महापुरुषोंके पुराण प्रसिद्ध किये गये है। कथानुयोगका यह रहस्य है। वह सिर्फ संयोग-वियोगकी कथा नहीं है, परन्तु सत्पुरुषकी सम्यक्रूपमें पहचान करानेकी सुगम रीत है। (१३३९)

※

आत्मोन्नतिके क्रमको छोड़कर जीव, अगर आत्महित करना चाहता है तो वह प्रयास

वह संप्रदायबुद्धि अर्थात् संकुचितबुद्धि। (१३४५)

✻

सत्पुरुष (प्रत्यक्ष)के चरणकमलकी उपासनाके बलसे दर्शनमोह यथार्थतया मंद होता है, तब द्रव्यानुयोग (सिद्धांतबोध) परिणमित होता है। (१३४६)

✻

यदि सत्पुरुषके चरण सेवनसे दर्शनमोह जैसी बलवान प्रकृतिकी शक्ति भी हीन होती है, तो फिर मान, माया, लोभादि प्रकृति अल्प प्रयाससे जाये उसमें कौनसा आश्चर्य है? यदि मानादि प्रकृतिमें फ़र्क नही पड़ा, तो जीवने 'सत्पुरुषकी समीपता' को प्राप्त किया ही नहीं है। (१३४७)

✻

प्रश्न :- आत्मस्वरूपका भावभासन होनेके पहले 'मै ज्ञायक हूँ' ऐसे भावमें यथार्थ समाधान हो सकता है क्या ? यथार्थ समाधान और संतुलन कबसे रहता है ?

समाधान :- स्वरूपका भावभासन होनेके पहले तदाश्रित स्वरूपके लक्षसे समाधान नहीं हो सकता। परन्तु जिसे पूर्णताका लक्ष हुआ हो वह जीव आत्मकल्याणके लक्षसे संतुलन रख सकता है। और वह ज्ञायकका निर्णय करनेके लिए प्रयोगात्मक पुरुषार्थवंत रहता है। तब उसमें प्रयोगपद्धतिसे जितनी-जितनी यथार्थता आती जाये उतना-उतना यथार्थ समाधान होने योग्य है। सिर्फ ज्ञायकका विकल्पाश्रित समाधान (मंदकषाय हो, बिना लक्षके) हो, वह यथार्थ नहीं है। उसे यथार्थ समाधान गिनना वह भ्रांति है। (१३४८)

✻

जिज्ञासा :- अंतरमें आत्मस्वरूपको देखनेका प्रयत्न करने पर भी आत्मा दिखता नहीं है ? तो क्या करे ?

समाधान :- तथारूप प्रयत्न (ज्ञानसे स्वयंके स्वभावका अवलोकन करनेका प्रयत्न) हो, तो दिखे बिना नहीं रहता, (मोक्षार्थीको) रहता ही नहीं। जो मोक्षार्थी ही नहीं हुआ, उस जीवका वैसा प्रयत्न सिर्फ कुतूहलवृत्तिसे नहीं हो सकता अर्थात् मोक्षार्थी ही वैसा प्रयत्न कर सकता है। (१३४९)

✻

प्रश्न :- सत्पुरुषकी भक्तिमें राग हो या भक्ति प्रेमरूप हो, उन दोनोंमें क्या अंतर है?

समाधान :- रागका आधार पुद्‌गल है अथवा लोकसंज्ञासे लौकिक कारण वशात् या ओघसंज्ञासे उत्पन्न भक्ति रागरूप होती है, परन्तु आत्मगुणको लक्षमें रखते हुए उत्पन्न बहुमान

सत्पुरुषकी पहचान हुई है उसका लक्षण यह है कि उनके प्रति अपूर्व स्नेह आता है। उनके सानिध्यकी भावना ऐसी रहती है कि उनके वियोगमें एक क्षण भी मृत्यु समान वेदनारूप लगती है। अहो ! सत्-योगका मूल्यांकन !! अहो, अहो अपूर्व गंभीर प्रघटना। सत्संग मुमुक्षुका प्राणवायु बन जाना चाहिए। (१३५४)

✻

जो जीव स्वयंकी योग्यताको नहीं समझ सकता हो और अन्यकी या ज्ञानियोंकी योग्यताको नापने जाये, तो वह अनर्थ करता है। तीव्र बाह्यलक्ष होनेसे ऐसा नुकसान करता है। ऐसे जीवको अंतर्लक्ष होना बहुत कठिन है। (१३५५)

✻

धर्म-क्षेत्रमें, जीव धर्मबुद्धिसे तन, मन, धनका समर्पण तो करता है, फिर भी जब उसमें सर्वार्पणबुद्धिका अभाव होता है, तब वह प्रकृतिका त्याग नहीं कर सकता है। अतः पारमार्थिक लाभसे वंचित रह जाता है। तन, मन, धनका समर्पण तो अन्यमती भी करता है, और वह पूर्वानुपूर्व है, अपूर्व नहीं है। आत्महितके लक्षसे प्रकृति - भावको छोड़नेके लिए जो तैयार होता है वह धन्य है। वह जीव अवश्य अपूर्व स्वभाव प्रगट करेगा ही। वही सच्ची आत्म-अर्पणा है। (१३५६)

✻

जीवको मुक्त होनेकी चिंतनामें घिरे बिना - उलझे बिना, मुमुक्षुताकी उत्पत्ति संभवित नहीं है। मोक्षकी दृढ़ इच्छा - पूर्णताका लक्ष, होनेके पहलेका यह क्रम है। यह चिंतना वैराग्य-प्रेरक होती है। (१३५७)

✻

जिज्ञासा :- सत्पुरुषको कौन पहचान सकता है ?

समाधान :- जो सिर्फ सत्पुरुषकी ही चाहत रखे वही उन्हें पहचान सकता है, दूसरा नहीं। जो दूसरेको 'भी' चाहता है वह उन्हे कहाँसे पहचान सकेगा ? जिसको सत्पुरुषका मूल्य भासित होता है, वह उन्हें, 'सिर्फ उन्हींको' चाहता है। (१३५८)

✻

प्रेमरूप निर्मल भक्ति महान पदार्थ है। उपदेशबोध और सिद्धांतबोध उसके गर्भमें समाते है। जिससे क्षणमात्रमें स्वरूप सधता है। यह भक्ति आत्मगुणके प्रति अनन्य प्रेम है, जो ऐक्यताको साधती है, आत्मगुणको साधती है। (१३५९)

✻

श्रद्धाकी अपेक्षा छोड़करके उनकी बात नही होती है। (१३६४)

※

देखो ! चैतन्यका चमत्कार ! सत्पुरुषके प्रति परम प्रेम प्रवाह वर्धमान होने पर, आत्मकल्याणभूत ऐसा आगमोंका रहस्य समझमें आता है और उसकी प्राप्ति होती है। आगमका अभ्यास किये बिना प्राप्त होनेवाली यह लब्धि है। इसी तरह केवलज्ञानकी लब्धि - निष्कंप गंभीर ध्रुवस्वभावके आश्रयपूर्वक गहराईमें उतरते-उतरते प्रगट हो जाती है। परिणामोंका निर्मलत्व उक्त लब्धियोंका कारण है। (१३६५)

※

जिज्ञासा : आत्माका तेज - नूर किस प्रकारका होता है ?

समाधान : अचिंत्य आत्म - स्वभाव है। शुद्ध चैतन्यका प्रागट्य अर्थात् शुद्ध चितिस्वरुप कांति - वह उसका तेज है, नूर है, जो कि अचिंत्य है, सिर्फ अनुभवगोचर है। चिंतवन गोचर नहीं है। (१३६६)

※

जीवको अगर मूलमें सुखकी - निराकुलदशाकी जरूरत लगे तो, बौद्धिकस्तर पर जिस तत्त्वको परोक्ष धारणासे जाना है, उसकी रुचि उत्पन्न होकर, अभेदभावसे पकड़ सहित उसे प्रत्यक्ष करे, तो दृष्टि सम्यक् होवे। रुचि रहित परोक्ष धारणासे पुरुषार्थ नहीं उठता। वैसी योग्यतावालेको वास्तवमें आत्मसुखकी ज़रूरत नहीं है। द्रव्यस्वभावकी अरुचि सहितकी धारणा, प्रायः अभिनिवेशका कारण होती है। (१३६७)

※

जिस उत्तम मुमुक्षुको कही भी - किसी भी पदार्थके विषयमें सुखबुद्धि और आधारबुद्धि नहीं है, उसे अंतर्मुख होनेमें अवरोध नहीं होता। ऐसी स्थितिमें स्वकार्य सहज होता है, पुरुषार्थकी गति सहज तेज हो जाती है। (१३६८)

※

जब तक निज परमात्माकी वियोग - विरह वेदना नहीं उठे तब तक उसका दर्शन कहाँसे हो ? विरहकी असह्य वेदना प्रत्यक्ष दर्शनका कारण है। इतना ही नहीं इस वेदनासे जमी हुई मलिनता पिघलती है और निर्मलता प्राप्त होती है। (१३६९)

※

अनादिसे सिर्फ पर्यायमें 'स्वपना' अनुभवमे आ रहा है। जिसके कारण पर्यायदृष्टि भी निविड़ हो चुकी है। (यह अनादि) रूढ़ हो चुकी स्थितिका अभाव होना दुष्कर है, फिर

- मँगनी चीज है। अतः पहलेके जितना लाभ नहीं होता है। (१३७५)

✵

आत्मकल्याणकी तीव्र लगनपूर्वक जो सत्पुरुषके सानिध्यमें जाता है, उस जीवको सत्पुरुषकी पहचान होने पर, अंदरमें मार्ग सूझता है और वह अवश्य तिर जाता है। सत्संग / सत्पुरुषकी प्राप्ति होने पर भी और तत्त्वज्ञानका अभ्यास होते हुए भी स्वरूप प्राप्तिकी उत्कंठाका जो अभाव है वह अन्य प्रतिबंधको प्रदर्शित करता है - उसे अंतर गवेषणासे / अवलोकनसे खोजना चाहिए। (१३७६)

✵

तत्त्वज्ञानका अभ्यास दो प्रकारकी स्थितिमें शुरू होता है। एक तो जीव परिभ्रमणकी चिंतामें घिर जानेसे अन्य / सांसारिक चिंतासे उपेक्षावान होकर, दूसरा, संसारकी अपेक्षाओं - आशाओं वैसी की वैसी रखकर; प्रथम प्रकारसे यथार्थता आती है। दूसरे प्रकारसे हुआ तत्त्वाभ्यास आगम अनुकूल होने पर भी यथार्थ नहीं होनेसे निष्फल जाता है। (१३७७)

✵

आत्माको बोध - परिणमन हो इसके लिए, बोध स्वरूप ज्ञानीका प्रत्यक्ष समागमरूप परम सत्संग जैसा अन्य कोई उपाय (शास्त्र वांचनादि) नहीं है, क्योंकि बोधका परिणमन होनेका नियम ऐसा है कि जिसको ज्ञानीपुरुषका परिणमन दिखता है, वह ज्ञानीके यथार्थ दर्शनमात्रसे ज्ञानी बनता है। इसीलिए उच्चकोटिके मुमुक्षुके परिचयरूप समागमसे अन्य मुमुक्षुको आगे बढ़नेमें सुगमता रहती है। (१३७८)

✵

जिज्ञासा :- तत्त्वको बराबर समझते हुए भी उसकी प्राप्ति होनेमें निष्फलता किस कारणसे रहती है ?

समाधान :- लाभ-नुकसानकी समझ होने पर भी दर्शनमोहकी प्रबलताके कारण, लाभ-नुकसानका मूल्यांकन नहीं होनेसे, जितनी गंभीरता है उतनी भासित नहीं होती है। गंभीरताके अभावके कारण संसार - मोक्षके प्रति प्रवृतिरूप परिणामोंमें जो गौणता-मुख्यता होनी चाहिए वह नहीं होती है। Change of Priority के बिना आत्मकल्याण सम्बन्धित बल पैदा नहीं होता है और संसारबलमें कमी नहीं आती है। संसारबलकी विद्यमानतामें तत्त्वकी समझका निष्फल जाना अस्वाभाविक नहीं है। Top Priorityमें 'आत्मकल्याण' रहने पर सारा संसार गौण हो जाये, तब यथार्थता आती है, ऊपर-ऊपरका प्रयत्न मिटकर अंतरसे उपाड़ आता है। (१३७९)

इसका प्रतिबंध नहीं होता। जब कि अज्ञानदशामें कर्मजनित पर्यायभावमें चलते हुए अनेक विभावमें अटक रहे जीवको उन-उन भावों और उदय प्रसंगोंका प्रतिबंध होता है। (१३८३)

※

परलक्षी शास्त्रज्ञानकी धारणामें संतुष्ट होकर, सिर्फ शास्त्रके अभ्यासमें अटकनेसे, आत्मकल्याण गौण हो जाता है। वह एकांत ज्ञानमार्ग है। और वैसे ज्ञानके अमलीकरणका पुरुषार्थ नहीं हो पानेसे, प्रयोजनभूत विषय पर लक्ष नहीं रहता। परिणामतः संभवतः नुकसान आ पड़ता है; शास्त्रीय अभिनिवेश हो जाता है। जिसके कारण अन्य दोष उत्पन्न हो जाते है। निःशंकता पैदा नहीं होती, विकल्प कभी शांत नहीं होते, (और) ज्ञानकी शुष्कता पैदा होकर उन्मत्तता आ जाती है। उघाड़ ज्ञानमें संतुष्ट हो जानेका बनता है। (१३८४)

※

प्रश्न :- मुमुक्षुकी भूमिकाके योग्य यथार्थ ज्ञान, क्रिया और भक्तिका प्रकार कैसा होता है ?

समाधान :- मुमुक्षुको यथार्थ समझरूप ज्ञान ही साधन है। प्रारम्भमें आत्मकल्याणके लक्षसे तत्त्व विचार होता है। सुविचारणामें केन्द्रस्थानमें खुदका परम हित ही रहता है, अतः समझको अमलीकरणरूप प्रयोगमें लागू करनेका प्रयास चले वही क्रिया - यथार्थक्रिया है, जिससे ज्ञानमे विशेष निर्मलता आती है, दर्शनमोहका अनुभाग भी घटता है और सत्पुरुषका - सजीवनमूर्तिका स्वरूप पहचाननेमें आता है, तब उनके प्रति - मोक्षदाताके प्रति परमभक्ति प्रेमरूप आती है, जो यथार्थ भक्ति है। एक न्यायसे तीनों ज्ञानकी ही पर्याय हैं। आत्महितका मूल्यांकन, समझ हुई हो उसका अमलीकरण और सत्पुरुषकी पहचानसे उत्पन्न बहुमान - प्रेमभक्ति, अचल प्रतीति। (१३८५)

※

प्रश्न :- तत्त्वज्ञानका अभ्यास इत्यादि कई सालों तक हमने किया फिर भी आत्महितमें आगे बढ़ना क्यों नहीं हो पाया ?

समाधान :- या तो शुद्ध अंतःकरणपूर्वक आत्मार्थीता उत्पन्न नहीं हुई, या जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्रदान किया उनके प्रति भक्तिरूप माहात्म्य नहीं आया। इन दोमें से एक भी कारणकी जब तक क्षति रहती है, तब तक मुमुक्षु आगे नहीं बढ़ पाता। (१३८६)

※

प्रश्न :- अनेक ग्रंथ पढ़ने पर भी ऐसा लग रहा है कि अभी भी जो चाहिए, वह इसमेंसे मिल नहीं रहा है ? ऐसा क्यों ?

दिसम्बर - १९९४

सुपात्र - उज्ज्वल आत्माएं अनुकूल या प्रतिकूल - दोनों प्रसंगोंमें स्वतः सहज वैराग्यमें परिणमन करते हैं - यह मुमुक्षुकी परिणमनशीलता है। इसलिए सामान्य जनकी माफिक मुमुक्षु अनुकूलतामें नहीं फँसता और प्रतिकूलताके घेरेमें भी नहीं आता। (१३९१)

*

आत्मकल्याणकी यथार्थ भावनामेंसे जब सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगकी अत्यंत-अत्यंत आवश्यकता भासित होती है, तब 'आत्मजोग' उत्पन्न होता है। 'अंतरभेद जागृति' होनेके लिए तथारूप आत्मजोग उत्पन्न करना चाहिए।

सत्पुरुषके प्रत्यक्षयोगमें प्रतिबंधक भाव / परिणति टूट जाती है और अंतरमेंसे अपूर्व परिणाम सहित जागृति आती है। अथवा 'अंतरस्वरूपका रहस्य' ('अंतरभेद') भास्यमान होकर जागृति आती है। (१३९२)

*

प्रश्न :- परपदार्थकी इच्छापूर्वक प्राप्ति हो, वहाँ दुःख कैसे लगे ? उसमें तो सुखानुभव होना सहज है, ऐसा होनेका क्या कारण है ?

समाधान :- जब तक यथार्थरूपसे ज्ञानमें निर्मलता न आये तब तक सुखाभासमें 'वास्तविक सुखका' अनुभव होता है। ऐसी भूल यथार्थरूपसे दर्शनमोहका अनुभाग घटने पर पकड़में आती है। तब उस निर्मलतासे ज्ञानमें सुखका रूप मालूम पड़ता है। और आत्मामें अनन्त सुख है उसका निश्चय होता है। आकुलतारूप दुःख इच्छामें रहा है, उसमें सुखका अनुभव होना, यह ज्ञानका विपर्यास है। (१३९३)

*

आत्महितमें वास्तविक साधन तो खुदके परिणाम ही हैं। परन्तु जब परिणाममें सहज जागृति न आये तब अंतरंग साधन हेतु सत्संग, सत्शास्त्र आदि बाह्य साधन उपकारी हैं, उसमें भी सत्संगकी मुख्यता रखने योग्य है। अंतर साधनके हेतु बाह्य साधनको उपकारी गिनने योग्य है। यदि बाह्य उपचरित साधनके निमित्तसे अंतरमें जागृति नहीं आयी तो, बाह्य साधनको साधनका उपचार भी लागू नहीं होता, परन्तु वह सिर्फ आडंबररूप रह जाता है। (१३९४)

*

जीव यदि आत्मकल्याणका निश्चय / निर्धार करे तो तुरंत ही पात्रता सहजमात्रमें प्रगट हो जाये। शुद्ध परिणमन करनेके अनंत सामर्थ्य स्वभाव स्वरूपकी प्रतीति करानेवाले इस 'विलक्षण'

आप्तपुरुष / सजीवनमूर्तिकी मुद्रा - अवलोकनसे, 'स्वरूपावलोकनदृष्टि' परिणमित होती है। 'प्रत्यक्षयोग' का यह सर्वोत्कृष्ट माहत्म्यरूप रहस्य है। दर्शनमोहका अनुभाग कम होने पर 'स्वरूपावलोकनदृष्टि' परिणमित होती है। 'परिणमन' परिणमनको उत्पन्न करता है - यह सिद्धांत यहाँ पर प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होता है। (१४००)

❋

आत्मा निर्मल होनेके लिए आत्मारूप ऐसे ज्ञानीपुरुषकी निष्काम भक्ति योगरूप संग - वह सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बहुत शास्त्रोंका व तीर्थंकरदेवके 'मार्ग बोध' को देखा जाये तो वह यही है। ऐसे मार्गबोध पर कोई महाभाग्यका लक्ष जाता है, वह संसार तिर जाता है, सुगमतासे तिर जाता है। (१४०१)

❋

जिज्ञासा :- सत्पुरुषकी पहचान होनेके लिए योग्यता कैसी होती है ?

समाधान :- सत्समागमके 'योग' से, अलौकिक पुण्योदयसे, कुछ अंशमें तथा प्रकारकी योग्यता प्राप्त होने पर, दृढ़ मोक्षेच्छासे मोक्षार्थीपना प्रगट होनेके बाद, प्रत्यक्षयोगमें प्राप्त उपदेशको अवधारण - अमलीकरण करने पर, 'अंतर स्वरूपके प्रति वृत्तिका' परिणमन होने पर, (अर्थात् बाह्यदृष्टि - वृत्ति जानेसे - बाह्यत्याग व ज्ञानके बाह्य क्षयोपशमकी महिमा छूट जानेसे - वह दृष्टिकोण प्राप्त होता है।) जीव ज्ञानीके अंतर (सम्यक्) परिणमनको - अंतर्मुखताको एवं वीतरागताको पहचान सकता है। इसके लिए सत्समागमकी विशेष जरूरत है। (१४०२)

❋

गुण-दोषके प्रकरणमें बुद्धिगम्य विषय होनेसे, कई जीव उपदेशक होकर उसका विधि-निषेधक उपदेश देते हैं, उसमें वाक्पटुता, और युक्ति - दृष्टांत द्वारा आम समाज आकर्षित होता है। जब कि गुणका आविर्भाव होनेका विज्ञान, सिर्फ आत्मज्ञ ज्ञानीपुरुषके अलावा अन्यत्र नहीं होनेसे, वह उपदेश सफलताको प्राप्त नहीं होता। उसमें, बुद्धिपूर्वक नयी विधिकी भूल उत्पन्न होती है, जिससे उन्मार्गकी उत्पत्ति होती है, जो कि सामान्य जनकी समझमे नहीं आता, तत्त्वज्ञ उसे जानते हैं। (१४०३)

❋

'ज्ञानीके मार्गका' अनुसरण करनेका ही जिसका निश्चय है, वह सहजरूपसे उन्मार्गसे और स्वच्छंदसे बच जाता है। उसको सन्मार्ग सुगमतासे प्राप्त होता है। (१४०४)

❋

सम्यक्दर्शन आदि मोक्षमार्गकी अंतरसे भावना हुई हो - जरूरत लगी हो उसे परिभ्रमण,

नहीं आता ?

समाधान :- जैसे महान शास्त्रोंकी रचना उस कालमें संक्षिप्त सूत्रों द्वारा हुई तथा शास्त्रकर्ताको उसका विस्तार करनेकी जरूरत नहीं लगी, वैसे इस सामान्य समझकी बातको कहने - उसके ऊपर ज़ोर देनेकी आवश्यकता शायद नहीं लगी हो ! ऐसा संभवित है। परन्तु इससे वस्तुस्थितिमें कोई फर्क नही पड़ता। किसी भी महात्माका अभिप्राय वह सर्व आप्तपुरुषोंका अभिप्राय है। यह निःशंक है। वास्तवमें तो ऐसी बातें सत्पुरुषको खुदको कहनेका - कहनी पड़े ऐसा हीन समय आया, ये स्थिति बहुत करुणाजनक है ! फिर भी इसमें भी विवाद होता है ! हे ! प्रभो ! कैसा है ये कलियुग ! (१४१०)

※

प्रायः सर्व धर्ममतमें सद्‌गुणका आदर व अवगुणका अनादर मान्य है और इसके लिए सभी धर्ममें स्व-मति अनुसार इसका प्रतिपादन भी देखा जाता है। परन्तु इस पर्यायाश्रित बोधका ग्रहण करते वक्त, द्रव्यदृष्टिके अभावमें पर्यायमें किसी भी गुणके ग्रहण होनेके साथ ही साथ, पर्यायदृष्टिके कारण, उसका अहम् भी साथमें हो ही जाता है, यह अनिवार्यरूपसे हो जाता है, उसका निवारण कैसे हो ? यह सम्यक्‌ज्ञानके बिना समझमें आये, ऐसा नहीं है। इसी वजहसे जिनमार्गमें सम्यक्त्वकी महिमाका अलौकिक प्रतिपादन है। अन्य (मत) में कहीं पर भी इस विषयका ऐसा प्रतिपादन नहीं है। (१४११)

※

जैन शास्त्रके उपदेशबोधको ग्रहण करनेमें भी `सम्यक्‌रूपसे' पर्यायका अहम् नहीं हो - नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रहनी आवश्यक है, वरना अन्यमतकी तरह एकांत होकर, पर्याय सम्बन्धित जोर असंतुलित होकर, सम्यक्त्वसे दूर होनेका बनता है और पर्यायका अहम् उत्पन्न होता है, दर्शनमोहकी वृद्धि होती है। (१४१२)

※

भवभ्रमणकी चिंतना नहीं होती हो उस जीवको, खुदके प्रतिबंधको समझकर - अवलोकन करके उसे दूर करना चाहिए। जब तक प्रतिबंध रहेगा तब तक जीव आगे नहीं बढ़ सकता, अर्थात् यथार्थ मुमुक्षुतामें भी प्रवेश नहीं कर सकता। (१४१३)

※

सम्यक्‌दर्शनके लिए जीव तत्त्वज्ञानका अभ्यास एवं सत्शास्त्रोंका अध्ययन करते है, परन्तु जब तक परिणमनमें सुधार होनेके यथार्थ क्रममें सहजतासे प्रवेश नहीं हो, तब तक वैसे अभ्यासको परलक्षी समझने योग्य है। अगर स्वलक्षी अभ्यास हो तो उसकी सीधी असर परिणमन पर

मार्च - १९९५

ज्ञानीकी वाणीमें खुदकी ज्ञानदशाकी बात आती है और खुदको भूतकालमें अनुभवमें आयी हुई मुमुक्षु भूमिकाकी बात भी आती है। मुमुक्षुजीवको मुमुक्षु भूमिकाकी बात / विषय विशेष प्रयोजनभूत एवं उपकारी है - ऐसा अनुभव मुमुक्षुको होना चाहिए वरना यथार्थता नहीं है। उसमें भी किसी उत्तम मुमुक्षुका प्रत्यक्षयोग विशेष उपकारी होता है, क्योंकि वहाँ तथारूप उत्तम योग्यता - परिणमन प्रत्यक्ष देखने मिलता है और इसलिए उसकी असर तुरंत बहुत ज्यादा प्रमाणमें होती है। यहाँ पर भी प्रत्यक्ष-परोक्षका नियम कार्यकारी होता है। वाणी तो परोक्ष है - यह सत्संग रहस्य है। (१४१९)

⁂

परिणामका स्वभाव एकत्व करनेका है। - स्वरूपमें ही एकत्व रहे वैसा द्रव्य-स्वभाव है, परन्तु स्वभावसे अनभिज्ञ ऐसा यह जीव अनादिसे परमें एकत्व करके - ममत्व करके दुःखी हो रहा है। (१४२०)

⁂

जीवको अनादिसे संयोगकी कामना, सुखबुद्धिके कारण रही है, जिसके कारण आत्मकल्याणके साधन सत्संगादि निष्फल गये है। जिनके वचनयोगके बलसे जीव निर्वाणमार्गको प्राप्त हो, वैसी सजीवनमूर्तिका अनेकबार योग हो चुका है फिर भी, उनकी पहचान एकबार भी नहीं हुई। क्वचित् जीवने पहचान करनेका प्रयास भी किया है, परन्तु उक्त सुखबुद्धिको वैसी की वैसी रखकर किया है, जिसके कारण दृष्टि मलिन रही है। इसलिए अंतरदृष्टिके अभावमें ज्ञानीपुरुषकी पहचान नहीं हुई है - नहीं होती है। संयोगकी कामनाकी वजहसे जीवको बाह्यदृष्टि रहा करती है। जिसके कारण ज्ञानीकी अंतर परिणति दिखाई नहीं देती है। (१४२१)

⁂

महात्मा कदाचित् खुदके अल्प दोषको बड़ा करके (भी) दिखाते हो, परन्तु मुमुक्षुजीवको इसे गिनना नहीं चाहिए, अर्थात् दोष गिननेमें अभक्तिके परिणाम हो जायेंगे, ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसे वचनमें उन महात्माकी सरलता, नम्रता, निर्दोषता आदि सद्गुणोंके दर्शन करने योग्य है। (१४२२)

⁂

सत्पुरुषकी यथार्थ भक्ति प्रगट होने पर, उनकी आत्मचेष्टामें ही वृत्ति रहा करे, उनके अंतर पुरुषार्थका बहुमान निरंतर रहा करे, (और) सिर्फ वे ही नजरमें रहे - उनके अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होने पर, स्वच्छंद और प्रतिबंध मिटे और सहज मात्रमें आत्मबोध प्रगट हो।

किसी भी परपदार्थकी वांच्छा जीवके परिणाममें मलिनता और आकुलता उत्पन्न करती है, अतः ऐसी वांच्छापूर्वक हो रही धर्म-प्रवृत्तिके कालमें 'दृष्टि' मलिन होती है, और विभिन्न धर्म साधन करने पर भी उस दृष्टिसे आत्माको आवरण आता है। (१४३०)

※

## अप्रैल - १९९५

जिज्ञासा :- उत्कृष्ट पात्रतावान मुमुक्षु ज्ञानीपुरुषको पहचान सकता है, परन्तु मंद अथवा मध्यम दशावान मुमुक्षुको वर्तमान प्रयोजनभूत दृष्टिकोणसे क्या उपाय कर्त्तव्य है ?

समाधान :- मंद अथवा मध्यम दशावान मुमुक्षुको उत्कृष्ट पात्रतामें आना चाहिए, और तदर्थ उसे उत्कृष्ट पात्रतावान मुमुक्षुका संग यथार्थरूपसे कर्त्तव्य है - एक मात्र कर्त्तव्य है। क्योंकि उत्कृष्ट पात्रतावानका परिणमन प्रत्यक्षरूपसे देखने मिलता है, और जिसके कारण परिणमनमें आना सहज बनता है। (१४३१)

※

जिज्ञासा :- जो जीव निज स्वरूपसे अनजान है, वह निज स्वरूपके साथ कैसे प्रेम कर सकता है ? अपनी आत्मासे प्रेम करना वह परामक्ति है या अपने प्रभु (उपकारी सत्पुरुष) के साथ प्रेम (ऐक्यभाव) करना वह परामक्ति है ? ऐसे प्रेमका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है ?

उत्तर :- मुमुक्षुको प्रथम (स्वरूपनिश्चयके पहले) प्रत्यक्ष उपकारी ज्ञानीके प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है। ऐक्यभावको प्राप्त हो, ऐसी अत्यंत भक्तिका निष्कामभावसे उत्पन्न होना, वही उसका आत्माके प्रति प्रेम है, क्योंकि उसके भावमें सत्पुरुष और आत्मा अलग-अलग नहीं है। उसीका नाम ऐक्यभाव है अथवा परामक्ति है। उसका स्वरूप ऐसा है कि एक क्षण भी उनके वियोगमें रहना, वह असह्य बन जाता है। सत्पुरुष ही उसका जीवन बन जाते हैं। (१४३२)

※

जिज्ञासा :- सिर्फ सत्पुरुष नहीं, परन्तु वर्तमान उपकारी सत्पुरुषके प्रति परामक्ति उत्पन्न होनेके पहले भक्तिके जो-जो प्रकार है, वह प्रकार और उसके आनुषंगिक परिणामोंका स्वरूप कैसा होता है ?

समाधान :- उपकारी सत्पुरुषके प्रति परामक्ति उत्पन्न होनेके पहले, परमेश्वरबुद्धिपूर्वक सर्वार्पणता, आज्ञाकारिता सहित अपूर्व बहुमान एवं अत्यंत भक्तिके परिणाम होते हैं। ये परिणाम घनिष्ट होकर ऐक्यभावसे परामक्तिमें परिणमित होते है। (१४३३)

योग्यतामें उसका प्रयोजनभूत कार्य होनेमें वह निमित्त पड़ता है। अतः सामान्य मुमुक्षुको उत्कृष्ट मुमुक्षुका सत्संग सीधा उपकारी होता है। - यह सत्संगका रहस्य है। (१४३६

※

मई - १९९५

जिनको संयोगोंकी चिंता रहा करती है, वे सब जड़की चिंतामें पड़े हुए हैं, उन्हें भवभ्रमणकी, आत्माकी चिंता नहीं होती। जो भवभ्रमणकी चिंतासे घिर जाता है, उसे संयोगोंकी चिंता छूट जाती है। (१४३७)

※

दर्शनमोहका अनुभाग कम हुए बिना, जो सिद्धांतज्ञानका अभ्यास करता है, वह क्रमभंग प्रवृत्ति द्वारा खुदको ही नुकसान करता है, अतः ज्ञानीपुरुषके बोधे हुए क्रमिक मार्ग पर चलना हितावह है। (१४३८)

※

अंतरकी यथार्थ भावनापूर्वक जो भी निर्णय / विचारणा होती है, उसमें यथार्थता होती है। जब कि भावुकतामें आनेवालेके निर्णयमें यथार्थता नहीं होती। (१४३९)

※

वर्तमान भूमिकासे आगे बढ़नेके लिए जिस मुमुक्षुकी दृष्टि प्रयोजनभूतपने कार्य करती है, उसमें यथार्थता है। यथार्थता आने पर मुख्य गुणोंके परिणमनमें Co-ordination होता है। छोटे दोष भी बड़े दिखने लगते हैं - सरलता, गुणग्राहीता इत्यादि इस भूमिकाके मुख्य लक्षण हैं। (१४४०)

※

तत्त्वकी परलक्षी समझ मुमुक्षुको संवेगकी उत्पत्ति होनेमें कारणभूत नहीं होती। जब कि स्वलक्षी समझसे मुमुक्षुको संवेगकी उत्पत्ति होनेसे, वह मुमुक्षुता वर्धमान होनेमें कारण बनती है। संवेगका महत्त्व समझसे विशेष जानने योग्य है। (१४४१)

※

तत्त्वज्ञानका अभ्यास चलते हुए परिणमनके साथ मिलान करते-करते होना चाहिए। अन्यथा उस अभ्याससे आत्म प्रत्ययी लाभ नहीं है। (१४४२)

※

प्रतिबंधक भावोंके सामने उपदेशबोध और सिद्धांतकी विचारणा असरकारक होती है। तथापि जब तक अभिप्राय नहीं बदलता है तब तक प्रतिबंध चालू रहता है। जीवको विपरीत अभिप्राय

यथार्थता रहती है - यह यथार्थता विषयक धोरण (नापदंड) है। (१४५०

※

पारवारिक सम्बन्ध परमार्थकी अपेक्षासे कल्पित है। फिर भी जगतमें वह वास्तविक माना जाता है, जो मान्यता अधोगतिका कारण है। मुमुक्षुको समविचारवाले परिवारके साथ साधर्म सम्बन्ध होना उचित है। संसार सम्बन्धसे इस जीवने परिणाम कर-करके अनन्तबार दुर्गति जाकर अकथ्य दुःखोंको भोगा है - फिर भी अज्ञानके वश होकर बारबार वैसा करता है (१४५१

※

परिभ्रमणकी चिंतना / झुरना हुए बिना यथार्थ उदासीनता और मुमुक्षुताका क्रम शुरू नहीं होता है - इसलिए स्वच्छंदका त्याग करके ज्ञानीके मार्ग पर चलना योग्य है। (१४५२)

※

लोकसंज्ञा जो है वह तीव्र बाह्य वृत्ति है, जो कि जीवको अंतर्मुख होनेमें बाधक है - प्रतिकूल है। अतः उसे बड़ा अनिष्ट और आत्माको अत्यंत आवरण आनेका कारण समझने योग्य है। (१४५३)

※

सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धिरूप उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त होने पर भी 'उस दशाका अहम्' नहीं होता, क्योंकि सर्व प्राणीके प्रति दासत्व साथ ही साथ उत्पन्न होता है। - यह अद्‌भुत सम्यक् / यथार्थ स्थिति है, वरना भक्तिवानको भी 'भक्तिका अहम्' हो जानेमें देर नहीं लगती। यथार्थ मुमुक्षुतामें सहज ऐसा होता है अर्थात् सभी पहलू यथार्थ होते है। (१४५४)

※

आत्म-उन्नतिके क्रममें यथार्थरूपसे प्रवेश होने पर, सहज ऊपर-ऊपरकी दशामें प्रवेश होता जाता है, इसलिए बादमें क्या करना ? ऐसी समस्या प्रायः नहीं रहती अथवा सहजताके कारण, कृत्रिम / कर्तृत्वके भाव नहीं आते। जैसे कि परिभ्रमणकी झुरनासे यथार्थ उदासीनताका क्रम शुरू होता है और बादमें कार्य सहज चलता होनेसे, 'क्या करना' - ऐसी समस्या खड़ी नहीं होती। (१४५५)

※

जुलाई - १९९५

मुमुक्षुकी प्रत्येक भूमिकामें अगर यथार्थता आये तो, वह विकसित होकर सम्यक्त्वमें परिणमित होती है। अतः मुमुक्षु भूमिकाकी यथार्थता साधक है और सम्यक्त्व साध्य है। (१४५६)

नहीं करना चाहिए वरना अयथार्थता आ जायेगी और आगे बढ़ना नहीं होगा, परन्तु भूलके कारण अटकना हो जायेगा। Feeling Stage की परिस्थिति नाज़ुक होती है। उसमें बौद्धिक प्रयाससे दूर रहकर, सिर्फ वेदनसे ही आगे बढ़ना चाहिए - ऐसा सहज होना चाहिए। यथार्थतामें ऐसा ही होता है। (१४६२)

⁂

ज्ञानीपुरुषके वचन आगम ही हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास जिसको नहीं होता, उसे शास्त्रकी साक्षी ढूँढ़नेका विकल्प आता है, वह 'शास्त्र संज्ञा' नामका दोष है। ऐसा दोष स्वच्छंदरूप होनेसे महादोष है। जिसमें ज्ञानीके प्रति अविश्वास रहा हुआ है। (१४६३)

⁂

मुमुक्षुजीवको सत्पुरुष सर्वस्वरूप रहते हो, तब ऐक्यभावके कारण परद्रव्यरूप भासित नहीं होते। क्योंकि पराभक्ति अभिन्नभावरूप होती है - ऐसा जो सत्पुरुषका अवलंबन, वह इस भूमिकाका अध्यात्म है। आगम पद्धतिसे सत्पुरुषकी परद्रव्यता है, वह सिर्फ जाननेका विषय है। (१४६४)

⁂

निज परिणामोंका अवलोकन दो प्रकारसे होता है; रागप्रधान और ज्ञानप्रधान। राग प्रधानतामें यथार्थता नहीं होती (जब कि) ज्ञानप्रधानतामें यथार्थता होती है। (१४६५)

⁂

## अगस्त - १९९५

जब जीव जन्म-मरणकी चिंतना / वेदना पूर्वक मुक्त होनेकी भावनामें आता है, तभी वह यथार्थ समझपूर्वक सहज पुरुषार्थके योग्य बनता है अथवा संवेगको प्राप्त होता है। (१४६६)

⁂

पुण्यका मूल स्वरूप तो अलौकिक है, परन्तु रूढ़िगत वह विकृतरूपमें प्रसिद्ध है। सत्पुरुषके अनुग्रहसे पात्रजीवको शाता उत्पन्न होती है, जगतके त्रिविध तापसे दूर होकर जीव शाताका अनुभव करता है। ऐसे सत्पुरुषका अपूर्व योग होना वही सच्चा पुण्य है, कि जिस पुण्यके योगसे जीव पूर्णपदको प्राप्त होगा। (१४६७)

⁂

मुमुक्षुको भले ही बेहद उपकारबुद्धि वर्तती हो, परन्तु सत्पुरुषको तो, खुदने कोई उपकार किया ही नहीं - ऐसा भाव वर्तता है। इसलिए वे अंतरंगमें निस्पृह होते है - ज्ञानीपुरुषकी

जिज्ञासावृत्तिसे स्वरूप-निश्चय होनेमें परिणाम लगने चाहिए। उदासीनता वृद्धिगत होनी चाहिए। (१४७३)

※

क्षयोपशमज्ञानका उपयोग दो प्रकारसे होता है, विचारणामें और प्रयोगमें। जब तक प्रयोगमें क्षयोपशम नहीं लगाया जाये तब तक यथार्थता नहीं आती है अथवा वास्तविक वस्तु-स्वरूप समझमें नहीं आता। मोक्षमार्गकी प्राप्ति तक अगर सिर्फ बौद्धिक स्तर पर ही प्रयास किया जाये तो इसमें सफलता प्राप्त नही होती। सच्ची मुमुक्षुतामें प्रयोग पद्धतिकी प्रधानता होती है। वही सच्ची कार्यपद्धति है। (१४७४)

※

जिज्ञासा :- विचारसे समझमें आता है कि वेदनमें आना चाहिए, परन्तु फिर भी नहीं आ पाते है, तो क्या करें ? क्यों वेदनमें नही आ पाते ?

समाधान :- परलक्षी विचारणा होनेसे परिभ्रमणकी भयंकर वास्तविकता लगती नहीं है, अगर खुदको शामिल (Involve) किया जाये तो परिभ्रमणकी चिंतना / वेदनापूर्वक झुरना आये बिना नहीं रहे, - वेदनाको रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सके। एक मरणकी गंभीरता भासित होवे, तो अनन्त मरणकी क्यों नहीं भासित होगी ? (१४७५)

※

सितम्बर - १९९५

जिज्ञासा :- सत्संगमें भी यथार्थ सत्संगकी ही उपासना कर्त्तव्य है, परन्तु सामान्य मुमुक्षुको यह सत्संग यथार्थ है कि नही ? यह कैसे समझना ?

समाधान :- सामान्य मुमुक्षुको सत्संगकी (अन्यकी) परीक्षा करनी सरल नहीं है। इसलिए वह मुश्किल लगे, परन्तु यदि खुदकी भावना आत्मकल्याणकी हो तो और उस भावनाकी पुष्टि होती हो ऐसा लगे, तो उस परसे यह सत्संगकी उपासना करने योग्य है, ऐसा निश्चय होता है; परन्तु खुदके अमुक राग या अभिप्रायको पुष्टि मिले उस हेतुसे सत्संग नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं अगर आत्मरुचिको पुष्टि नहीं मिलती हो तो वह संग छोड़ देना चाहिए। (१४७६)

※

आत्मार्थी जीवका उदय प्रसंगमें बारबार हार जाना बनता है, परन्तु यदि सत्पुरुषका समागमरूप योग मिलता है तो उदय प्रसंगमें संघर्ष करके अंततः विजय प्राप्त करके ही चैनसे बैठता है। और इस प्रकार प्रकृतिको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। यद्यपि प्रकृतिके

शुद्ध निश्चयसे स्वयं, मूल स्वरूपसे, सिद्ध स्वरूप परमात्मपद पर बिराजमान है। परन्तु आत्मार्थीको वर्तमान भूमिकाका अनुभव भी समझमें है, कि जिसमें अत्यंत पामरताका अनुभव हो रहा है। इन दोनोके बीच जो बड़ा फर्क है, उसकी यथार्थता समझमें आने पर अवश्य जीवका पुरुषार्थ उठता है, और पामरतासे प्रभुताकी ओर परिणाममें झुकाव उत्पन्न होता है। अर्थात् पामरताका खेद पामरता मिटानेके लिए होता है; (पामरता दृढ़ करनेके लिए नहीं)। इतना ही नही स्वरूपकी समझ भावभासनकी (भी) प्रेरणा करती है, सिर्फ कल्पित मान्यता कर लेनेके लिए नही। - इस प्रकार दोनों बातका मेल - Co-ordination करके प्रयोजनको साधना चाहिए। किसी एक बातका असंतुलन होने पर प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता। संतुलन बनाये रखनेके लिए सत्संग जैसा उपकारी साधन दूसरा कोई नहीं है। सिर्फ पामरताका ही वेदन होनेसे तो निराशा (Depression) आ जानेसे बहुत नुकसान होता है - पुरुषार्थ उठ नहीं पाता। और सिर्फ स्वरूपका ही विकल्प करे तो, स्वरूप प्रगट करनेकी जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होती, बल्कि जीव कल्पनामें चढ़ जाता है। (१४८२)

✳

आत्मार्थी जीव प्रयत्नसे दर्शनमोहको मंद करता है, परन्तु इसमें क्षति रहनेसे अन्यथा परिणमन हो जानेसे दर्शनमोह तीव्र हो जाता है। जिसके फलस्वरूप समय व्यतीत हो जाता है, और फिर पहले हो चुके नुकसानकी क्षति पूर्ति करनेके पश्चात् आगे बढ़ना होता है। इस प्रकार बारंबार परिणामोंमें चढ़ाव-उतार हुआ करता है। यदि यथार्थ बल जागृत हुआ तो उन्नतिक्रममें तेज़ीसे आगे बढ़कर जीव ग्रंथीभेद कर लेता है। तब अल्प समयमें सिद्धि होती है। (१४८३)

✳

जिज्ञासा :- आत्मकल्याणको सुलभतासे प्राप्त करनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी आज्ञामें एकतान होना आवश्यक है, परन्तु तथारूप एकतान होना सुलभ नहीं है, बहुत ही असुलभ है, ऐसा क्यों ?

समाधान :- आज्ञामें एकतान होनेमें अवरोधरूप परिणामोंमें - स्वच्छंद, प्रतिबंध एवं प्रकृतिके उदयमें जुड़ान होना इत्यादि परिणाम होते हैं। इसके अलावा पूर्वग्रह, प्रमाद, रसगारवताके परिणाम भी अवरोध करते हैं। परन्तु आज्ञाके अवलंबनसे व आश्रयभक्तिपूर्वक परम प्रेमसे प्रयास करने पर सहजमात्रमें ये सब अवरोध दूर हो सकते हैं। (१४८४)

✳

ओघभक्ति भी संसार है, अगर इसमें निष्कामता न हो तो। निष्कामतासे निर्मलता आती

आने जैसा है। इस मस्तीमें आनेवाला भक्त सामान्य लौकिक व्यवहारका उल्लंघन करता हुआ दिखाई देता है, फिर भी वह उसका गुण है, अवगुण नहीं। (१४९०)

❋

जब सत्पुरुषके प्रति परमेश्वरबुद्धि आती है, तब सर्व प्राणीके प्रति दासत्व आता है, अर्थात् उस जीवको भक्तिका अहम् कभी नही होता, परन्तु उसका मान अत्यंत पिघल जाता है। (१४९१)

❋

तत्त्व-अभ्यासके दौरान आत्म-स्वरूप समझमें आता है, तब परलक्षी समझ होनेसे विकल्पका कारण बनता है। परन्तु स्वलक्षी समझमें स्वरूपकी अपूर्व जिज्ञासापूर्वक अंतर अवलोकन द्वारा, ज्ञानलक्षणके आधारसे स्वभावका स्वीकार अगर भावभासन पूर्वक आये तो, वह अनुभूतिका कारण बनता है। (१४९२)

❋

ज्ञानीपुरुष और उनके वचनके दृढ़ आश्रयसे जीवको मोक्ष पर्यंत सर्व साधन सुलभतासे सिद्ध होते है। - यह सुगमतासे तिरनेका उपाय, निष्कारण करुणाशील सत्पुरुषने बतलाया है, उन्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो ! (१४९३)

❋

ज्ञानीको भी आत्मदशाको भूला दे, वैसे उदय उदयरूपमें आते हैं, परन्तु उसका समभावसे वेदन करके अधिक निर्मलता प्राप्त करनेकी ज्ञानीकी रीत होती है। मुमुक्षुका प्रयास भी तथारूप होना चाहिए। चाहे कैसे भी उदयमें जागृति नहीं छूटनी चाहिए। अभिप्रायकी दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न होना चाहिए, तो अवश्य सफलता मिलती है। (१४९४)

❋

'एक गुणको अनन्तगुणका रूप है।' उसमें सर्वज्ञ शक्तिको अस्तित्वका रूप है, वह सर्वज्ञ शक्तिकी हयातिसे समझमें आता है, परन्तु अस्तित्वगुणको सर्वज्ञताका रूप नहीं दिखता है; अत: उक्त सिद्धांतके लिए समस्या खड़ी होती है। तथापि ऐसा विचार किया जाये कि सर्वज्ञताका 'जो' अस्तित्व है 'वही' अस्तित्वको सर्वज्ञताका रूप होना चाहिए, जैसे कि परमाणुका अस्तित्व जड़रूप है, जब कि जीवका अस्तित्व चेतनरूप है। इस प्रकार उक्त सिद्धांतको समझना सुगम है। (१४९५)

❋

जीवकी बीजभूत भूल है। जिसकी समझ होने पर जीव समस्त जगतको गौण करके सत्संगकी आराधना करता है; कि जिससे दूसरी सर्व भूल मिटती है। अत: इसका विचार सबसे पहले होना चाहिए। यदि जीवको सर्व दोषसे मुक्त होनेकी अंतरसे सच्ची भावना पैदा हुई तो, यह भावना उसकी उपरोक्त मूलभूत भूलसे छूटनेका सहज ही कारण बनती है। 'स्वलक्षी' विचारणाका भी यह मूल कारण है। (१५००)

※

आत्म-कल्याण व आत्मस्वरूपकी 'गहरी जिज्ञासा / भावना,' पुरुषार्थको उत्पन्न करती है; साथ ही साथ प्रयोजनकी पकड़ भी आती है, जिससे हित साधन सफल होता है। निजहितके प्रयोजनकी तीक्ष्ण पकड़से अल्प समयमें आगे बढ़ा जा सकता है, और मति विपर्यास (भी) छूटता जाता है। (१५०१)

※

अन्य पदार्थको ग्रहण करनेरूप भाव - जो इच्छा - वह ज्ञानको आवरण करती है, इसलिए केवल निरावरण ज्ञान होनेके पहले पूर्ण वीतरागता अर्थात् संपूर्ण निरीच्छकदशा उत्पन्न होती है। ऐसा हुए विना कभी किसीको केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। फिर भी जो लोग गृहस्थादि दशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानते है, वे अध्यात्मकी प्राथमिक भूमिकाकी समझसे अनजान है। ऐसा समझने योग्य है। (१५०२)

※

जो जीव तत्त्व-विचार द्वारा मार्ग प्राप्ति चाहता है; उसको सहज मार्ग-प्राप्त ऐसे ज्ञानीपुरुषकी दासानुदासपने भक्ति प्राप्त होती है। वरना सिर्फ तत्त्व विचार करते-करते शुष्कता उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। श्री आनंदघनजी आदि महात्माओंने भक्तिके पदोंमें तत्त्वका गुंथन किया है, इसमें ये रहस्य है। (१५०३)

※

जिज्ञासा :- जीवको सत्पुरुषकी विद्यमानताकी आवश्यकता भासित नहीं हो रही है, इसका क्या कारण ?

समाधान :- जब तक मुक्त होनेकी अंतरसे सच्ची भावना उत्पन्न नहीं हो, और ऊपर-ऊपरसे धर्म प्रवृत्ति जीव करता है, तब तक उसको 'इस' प्रकारकी सूझ नहीं आती है। अनन्तकालमें इसी प्रकारकी 'बीजभूत भूल' जीवने की है। ऐसा निश्चय करके इस भूलको मिटाना चाहिए। (१५०४)

※

भावना और भावनावानका विशेष आदर करता है। यदि इससे विरुद्ध परिणाम हो, तो खुदकी भावना यथार्थ नही है - ऐसा समझने योग्य है। (१५०८)

※

जिज्ञासा :- शुद्ध प्रेम सहित जो भक्ति होती है, उसमें स्वामित्व और अधिकारके भाव होते है ? उसमें कैसे भाव होते है ?

समाधान :- जहाँ शुद्ध प्रेमरूप भक्ति होती है, वहाँ अधिकारबुद्धि नहीं होती, परन्तु वहाँ सर्वार्पणबुद्धिसे उत्पन्न निर्मल प्रेम - भाव होते है। जो कि स्व-परको उपकारक है। भक्ति करनेवाला उपकारी सत्पुरुषके प्रति स्वामित्व और अधिकारसे वर्तता है, तब अभक्तिके परिणाम होते हैं, जो कि शुद्ध प्रेम भक्तिसे विरुद्ध प्रकार है। (१५०९)

※

मुमुक्षुजीव तत्त्व-अभ्यास द्वारा अपनी आत्माका भिन्न अस्तित्व समझकर सम्मत तो करता है, परन्तु यदि उदयमान कुटुम्ब आदि संयोगमें अपनत्व करता है, तो उपरोक्त समझ निष्फल जाती है, अर्थात् भिन्न पदार्थमें अपनत्व होनेसे (अस्तित्वका अनुभव होनेसे) श्रद्धामें मिथ्यात्व दृढ़ होता है। जिसके कारण निज स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण श्रद्धामें नहीं हो सकता। निजमें निजबुद्धि होनेसे 'परमें अस्तित्व ग्रहणरूप श्रद्धा' की शक्ति टूटती है और क्रमशः आगे जाकर उपशमित होती है। संक्षेपमें कहे तो, परमे अस्तित्व ग्रहणरूप मिथ्यात्व निज अस्तित्वको भूलाता है। (१५१०)

※

जिज्ञासा :- बाह्य उपयोग और परलक्षी ज्ञानमे क्या अंतर है ? दोनोंमें क्या नुकसान है ? और ऐसे नुकसानसे कैसे बचा जाये ?

समाधान :- दोनों ज्ञानके दोष है। परलक्षी ज्ञान दर्शनमोह आदि सर्व दोषका उत्पादक है। परलक्षके कारण सच्ची समझ भी प्रयोजन साधक नहीं होती। अत: अंगपूर्वकी जानकारी भी निष्फल जाती है और उपयोग कभी अंतर्मुख नहीं हो सकता। बाह्य उपयोग भी ज्ञानका विभाव है। जो कि छद्मस्थ अवस्था पर्यंत अनिवार्यरूपसे चालू रहता है। जिससे परसत्ताका अवलंबन आता है। अंतर्मुख उपयोग द्वारा बाह्य उपयोग मिटता है और स्वलक्ष उत्पन्न होनेसे परलक्ष छूटता है। (१५११)

※

जिज्ञासा :- ज्ञानीको तो स्वरूपके आधारसे दोष मिटते है, परन्तु मुमुक्षुको दोष रहित होनेके लिए किसका अवलंबन होता है ?

जनवरी - १९९६

परिभ्रमणकी वेदना - झुरनासे ही आत्म-जागृतिकी शुरूआत हो जाती है। यथार्थ वेदनाका यह लक्षण है। इसके बाद ज्यों-ज्यों आत्मार्थी आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों जागृति बढ़ती है। (१५१६)

※

प्रकृतिगत् परिणमन भी दो प्रकारसे होता है। जिसमें परस्पर प्रतिपक्षी परिणमन होता है। जैसे कि मानके विरुद्ध लौकिक नम्रता, मायासे विरुद्ध लौकिक सरलता, बेईमानीसे विरुद्ध लौकिक ईमानदारी / उदारता इत्यादि। लौकिकमें नम्रता, ईमानदारी, सरलता आदि गुणमे गिने जाते हैं, परन्तु वे पारमार्थिक मार्गमें गुण नहीं है, - पारमार्थिक मार्गमें यही गुण आत्मलक्षी होते है। अतः परमार्थमार्गमें जिसका प्रवेश होता है, उसे ये गुण आगे बढ़नेमें कारणभूत होते है, अर्थात् उपकारी होते है। वरना लौकिक गुण सिर्फ मंद कषायके अलावा कुछ नहीं है। (१५१७)

※

जिज्ञासा :- हमलोग परदेशमें (अमेरिकामें) रहते है, वहाँ सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है क्या ? नहीं हो सकती तो उसका कारण क्या ?

समाधान :- सम्यक्दर्शनकी प्राप्तिको क्षेत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ ज्ञानीपुरुष मौजूद होने चाहिए। 'सत् सुगम है और सरल है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति हो सकती है, तथापि प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुषके बिना परिणामको अंतर्मुख होनेका प्रयोग देखने नहीं मिलता, और इस वजहसे अंतर्मुख होनेकी दिशाकी सूझ नहीं आती है।' प्रत्यक्ष योगमें एवं तथारूप योग्यता प्राप्त होने पर, 'बीजज्ञान' की प्राप्ति ज्ञानीके द्वारा ही हो सकती है, जो कि सम्यक्त्वका अंग है। (१५१८)

※

जनवरी - १९९६

द्रव्यानुयोगआदि सर्व शास्त्रके सिद्धांतका पारमार्थिक प्रयोजनके दृष्टिकोणसे विचार कर्तव्य है। अन्यथा सिद्धांतोंका ज्ञान भी सिर्फ संकल्प-विकल्प प्रतिबंधका कारण बनता है।

उच्च स्तरमें - दृष्टिहेतुवादके स्तरमें तो द्रव्यानुयोगके सिद्धांतसे भी आगे जाकरके वचन प्रयोग द्वारा उपदेशकी प्रवृत्ति हुई है। अध्यात्म-भावना भाते हुए प्रयोजनकी सिद्धि होती है, - वहाँ द्रव्यादिका आगम-ज्ञान सिर्फ जानकारी हेतु रहता है, उपासना करनेके लिए तो उसकी गौणता अभीष्ट है। (दृष्टांतरूपसे : नियमसार गाथा - ५०) गुरुकी भक्तिमें भी वैसा ही प्रसंग

सत्पुरुषका योग तो अधिक कल्याणकारी होता है। क्योकि उनका परिणमन मुमुक्षुको वर्तमान प्रयोजनके लिए एकदम सानुकूल (Fit) है और ज्ञानीपुरुष भी बहुत सँभाल लेकरके मार्गदर्शन देते है, जब कि ऊपरके गुणस्थानमें वीतरागता विशेष होनेसे, वे तो स्वरूपमें डूबे हुए रहते है, और ग्राम, नगरमें उनकी उपलब्धि भी सुलभ नहीं है, जब कि ज्ञानीपुरुष तो उपलब्ध होते हैं। नमस्कारमंत्रमें सिद्ध भगवानके पहले अरिहंत भगवानको नमस्कार किया है, इसमें 'यही' संकेत है। (१५२४)

✻

जिनागममें मोक्षमार्ग व्यवस्थितरूपसे गुणस्थान अनुसार प्रतिपादित किया गया है, जब कि मुमुक्षुताका इतना व्यवस्थित प्रतिपादन नही किया गया है, क्योंकि मुमुक्षुकी भूमिकामें योग्यता - अयोग्यताके अनेक प्रकार है, जिसके कारण उपदेशकी भी अनेकविध प्रकारसे प्रवृत्ति हुई है। पहले गुणस्थानमें मुमुक्षुको सत्पुरुषके योग बिना उलझनमें आना पड़े, वैसा अनुभव मार्गके खोजी जीवको अवश्य होता है, क्योंकि उन्नतिक्रमका नियत प्रतिपादन उपलब्ध नहीं है। अतः श्री जिनने इसका सुगम उपाय ऐसा बतलाया है कि, 'एक सत्पुरुषको खोज, और सर्वभाव उन्हें समर्पित करके प्रवर्तन करते जाओ।'

स्वच्छंदका त्याग करके सर्व भावसे सत्पुरुषकी आज्ञा अधीन प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय व अभिप्राय होने पर जीव ज्ञानीकी आज्ञा पर, ज्ञानीके मार्ग पर चलनेके लिए तत्पर होता है, जिससे वह सुगमतासे संसार पार कर सकता है।

अगर किसी भी तरह जीवमें इतना विवेक उत्पन्न हो जाये, तो यह विवेक संपन्नता स्वयं ही जीवके दर्शनमोहको कमजोर करके आत्महितकी अपूर्व सूझको उत्पन्न करता है। और महात्माओंने जिस क्रमका अनेक प्रकारसे उपदेश किया है, उसका वह खुदके विषयमें अनुसंधान कर सकता है। जिससे पात्रता वर्धमान होकर मार्ग प्रवेश होता है। ज्ञानमार्गमे पात्रता संभवित है, तथापि स्वच्छंद होनेका अवकाश (संभावना) बहुत है। (१५२५)

✻

**फरवरी - १९९६**

भक्ति प्रेमरूप होने पर श्रीगुरुमें सर्वभाव समर्पित होकर, जीव पूर्ण आज्ञाकारितामें आता है, जिससे सहज आत्महित सधता है, आत्महितमें अवरोधक भाव प्रायः उत्पन्न ही नहीं होते। (१५२६)

✻

'प्रथम ज्ञानाभ्यास बादमें ध्यानाभ्यास होता है।' अंतर अवलोकनरूप बारंबारके प्रयासरूप

समाधान :- लोगोंके डरसे कोई भी प्रवृत्ति करनी या नहीं करनी, ऐसा आत्मार्थीको नहीं होता। प्रत्यक्ष उपकारीके प्रति उसको अनन्य भावसे सहज भक्ति आती है, इसलिए जाहिरमें वंदनादिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जो स्व-पर हितकारी है। अतः ऐसी (स्व-पर हितकारक) प्रवृत्तिके विषयमें किसी भी प्रकारका अन्यथा विकल्प कर्त्तव्य नहीं है। यद्यपि ज्ञानीको प्रसिद्धि (बिलकुल) नही सुहाती। (१५३१)

⁂

जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषके साथ निजी (मुलाकात) में मुमुक्षुको स्वयंके गुणोंको प्रदर्शित करना, या अन्य जीवोंके दोषोंको प्रगट करना ? या खुद क्यों आगे नहीं बढ़ सकता है, उस विषयमें मार्गदर्शन लेना ? यथार्थता किसमें है ? लाभ-नुकसान किसमें है ?

समाधान :- पात्रतावान जीव तो खुदके गुणोंको छिपाता है और दूसरोंके दोषोंको छिपाता है अर्थात् गौण करता है। जो कि प्रयोजनको साधनेमें अनुकूल है। परन्तु परलक्षीपनेके कारण अन्यके दोषोंको मुख्य करना और मानकषायके कारण स्वयंके गुणोंको मुख्य करना, यह तो खुदको नुकसानका कारण है। खुद कैसे आगे बढ़े इसके लिए मार्गदर्शन लेना, यही उचित है। इसीमें यथार्थता है और लाभ है। (१५३२)

⁂

जिज्ञासा :- मुमुक्षुजीव लंबे समयसे सत्संग और स्वाध्याय करता हो, फिर भी आत्महितरूप अपने प्रयोजनकी सूझ या पकड़ न आयी हो, तो उसका क्या कारण ?

समाधान :- परलक्षी तत्त्वज्ञानका अभ्यास, आत्मकल्याणकी अंतरकी गहराईसे उत्पन्न भावनाका अभाव और इससे परिभ्रमणकी वेदनापूर्वक अंतःकरणकी शुद्धि नहीं हुई होनेसे, निज प्रयोजनकी सूझ नहीं आती है। (१५३३)

⁂

उपदेशबोध परिणमित हुए बिना सिद्धांतबोधका परिणमन नहीं होता। (क्योंकि दर्शनमोहका अनुभाग कम नही हुआ।) परन्तु उपदेशबोध भी सिद्धांतबोधके आधार बिना हमेशा टिक नहीं सकता, अतः उपदेशकी स्थिरता होनेके लिए सिद्धांतबोध चाहिए। (१५३४)

⁂

जिज्ञासा :- दूसरे मुमुक्षुके गुणको देखकर प्रमोद नहीं आनेके पीछे क्या कारण हो सकता है ? कभी-कभी ईर्ष्या भी हो आती है, उसका क्या कारण ? ऐसे दोषको मिटानेके लिए क्या करना चाहिए ?

समाधान :- दूसरोके गुणको देखकर यदि प्रमोद न आये, बल्कि ईर्ष्या हो आती हो,

क्योंकि तब तक परके साथ एकत्वका निश्चय होता है, इसलिए ज्ञानविशेषका आविर्भाव नहीं मिटता - जिसके कारण ज्ञानसामान्य तिरोभूत रहता है। (१५४९)

※

जिज्ञासा :- कुटुम्बके प्रति फर्ज और कुटुम्बीजनोंके प्रति प्रेम, इन दोनोंमें क्या फर्क है? कुटुम्ब-प्रेम या फर्जको क्या प्रतिबंध गिन सकते है ?

समाधान :- फर्जकी बाबत लौकिक दृष्टिकोणकी है। व्यवहारिक सम्बन्धकी उसमें मुख्यता है। उसमे यदि समर्पणबुद्धि हो तो उसे प्रेम गिन सकते है, परन्तु फिर भी उसमें रागकी प्रधानता है। दोनोंमें अपनत्व होनेके कारण परमार्थ दृष्टिसे उसमें प्रतिबंध है।

साधर्मी भावसे निस्पृहतापूर्वक किये गये कार्यमें प्रतिबंध नही है। प्रतिबंध हो, वहाँ आत्मकल्याण गौण होता है। आत्मकल्याणको मुख्य रखकर बाह्य कर्त्तव्य होना चाहिए। (१५५०)

※

संसार परिभ्रमणका भय उत्पन्न होने पर जीवको वैराग्य - उपशम यथार्थरूपसे उत्पन्न होता है, तब दर्शनमोह गलता है; और विचारचक्षु निर्मल होते है, जिसकी बदौलत मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषके आत्मभाव और सिद्धांतभाव दिखाई देते है और इससे ज्ञानीके प्रति सही भक्ति उदित होती है। (१५५१)

※

जीव यदि सरलता, भक्ति आदि गुण संपन्न हो, फिर भी यदि कुटुम्बके स्नेहका घनिष्ट प्रतिबंध हो तो, मुमुक्षुतामें विकास नही हो सकता, तथापि सत्संगका तथारूप लाभ भी नहीं हो सकता। (१५५२)

※

प्रकृतिदोष कईबार उदय प्राप्त होने पर जोर करते है, परन्तु परम सत्संग योगमें अत्यंत भक्तिके वशात् ऐसा होने पर रोक लगती है। और दूसरा, स्वरूपका भावभासन होने पर प्रकृत्ति जोर नहीं करती। इस प्रकार प्रकृत्तिके बलको रोकनेमें दो अवलंबन है, एक तो सत्पुरुष और दूसरा स्वरूपका भावभासन। (१५५३)

※

स्वरूपकी सहज प्रत्यक्षता पुरुषार्थको उछालती है। प्रत्यक्षता भासित होने पर भावमे स्वरूप अत्यंत समीप हो जाता है। (१५५४)

※

सम्यक्दर्शनका रूप वात्सल्य है, जिससे उसकी सुंदरता व शोभा है। बिना वात्सल्य प्रभावना

भी क्रियाको गौण नहीं करता। (१५५९)

※

जिज्ञासा :- अधीरजसे काम सफल नहीं होता है, परन्तु भावना-बल हो, वहाँ शीघ्र कार्य होवे ऐसा संवेग आता है, तो (यहाँ) संवेग और अधीरजमें क्या अंतर है ?

समाधान :- अधीरजके परिणाममें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी वर्तमान शक्तिका विवेक नही रहता। इसलिए वह जीव हठ करता है और अंततः नाकामयाब होता है, तब फिर परिणाम बिगड़ जाते हैं। जब कि भावनावालेको जो संवेग आता है, उसमें यथार्थता होनेसे वह विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है, और वह सफल होता है। भावनामें कोमलता है, - अधीरजमें ऐसा गुण नही होता। तीव्र भावनावालेको परिणाम नहीं बिगड़ते। (१५६०)

※

जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी कौन-कोनसी भूमिकामे विपरीत अभिप्राय बदलते है व मंद पड़ते है ? और वे कौन-कौनसे अभिप्राय है ?

समाधान :- मुमुक्षुको सर्व प्रथम :

(१) परिभ्रमणकी वेदना व झुरना वेदनमें आती है। इसके बाद (२) पूर्णताके लक्षसे परिणामोंमें संवेग शुरू होता है। इसके बाद (३) निजावलोकनमें अभिप्रायपूर्वक हो रहे दोष दिखते है, तब और तत्पश्चात् (४) स्वरूपका भावभासन होता है, तब विपरीत अभिप्राय पलटने लगते हैं; व शुरुसे ही फीके पड़ने लगते है। इस दौरान (५) यदि कोई सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योगरूप परम सत्संग योग प्राप्त होता है, तो ऐसे योगमें प्रयोजनभूत मार्गदर्शन प्राप्त होनेसे भी कितने ही अभिप्राय फीके पड़ते है व नष्ट होते हैं। खास करके पूर्वाग्रह, कदाग्रह व मताग्रह तो फीके पड़ते ही है। जिससे लोकसंज्ञाके विषयमें प्रतिबंधरूप अभिप्राय निरस्त होता है और कुलपरंपरा व संप्रदायबुद्धि नष्ट होती है। तद्उपरांत अनंतानुबंधी सम्बन्धित प्रकृतिके (चार - क्रोध, मान, माया, लोभ) व कुतूहलवृत्ति सम्बन्धित अभिप्राय ढीले पड़ते है।

(१) प्रथम परिभ्रमणकी वेदनाके स्तरमें अभिप्रायपूर्वक संसारबल मिटता है, यानी कि संसार प्रतिके भावोंमें अभिप्राय पलट जानेसे नीरसता / मंदता आती है। तत्पश्चात्

(२) पूर्णताका लक्ष होनेसे आत्मकल्याणका दृढ़ निर्धार होता है, जिसके कारण तत्सम्बन्धित सर्व विपरीत अभिप्राय बदल जाते है और चारों प्रतिबंध ढीले पड़ जाते है। इस भूमिकामें मात्र मोक्ष-अभिलाषका अभिप्राय वर्तता होनेसे, लौकिक सुखकी प्राप्तिकी अल्प इच्छा भी नहीं होनेका अभिप्राय हो जाता है। अभिप्रायमें तो मुझे 'इस जगतमेसे कुछ भी नहीं चाहिए - एक मेरा आत्मा ही शीघ्र चाहिए' - ऐसा हो जाता है। अतः संसारकी उपासनाके जो-जो

भाषासे परे है। भाषासे भी अधिक रहस्य उनकी चेष्टामें प्रदर्शित होता है। ज्ञानीके प्रत्यक्ष योगकी यह अपूर्व घटना अपूर्व लाभका कारण है। (१५६४)

❊

सजीवनमूर्तिकी पहचान उनके सम्यक्त्वसे आती है। जो जीव स्वरूप सन्मुखताके पुरुषार्थमे लगा हुआ हो, जिसे अंतरात्मवृत्ति उत्पन्न हुई हो, उसे सजीवनमूर्तिकी पहचान होती है। सम्यक्त्व - ज्ञानी, मुनि व केवली - तीनोंमें सामान्य है। अतः उन तीनोमेंसे किसी भी एकके योगमें - प्रत्यक्ष योगमें पहचान होनेका अवकाश है; जो समकितका बीज है। समकित होनेके लिए परिणामकी श्रेणी यहाँसे शुरू होती है। अन्य प्रकारसे शुरू नही होती। (१५६५)

❊

जून - १९९६

जिज्ञासा :- किसी भी व्यक्तिके परिचयसे पहचान (भी) होती है और पूर्वग्रह भी बँधता है, तो यह कैसे समझमे आये कि पूर्वग्रह हुआ है या नहीं ? हमें पूर्वग्रह नहीं हो, ऐसा भाव है, तथापि यदि पूर्वग्रह हो तो उसे मिटानेका प्रयोग क्या है ?

समाधान :- पहचान करनेवाला यदि मध्यस्थ रहे तो पूर्वग्रह नहीं बँधता, परन्तु दोषदृष्टि के कारण पूर्वग्रह बंध जाता है।

मध्यस्थभावसे पहचान हो तो, सामनेवालेके गुण या दोषमें वृद्धि हुई हो, उसका यथार्थरूपसे समझकर स्वीकार आता है, परन्तु यदि पूर्वग्रह बंध गया होगा तो, ऐसा फर्क समझमे नही आयेगा अथवा खयालमें आने पर भी उसका स्वीकार नहीं होगा।

परमार्थमार्गमें पूर्वग्रह अत्यंत हानिकारक है। इससे पर्यायदृष्टि दृढ हो जाती है और योग्यता रुक जाती है। उसमें अभिप्रायका दोष होनेसे, विपर्यास चालू रहता है, जो पुरुषार्थको उत्पन्न होने नही देता।

अतः जिसे इस प्रकारके दोषसे बचना हो, उसे जो भी व्यक्तिके प्रति पूर्वग्रह रहता हो, उसके साथ प्रत्यक्ष प्रसंगके दौरान पूर्वग्रह रहित होकर वर्तन करनेका प्रयास कर्त्तव्य है। और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें मध्यस्थभावसे विचार करके रहनेका प्रयास करना चाहिए।

पूर्वग्रह एक प्रकारका शल्य है। इस बातको गंभीरतासे ध्यानमें लेनी चाहिए। परिणामकी गाँठ पूर्वग्रह है। इस ग्रंथिका छेद हुए बिना पुरुषार्थकी गतिमें वेग नहीं आता। (१५६६)

❊

जिज्ञासा :- स्वच्छंद महादोष है। स्वलक्ष वह आत्मार्थीका बड़ा गुण है। दोनों प्रकारके परिणाम उठते हो तब क्या करना चाहिए ?

अत्यंत सावधानीकी जरूरत है, यह लक्षमें रहना / होना चाहिए। (१५६९)

※

मुमुक्षु ज्यों-ज्यों अपनी भूमिकामें आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दर्शनमोह सम्बन्धित सूक्ष्म दोष भी समकितमें बाधक होता है; जैसे पर्वतकी ऊँचाई बढ़ने पर रास्ता सँकरा होता जाता है वैसे। दृष्टांतरूपसे सम्यक् सन्मुख मुमुक्षुकी भूमिका उत्कृष्ट है, उस भूमिकामें यदि थोड़ा भी स्वरूपकी महिमा और पुरुषार्थकी पर्याय पर वजन चला गया, तो उतना स्वरूप परसे वजन कम हो जायेगा, जिसके कारण स्वरूपका अवलंबन लेनेमें ज्यादा समय लग जाता है, क्योंकि वहाँ अपर्याप्त वजन देनेमें आया। (१५७०)

※

* निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनके पुरुषार्थमें, चलते हुए विकल्पका निषेध वर्तता है; अन्यत्व भासित होता है।
* परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावकी भावना, बहिर्मुख वृत्तिका निषेध करती है, बाह्यवृत्तिके प्रति उपेक्षा होती है।
* परसे भिन्नत्वकी भावना, स्वरूपकी असंगताको दृढ़ करके परभावके (साथ हो रहे) एकत्वको रोकती है।
* स्वरूप-शुद्धत्वको भाते हुए पवित्रताका आविर्भाव होता है।
* परिपूर्ण सुखकी प्रतीति, (परके प्रति) परम वैराग्य व उदासीनताको उत्पन्न करती है।
* प्रत्यक्ष स्वरूप संवेदन पुरुषार्थको उछालता है।
* परम शांत सुधामयी शांति आकुलताको दूर करती है।
* अभेद निज स्वरूपकी व्यापकता, एकाग्रतारूप ध्यानको उत्पन्न करती है। (१५७१)

※

गुणवानका दासत्व गुणग्राहीपनेका लक्षण है, क्योंकि उसमें गुणकी अनुमोदना है, उसे सामान्य राग गिन लेना उचित नहीं है। ऐसा दासत्व दर्शनमोहको मंद करता है। अंतरसे गुणका परम आदरभाव प्रगट होता है, तब सच्चा दासत्व भाव आता है। धर्मके परम आदरमें से साधर्मी वात्सल्य उत्पन्न हुआ है। (१५७२)

※

जिज्ञासा :- अध्यात्ममें शुभभावरूप व्यवहारका कड़ा निषेध आता है, उसमें क्या हेतु है? सामान्य योग्यतावान जीवको इससे नुकसान होनेका संभव है ? तथापि शुभ परिणाममें कुछएक गर्भित विशुद्धियाँ है, यह बाबत तो बिलकुल छूट जाती है ? तो इसमें यथार्थता कैसे रहे?

व स्वरूपकी मुख्यता रहती है, परन्तु जहाँ चैतन्य रागसे भिन्न रहता है, ऐसे ज्ञानीको पक्षकार नहीं कहा। (१५७४)

※

श्रीगुरुके चरण सानिध्यकी आवश्यकताका रहस्य मुक्त होनेके प्रयत्नमे लगे हुए जीवकी समझमें आता है। अबोध दशामें हुई उलझन (अनादिसे असमाधानके कारण उलझन) श्रीगुरुके बोधसे शांत हुई इसका अनुभव, श्रीगुरुके गुणानुवादके रूपमें व्यक्त होता है। ऐसा पात्र जीव सम्यक्दर्शनका अधिकारी है। (१५७५)

※

जुलाई - १९९६

मुमुक्षुजीवके दासत्वको भानेवाले ज्ञानीके ज्ञानको पुनः पुनः वंदन हो ! (१५७६)

※

'संपूर्ण आज्ञाकारितामें आये बिना संसारसे तिरना असुलभ है। अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हुए अनादिसे जीव भटक रहा है।'

- ऐसा विवेक निकटभवी जीवको उत्पन्न होता है। (१५७७)

※

जिज्ञासा :- कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नही है, ऐसा बराबर समझमें आता है, फिर भी उदयके वक्त अच्छा / बुरा लगता है, तो वैसा नहीं लगे इसके लिए क्या करे ?

समाधान :- उदयके वक्त यदि अच्छेपनकी या बुरेपनकी कल्पना होती हो तो, वास्तविकताका अनुभव करनेका प्रयास करना चाहिए और उसी पदार्थका जब वह उदयमे न हो, तब प्रयोगमे लेकर परिणमनकी जाँच करनी चाहिए। ऐसा अभ्यास करनेके पहले विभिन्न पदार्थ जो कि उदयमें हो इसके सम्बन्धित कल्पित अभिप्रायको छोड़ देना चाहिए। अथवा कल्पित अभिप्रायको बदलनेके लिए बारबार उपर्युक्त प्रयोग करना चाहिए। (१५७८)

※

मुमुक्षुजीवको सत्संग करनेमें विवेक होना अति आवश्यक है। इसके लिए बहुत दरकार होनी चाहिए। समान गुणी या विशेष गुणीका संग कर्त्तव्य है, वह भी अगर उपलब्ध न हो तो हीनगुणीके संगमें यदि खुदके आत्मभाव विशेषरूपसे आविर्भूत होते हो या आत्मरुचि वृद्धिगत होती हो तो उसमें बाधा नहीं है। किसीका भी संग होनेके वक्त यह बातकी जाँच कर लेनी चाहिए। अगर ऐसी दरकार नहीं की जाये तो नुकसान - (मिथ्यात्वकी पुष्टि) हो जानेकी संभावना है। (१५७९)

है, उस पर उस जीवका लक्ष जाता है। इसके उपरांत,

(२) सत्संगमें आनेवाले पात्र जीवको अपनी आत्मा पर जो असर आती है, उससे उसको प्रतीत आती है, भक्ति आती है।

(३) ज्ञानीकी वाणीमें ही अंतर्मुख होनेकी विधि आती है, उसमें उनका अनुभव व्यक्त होता है। विधि प्रयोगात्मक होनेसे, प्रयोगका विषय अन्यत्र व्यक्त नहीं होता; नहीं हो सकता - ऐसा समझमें आता है।

(४) ज्ञानी संप्रदायसे अलग पड़ते है, क्योंकि संप्रदायमें सर्वत्र त्यागी लोग चारित्रमोह मंद होवे ऐसा उपदेश देते है, दर्शनमोहका नाश होनेके विषयसे वे अनजान होनेसे, सिर्फ कषायकी मंदता द्वारा धर्म प्राप्ति मान लेते हैं - यह गृहीत मिथ्यात्व है। जब कि ज्ञानी दर्शनमोहका अभाव हो वैसा उपदेश देते है। अर्थात् निश्चयकी मुख्यतापूर्वक व्यवहारको गौण करते है। (१५८४)

✻

जिज्ञासा :- परलक्ष छोड़ना ज़रूरी है, फिर भी हो जाता है, तो उसका क्या कारण है ? उसको मिटानेका उपाय क्या है ?

समाधान :- पररुचिके कारण परलक्ष रहा करता है, इसलिए पहले आत्मरुचि द्वारा पररुचिको मिटाना चाहिए।

ज्यों-ज्यों आत्मरुचि बढ़ती है, त्यों-त्यों परकी उपेक्षा होती है। इसके अलावा सत्संग और सत्पुरुषकी अत्यंत भक्ति, वह सुगम और सर्व श्रेष्ठ उपाय है, कि जिससे स्वच्छंद, पूर्वग्रह आदि अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न ही नहीं होते। (१५८५)

✻

मताग्रह अर्थात् अपने मतका / अभिप्रायका आग्रह। रूढ़ि अर्थ 'सांप्रदायिक मत' का आग्रह है। दोनों स्वच्छंद - दोष है। ज्ञानीपुरुषका सत्संग प्राप्त होनेसे यह दोष सहज मिटता है। सांप्रदायिक मतका आग्रह होनेसे जीव मत-मतांतरमें फँस जाता है और खुदकी - मुमुक्षुकी भूमिकाका प्रयोजन चुक जाता है। अतः ज्ञानीपुरुष उस बातसे मुमुक्षुको दूर ही रखते है और 'सत्' के अभिप्राय प्रति ले जाते है। खुदका मत 'सत्' होना वह यथार्थ है, फिर भी उसका आग्रह नहीं होना चाहिए; यद्यपि 'सत्' के प्रति दृढ़ता होनी आवश्यक है। सांप्रदायिक मताग्रह संकुचितताको उत्पन्न करता है, जिससे मध्यस्थताका अभाव होता है; और रूढ़िगत हो चुकी विकृतियोंका स्वीकार हो जाता है व सत्यकी परख नही रहती। और खुदके मतका आग्रह रहता होनेसे ज्ञानीका अभिप्राय ग्रहण नहीं हो सकता। 'सत्' के स्वीकारमें विशालता

सभीको आत्मरूप देखना।

राग पुद्‌गल आश्रित है। आत्मीयता - प्रेम आत्मभावसे उत्पन्न होता है। (१५९२)

✻

जिज्ञासा :- व्याख्या (Theory) व प्रयोग (Practical) को एक-दूसरेसे क्या सम्बन्ध है?

समाधान :- व्याख्यासे वस्तु व्यवस्था समझमें आती है। समझमे आयी हुई बातको चलते हुए परिणमनमें लागू करना, अमल करनेका प्रयास करना, वह प्रयोग है। इस प्रकारसे सम्बन्ध है। (१५९३)

✻

जिज्ञासा :- ज्ञानीके प्रति राग है या भक्ति, यह फर्क कैसे समझमें आये ? दोनो परिणामोंके अंतरंग व बाह्य लक्षण दर्शाईये ?

समाधान :- भक्तिमे समर्पण आता है, विवेक रहता है। निष्कामबुद्धि होनेसे बाह्य प्रसंगकी अपेक्षा नही रहती। स्वच्छंद निरोध व आज्ञाकारिता, एवं वचनकी अचल प्रतीति होती है। जिसके कारण निर्मलता और प्रेमका आविर्भाव होता है। भक्ति गुण आधारित है।

जब कि रागमें बाह्य दृष्टि और अपेक्षावृत्ति, सकामता, स्वच्छंद इत्यादि होते है। रागी जीव धनादिका समर्पण यदि करे, तो भी उसमें अहम्‌भाव हो जाता है, इतना ही नही कभी-कभी उदयमें अविवेक भी हो जाता है। राग, बाह्य व्यक्तित्व आदि पर आधारित होता है। (१५९४)

✻

जिज्ञासा :- अपने उपकारी श्री ज्ञानी गुरुकी अनन्य भक्ति होने पर भी क्षेत्रसे दूर रहना पड़ता हो, तो अनन्य भक्ति और बाह्य परिणामोंका मेल कैसे समझे ? इसमें जो रहस्य हो वह समझाईये।

समाधान :- क्षेत्रसे दूर रहनेका भक्तिमानका अभिप्राय नही होता। फिर भी उदयका बंधन ज्ञानीको भी होता है। परम सत्संगकी भावना तीव्र होती है, उसमें अंतराय करनेवाले उदयके प्रति भावमें रस, रुचि नही रहते, बहुत निषेध आता है; तब इतना ही नही भक्तिभाव बढ़ जाता है। अंतरायके कारण भक्तिभावमे तनिक सा भी फर्क नही पड़ता। परन्तु निर्मलता बढ़ती जाती है। ऐसा रहस्य है। (१५९५)

✻

जिज्ञासा - ज्ञानीकी अतर परिणतिकी, मुमुक्षुजीवको पहचान अंतर्मुखताके प्रयासके वक्त होती है या बहिर्मुख परिणामके वक्त ?

बाकी है और मेरे पास समय थोड़ा है।' इसलिए स्वकार्य शीघ्र कर लेनेके लिए सहज वृत्तिमें वेग आता है। अतः संवेगकी उत्पत्ति होनेके लिए पूर्णताका लक्ष होना आवश्यक है। (१५९९)

जिज्ञासा :- जीवको भवभ्रमणकी वेदना हुई न हो, पूर्णताका लक्ष्य बंधा न हो, फिर भी ज्ञानीपुरुषके प्रति भक्ति हो, तो वह यथार्थ हो सकती है या नहीं ?

समाधान :- यथार्थ भक्ति तो पूर्णताका लक्ष्य होनेके बाद पहचानके कारण आती है, इसके पहले ओघभक्ति होती है। ऐसी भक्ति दो प्रकारसे होती है, एक सकाम और दूसरी निष्काम। सकाम भक्तिमें दृष्टि मलिन होनेसे उससे मिथ्यात्व नहीं गलता, जब कि निष्काम भक्तिसे निर्मलता आती है इसलिए उसका निषेध कर्त्तव्य नहीं है। (१६००)

जिज्ञासा :- अगर ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिकी पहचानपूर्वक भक्ति आये तो, वह जीव अन्य ज्ञानीको परिचयसे पहचान सकता है या नहीं ? अन्य मुमुक्षुकी योग्यताको नाप सकता है या नहीं ? ज्ञानीके प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है ? अन्य मुमुक्षुके प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है ?

समाधान :- ज्ञानीपुरुषकी अंतर परिणतिके दर्शनसे / पहचानपूर्वक अगर भक्ति आयी हो, तो वह जीव अन्य ज्ञानीको परिचयसे पहचान सकता है, जैसे एक हीरेको परखनेवाला सभी हीरेकी परख कर सकता है वैसे। और वह जीव अन्य मुमुक्षुकी योग्यताको भी नाप सकता है। ज्ञानीके प्रति उसका व्यवहार सर्वार्पणबुद्धि पूर्वक अत्यंत भक्ति सभर होता है। अन्य मुमुक्षु - मुमुक्षुके प्रति उसका व्यवहार साधर्मी वात्सल्ययुक्त होता है। ईर्ष्या या द्वेषके परिणाम उसको नही होते। इसके अतिरिक्त दूसरोंको सत्समागममें अंतराय हो, वैसा अभिप्राय या परिणाम (भी) उसे नही होता। (१६०१)

जिज्ञासा :- ज्ञानीके ज्ञानकी अंतर परिणति माने क्या ?

समाधान :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिमें मुख्यतः अंतर्मुखी श्रद्धा, ज्ञान (स्वसंवेदन), स्वरूपाचरण / वीतरागता, आत्मशांति, और पुरुषार्थके सम्यक् भावोंका परिणमन होता है। गौणतासे अनन्त सर्व गुणोंका शुद्ध परिणमन होता है। (१६०२)

जिज्ञासा :- सम्यक्ज्ञानके दो पहलू (१) अभिप्राय (२) उपयोग, दोनो निश्चयरूप व व्यवहाररूप

इसके अलावा श्रद्धा, (मंद मिथ्यात्व), ज्ञानकी निर्मलता / यथार्थता आदि (दूसरे) अनेक गुणोंके अनुरूप परिणमन, (सबकी) गिनती होती है। पुरुषार्थ जितना सही दिशामें कार्य करे, उतनी योग्यता विशेष - ऐसा समझने योग्य है। इस प्रकारका मेल है। (१६०६)

⁂

जिज्ञासा :- ज्ञानीकी अंतर परिणतिको पहचानने वाले जीवको ज्ञानीके नेत्रमें कैसे भाव दिखाई देते हैं ?

समाधान :- वैसी पहचानके क़ाबिल योग्यतावान जीवको ज्ञानीके नेत्रमें वीतरागता, अंतर्मुखता, शांत रस, निर्मलता, निस्पृहता, व स्वरूप प्रत्यक्षतासे उत्पन्न ऐसे आत्मिक पुरुषार्थके दर्शन होते हैं। (१६०७)

⁂

सितम्बर - १९९६

जिज्ञासा :- ज्ञानीपुरुषके प्रति परम भक्तिकी मुमुक्षुजीवके पुरुषार्थको उठानेमें क्या भूमिका है ? और वह किस प्रकारसे ?

समाधान :- ज्ञानीपुरुषकी परमभक्तिसे दर्शनमोहका अनुभाग कम होता है; जिससे पुरुषार्थ सहज उग्र होता है, क्योंकि ज्ञान, निर्मल होकर प्रयोजन / निजहितको यथार्थरूपसे समझनेके लिए सक्षम होता है। (१६०८)

⁂

जिज्ञासा :- जीवको परिभ्रमणकी चिंता ऊपर-ऊपरसे है या यथार्थ है - यह कैसे मालूम हो ? दोनों प्रकारमें क्या फ़र्क है ?

समाधान :- यथार्थतामें परिणाम एक लयसे कार्य करते है और यथार्थ वैराग्य / उदासीनतापूर्वक पूर्णताका लक्ष बंधता है। ऊपर-ऊपरकी चिंतना चालू नहीं रहती। जीव अन्य उदयमें रस लेकर जुड़ जाता है। वेदनादि सहज नहीं होते, इसलिए कृत्रिमता होती है, और वह एक समस्या बन जाती है। (१६०९)

⁂

जिज्ञासा :- सत्पुरुषकी पहचान हो उस जीवकी भक्ति और सम्यग्दृष्टि जीवकी भक्ति, दोनोंमें क्या अंतर होता है ? दोनोंके भेदज्ञानके प्रयासमें क्या फर्क होता है ?

समाधान :- सत्पुरुषकी पहचान होने पर जीवको परमेश्वरबुद्धिसे परम भक्ति आती है, जब कि परमार्थ समकित होने पर वह जीव स्वयं ही सत्पुरुष बनता है, फिर भी अपने उपकारी गुरुके प्रति, भूतकालमें हुए तीर्थंकरसे भी अधिक भक्ति आती है, महिमा आती है।

समाधान :- ओघसंज्ञा सहित भक्ति होने पर, उस मुमुक्षुको प्रकृतिदोषके कारण ऐसा बनता है। उस जीवको प्रकृति दोषको मुख्य करनेकी योग्यता होती है, तब वैसा बनता है। परलक्षकी भूलसे दूसरे जीवके दोषोंको मुख्य करनेका बन जाता है, इसलिए भूल खुदकी है। प्रकृतिदोषवाले उस जीवको भी खुदके निमित्तसे दूसरोंको नुकसान नहीं हो जाये, इसकी सावधानी रखने योग्य है। दूसरे मुमुक्षुको भी अपने हितकी मुख्यता रखकर उस मुमुक्षुके प्रकृतिदोषको गौण करने योग्य है। (१६१४)

※

जिज्ञासा :- चलते हुए परिणामोंका अवलोकन करनेसे वेदना-झुरना आती है या 'वेदना क्यों नहीं आती है ?' ऐसी चिंतनासे वेदना आती है ? यथार्थ पद्धति कौनसी है ?

समाधान :- 'वेदना क्यों नहीं आ रही है ?' ऐसी चिंतनासे वेदना नहीं आती। परन्तु अनन्त परिभ्रमणकी (वास्तविक) भयंकरता भासित होवे और उसके कारणरूप खुदकी वर्तमान दशा अभी भी चालू है, जिसे मिटानेकी इच्छा होने पर भी, ऐसा नहीं हो रहा है, यह उलझन पैदा होनेसे, और वैसे परिणाम एक लयसे चलने पर वेदना आती है। यहाँ प्रारम्भमें चलते हुए परिणामोंका अवलोकन हो सके, वैसी भूमिका नहीं होती, इसलिए वह वेदना आनेका कारण नहीं है। (१६१५)

※

जिज्ञासा :- अपने दोष दिखाई दे, तो दोषको मिटानेका प्रयत्न खुदकी मनमानीसे करना या ज्ञानीपुरुषके मार्गदर्शन व आज्ञानुसार प्रयत्न करना ? यथार्थता किसमें है ?

समाधान :- खुदका दोष मालूम पड़े तो ज्ञानीका मार्गदर्शन व आज्ञानुसार उसकी निवृति होवे ऐसा प्रयत्न कर्तव्य है। अपनी मनमानी रीतिसे दोष मिटानेका प्रयत्न जीवने अनन्तबार किया है, परन्तु विधिसे अनजान होनेसे वह प्रयत्न निष्फल गया है। अतः ज्ञानीकी आज्ञा अनुसार चलना उचित है। (१६१६)

※

जीवको बंधन तो उदयमें जुड़नेसे होता है। इसलिए जो (बंधनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखता हो उसे उदयकालमें 'यथार्थप्रकारसे' जुड़ना नहीं हो, वैसे प्रवर्तन करना चाहिए। जिसके लिए यथार्थरूपसे दर्शनमोह निर्बल हो, वैसी दिशा परिणामको देनी चाहिए, जिससे कि अन्यथा उपाय नहीं हो। अतः उदयमें भी नहीं जुड़ना और दर्शनमोहकी शक्ति भी टूटे - वैसी योजनापूर्वक मुमुक्षुको व्यवस्थित उपाय कर्त्तव्य है। अनुदयभावरूप मोक्षमार्गको प्राप्त करनेकी यह श्रेणी है या प्रारंभ है। (१६१७)

परिभ्रमणकी वेदना आये बिना, परिभ्रमणका अभिप्राय जीवको चालू रहता है। परिभ्रमणके कारणभूत मिथ्यात्व और अज्ञानका यथार्थ निषेध नहीं आता। और इस वजहसे संसारकी रुचि / स्नेह चालू रहते हैं। परिभ्रमणकी वेदनासे संसारकी रुचि यथार्थरूपसे मंद होती है कि, जिसके कारण उदयमें उत्साह नहीं रहता। परिभ्रमणकी वेदनासे परिभ्रमण नहीं करनेका अभिप्राय बनता है। (१६२३)

※

शास्त्रोंमें व ज्ञानियोंके वचनमें परस्पर विरुद्धता लगे, ऐसे अनेक विधान है। यदि उसका मेल (Co-ordination) करना नहीं आया, तो असमाधान व उलझन पैदा होती है। अतः किसी भी वक्ताका यह फर्ज बनता है कि विरुद्ध मुद्दोंका Co-ordination करें, वरना बहुभाग श्रोता यथार्थ समझसे वंचित रह जाते हैं - अतः इस प्रकारकी स्पष्टता अति आवश्यक है। (१६२४)

※

जिज्ञासा :- ज्ञानीकी सिखावन है कि धीरजसे प्रयत्न करना चाहिए, फिर भी प्रमाद नहीं होना चाहिए, तो धीरज व प्रमादमें क्या फ़र्क़ है ?

समाधान :- धैर्यवानको कार्य करनेमें बेवजह हड़बड़ी नहीं होती बल्कि उसका अंदरमें प्रयत्न चालू रहता है। धीरजसे चल रहे प्रयत्नमें सावधानी होती है। प्रमादी जीवका प्रयास एक लयसे नहीं चलता। वह जीव उदयमें जुड़ जाता है, जिसके कारण एक लयसे प्रयत्न नहीं चलता। प्रमादी जीव शिथिल होता है। (१६२५)

※

जिज्ञासा :- कृपालुदेवके वचनामृतमें ऐसा आता है कि सर्वज्ञको भी सम्यक्‌दृष्टिके रूपमें पहचाननेका फल महत् (बहुत बड़ा) है - तो वहाँ उनका कहनेका आशय क्या है ?

समाधान :- प्रथम तो सजीवनमूर्तिके प्रत्यक्ष योग बिना अंतर परिणतिके दर्शन नहीं होते और (अंतर परिणतिकी) ऐसा हुए बिना पहचान नहीं होती। तीन प्रकारसे (स्थितिमें) सजीवनमूर्ति बिराजमान हैं, सर्वज्ञ, निर्ग्रंथ मुनिराज और सम्यक्‌दृष्टि श्रावक। प्रथम दो पदधारीकी बाह्यदशा अत्यंत त्यागरूप होनेसे बाह्यदृष्टिवानको भी शंकाका अवकाश नहींवत् है, परन्तु उनकी अंतरंग वीतराग परिणति अत्यंत सूक्ष्म है, जो कि मुमुक्षुकी भूमिकामें पहचानी जाये / पकड़में आये, ऐसी क्षमता प्रायः उसमें नहीं होती; (जबकि) सम्यक्‌दृष्टिकी परिणतिको उत्कृष्ट - उत्तम मुमुक्षु पहचान सके वैसी है, परन्तु बाह्यदशामें शंका उत्पन्न हो जाये ऐसी परिस्थिति बहुत है। इसी वजहसे अनन्तकालमें अनन्तबार तीनों सजीवनमूर्तिका योग हुआ है फिर भी आज तक पहचान

मुख्य करता है तब, शंकाके भँवरमें फँसकर मार्गके क्रमको (उपकारबुद्धिपूर्वक प्राप्त विनयको) चुक जाता है और अपूर्व सुयोग खो बैठता है। उसमें भी कुसंगकी असर ऐसी योग्यतावालेको बहुत ही नुकसानकर्ता होती है। (१६२९)

※

संतोंका मार्ग वाकई अद्‌भुत है। महा समर्थ दिग्गज आचार्य व युगपुरुष जैसे महात्माएं भी अपने श्रीगुरुके उपकारको नहीं भूलते हैं बल्कि प्रसिद्धरूपसे गाते है; विनम्र होकर गाते है। उनका हृदय इस परिप्रेक्ष्यमें द्रवित होता है । तब उन्हें सहज अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो जाते है। मुमुक्षुजीव भी अगर उपकारबुद्धिपूर्वक वर्तता है तो अनेक संभवित दोषोंसे बच जाता है और तिर जाता है। (१६३०)

※

नवम्बर - १९९६

परिभ्रमणकी वेदनामें, परिभ्रमणके कारणभूत अज्ञान और अज्ञानके कारणभूत रागके कर्तृत्वका तीव्र निषेध है और परम्परासे ज्ञातापनेका / अकर्तापनेका आदर है। - इस प्रकार सन्मार्गके प्रथम चरणके मूल काफी गहरे हैं और संसार परिभ्रमणके बीजके नाशक है। (१६३१)

※

धार्मिकक्षेत्रमे रूढ़िका साम्राज्य फैला हुआ है। जैसे कि क्रोधी सबकी नज़रमें आता है, जब कि मायावी ज्यादा अपराधी होने पर भी उतना प्रसिद्ध नही है। ठीक वैसे ही जुआ, शराब, मांसभक्षण इत्यादि दोष लोकमें घृणापात्र गिने जाते है, जब कि शरीर, कुटुम्ब और संपत्ति आदि परमें निजबुद्धिके परिणाम (अज्ञान / दर्शनमोहके होनेसे) भयंकर संसार परिभ्रमण व अधोगतिके कारण होने पर भी सर्व साधारणरूपसे, मानो जैसे कोई अपराध ही नहीं है (परन्तु फर्ज़ और धर्म है) वैसे गिने जाते हैं। कितना घोर अज्ञान संसारमें व्याप्त है, इसका विचार कर्त्तव्य है और आत्मार्थीको ऐसे परिणामोंमे सावधानी रखने योग्य है। (१६३२)

※

जैसे दर्पणमे अग्निका प्रतिबिंब पड़ते वक्त (वह) उष्ण नहीं होता, वैसे क्रोधके निमित्त और क्रोध भावका प्रतिबिंब जिस ज्ञानमें पड़ता है, ऐसा ज्ञानीपुरुषका ज्ञान अलिप्त रहकर स्वानुभव करता है। ऐसी ज्ञानदशाके अभिलाषी आत्मार्थी जीवको उदय प्रसंगमें तथारूप पुरुषार्थ कर्त्तव्य है, अर्थात् अंतरंगमें सदा निर्लेप रहता ज्ञान स्व-पने वेदनमें आये - अनुभवमे आये वैसा प्रयत्न कर्त्तव्य है। (१६३३)

※

चल रहा है यह कैसे समझमें आये ? इसमें विचार और प्रयोगके बीच क्या अंतर होता है ?

समाधान :- भेदज्ञानका विचार है, वह समझ है। समझके अनुसार विकल्प चले वह प्रयोग नहीं है। प्रयोग तो चलते हुए परिणमनमें समझका अनुभवकरण - अमलीकरण है। जिस जीवको स्वलक्ष्यसे 'राग और ज्ञान भिन्न है' ऐसा समझमें आता है, और उत्कृष्ट आत्मभावना वश जो खुदको ज्ञानलक्षण द्वारा रागसे भिन्न ज्ञानमय 'अनुभव करनेका पुरुषार्थ' करता है - वह भेदज्ञानका प्रयोग है। विकल्पमें रागसे भिन्न होनेका नहीं बनता, परन्तु ऐसे विकल्पमें जो मानसिक शांति होती है उसमें ठीकपना लगता है (!) जब कि प्रयोगमें अकेला ज्ञान स्वके रूपमें वेदनमें आये वैसा प्रयास और उद्देश्य होता है। मानसिक शांतिसे संतोष नहीं होना चाहिए। यथार्थ विधिमें संतोष नहीं होता। (१६३८)

✻

मोक्षार्थीकी प्रारंभिक भूमिकासे लेकर ऊपर-ऊपरकी सर्व भूमिकामें अभिप्रायकी विपरीतता मिटती जाती है। स्वानुभवके पहले आखिरकी उत्कृष्ट भूमिका भेदज्ञानकी है। यह भेदज्ञान ज्ञानको बिलकुल विपरीतरूप नहीं होने देता और स्वरूपमें अचल करता है, तब शुद्धोपयोगात्मक होनेसे राग-द्वेषका अभाव करता है। भेदज्ञानकी प्रक्रिया ज्ञानको निर्मल करती है और प्रत्यक्षरूपसे स्वरूपग्रहण करनेकी शक्तिको उत्पन्न करती है। साथ ही साथ दर्शनमोहको और अनन्तानुबंधीको उपशमित करती है या क्षय करती है। (१६३९)

✻

कषायकी मंदतामें अशांति है, फिर भी शांतिका वेदन होता है वह 'ज्ञानका विपर्यास' है। प्रायः यथार्थ विधिके अभावमें ऐसा विपर्यास होता है। सर्व अन्यमतमें ध्यान व योगके मार्ग पर जानेवालेकी यह स्थिति है। सिर्फ भेदज्ञानका प्रयोग करनेवाला ही रागादि सर्व विभावको उसकी जातिसे पहचानता होनेसे ऐसी भूल नहीं करता है अर्थात् इस प्रकारके धोखेमे नहीं आता। भेदज्ञानी ही स्वानुभूतिमें सच्ची शांति - आत्मशांति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कृत्रिम शांतिमें वे संतुष्ट नहीं होते। 'भेदज्ञान सर्व विपर्यासको मिटानेवाला है।' (१६४०)

✻

ईर्ष्या अर्थात् मात्सर्यका दोष भयंकर अकल्प्य अपराधोंको उत्पन्न होनेका मूल बनता है। जैसे कि :

* दूसरे पुण्यवंत (जीवों)के प्रति द्वेषभाव, बिना सम्बन्ध ही।
* देव भी इसी कारणसे तीव्र दुःखी।

'सही महिमा' नही होती। अतः वात्सल्य बिना प्रभावना संभवित नहीं है। वात्सल्य बिना प्रभावनाकी चाहत रखनेवाला, कारण बिना कार्यको प्राप्त करना चाहता है, इच्छा रखता है। (१६४६)

※

निष्कारण करुणा, वह ज्ञानीकी शोभा है। अंतर वीतरागतामेंसे उसका जन्म होता है। इसलिए कृपालुदेव लिखते है कि, 'सत्पुरुषकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है।' अतः ऐसा परमार्थ सूचित होता है कि ऐसा स्तवन करनेवालेके गर्भमें स्वभाव प्रगट होनेका कारण पड़ा है। निष्कारण करुणावंतका बहुमान आनेवालेको इतना गुण (लाभ) होता है तो, करुणावंतको कितना गुण होता होगा? इसके लिए तो क्या कहना? उसे कहनेका सामर्थ्य यहाँ नहीं है। (१६४७)

※

जिज्ञासा :- स्वरूपमें स्थिर होनेकी क्षमता कब और किसे आती है ?

समाधान :- मोक्षार्थी होनेके पश्चात् अनुभवमें आनेवाले भावोंके अवलोकनके अभ्यास द्वारा, अकेला ज्ञान, वेदनमे आता हुआ ज्ञान, - 'यह अनुभूति है, वही मै हूँ,' - ऐसी प्रतीति आती है। इस प्रकार जब स्वरूपका ज्ञानपूर्वक श्रद्धानका जिसे उदय होता है, तब उसे स्वरूपमे लीन होनेका सामर्थ्य प्रगट होता है, तब स्वरूपमें उपयोग लीन होनेका सामर्थ्य प्रगट होता है, तब 'स्वरूपमें उपयोग स्थिर' हो सकता है। जिसे ज्ञान-श्रद्धानका बल नहीं हो, उसे स्थिरता - निश्चंचलताका बल नहीं होता - यह परिणामका विज्ञान है। (१६४८)

※

समस्त जिनागमके वचन व सर्व ज्ञानियोंके वचन एकमात्र आत्मकल्याणके आशयसे ही कहे गये है। अतः उसी दृष्टिकोणको रखकर उसका अवगाहन कर्त्तव्य है कि जिससे समझमें यथार्थता रहे। यदि ऐसा दृष्टिकोण रहा तो, बराबर समझमें आने पर भी 'यथार्थ समझ' नहीं होगी। उक्त आशय बना रहे, यही मुमुक्षुकी भूमिकाका नयज्ञान है। (१६४९)

※

चाहे कैसा भी उदय हो, सच्चा आत्मार्थी उसे आत्मकल्याणमें उपकारी गिने - समझे, ऐसा दृष्टिकोण साध्य करे - वही उसका सच्चा नयज्ञान है। प्रतिकूल उदय प्रसंग भी जीवको आत्मिक पुरुषार्थमें निमित्तभूत होता है और पूर्वमें किये हुए कर्ज़ चुकानेमें (सहायक) बनता है, इसलिए असमाधान कर्त्तव्य नहीं है। (१६५०)

※

जिज्ञासा :- नीवमें महत्त्वपूर्ण समझ क्या होनी चाहिए ? कि जिससे कार्यसिद्धि होवे और भूल होनेका अवकाश कम रहे ?

समाधान :- नीवमें समझकी मूल बात यह है कि, मुमुक्षुकी भूमिका विपरीत अभिप्रायको बदलनेकी है, नहीं कि तप-त्याग करनेकी। इतनी ही नहीं अभिप्राय बदले बिना परिणामकी अयोग्यताको बदलनेकी जो इच्छा रखता है, वह जीव भी परिणामके विज्ञानसे अनजान होनेसे, बारंबार अनिच्छक परिणाम हो जाने पर उलझनमें आता है। इसलिए अभिप्राय बदल जाये वैसी अनुभवपद्धतिके क्रमसे आगे बढ़नेका पुरुषार्थ होना चाहिए। अर्थात् परिभ्रमणका भय, सांसारिक उदयके प्रति उदासीनता, बलवान वैराग्य, मोक्षका लक्ष्य, निजदोषको अपक्षपातरूपसे देखना, इत्यादि सम्बन्धित पुरुषार्थ होना चाहिए। (१६५५)

※

स्वरूपकी समझ प्रयोजनभूत है, ऐसा जानकर जीव उसकी समझ करता है, परन्तु खुद परसे जो एकत्व कर रहा है, उसमें भिन्नता क्यो नहीं हो रही है ? जब तक वैसा प्रयोजनभूत भिन्नत्व लक्ष्यमें नहीं लेता है, तब तक परमें अपनत्व चालू रखता है; जिसके कारण स्वरूप समझमें होने पर भी भिन्न ज्ञानमय निजस्वरूपका अनुभव नहीं आता। यहाँ नास्तिके पहलूमे सावधानी प्रयोजनभूत है। (१६५६)

※

स्वरूप दृष्टिमें स्वरूपकी उपादेयता और स्वरूपकी अभिन्नता समाहित है। पर्यायदृष्टिमें रागकी उपादेयता और रागसे अभिन्नता / एकत्व होता है। इसलिए रागकी भिन्नता व हेयता द्वारा पर्यायदृष्टिको छुड़ाकर, श्रीगुरु द्रव्यदृष्टि कराते है। द्रव्यदृष्टि द्रव्यकी रुचि - गुण स्वभावकी रुचिसे उत्पन्न होती है। रुचि होनेके लिए यथार्थ समझपूर्वक स्वरूप महिमा और विरक्ति / उदयमें उदासीनता होनी आवश्यक है। (१६५७)

※

जिज्ञासा :- सत्संगमें सत् श्रवण और देव, शास्त्र, गुरुके प्रति समर्पण एवं बाह्य व्यवसाय आदिसे निवृत्ति इत्यादि करने पर भी क्यों प्राप्त नहीं हो रहा है ? क्या रह जाता है ?

समाधान :- बुद्धिपूर्वक वह सब करने पर भी, दृढ़ होने पर भी अंतर भेद हो जाये वैसी परिणति होनी चाहिए। विभिन्न भूमिकाओंमें जब तक उस भूमिकाकी परिणति (विरुद्ध परिणति पलटकर) नहीं उत्पन्न होती, तब तक कमी है। सच्ची आत्मरुचि प्रगट होवे तो परिणति पलटा खाये बिना नहीं रहती। इस प्रकार परिणति बननी रह गई है, इसलिए प्राप्त नहीं होता है - नही हुआ। (१६५८)

जिनेश्वरके मार्गकी सुंदरता ही कोई और है। उस मार्ग पर संचरण करनेवाला पूर्णरूपेण निर्दोष होना चाहता है। तब वह अपने दोष दिखानेवालेको अति उपकारी गिनता है, इतना ही नहीं, उपसर्ग करनेवालेको निंदा और अवर्णवाद करनेवालेको भी उपकारी समझता है, क्योंकि वैसे उदयमें अपना पुरुषार्थ उठाता है और पूर्वका अपराध धोनेमें वह निमित्त (मददरूप) होता है, अतः उसके प्रति द्वेषभाव नहीं होता। द्वेषबुद्धि और रागबुद्धि तो पहले से ही मिटा दी है, अत: राग-द्वेषका बल तो होता ही नहीं। ऐसे जीवको तारणहार श्रीगुरुके प्रति असीम उपकार भाव वर्तता हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ? (१६६४)

※

ज्ञान ज्ञानका वेदन कर रहा है, स्वभाव पूर्ण अंतर्मुखताका है। अत: परवेदनके अभ्याससे मुक्त होकर जीवको निज ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावका अवलोकन करना है, 'मात्र निजावलोकन' इतना ही करनेका है। (१६६५)

※

जिज्ञासा :- सत्श्रवणका राग है या आत्मकल्याणकी भावना है ? यह निश्चय कैसे करे ?

समाधान :- श्रवण करनेवाला यदि आत्मकल्याणका आशय ग्रहण करे तो उसकी भावना सच्ची है। वह श्रवणसे संतुष्ट नहीं हो जाता। रागी जीव श्रवणकी बाह्यक्रियामें संतुष्ट हो जाता है, वहाँ सत्का मूल्यांकन नहीं हुआ; और श्रवणयोगकी सही महिमा भी भासित नहीं हुई। (१६६६)

※

'परलक्ष' बड़ा अपराध है, किसी भी भूमिकाके मुमुक्षुको नुकसानकर्ता है। सर्व प्रकारके दोष व कषाय उसमे से उत्पन्न होते है और दर्शनमोहको भी बलवान करता है, इस वजहसे जीवको श्रीगुरुके / शास्त्रके उपदेशकी असर नहीं होती है; और सत्संग निष्फल जाता है। (१६६७)

※

स्वभाव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, और अंतःतत्त्व स्वरूप है। उसे ग्रहण करनेके लिए उपयोग भी सूक्ष्म व अंतर्मुख होना जरूरी है। इसीलिए अंतर अवलोकनके बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है। इसके अलावा स्थूल व बहिर्मुख उपयोग द्वारा चाहे कोई भी और कितना भी धर्म साधन किया जाये, फिर भी उससे स्वभाव ग्रहण होवे ऐसी क्षमता प्राप्त नहीं होती। (१६६८)

※

जिज्ञासा :- यथार्थ सत्संग कैसा होता है ?

अवलोकनका यथार्थ फल नहीं आता। (१६७२)

※

आत्मरुचिपूर्वक निजावलोकन सूक्ष्म होकर रागकी भिन्नता स्पष्टरूपसे करता है। बारंबार प्रसंग-प्रसंग पर भिन्नताका प्रयोग चालू रहे, यह पुरुषार्थका लक्षण है। अन्यथा विकल्प है, भेदज्ञान नहीं; भेदज्ञानके परिणमनमें राग / विकल्पकी स्पष्ट भिन्नता होती है। जड़ - चैतन्यकी माफिक भिन्नता मालूम पड़नी चाहिए। (१६७३)

※

स्पष्ट मार्गदर्शन प्रायः भूल नहीं होनेका कारण बनता है, इसलिए इच्छनीय है। तथापि सिर्फ धारणा हो जानेसे और यथार्थ प्रयोगके अभावमें जीव अगर विकल्पमें चढ़ गया, तो विधिकी भूल होती है। अतः स्पष्टता विकल्पमें चढ़नेका कारण नहीं बन जाये, इसकी सावधानी रखनी आवश्यक है। वास्तवमें परिपक्व योग्यता आये बिना, जीव कल्पनासे आगे बढ़ना चाहता है, इसलिए मार्ग नहीं मिलता। (१६७४)

※

परलक्ष्यी ज्ञानमें समझ बराबर होने पर भी, ओघसंज्ञा होनेसे वह बाह्यज्ञान उघाड़मात्र है। स्वलक्ष्यी ज्ञान अमलीकरणके प्रेरकबल समेत होनेसे, ज्ञान अनुसार परिणमन आता है। (१६७५)

※

विचित्रता पर्याय स्वभाव है। धर्मात्माका उपदेश रागांशके निमित्तसे वाणी द्वारा प्रवर्तता है। जिस वाणीके निमित्तसे श्रोताको धर्म प्रगट होता है। यद्यपि राग कुछ नहीं जानता, उपदेशमें, प्रवर्तनमें तो श्रद्धा-ज्ञानकी प्रधानता है, इसलिए शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानके निमित्तसे शुद्ध-श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा सुमेल है। (१६७६)

※

विशेष गहरे विचारसे ऐसा समझमें आता है कि जीवको जब 'स्वलक्ष्य' का दृढ़त्व आत्मामे प्रकाशित होता है, तब उसके लक्षणरूप परिभ्रमणकी वेदना आती है। यह वेदना नहीं आनेके कारणोंमें मुख्य कारण 'परलक्ष्य' है। इसी वजहसे उक्त वेदनामें आया हुआ जीव प्रायः विपरीततामें आगे नहीं बढ़ सकता, अथवा विपरीततामें चला गया हो तो वापिस मुड़ जाता है। धर्मके क्षेत्रमें आये हुए जीव भी प्रायः अनादि परलक्ष्यसे मुक्त नहीं हो पाते हैं, जिसके कारण परमार्थ मार्गके प्रति गति नहीं होती। - यह एक समस्याकी गंभीरताका बहुत-बहुत प्रकारसे विचार कर्त्तव्य है। (१६७७)

सर्वथा त्याग नहीं हुआ तो, उस जीवका सत्संग निष्फल जाता है। वैसे अनन्तबार पूर्वमें सत्संगकी निष्फलता हुई है। परिभ्रमणकी वेदनामें 'सर्वथा संसारकी उपासना करनी ही नहीं है' वैसा दृढ़त्व उत्पन्न होता है। बादमें जीव स्वलक्ष्यसे सत्संगकी उपासना करता है, और जो जीव यथार्थ लक्ष्यसे सत्संगकी उपासना करता है, वह आत्माकी उपासना करता है। (१६८२)

✻

संपूर्ण वीतराग ऐसे तीर्थंकरदेवके समवसरणकी भी अनेक क्षेत्रोंमें रचना होती है, जहाँ-जहाँ 'अनिच्छासे' उनका विहार होने योग्य 'परमयोग' होता है, वहाँ-वहाँ क्षेत्रांतर होता है। ऐसी कुदरती व्यवस्था धर्मकी प्रभावनाके स्वभाविक संकेतरूप है। अकृत्रिम जिनबिंबकी माफिक धर्म उत्पन्न होनेका 'योग' और कर्मके भोग्यस्थान, इस जगतमें 'द्रव्यस्वभाव' है, वैसे ही 'धर्मयोग' भी व्यवस्थित है, ऐसा समझमें आता है। (१६८३)

✻

संसार और मोक्ष प्रतिपक्षमें है। अतः सत्संगमें संसार विरुद्ध विषयका विचार किया जाता है, और उसके अमलीकरणकी प्रेरणा मिलती है। वास्तवमें सत्संग है वह संसार समाप्त करनेका प्रसंग है। संसार समाप्त होनेसे संसार-दुःख भी समाप्त होते है। संसारकी रुचिवाले उसमे नहीं टिकते - नहीं टिक सकते। (१६८४)

✻

ज्ञानवेदन आबाल-गोपाल सबको है, क्योंकि आत्मा स्वयं अनुभूति स्वरूप है; परन्तु 'लक्ष्य' पर तरफ होनेसे वह तिरोभूत रहता है, इसलिए मालूम नहीं पड़ता। स्वरूप भासित होने पर स्वरूप लक्ष्य होनेसे पुरुषार्थ द्वारा जब उसका आविर्भाव होता है, तब प्रगट अनुभवगोचर होता है। स्वानुभूति होनेमें स्वरूप-लक्ष्यका महत्त्व बहुत है। (१६८५)

✻

जो दर्शनमोहका नाश करता है, उस साधकका चारित्रमोह अवश्य नाश होता है, क्योंकि उनके परिणमनमें चारित्रमोह निर्बल हो चुका है, और आत्माकी शक्ति बलवानरूपसे कार्य कर रही है। इतना ही नहीं विभाव भावोंका निषेध वर्तता होनेसे, उसको पोषण मिलना बंध हुआ है, मूलसे कटे हुए वृक्षकी माफिक, वह भाव सूख जायेंगे। (१६८६)

✻

ज्ञानीपुरुषोंने जीवोंको बहुत सांत्वन दिया है। 'जैसे स्वभावके संस्कार दूसरे भवमें भी साथ आते हैं, वैसे अंतरकी गहराईसे उत्पन्न हुई भावना भी साथमें आती है।' - ऐसी भावना किसी भी नये प्रवेश करनेवाले जीवको उत्पन्न हो सकती है। नया प्रवेश करनेवाला जीव, अगर

मोक्षमार्गमें परिवर्तित होती है। (१६९१)

❋

संसारकी उपासनाका अभिप्राय जीवको अनादिसे है। जब तक उस अभिप्रायका 'सर्वथा त्याग' नहीं होता, तब तक कोई भी साधन मोक्ष हेतु सफल नहीं होते। उत्कृष्ट साधन ऐसा जो सत्संग, उसे भी विपरीत अभिप्राय निष्फल कर देता है। इसी वजहसे दीर्घकाल सत्संगमें रहनेवाला भी आत्महितसे वंचित रह जाता है। ऐसा विपरीत अभिप्राय जीवको जब परिभ्रमणकी वेदना आती है, तब नष्ट होता है। और तत्पश्चात् क्या करना, यह समझमें आता है। (१६९२)

❋

मुमुक्षुको मार्ग बतलानेवाले ज्ञानी मिल जाये, तो भी अंदरमें मार्ग तो खुदको ही खोजना है, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। ऐसा अभिप्राय होने पर भी गुरुके प्रति पूरा-पूरा विनय (उपकारबुद्धि पूर्वक) पात्र जीवको होता (ही) है। पुछ-पुछकर मार्ग पकड़ लूँ, ऐसा अभिप्राय बाह्यदृष्टिमें जाता है, जिसके कारण मार्गकी अंतर खोज नहीं होती, उस प्रकारमें जीव नहीं आता है। अतः वैसा अभिप्राय नहीं होना चाहिए। खुदकी वस्तु बाहरसे मिलनेवाली नहीं है। (१६९३)

❋

दो ज्ञानी अथवा दो आचार्यकी बात एक दूसरे से अलग पड़ती हो, अलग-अलग दिखती हो, तो पारमार्थिक दृष्टिसे उसका सुमेल करना चाहिए, क्योंकि उनकी सर्व बातमें परमार्थ-सामान्य होता है। इसके अतिरिक्त किस बात पर कितना वजन देना चाहिए - यह गुरुगमसे समझना चाहिए। ये विषय अधिक सूक्ष्म है और सापेक्ष है। परन्तु कोई बात दुर्लक्ष करने योग्य नहीं होती। यदि किसी एक बातका भी स्वीकार नहीं हुआ तो, उस बातका परमार्थ खुदको समझमें नहीं आया है - ऐसा जानना। (१६९४)

❋

जीवको प्रयोजनभूत समझ सिर्फ इतनी ही करनी चाहिए कि :

(१) आत्मकल्याणके लिए, अपूर्व अंतरात्मामेंसे उत्पन्न हुई भावना होनी चाहिए।

(२) श्रीगुरुकी निष्काम भक्ति व चरण सानिध्यके भाव (होने चाहिए।)

जिसका हृदय भावना और भक्तिसे भीगा हुआ रहता हो, उस जीवको तत्त्वविचार यथार्थ चलते हैं, वरना तत्त्वविचारकी अयथार्थता जीवको शुष्कता / स्वच्छंदमें ले जाती है। अतः ऐसा फलित होता है कि, यथार्थ भक्ति और भावना तत्त्वविचारके नियामक (Controlling Power)

आवश्यक है। (१६९९)

✻

जिज्ञासा :- यदि ज्ञानके सातत्यसे त्रिकाली द्रव्य लक्ष्यमें आता है, (निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी प्रकरण-३) तो उस सातत्यका अनुभव (प्रयोग पद्धतिसे) कैसे होता है ?

समाधान :- मोक्षार्थीको निजावलोकनके अभ्यास द्वारा ज्ञानका सातत्य अनुभवगोचर होता है। साथ ही साथ होनेवाला अस्तित्वका, प्रत्यभिज्ञान त्रिकाली द्रव्यको प्रदर्शित करता है। 'मैं'-पनेका अनुभव ज्ञानवेदन द्वारा होना, वह अस्तित्व ग्रहण है। अस्तित्वका सतत वेदन होने पर अखण्ड तत्त्वकी प्रतीति स्पष्टरूपसे होती है। (१७००)

✻

जुलाई - १९९८

जिज्ञासा :- पूर्वमें सत्पुरुषका समागम किया है, यह वर्तमानमें कैसे मालूम पड़े?

समाधान :- यदि पूर्वमें आज्ञांकितपने प्रत्यक्षयोगमें सत्संगका आराधन किया हो, तो सत्पुरुषके वचनमें रहे परमार्थका ग्रहण होता है अथवा उनका हृदय - अंतर परिणमन पकड़में आता है, और इस परसे पूर्वमें हुए समागमकी प्रतीति भी आती है। (१७०१)

✻

सिर्फ आत्माका विचार होना, सफल नहीं है, परन्तु आत्माको भाते-भाते यदि आत्म-विचारणा चले तो ध्यान होता है। भाये सो ध्यावे - इस न्याय अनुसार मुमुक्षुको आत्मभावना सहित आत्माको भाना चाहिए। जितना आत्मरस भावनामें उत्पन्न होता है, उतना सिर्फ विचार / विकल्पसे नहीं होता। (१७०२)

✻

जीवको सत्श्रवणका पुण्य योग हो, परन्तु यदि दूसरी ओर असत्संगकी रुचि भी हो, तो अनादिसे चली आ रही भ्रांति नहीं छूटती, परन्तु भ्रांतिसे स्वच्छंद बढ़ता है। अर्थात् असत्संग ये दोनों (भ्रांति और स्वच्छंद) बड़े दोष वृद्धिंगत होते है और सत्श्रवणका योग - आत्मयोग निष्फल जाता है। ऐसा पूर्वमें बहुत बार बना है, इसलिए अब जागृत रहने योग्य है। (१७०३)

✻

मायाकी परिभाषा परमागममें निम्न प्रकारसे की है। 'गुप्त पापत: माया।' अंतर मिलान करने पर उसकी यथार्थता समझमें आती है। परन्तु जीवको अनेक प्रकारसे गुप्त रहनेका भाव आता है। मानसे बचनेके लिए निज गुणोंको गुप्त रखना-दबाना, गुप्त पुण्य करना-दानादि

सुख-दुःख वह सर्व प्राणीयोंका प्रयोजनभूत विषय है। दुःख तनिक सा भी कभी न हो, और पूरा सुख हमेशा रहो, ऐसी जीवमात्रकी अभिलाषा होती है, अभिप्राय होता है, फिर भी संसारमें जीव दुःखी मालूम पड़ते हैं। उस दुःखमें दो प्रकार है। एक शारीरिक पीड़ा और दूसरा मानसिक उलझन (Tension) - तनाव, अथवा असमाधानकी वजहसे उत्पन्न आकुलता - इसके पेटाभेद अनेक है।

इन सभी प्रकारके दुःखसे मुक्त होनेके उपायकी ज्ञानी महात्माओंने गवेषणा की है। वह इस प्रकारसे की दुःखके निमित्त सम्बन्धित पूर्वग्रह (Prejudicial Misconcept) से मुक्त होकर, सुखस्वरूप ऐसे आत्मस्वभावमें उपयोगको लगाना। जिससे कोई भी परिस्थितिमें दुःख नहीं होगा। ऐसे पूर्वग्रहसे मुक्त होनेके लिए और आत्मामें अंतर्मुख होनेके लिए जीवको सत्संगका आश्रय करना चाहिए - उपासना करनी चाहिए और असत्संग व कुसंगसे दूर रहना चाहिए। यद्यपि सभीको पूर्व प्रारब्ध अनुसार संयोग-वियोग होता है; परन्तु वास्तवमें इससे सुख या दुःख नहीं है। परन्तु अज्ञान भावसे किये हुए पूर्वग्रहसे सुख-दुःखकी कल्पना, स्वरूप सावधानीके अभावमे उत्पन्न होती है। (१७०९)

*

मोक्षमार्ग तक पहुँचनेके लिए मुमुक्षुदशाके प्रत्येक स्तरमें सतत कार्यशील रहना आवश्यक है, तो ही प्रयत्न सफल होता है और आगे बढ़ा जाता है। अर्थात् एक लयसे प्रयत्न होना चाहिए। यदि रुक-रुककर कार्य किया जाता है तो उसमें सफलता नहीं मिलती बल्कि समय और शक्तिका व्यय होता है, जो निरर्थक जाता है। अतः 'प्रयत्नमें सातत्य' का महत्त्व बहुत है। यह लक्षमें लेना जरूरी है। यदि इसके सातत्यका महत्त्व समझमें नहीं आया तो प्रयास सतत नहीं चलेगा और प्रायः यह क्षति (Lacking Point) पकड़में नहीं आती। वरना यथार्थतामें तो 'सर्वोत्कृष्ट महान ध्येय' की प्राप्तिकी यथार्थ समझ होनेसे पुरुषार्थका सातत्य सहज ही रहता है। (१७१०)

*

जिज्ञासा :- 'सत्पुरुषके समागमकी एक क्षण भी संसार समुद्र तिरनेके लिए नौका समान होती है।' - यह वाक्य यथार्थ लगता है, तो वह एक क्षण कैसी होती है ? समझानेके लिए विनती है।

समाधान :- जिसका भवितव्य समीप होता है, उसे वैसी कोई धन्य पलमें सत्पुरुषका समागम होता है कि जबसे उसका जीवन आत्म-कल्याणकी दिशामें झुक जाता है। उस क्षणसे सत्पुरुषके प्रति 'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे' - ऐसी दशा शुरु हो जाती है, जिसका अंजाम

समाधान :- जब तक आत्मिक सुखकी अनुभवांशसे स्पष्ट प्रतीति न आये तब तक सिर्फ श्रवणादिसे अंतर सुखके प्रति खिंचाव-आकर्षण नहीं होता। इसके पहले, दूसरी ओर बाहरमें - परपदार्थमें सुखाभाससे सुखका निश्चय अनादिसे अति दृढ़ हुआ पड़ा है, गाढ़ हुआ पड़ा है। और वर्तमानमें भी जो अनेक इच्छाएं होती है तब जो आकुलता उत्पन्न होती है, वह इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होने पर मंद होती है, तब वह मंद हुई आकुलतारूप सुखाभासमें जीव सुखका अनुभव करता है, कल्पितरूपसे सुख मानता है। अत: पूर्वमें हुआ मिथ्या निश्चय अधिक प्रगाढ़ होता है। इस प्रकार दोनों तरफ-अंतरबाह्य परिस्थिति होनेसे 'सुख आत्मामें - अंतरमें है,' इस बातकी जीवको असर नहीं होती। इतना ही नहीं बल्कि अंतर सुख शक्तिरूप है, हालमे व्यक्त नहीं है, इसलिए उसका अनुभव अप्रगट है। इन कारणोंसे संसारमें जीवोंको बाह्य सुखका आकर्षण-मोह छूटना अत्यंत दुर्लभ है - कठिन है।

परन्तु ज्ञानीपुरुषके समागममें जीवको जब सुख-दु:खका विषय स्वलक्षसे समझमे आता है, तब भौतिक सुखकी प्राप्ति होने पर भी, अतृप्तताका अनुभव जीवकी समझमें आता है और ज्ञानीके वचनमें विश्वास उत्पन्न होता है। फिर उन वचनोंका आराधन करते-करते ज्ञानसे ज्ञानको स्वयं देखनेका अभ्यास (Practice) और परमें नीरसता आनेसे, ज्ञान ही सुखरूप भासित होता है। तब फिर अंतर सुखका आकर्षण पैदा होता है। ऐसे निजसुखका भासन, जब तक जगतके पदार्थोंमें मीठास होती है या रहती है तब तक नहीं हो सकता।

सुख है वह सिर्फ श्रवणसे विचार करनेका विषय नहीं है, परन्तु अनुभवका विषय है। अत: सुनने मात्रसे अंतरसुखका आकर्षण उत्पन्न होना असंभवित है। अत: आत्म-सुखकी चाहे कितनी भी बातें जीव सुनता है, फिर भी उसकी आत्मा पर असर नहीं होती है, परन्तु यदि भावभासन हो तो सहज खिंचाव उत्पन्न होता है। (१७१४)

✵

यदि सकामतामें मलिनता है, तो निष्कामतामें पवित्रता है। इस प्रकार पवित्रताका अंश, निष्कामबुद्धि जिसका मूल है, इसमें से पनपता है, इसलिए ज्ञानियोंने वैसी निष्कामबुद्धिका अनुमोदन किया है। केवल आत्मकल्याणकी भावनायुक्त निष्कामता, और गुरु-चरण, प्रभु-भक्ति पर्यायबुद्धिको निर्बल करते है, जिससे अहंकारका दूषण प्रवेश नहीं कर सकता, अन्यथा उस दूषणको रोकना सुलभ नहीं है।

निष्कामतामें चलते हुए रागके सिक्केका एक ही पहलू है, वरना तो रागके सिक्के के दूसरे पहलूमें द्वेष छिपा हुआ रहता ही है। अत: निष्काम करुणा आदि (भक्ति इत्यादि) में राग होने पर भी (वीतरागता नहीं होने पर भी )वीतद्वेषता होती है, जो कि इस सद्गुणकी

अगर जीवको परिभ्रमणकी चिंतना और वेदना नहीं आती हो तो उसका खेद होना रहना चाहिए। यदि यथार्थ खेद होगा तो उदयमें जागृति रहेगी क्योंकि उदयमें परिभ्रमणके कारणरूप परिणाम होते हैं। अगर वैसी जागृति नहीं आयी तो खेद हुआ इससे क्या फायदा? अजागृतिके कारण चिंतनामें प्रवेश नहीं हो पाता है और जो परिभ्रमण होनेवाला है, उसका जोखिम / (खतरा) दिखता नहीं है और इस वजहसे चिंता भी नहीं होती है - ऐसा समझने योग्य है। संक्षेपमें बात ऐसी है कि, खुद अजागृतदशामें (मोहनिंद्रा) परिभ्रमणके कारणरूप परिणामोंका सेवन कर रहा है, यह बात लक्ष पर नहीं आयी है अर्थात् स्वलक्षसे ऐसा समझमें नही आया है। यह अत्यंत करुणाजनक स्थिति है। (१७२०)

✲

आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक उदयमें प्रयोग होना चाहिए। भावना होगी तो ही प्रयोग चलेगा वरना (सिर्फ) विकल्प होता है। यदि प्रयोग नहीं हुआ तो जीव उदयमें जुड़कर नया कर्म बाँध लेता है। मोक्षार्थी जीव उदयको प्रयोगका साधन बनाता है, इसलिए वह उदयमें खींच नहीं जाता, परन्तु उदयमें अपनत्व और कर्तृत्व आदि मिटानेका प्रयास करता है। और सचेत एवं अचेत दोनों द्रव्योंमें उन-उन द्रव्यकी स्वतंत्रताका स्वीकार करके अधिकारबुद्धि तोड़नेका प्रयास करता है। यदि अपनत्व पतला पड़े तो विभावरस तीव्र नहीं होता। इस प्रकार भेदज्ञानके प्रयोगसे अनउदय परिणामरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। (१७२१)

✲

यथार्थ समझमें पारमार्थिक लाभका तुलनात्मकरूपसे सर्वोत्कृष्ट मूल्यांकन आता है। जिससे अन्य व्यवहारिक / उदय प्रसंग गौण हो जाते हैं। अथवा जिससे उपकार हुआ है, अथवा पारमार्थिक लाभ जिसके निमित्तसे हुआ हो उसका दोष गौण हो जाता है। इसे गौण करना वह खुदके लाभकी बात है; लाभका कारण है। इस प्रकार हित-अहितकी सूझ अंदरसे आनी चाहिए - यह यथार्थताका लक्षण है। (१७२२)

✲

जिज्ञासा :- खुदके अहम्‌को चोट लगती है तब परिणाम कैसे होते है ? और खुदकी भावनाको चोट लगती है तब परिणाम कैसे होते है ? दोनोंमें क्या फर्क है ?

समाधान :- अहंकार है वह अवगुण है, जबकि भावना है वह सद्‌गुण है। अहंकारको चोट लगती है तब जीवको द्वेषके परिणाम होते हैं, जबकि भावनाको ठेस लगती है तब जीव जागृत हो जाता है कि जिसके कारण द्वेषभाव नहीं होता। जब अहंकारको चोट लगती है तब निमित्तकी मुख्यता होकर, निमित्तके प्रति द्वेष हो जाता है, (जबकि) भावनाको चोट भावना

जिज्ञासा :- मुझे मोक्षमार्गके प्रति आगे बढ़नेके बहुत भाव आते हैं, उदयमें भी ज्यादा खीचकर तीव्र नही होते, और तत्त्वकी समझ होनेसे समाधान भी आता है। वक्त थोड़ा अवलोकन भी चलता है फिर भी आगे नहीं बढ़ा जाता है, यह बात भी नक्की है, तो किस प्रकारसे अवरोध होता होगा, यह पकड़में नहीं आता है, तो क्या करना

समाधान :- परमार्थमें अवरोधके कारणरूप अनेक प्रकारके परिणाम है। इन परिणामोंकी जाँच करनी चाहिए। उनमेंसे कुछएक अवरोधरूप भाव इसके उपाय सहित पर दिये है। जिसमें :

स्वच्छन्द, पूर्वग्रह, परलक्ष, विभाव परिणति, प्रतिबंध, प्रकृतिदोष और संयोगोमें अपनत्व, आधारबुद्धि, सुखबुद्धि, कर्ताबुद्धि इत्यादि परिणाम मुख्य है। संक्षेपमें उन भावोंका नीचे विस्तार किया है, जिससे अनुभवके साथ उसका मिलान कर सकें।

स्वच्छन्द : ज्ञानीकी आज्ञामें नहीं रहनेसे अनेक प्रकारसे जीवको स्वच्छन्द होता है। यह सबसे बड़ा दोष परिभ्रमणका कारण है।

१. धर्मसाधन खुदकी रुचि / कल्पनाके अनुसार करना।

२. इसके अलावा तीव्र रसपूर्वक शुभाशुभ भाव होना।

३. अंतरआत्माके आवाजकी अवहेलना करना - इत्यादि स्वच्छन्दके प्रकार हैं।

पूर्वग्रह : जीवने अनेक प्रकारसे मिथ्या / विपरीत अभिप्राय बाँध रखें हैं, जिसका आग्रह रहना और किसी भी व्यक्तिकी अयोग्यताका निश्चय - उसरूप शल्य, जो कि पुरुषार्थ / संवेगको रोकता है।

विभाव परिणति : पूर्वमें उदयकार्योमें विभावभाव अति रसपूर्वक किये होनेसे उसकी परिणति बन गई होती है। जिसका नाश इसके विरुद्ध स्वभावरसकी भावनाकी परिणति बननेसे होता है। इस प्रकारका अवरोध प्राय: जीवकी जानकारीमें नहीं आता है। अत: उसका उपाय (जो ऊपर कहा है) वह भी सूझता नहीं है, परन्तु उलझन / अकुलाहट रहा करती है। फिर भी उत्साह व धैर्यसे प्रयास कर्त्तव्य है।

प्रतिबंध : कुटुम्ब, समाज व शरीरकी मुख्यतामें आत्मसाधन - सत्संगादि गौण हो जाना। उसे परिभ्रमणका कारण जानकर उदयमें प्रयोग करके कमजोर करना पड़ता है, तभी मार्गके प्रति आगे बढ़ा जा सकता है।

प्रकृतिदोष : अन्दरसे संचित कर्मका उदय आता है तब स्वरूपकी अथवा आत्मकल्याणकी सावधानीके अभावमें जीवका कषायरस तीव्र हो जाता है, जो अकषाय स्वभावसे विरुद्ध है।

प्रयोगमें चढ़े तो स्वानुभूति प्राप्त करता है और तभी कर्ताबुद्धिका अभाव होकर मार्ग होती है।

(१७२

✻

आत्मकल्याणके सर्व साधनोंमें सत्संग सर्वश्रेष्ठ साधन है, यह निःसंशय है। उस साधनरूप प्रतीति जीवको ज्यों-ज्यों विशेषरूपसे आती है, त्यों-त्यों उसका आराधन होता है, जिसका क्रम निम्न प्रकारसे समझने योग्य है।

प्रथम भूमिकामें अपनी उलझनका - जिसकी उलझन हो उन प्रश्नोंका समाधान मिलनेसे, आकुलता / तनाव घटनेसे जो विश्वास उत्पन्न होता है, उसके अनुपातमें सत्संगकी महिमा आती है। तत्पश्चात् वह जीव भव-परिभ्रमणके दुःखोंको समझता हुआ वेदनापूर्वक आत्मकल्याणकी भावनासे निर्मलता-प्राप्तिके क्रममें प्रवेश करता है; तब उसे अपने अनुभवसे सत्संगका मूल्यांकन समझमें आता है और तबसे सत्संगकी सर्वाधिक मुख्यताका (Top Priority) अभिप्राय बनता है। फिर ज्यों-ज्यों (प्राप्त उपदेशको अवधारण करनेका पुरुषार्थ बार-बार करनेमें...) वह जीव मुमुक्षुतामें आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अंदरमें पुरुषार्थ और बाहरमें सत्संगसे प्राप्त हुआ बल, सत्संगके मूल्यको वृद्धिगत करता है। भावभासन तो परम सत्संगयोगके सिवा अप्राप्य होनेसे और इसके पहले ज्ञानीपुरुषकी पहचान भी प्रत्यक्ष योगमें ही संभवित होनेसे, दोनो स्तरमें सत्संगकी महिमा अत्यंत-अत्यंत ओघसंज्ञाकी निवृत्तिपूर्वक आती है। इसीलिए वह जीव ज्ञानदशा प्राप्त करके 'सत्संग करनेका बोध संपूर्णदशा प्राप्त न हो तब तक' करता है, क्योंकि स्वानुभवसे उनका आत्मा उस सत्संगके गीत गाता है। जिसमें सही महिमा होती है।

(१७२८)

✻

अनेक प्रकारके विपरीत / मिथ्या अभिप्रायसे जीवका अज्ञान प्रगाढ़ हुआ है। जो बदलकर यथार्थ नहीं हो, तब तक जीवका कल्याण नहीं होता। तथापि इसके पहले कोई अन्य धर्मसाधन (त्यागादि) सफल नहीं होते। मुमुक्षुकी भूमिका अभिप्रायकी भूल सुधारनेकी है। भूमिका अनुसार जो सुधार होता है उसका विचार यहाँ पर कर्त्तव्य है। परिणमनमें अभिप्रायकी ही मुख्यता होती है।

प्रथम परिभ्रमणकी वेदना आने पर जीवका संसारकी उपासनाका अभिप्राय मिटकर, पूर्णताका लक्ष बननेके साथ, किसी भी कीमत पर आत्मकल्याण कर ही लेना है, वैसा अभिप्राय बनता है, जो पुरुषार्थकी उत्पत्तिका कारण बनता है। यह मूलभूत फेरफार है। तत्पश्चात् अवलोकन होनेके परिणामका क्रम है, इसमे दोषके अवलोकन कालमें, दोषके अभिप्राय तक ज्ञान पहुँचता

नहीं, प्रायः वह कल्पित उपायको दृढ़ कर लेता है, जिसके कारण मूलसे यथार्थ प्रकारमें प्रवेश पानेमें बहुत कठिनाईभरी परिस्थिति हो जाती है, जिसमेंसे निकलनेमें काफी परिश्रमकी आवश्यकता पैदा हो जाती है। (१७३३)

※

मुमुक्षुकी भूमिकामें प्रमाद अर्थात् स्वकार्यमें शिथिलता - यह अरुचिका लक्षण है। यद्यपि कोई जीव बिना रुचिका नहीं है। जीवको पररुचि तो अनादिसे है ही। परन्तु शिथिलतामें जीव जो भी बाह्य धर्मसाधन करता है उसमें 'ऐसा करते-करते मै धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा हूँ अथवा आगे बढूँगा;' - ऐसी वंचनाबुद्धिमें आ जाता है और प्राप्त सत्संग निष्फल जाता है। प्रायः इस प्रकार दुर्लभ ऐसे मनुष्य आयुका बहुभाग समय व्यतीत हो जाता है। (१७३४)

※

इस सारे जगतमें यथार्थ सत्संग मिलना, वह अति दुर्लभ है। महा पुण्योदयसे / महाभाग्यसे उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु जीवको सच्ची मुमुक्षुताके अभावमें उसकी पहचान नहीं हो सकती। इसलिए उसका परम हितकारीपना भासित नहीं होता और परम प्रेमसे उसकी उपासना नहीं होती। अतः विशिष्ट पुण्ययोगको हार जाता है।

इष्ट मूल्यवान वस्तुके वियोगका नुकसान हो जाये, यानी कि निर्धनता आदि आ पड़े तो जीव बहुत दुःखी हो जाता है, परन्तु अरेरे! सत्संग जैसा महा पुण्ययोग निष्फल जाता है, फिर भी जीवोंको उसका खेद नहीं हो रहा है, यह कोई कम आश्चर्यजनक नहीं है। (१७३५)

※

जगतमें आत्मकल्याणकी सच्ची भावना जैसा कोई बलवान परिणमन नहीं है। ऐसी भावना ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति कराती है। भावनावाला जीव कभी भूला नहीं पड़ता। कदापि तीव्र उदय आ जाये और उसमें जुड़ जाये, तो भी खुदको सँभाल लेता है, क्योंकि भावनाको ठेस पहुँचती है; अगर क्षयोपशम अल्प हो तो भी भूलावेमें नहीं पड़ता। ऐसी भावना अंतःकरणको शुद्ध करती है। (१७३६)

※

जिज्ञासा :- स्वाध्याय पद्धति कैसी होनी चाहिए ?

समाधान :- स्वाध्याय स्वलक्षपूर्वक होना चाहिए - ऐसा नियम है, जिसका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। स्वलक्षसे स्वाध्याय करनेवालेकी दृष्टि प्रयोजन पर रहती है, जिससे स्वाध्यायमें

नया कर्मबंध कर लेता है। मोक्षाभिलाषी जीव तो उदयको प्रयोगका साधन बना लेता है; जिसके कारण उदयसे न तो डरता है या चिंतित होता है, ना ही उदयमें परिणाम बिगड़ने देता है, और इस प्रकार उदयमें अपनत्व मिटानेका प्रयास करता है। सचेत-अचेत दोनों द्रव्योंकी स्वतंत्रताका स्वीकार करके पर्यायमें रही कर्ताबुद्धिको तोड़नेका प्रयास करता है। अपनत्व कम होने पर विभावका रस तीव्र नहीं होता। इस तरह भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा अनुदय परिणामरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है। (१७४१)

※

यथार्थ समझमें पारमार्थिक लाभका तुलनात्मक बुद्धिसे सर्वोत्कृष्ट मूल्यांकन आता है। जिसके कारण अन्य व्यवहारिक प्रसंग अर्थात् उदय गौण हो जाते है। इसमें भी जिससे (पारमार्थिक विषयमें) उपकार हुआ हो, उसके दोष-अयोग्यता इत्यादि गौण हो जाते है- ऐसी गौणता होना, यह स्वयंके लाभका कारण है। इस प्रकारका लाभ जिसकी समझमें आता है, उसे हित-अहितकी सूझ अंदरसे आती है। ऐसा समझने योग्य है। (१७४२)

※

जिज्ञासा :- आत्मकल्याणकी यथार्थ भावनाका स्वरूप कैसा होता है ?

समाधान :- यथार्थ भावनावालेको अपना आत्मकार्य शीघ्र - जल्दी करनेके भाव - उसरूप लगन लगती है। और निजहित / प्रयोजनकी दरकार पैदा हो जाती है। जिसके कारण चलते हुए परिणामोंमें अवलोकन अर्थात् जागृति रहा करती है। जिससे खुदके भावोंका परिचय / अनुभवज्ञान होकर स्वभाव-विभावकी परख आती है। और ज्ञान व रागका मिलान करके भेदज्ञानका प्रयोग होता है। इस प्रकार यथार्थ भावनावाला जीव भेदज्ञानके प्रयोग तक पहुँच जाता है। भेदज्ञानपूर्वक स्वरूपनिश्चय होकर स्वानुभव प्रगट होता है। यथार्थ भावनासे अंतरका भेद (छेद) होता है। यानी कि अनादि संसार परिणतिका छेद होकर अपूर्व आत्मजागृति आती है और अंतमें स्वभावका ग्रहण होता है। यह गहरी भावना कोई अलग ही प्रकारकी होती है। अर्थात् ऊपर-ऊपरकी भावनासे कुछ काम नहीं होता है। (१७४३)

※

प्रश्न :- कोई मुमुक्षु सत्संग प्रसंगमें खुदके दोष बतलानेके लिए विनती करे, तब उसके दोष बतलानेका यथार्थ प्रकार कैसा होता है ?

समाधान :- मुमुक्षुको किसी अन्यके दोष देखनेका उपयोग नहीं होना चाहिए, परन्तु यदि सहज ही खयालमें आ गया हो, तो भी 'ये मेरा परलक्ष है;' उसका डर-उसके नुकसानसे होनेवाले भयके साथ नम्र भावसे बताना चाहिए। बताते वक्त खुदकी बड़ाई (Superiority) नहीं

विभिन्न पदार्थोंके प्रति आकर्षित होना वह। और (C) धनमें आधारबुद्धि और सुखबुद्धिपूर्वक प्राप्त संपत्तिमें अपनत्व-अधिकारबुद्धिसे उसकी रक्षा करनेकी चिंता, भोगनेके परिणाम, अनुकूलताओंकी कल्पना इत्यादि परिणाम ज्ञान प्राप्तिमें बाधक है।

४. खुदके आत्मा पर अनुपम उपकार हुआ होनेसे सत्पुरुषके प्रति बहुमान, सर्वाधिकरूपसे, सर्वार्पणबुद्धिसे उत्पन्न तीव्र झुकाव; कि जिसके कारण तन, मन, धनके प्रति आकर्षण सहज ही कम हो जाये और दर्शनमोहका अनुभाग कम हो जाये और सुगमतासे ज्ञानप्राप्ति होवे। (१७४७)

※

स्वरूपमहिमा आनेमें, सर्व प्रथम स्वरूपके विषयमें जानकारी होती है, तब वहाँ बहुभाग जीव जानकारी बढ़ानेमें लग जाते हैं, परन्तु इससे कोई आत्महितरूप प्रयोजन नहीं सधता। स्वरूपकी समझ होनेके पश्चात् सिर्फ विकल्प नहीं करके, भावभासनकी दिशामें, दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, सत्पुरुषकी पहचान होनेसे, उनके वचनकी प्रतीति, आज्ञारुचि और स्वच्छंद निरोध भक्ति आती है, बादमें अंतर अवलोकन द्वारा सूक्ष्म व निर्मल ज्ञान, ज्ञानवेदनके आधारसे, स्व-सामर्थ्यके अस्तित्वको ग्रहण करता है तब यथार्थ महिमा आती है, जिसके फलस्वरूप स्वानुभूति उत्पन्न होती है। - इस प्रकार स्वरूपमहिमाका, ज्ञानके क्षयोपशमके साथ कारणरूप सम्बन्ध नहीं है। अल्प क्षयोपशमवाला जीव भी यदि प्रयोजनको पकड़कर यथार्थ प्रकारसे प्रवर्तन करे, तो अस्तित्व ग्रहणपूर्वक, भेदज्ञान सहित स्वरूप महिमामें आ सकता है। (१७४८)

※

जिनवाणी अचेतन होने पर भी, आत्मकल्याणमें उपकारी होनेसे उसका पूजन, वंदन, नमस्कार, योग्य एवं प्रमाण है। जब सज्जन भी किये गये उपकारको नहीं भूलते, तो मोक्षमार्गी उपकारीका मूल्य विशेषरूपसे गाये, यह न्यायसंपन्न ही है। अनन्त लाभके कारणके प्रति अनन्त भक्ति उत्पन्न होना यह बहुत स्वाभाविक है। जिसकी आत्मा पर उपकार हुआ हो - वर्तता हो, उसीको अनुभवसे वह भाव समझमें आता है, दूसरोंको वह समझमें नहीं आता और जब तक वैसी उपकारबुद्धिपूर्वक सर्वार्पणबुद्धि नहीं आती, तब तक उपदेश भी परिणमित नहीं होता। (१७४९)

※

जो जीव स्वरूपकी महिमा करके स्वरूपका अनुभव करना चाहता है, परन्तु स्वरूपप्राप्तिकी यथार्थ विधिके विषयमें उदासीन है, तो उसे सिर्फ विकल्पका राग है, वास्तवमें स्वरूपकी चाह - रुचि नहीं है। चाहवाला कभी राहमें उदासीन नहीं रह सकता, बल्कि यथार्थ विधिके लिए

अनन्तकालमें आत्महित सधा नही और भवरोग चालू रहा है। इसकी गंभीरता - इस समस्याकी गंभीरता जब तक समझमें नही आये, तब तक सत्संगसे लेकर सर्व साधनको जीव अगंभीरतासे-हलकेरूपमें लेता है। यह क्षति बहुत बड़ी होने पर भी अगंभीरताके कारण दिखती नहीं है और आत्महितका सधना पूराका पूरा छूट जाता है। अतः इस क्षतिके बारेमें बहुत विचार करना आवश्यक है। (१७५४)

⁂

पर्यायनयसे, पर्यायके दृष्टिकोणसे पर्यायके गुण-दोषके विवेकपूर्वक पर्यायमें सुधार हो, वैसा प्रयोजनभूत ज्ञान जब करनेमें आता है, तब उस ज्ञानमें अनेक पहलूसे उसकी विचारणा होती है। जिस विचारणाका एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि, दोषका अभाव होकर शुद्धता प्रगट होवे, परन्तु वह सहज होना चाहिए, कर्तृत्वबुद्धिसे नहीं। अतः वैसा होनेके लिए अवलंबन सम्बन्धित विवेक होता है; और 'अवलंबन लेने योग्य तो एक सहजात्म स्वरूप परमोत्कृष्ट शांत ध्रुव स्वभाव ही है। जिसके अवलंबनसे सहज स्वभावाकार निर्विकार दशा रहती है।' ऐसी यथार्थ समझपूर्वक स्वरूपकी अपूर्व जिज्ञासापूर्वक अंतर खोज शुरू होती है और स्वरूप निश्चय होता है, जबसे भावभासनपूर्वक अस्तित्वग्रहण होता है, तबसे पर्यायनयका (यथार्थरूपसे) विषय गौण होकर, निज कारण परमात्माकी अत्यंत मुख्यता वर्तती है, जो कि गुणके प्रगट होनेके साथ, दोषका अभाव होनेका सम्यक् उपाय है।

सारांश यह है कि, मुमुक्षुताके प्रारंभमें पर्यायकी मुख्यतावाला परिणमन होता है, परन्तु स्वरूप निश्चय होनेके पश्चात् द्रव्यकी अत्यंत मुख्यता हो जानेसे पर्याय गौण हो जाती है और प्रयोजनकी सिद्धि होती है। प्रारंभवालेको पर्यायका कर्तृत्व दृढ़ नहीं हो जाये, यह लक्षगत् करना ज़रूरी है। (१७५५)

⁂

स्वरूपकी पहचान किये विना, सिर्फ जानकारी करके, ओघसंज्ञासे स्वरूपका चिंतवन, रटन करनेसे भावमें शुष्कता आती है, और स्वरूपकी महिमासे जिस प्रकारका पुरुषार्थमें उपाड़ आना चाहिए, वैसा नहीं आता। अतः स्वरूप लक्ष होनेके लिए ज्ञानियोंका उपदेश है, ऐसा समझने योग्य है। जब तक ओघसंज्ञा है तब तक ज्ञान जो है वह रागके आधारयुक्त व कल्पनायुक्त होता है। ज्ञानके आधारसे ज्ञानस्वभाव भासित होने पर चैतन्य वीर्यकी स्फुरणा होती है और स्वभावके समीप जाना होता है। (१७५६)

⁂

अध्यात्मका विषय अतिसूक्ष्म है। ज्ञेयाकार ज्ञान और ज्ञानाकार ज्ञान दोनों एक ही पर्यायके

आकांक्षा अथवा लोभ गर्भित वैराग्य भी होता है, जिसमें बाह्य-दृष्टिसे बाह्य त्याग, कृत्रिमता, कर्ताबुद्धि और क्रिया जड़त्व अथवा बाह्य क्रिया पर दृष्टि-वज़न, आग्रह रहा करता है।

यथार्थ वैराग्यका क्रम परिभ्रमणकी वेदना आने पर आत्मकल्याणकी भावनासे शुरू होकर वृद्धिगत होता रहता है। दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, आत्मकार्यके संवेगपूर्वक सहज निर्वेद-उदासीनता बढ़ती है। स्वरूपकी अंतर खोज, अपूर्व जिज्ञासापूर्वक चलती है तब (वह) उदासीनता अध्यात्मको जन्म देनेवाली होती है और स्वरूपके अवलंबनसे स्वरूप ज्ञान गर्भित सहज वैराग्य अकर्ताभावसे होता है। जो कि यथार्थ वैराग्यका स्वरूप है। वह सफल है।

अयथार्थ वैराग्य टिकता नहीं, हमेशा नहीं रहता। जिसके कारण समयांतर पर वह जीव संसारी भावोंमें खीचा चला जाता है और परिभ्रमणसे मुक्त नहीं हो सकता। यथार्थ वैराग्य अध्यात्मदशाका कारण बनकर मोक्षमार्गकी प्राप्ति कराता है। (१७५९)

❋

प्रतिकूलतासे उत्पन्न वैराग्य अनुकूलताके उदयमें अस्त हो जाता है। अपमानसे आयी उदासीनता मान मिलने पर नष्ट हो जाती है। तथापि जीव वैसे वैराग्यके समय वस्तु स्वरूपका यथार्थ विचार करके (आसक्तिके अभावमें वस्तु-विचार होनेका अवकाश पैदा होता है। विकल्प अनुसार अन्य पदार्थका परिणमन नहीं हो रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है इसलिए) ज्ञान - यथार्थ समझपूर्वक यदि उदासीनता आये तो, वैसी प्रतिकूलताको उपकारी समझने योग्य है। जीव यदि यथार्थ समझपूर्वक सन्मार्गको ग्रहण नहीं करता है तो वैराग्य, भक्ति आदि साधन बंधनरूप हो पड़ते है। (१७६०)

❋

धर्मक्षेत्रमें ईमानदारीसे दोष मिटानेवाले, यथार्थ कार्य पद्धतिको नहीं समझनेके कारण प्रायः अन्यथा उपाय करते है; जिसके कारण मूलमेंसे दोष नहीं मिटते, परन्तु मंद होकर पुनः पनपते है। मुख्यरूपसे जीवको पात्रता आये वैसा होना चाहिए। योग्यता आने पर ज्ञानका परिणमन होता है और इसके लिए प्रथम अभिप्राय योग्य होना चाहिए, अभिप्रायमें सुधार हुए बिना परिणमनमें सुधार नहीं होता। ऐसा नियम-सिद्धांत है। इसलिए मुमुक्षुजीवको ज्ञानीके मार्ग पर चलते हुए सर्व प्रथम अभिप्रायकी विपरीतता मिटानी चाहिए। (१७६१)

❋

प्रत्येक मनुष्य गुण-दोषके मिश्र पर्यायरूप होता है। परन्तु जब कोई बड़ा गुण प्रगट हो, तब दूसरे दोषोंको गौण करने लायक है। वह बड़ा गुण माने जिससे दर्शनमोहकी हानि हो, और भाविमें अनन्त बड़ा लाभ हो। ऐसा बड़ा गुण - 'ज्ञानीके मार्ग पर चलनेका दृढ़ निश्चय'

शक्ति सभी संज्ञी जीवोंको होती है, इसलिए विचार बराबर चलते है, परन्तु प्रयोग तो संवेग होने पर ही चलता है। सिर्फ विचार आत्मकल्याणके लिए पर्याप्त नहीं है, (परन्तु) विचारबल भी चाहिए। आत्मसाधना यह कोई विचार नहीं है, परन्तु प्रयोगात्मक परिणमन है। तथापि जिसे संवेग उत्पन्न नहीं हुआ, वह प्रयोगकी बातको विचारकी कक्षामें ले लेता है, इसलिए आगे नहीं बढ़ सकता। मुमुक्षुकी इस प्रकारसे भूल होती है। यह भूल न हो इसके लिए सत्संग परम उपकारी है। स्वलक्षसे यथार्थ समझ होनेके पश्चात्, उदयमें उस समझको लागू करना, वह प्रयोग है। जीवको प्रयोगका सिर्फ विचार चलता है या प्रयोग चलता है, यह स्पष्ट खयालमें / समझमें होना चाहिए। प्रयोगमें अनुभवकी मुख्यता होती है, प्रयोग पद्धति वह अनुभवसे भावोंको समझनेकी अनुभवपद्धति है, और अनुभवपद्धतिसे ही अनुभवप्रधान (स्वानुभूतिरूप) मोक्षमार्गमें पहुँचा जाता है, सिर्फ विचार-रटनसे मोक्षमार्गमें नहीं पहुँचा जाता। खुदके भावोंको अनुभवसे समझनेके अभ्याससे (Practice) स्वभाव भासित होनेका अवसर आता है। (१७६५)

※

प्रयोगकी भूमिका मुख्यरूपसे अवलोकनके स्तरमें होती है। निरंतर अवलोकन होनेसे, इसमें सूक्ष्मता आती जाती है। अंतर्मुख होनेके प्रयोगमें, प्रथम अस्तित्वग्रहणका, अर्थात् ज्ञानवेदनके आधार पर रहे ज्ञानस्वभावी आत्माको लक्षगोचर करनेका प्रथम प्रयोग है। यहाँ पर जो बीजज्ञान होता है, वह मंत्ररूप गुप्तभेद है। क्योंकि अंतर्मुख होनेका रहस्य, जो कि अध्यात्मका रहस्य है, उसका यहाँ पर ज्ञान होता है। सर्व अध्यात्मदशाका आधार तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व -कारण परमात्मा है। परन्तु उसकी प्राप्तिकी विधिमें आधार ज्ञानवेदन है। - ऐसा अटपटा आधार-आधेयपना अध्यात्मका 'मंत्र' है, जिस मंत्रसे सम्यक्दर्शन आदि महान दशाएं प्रगट होती हैं। (१७६६)

※

जिज्ञासा :- स्वरूपका अस्तित्व ग्रहण होने पर ज्ञानमें कैसी प्रतीति आती है?

समाधान :- स्वरूपके अस्तित्वमें अनन्त सामर्थ्य रहा है, वह 'स्व-रूपमें' प्रतिभासित होत है, अनन्त ज्ञान व अनन्त सुखकी खान प्रत्यक्ष होती है, तदुपरांत एक ही समयमें उत्पाद व्यय होनेसे और ज्ञानके सातत्यसे स्वयंकी नित्यता-शाश्वतता अवभासित होती है, जो कि अप ध्रुव-कारण परमात्माका ग्रहण है, और इससे

(१) मृत्यु आदि सर्व प्रकारके भय मिटते हैं, और

(२) परकी-देहादिकी आधारबुद्धि व सुखबुद्धिरूप बड़े-बड़े विपरीत अभिप्रायोंका नाश ह

है, और ऐसे नित्य आत्मभावके संस्कार अनित्य नहीं होते, क्योंकि वह पूर्ण स्वभाव प्रगट होनेका बीज है, उस बीजमेंसे वृक्ष होगा ही। (१७७०)

✳

अक्टूबर - १९९८

अनादि विपरीत संस्कारसे जीवको शरीरके साथ अति गाढ़ एकत्वबुद्धिपूर्वक एकत्व परिणमन हो रहा है, इसलिए शाता-अशातामें जीवको देहकी मुख्यता वर्तती है। आत्मार्थी जीव देहात्मबुद्धिको मिटानेके लिए प्रयत्नशील होता है। उसमें भी जब-जब अशाताका उदय आता है तब वह उदयको प्रयोगका साधन बनाता है। इसलिए दूसरे आत्मार्थी जीवोंको आत्म स्वास्थ्यकी-परिणामकी व प्रयोगकी चर्चा करनी / पुछनी चाहिए। शरीर स्वास्थ्यकी चर्चा नहीं करनी चाहिए, ऐसा परस्पर व्यवहार होना चाहिए। (१७७१)

✳

आगममें विशाल विषयका प्रतिपादन हुआ है। आत्मार्थी जीवके लिए वह सारा विषय प्रयोजनभूत नहीं होता। उसमेंसे प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतको अलग-अलग छाँट लेने चाहिए और सिर्फ प्रयोजनभूत विषयको ही मुख्य करके उसके अमलीकरणमें-प्रयोगमें जाना चाहिए। ऐसा होनेके लिए उसकी चाबी यह है कि जीवको प्रयोजन तो,

(१) 'दुःख न हो और सुख हो'- इतना ही है। अतः क्या मुख्य करनेसे उक्त प्रयोजन सधे इसकी सूझ, जो जीव चलते हुए परिणमनमें आकुलताको पकड़ सकता हो, उसे होती है, और वह अपने अनुभवसे मिलान करके, वर्तमानमें प्रयोजनभूत क्या है ? उसका निर्णय करके, हित कर सकता है; जिससे -

(२) विकल्प / अशांति बढ़े वह गौण हो जाये अथवा जो

(३) अवलंबन लेने योग्य, वह मुख्य होवे। इस प्रकार मुख्य-गौण होना चाहिए कि जिससे स्वरूप शांति प्रगट हो। (१७७२)

✳

प्रश्न :- प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतका विभागीकरण हो, इसके लिए कौन-कौनसे मुद्दें ध्यानमें लेने योग्य हैं ? और वह किस प्रकारसे ?

समाधान :- निम्नलिखित मुद्दोंको लक्षमें लेकर यथायोग्य प्रवर्तन वा प्रयोग कर्त्तव्य है।

(१) ध्येय पूर्ण शुद्धिका होने पर भी वर्तमानमें खुदकी निकट दशा अनुसार आगे बढ़नेका प्रयोजन होना चाहिए।

(२) जाननेका विषय, जाननेकी विपरीतता दूर करके, उस विषयको गौण करके आदर

ही वाणी अचेतन है, फिर भी जिसको खुदके आत्मा पर उपकार हुआ है, उसे सर्वज्ञ स्वभावको स्पर्शती हुई - अनुसरण करती हुई वाणीका-जिनवाणीका उपकार समझमें आता है, और सहज पूज्यता भी आती है, बेहद भक्ति आती है। दूसरेको - जिसे उपकार नहीं हुआ है, उसे ऐसी पूज्यता समझमें नहीं आती और यथार्थ अर्पणता भी नहीं आती। (१७७५)

※

जिज्ञासा :- 'भावना, पुरुषार्थ आदि कर्त्तव्य है।' - ऐसे उपदेशबोधसे पर्यायका कर्तृत्व होनेका भय रहता है, तो पर्यायका कर्तृत्व न हो उसका क्या उपाय है ?

समाधान :- आत्मामें से उत्पन्न हुई सच्ची भावना अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक उत्पन्न नहीं हुई- ऐसी भावनावालेको सहजतासे सभी आनुषंगिक परिणाम उत्पन्न होते है, इसलिए उसमें कर्तृत्व तीव्र-दृढ़ नहीं होता परन्तु कमज़ोर पड़ता है। उसे कृत्रिमता नहीं होती। वह जीव पूर्णशुद्धिके लक्षवाला होने पर भी, अवलोकनके दौरान अपूर्व जिज्ञासा सहित स्वरूपकी पहचानकी ओर झुकता है, ऐसी सूझ होनेसे कर्तृत्व दृढ़ कैसे होगा ? स्वरूपके अवलंबनसे सहज शुद्धि व शुद्धिकी वृद्धि होकर पूर्णता अवश्य होगी, ऐसी प्रतीति वहाँ हो जाती है। इसलिए सच्ची भावना होनेसे उन्मार्ग पर जानेका नहीं बनता। (१७७६)

※

जड़-चेतनकी भिन्नता-यह द्रव्यानुयोगका मुख्य सिद्धांत है। 'भिन्न पदार्थका अनुभव-प्राप्ति सर्वथा अशक्य है'- ऐसा जो सम्यक्ज्ञान जीवको परके प्रति उदासीन करके निज परम आनंद धामके प्रति झुकनेके लिए सहज प्रेरित करता है। ज्ञानी सहज वैरागी, उक्त वस्तु स्वरूपके ज्ञानके कारण होते हैं। आसक्ति भाव, जीवको स्वरूप-ज्ञानके अभावमें व परमें सुखबुद्धिके कारण उत्पन्न होता है, इससे परमें एकत्व गाढ़ हो जानेसे स्वसन्मुख होना दुर्लभ हो जाता है। परन्तु भिन्न ज्ञानवेदन द्वारा आसक्तिमें तीव्र आकुलता-दुःखका अनुभव होनेसे सहज विरक्ति आती है। (१७७७)

※

जिज्ञासा :- जब परिणमनमें सम्यक्ता आती है तब जीवके परिणाम किस प्रकार परिणमन करते है ?

समाधान :- सम्यक् प्रकारके परिणमनमें, स्वसन्मुखता, स्वयंकी अभिन्नता, स्वरूपकी अत्यंत मुख्यता, निज अनन्त सुखधामकी सुखबुद्धि और स्वरूपकी सर्वस्वपने उपादेयता, सहित संवेग/ पुरुषार्थ होता है। और,

परद्रव्य - परभावोंसे भिन्नता, शरीर, कुटुम्ब आदि संयोगोंमें परायापन, इससे उत्पन्न

दुःखी हूँ - ऐसा निश्चय करके मध्यस्थभावसे यदि सत्संग किया जाये तो 'सत्' समझमें है। सत् समझमें आया माने परमार्थ समझमें आया। जिससे अपने विपरीत अभिप्राय कि परिभ्रमण करानेवाले है इससे छूटनेकी बात समझमें आती है। फिर अगर कोई मार्ग बतलानेवाले सत्पुरुष मिले तो उन्हें पहचान लेता है कि, वाकई ये पुरुष मुझे भवसे भवके कारण - भवरोगसे छुड़ाते हैं - ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब बाह्यदृष्टि है - जिससे फिर सत्पुरुषका बाह्याचरण नहीं दिखता, बल्कि सिर्फ उनके स्वरूपको देखकर परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होती है और वही भवसागर तिरनेका उपाय है। (१७८३)

✵

जिज्ञासा :- हेय और उपादेय - दोनों भावमें विकल्प - शुभराग भी है और विवेकरूप ज्ञान भी है, तो वहाँ राग है या ज्ञान है ? उसका निश्चय कैसे हो ? विवेकका सम्यक् प्रकार कौनसा है ?

समाधान :- हेय-उपादेय भाव अनेकविध स्तरमें अनेक प्रकारसे होते हैं, इसलिए उसके विकल्प अनेक है। जिस रागसे उसमें अटकता है, इसमें रागकी प्रधानता होनेसे ज्ञान गौण है, इसलिए वहाँ राग है ऐसा निश्चय करना। (जब कि) जो ज्ञानप्रधान परिणमन है, उसमे परद्रव्य और परभावोंके साथ एकताकी प्रगाढ़ताको तोड़कर, स्वद्रव्यकी प्रगाढ़ता होनेकी प्रक्रिया होती है, इसलिए ऐसे प्रकारमें अंतमें निर्विकल्पदशा प्राप्त होती है, इसलिए वह सम्यक् प्रकारका विवेक है। (१७८४)

✵

जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी भूमिकामें यथार्थता कैसे उत्पन्न हो ? और वह निःशंक यथार्थता ही है, यह कैसे मालूम हो ?

समाधान :- जिसे एकमात्र आत्मा ही चाहिए और इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए - ऐसी सच्ची अंतरकी आत्मभावनासे (१) यथार्थताकी शुरूआत होती है। तत्पश्चात् वह जीव खुदके सर्व प्रकारके विपर्यास मिटानेके लिए अंतर-बाह्य प्रयोग करता है, तब उसे अपने परिणमनमें जो-जो अनुभव होता है, उस अनुभवमें आनेवाले भावोंमें आकुलता, मलिनता, विपरीतता, कषायरस, अभिप्रायकी भूल, इत्यादि अनुभवज्ञानसे (२) यथार्थता आती है। इसके अतिरिक्त (३) सत्पुरुषके प्रति निष्काम प्रेम-भक्तिसे दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे यथार्थता उत्पन्न होती है। - इन तीनों कारणोंसे दर्शनमोह निर्बल होता है, यही यथार्थता आनेका सामान्य कारण है। तब ज्ञानकी निर्मलता और अनुभवसे, निःशंकतासे यथार्थतामें ऐसा ही होता है, ऐसा सहज मालूम पड़ता है। गौणरूपसे दर्शनमोह घटनेके अनेक कारणरूप परिणाम होते हैं। (१७८५)

सहज ही दूर रहते है। धन्य मुनिदशा ! (

※

जिज्ञासा :- अभिप्राय व दृष्टिकोण एक ही पर्याय है या भिन्न-भिन्न प्रकारका

समाधान :- दोनों ज्ञानकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी पर्याय है। अभिप्रायपूर्वक दृष्टिकोण है, इतना - वैसा सम्बन्ध है।

ज्ञान हमेशा अभिप्राय अनुसार रहता है अर्थात् उस प्रकारका पूर्वग्रह उत्पन्न जिसे विपरीत अनुभवसे पलटने योग्य है।

दृष्टिकोण विभिन्न समयमें उस समय हेतु / उद्देश्य अनुसार प्रवर्तमान ज्ञानकी है।- इस प्रकार दोनोंके बीच तफावत है। (१

※

नवम्बर - १

जिज्ञासा :- समकितकी स्पर्शना हुई हो (तो) इससे कैसी दशा होती है ? - यह अपने किस अनुभवसे कह सकता है ?

समाधान :- यथार्थ मुमुक्षुता होती है वहाँ चलते हुए परिणमनमें हित-अहितरूप अनुभवसे समझमें आने पर उसका विवेक आता है, वह ज्ञानकी निर्मलता, मोह और उपशमसे होता है - ऐसा प्रकार समकितमें भी होता है। - इस तरह समान जातिके समकितकी स्फुरणा और (उस) दशाको मुमुक्षु कह सकता है। -१

दूसरा, सत्पुरुषकी पहचान होने पर उनके प्रति परमभावसे भक्ति - प्रेमरूप होनेसे संसार परिणति शांत हुई होनेसे उदय प्रसंगों व उदयभावोंमें हो रहा यथार्थ अनुभव ज्ञानीके सम्यक् वैराग्यको पहचान लेता है। -२

खुद सम्यक् प्राप्ति हेतु प्रयत्न - प्रयोग करता है, उस प्रकारके अनुभव परसे अलौकिक पुरुषार्थसे उत्पन्न समकितको (वह मुमुक्षु) कह सकता है। -३

चलते हुए विकल्पमें आकुलता, मलिनता और विपरीतताके अनुभवसे, इसके प्रतिप ज्ञानीपुरुषकी शांत, पवित्र और अविपरीत (सम्यक्) दशा समझमें आती है। और परख होती है, क्योंकि अमुक अंशमें (दर्शनमोहकी मंदताके अनुपातमें) शांतिका अनुभव, समाधानपूर्वक होनेसे समकितकी स्पर्शना और दशाको कह सकता है। (१७९

※

अनुभवशक्ति प्रत्येक जीवको होती है। उसमें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव विचार सहित होनेसे पारमार्थिक विवेकपूर्वक स्वानुभव कर सकता है। ज्ञानगुण शुद्ध स्वरूपका अनुभव

है, परन्तु रागसे एकत्व नहीं तोड़ा जा सकता।

(२) सर्वांग समाधान स्वरूप आत्माके आधारसे जो समाधान होता है, वह सहज सम्यक् समाधान है। सर्व परद्रव्य और परभावसे भिन्न ज्ञानमय आत्माके अवलंबनसे सहज समाधि रहती है। और रागका एकत्व तोड़नेके लिए भेदज्ञानका प्रयोग एकमात्र साधन है। उससे शाश्वत शांति प्राप्त होती है, क्योंकि उसकी सिद्धि आत्मबलसे है। (१७९६)

✻

जिज्ञासा :- मुमुक्षुको तत्त्वज्ञानका अभ्यास, पूजा-भक्ति, दान आदि करनेके बावजूद भी मार्ग नहीं मिलता है, इसका क्या कारण ? करने जैसा क्या है कि जो रह जाता है?

समाधान :- उपरोक्त बाह्य साधन करने पर भी, परलक्ष होनेसे मार्ग अवरोधक ऐसे प्रतिबंधक भावके प्रति ध्यान नहीं जाता। और एक लयसे अंतरकी भावनापूर्वक जो तीखा-उग्र पुरुषार्थ उठना चाहिए वह नहीं उठता, और उसकी जो खटक होनी चाहिए, वह भी यदि नहीं हो, तो मार्ग कैसे मिले ? उपदेशका परिणमन हो इसके लिए प्राप्त उपदेशको प्रयोगान्वित करना चाहिए। और इसके लिए सतत पुरुषार्थ चलना चाहिए, तो कार्य होता ही है - मार्ग मिलता ही है। ऐसी ज्ञानी - अनुभवी पुरुषोंने गारंटी दी है। (१७९७)

✻

जिज्ञासा :- प्रत्यक्ष ज्ञानीके योगमें परम सत्संग प्राप्त होनेके पश्चात् स्वरूपकी पहचान होनेके लिए कैसा प्रयास अपेक्षित है ?

समाधान :- स्वरूपकी पहचान है, वह बीजज्ञान है और सम्यक्त्वका अंग है। क्योंकि स्वभावके संस्कारका कारण होनेसे उसका महत्त्व बहुत है। उसकी पहचान ज्ञानलक्षण कि जो स्वसंवेदनरूप है, उससे होती है। लक्षणसे लक्षित हुआ निज परमात्मपदका लक्ष नहीं मिटता, और स्वरूप लक्षसे हुआ सामान्य ज्ञानके आविर्भावसे (विशेषज्ञानके तिरोभावपूर्वक) परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्दर्शन और स्वानुभवकी प्राप्ति है।

वेदनभूत ऐसा जो ज्ञानलक्षण, वह सर्वकालमें जीवोंको प्रगट है, फिर भी ज्ञानकी निर्मलता व सूक्ष्मताके अभावके कारण मालूम नहीं पड़ता। अर्थात् भ्रांतिके कारण आवरण प्राप्त होनेसे मालूम नहीं पड़ता। वह (आवरण) दूर हो इसके लिए यथार्थ प्रकारसे विभावरस मंद पड़ना चाहिए, इसके अलावा चाहे कैसे भी उदयकालमें रस तीव्र नहीं हो इसकी जागृति रहनी चाहिए। विभावरस मंद होनेके लिए ज्ञानीपुरुषकी अचल प्रतीति समेत स्वच्छंद निरोध भक्ति, कि जिस भक्तिके सद्भावमें संसार भक्ति - संसार परिणतिका छेद होवे और (उदयमें) सहज विरक्ति रहे। दूसरा प्रयोग निज परिणामोंका सतत अवलोकन रहना वह है, कि जिस अवलोकनके

उदयभावोंमें वज़न नही जाना चाहिए। वज़न जानेसे मुख्यता होकर उसका आग्रह हो जाता है, उन-उन भावोंमें रस वृद्धि हो जानेसे पूरा आत्मा वहाँ अटक जाता है। जब कि आखिरमें तो प्रमत्त-अप्रमत्त समस्त पर्यायों परसे ही अपनत्व उठाकर एकमात्र संपूर्ण वज़न देने योग्य ऐसे निज परमपदका ही वज़न रहना चाहिए, इसके बजाय सामान्य उदयमें वज़न रहा करेगा तो स्वभाव पर वजन देनेका तो अवकाश ही नहीं रहता। इस प्रकार वज़न देनेकी भूलसे परिणामका प्रवाह उलटी दिशामें चला जाता है। 'सच्ची बातका आग्रह' - वह भूल नही है, मूलमें इस अभिप्रायसे बहुभाग (प्राय:) ऐसी भूल होती है। सूक्ष्म विचारवान जीव हो तो उसे वह समझमें आता है, दूसरेकी समझमें नही आता। मार्ग अवरोधका यह एक प्रकार है। (१८०१)

※

जिज्ञासा :- तिर्यंचको सम्यक्दर्शन - स्वानुभूति होती है, तब उसे तत्त्वज्ञानका अभ्यास या श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रकी स्पष्टता (उघाड़ ज्ञानमें) नहीं है, फिर भी उस जीवका कार्य कैसे सधता है ?

समाधान :- तत्त्व सम्बन्धित विचारज्ञान वह बाह्यज्ञान है, जब कि अनुभवमें आ रहे भावोका भासन होना वह अंतरज्ञान है। बाह्यज्ञानके दो प्रकार है। एक स्वलक्षी और दूसरा परलक्षी। परलक्षी ज्ञान अंग-पूर्व तकका निष्फल जाता है, जबकि स्वलक्षी अल्पज्ञान हो तो भी अंतरज्ञानरूप परिणाम करता हुआ, प्रयोजनको साधता हुआ सफल होता है। तिर्यंच भी शांति-अशांतिके अनुभवको पहचानकर अशांत ऐसे विभाव भावोंसे हटकर शांत स्वभावी ज्ञानभावके प्रति झुकता है। वह सच्ची शांतिकी पहचान करता है और भेदज्ञान करके स्वानुभूति प्रगट करता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव भी सुख-दु:खके प्रयोजनको समझकर, प्रयोजनको मुख्य करके प्रयोजनको साधनेके लिए सक्षम है, इसलिए संज्ञी तिर्यंच स्वानुभव कर सकता है। (१८०२)

※

मुमुक्षुजीव प्रतिकूलताकी उपेक्षा करके जब परिभ्रमणसे मुक्त होनेका प्रयास / प्रयोग करता है, तब उसमें हार नहीं जाता क्योंकी प्रतिकूलताका दु:ख परिभ्रमणके दु:ख समुद्रके आगे एक बिंदुसे भी कम है और उस पुरुषार्थके फलमें रहे अनंत सुखकी प्राप्तिके लिये अल्प दु:ख सहन करना पड़े अथवा प्रतिबंध (कुटुम्ब, शरीरका) छोड़ना पड़े तो उसमें क्या हुआ? (उसे) ऐसी समझ होती है। अत: प्रयोग एवं पुरुषार्थमें उमंग व उल्लास वर्तता है। जो हार जाता है उसे प्राय: ऐसी समझ नहीं होती है, उसका प्रयास कृत्रिम होता है। (१८०३)

※

सम्यक् निर्दोषता, वह जिनेश्वरके मार्गकी सुंदरता है और यह मार्ग शांत अमृतरसकी सुगंधसे महकता है। किस जीवको वह प्रिय नहीं होगा !! प्रिय नहीं लगेगा ! (१८०८)

※

अंतरंगमें ज्ञान 'स्वयं' उत्पन्न होता है, - ऐसे स्वयं अपूर्व जिज्ञासासे - परसे व रागसे उदास होकर, - देखे तो ज्ञानकी निरालंब निरपेक्षता अनुभवमें आती है। यानी कि खुदकी सहज संपूर्ण स्वतंत्रता, भिन्नता, असंगता, (निर्लेपता), निर्विकारता (शुद्धता), निरुपाधिता, सहज कार्यशीलता, नजरमें आती है। इस प्रकार ज्ञानसे स्वयंका अवलोकन होनेसे ज्ञानकी व्यापकता, वेदकता और प्रत्यक्षता मालूम पड़ती है। ज्ञानस्वरूपी आत्माको 'इस प्रकार' देखनेसे मोह पर विजय प्राप्त होता है, परमें एकत्व और कर्तृत्व मिटता है; आसक्तिका सहज अभाव, स्वरूप सुखके प्रति खिँचाव होनेसे होता है। (१८०९)

※

प्रयोजनकी दृष्टिवान जीवका उपयोग खुदको लागू होनेवाले उपदेश पर जाता है, तब वह खुद अपने लाभ-नुकसानको समझकर, खुदका सुधार करनेके अभिप्रायवाला होनेसे, खुदका यथार्थ सुधार / अमलीकरण शीघ्र ही होता है। उक्त अभिप्रायकी भूमिका बोधप्राप्ति की योग्य भूमिका है। ऐसा होनेसे आत्मार्थीको उपदेश प्राप्त होनेके प्रसंगमें, स्वयंके परिणमनको लागू होनेवाली - स्पर्श करती जो भी बातें आये, तब स्वलक्षसे उसे अंगीकार करना चाहिए, सत्कार करना चाहिए। (१८१०)

※

परलक्षका अपराध बहुत बड़ा है, कि जो निज परमात्माका लक्ष छोड़करके होता है। वास्तवमें लक्ष करने योग्य तो अंतरमें आनंद सागर है; जिसकी उपेक्षा व अनादर करके जीव परलक्ष करता है। इस अपराधका जीवको खयाल नहीं आता है; इसलिए इस अपराधको जीव हलके रूपमें ले लेता है। जिसके कारण यह दोष चालू रहता है। और इस कारणसे जीवको उपदेश नहीं चढ़ता। जीवको दूसरोंके प्रति भावनाके बहाने भी परलक्ष करने योग्य नहीं है, यह वंचनाबुद्धि है। अतः वैसे प्रकारमें जागृति रखनी आवश्यक है। (१८११)

※

आत्मस्वभाव समझना सो एक बात है और उसका ग्रहण होना सो दूसरी बात है। स्वभावको सिर्फ विचारकक्षामें / श्रेणीमें रखना - वह उचित नहीं है। क्योंकि वह अनुभव करने योग्य है अर्थात् अनुभवनीय है। अतः उसे देखनेका प्रयास करना चाहिए। जैसे अग्निकी एक चिंगारीमें उसकी जलानेकी असीम शक्ति देखी जाती है, वैसे वर्तमान ज्ञानकी पर्यायमें अनन्त सामर्थ्य

ज्ञानक्रियाके आधारसे ज्ञान स्वभावका ग्रहण होने पर परद्रव्य और परभावसे भेदज्ञान होता है, और उस प्रकार भेदज्ञानपूर्वक परके साथ चली आ रही आधारबुद्धिका नाश होता है। आधारबुद्धिका अभाव होनेसे एकत्वबुद्धि, कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि और सुखबुद्धिका भी साथ ही साथ नाश होता है और आत्मशुद्धि - स्वरूप निर्मलता प्रगट होती है। ज्ञानक्रिया स्वतः ही निरंतर हुआ करती है, ऐसा अंतरंगमें भिन्नताका अनुभव कर्त्तव्य है। (१८१७)

✲

उत्तम मुमुक्षुको अंदरमें भेदज्ञान और बाहरमें स्वच्छंद निरोध भक्ति, - दर्शनमोहका अनुभाग कम होनेका व निर्मलता उत्पन्न होनेका कारण है। गुण और गुणवान प्रतिका प्रेम, निज आत्म गुणोंका प्रेम है। अतः भक्ति प्रेमरूप होती है, रागरूप नहीं होती। (१८१८)

✲

यथार्थतामें गुण-दोषकी तुलनात्मक मति होती है, जिसमें छोटा दोष बड़ा नहीं दिखता और बड़ा दोष छोटा नहीं दिखता। आत्मार्थीको सहज ऐसा होता है। छद्मस्थको संपूर्ण गुण प्रगट हुए नहीं होते; परन्तु धर्मीको और धर्मको प्राप्त करने योग्य जीवको बड़े दोष पहले मिटते हैं अथवा बड़ा गुण पहले प्रगट होता है; इसकी तुलना करनेमें अर्थात् उस विषयमे वज़न देनेमें यदि भूल हुई, तो वह विपर्यासको सूचित करता है कि जो विपर्यास आत्मार्थको प्रतिकूल है; अथवा मार्ग प्राप्तिमें अवरोधक है। (१८१९)

✲

उपदेशबोध प्रायः पर्याय सुधारके हेतुवादरूप है। वह आत्म हित-अहितके विवेकका प्रकरण होनेसे उसमें ज्ञान-प्रधानता है। इसमें इतना वज़न नहीं चला जाना चाहिए कि जो सम्यक्दर्शनसे प्रतिकूल जाये। सम्यक्दृष्टि 'पर्यायमें अहंभाव' का नाश करके प्रगट हुई है। इसलिए समकिती जीवका पर्याय सम्बन्धी विवेक भी पर्यायमें अहम्भावका उत्पादक नहीं होता। 'द्रव्यस्वभावमें अहंबुद्धि' अचलित रहते हुए पर्यायमें सूक्ष्म अविवेक भी नहीं हो, इस अभिप्रायपूर्वक भूमिका अनुसार ज्ञानकी आचरणा / प्रवर्तना होती है। सम्यक्त्वका यह एक लक्षण है। जिसकी विशालता विशाल ऐसे उपदेशबोधमें सर्वत्र होती है, जो कि अद्भुत है। (१८२०)

✲

सत्श्रवण आत्मकल्याणकी अत्यंत भावना सहित स्वलक्षसे होना चाहिए, जिससे प्रयोजनका दृष्टिकोण साध्य होवे। वरना तो श्रवण - अश्रवण दोनों समान हैं। उपरोक्त भावसे श्रवण - क्रमशः भावश्रुत प्रगट होनेका कारण बनता है। अन्य प्रकारका श्रवण निष्फल जाता है। (१८२१)

✲

सपाटीके ऊपर-ऊपर ही शीघ्र विलयको प्राप्त होने योग्य होता है। उसी वक्त खुद तो अखण्ड ज्ञान पिंड - निविड़ ज्ञानका दल, ज्ञानके संवेदन सहित भिन्न ही रहता है। ज्ञानविशेष भी ज्ञेय पदार्थसे अत्यंत भिन्न ही है। - इस तरह भिन्नताकी मुख्यतामें रहना वह निरुपाधिक होनेका सम्यक् उपाय है। वही धर्मध्यानरूप द्रव्यानुयोगका परिणमन है कि, जो शुक्ल ध्यानका कारण है। (१८२६)

✻

जिज्ञासा :- अंतर्मुख कैसे हुआ जाये ? कैसी परिस्थितिमें सहज हुआ जाये ?

समाधान :- बहिर्मुख भावोंमें जिस जीवको आकुलता वेदनमें आये, विकल्पमात्रमें दुःख लगे, थकान लगे और ज्ञान सुखरूप भासित होवे, 'ज्ञानमात्र' भाव कषाय रहित होनेसे सुखरूप भासित होवे, तब जीवकी सुखके लिए चल रही अपेक्षावृत्ति सुखके प्रति सहज झुकती है। इसलिए बाह्य पदार्थोंके प्रति जो उपयोग आकर्षित था वह उपयोग उदास होकर - उपेक्षित होकर ज्ञानसामान्य कि जो स्वयं वेद्य - वेदक भावरूप है, उसके प्रति झुकता है। यही ज्ञानवेदना है। जो आत्म - वेदनरूप है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान-वेदनामें वेद्यरूप होवे ऐसा है। (१८२७)

✻

व्यवहारको व्यवहारके स्थानमें श्री वीतरागने स्थापित किया है। जो कि आत्महितार्थ योग्य लगता है, सम्मत होता है। निश्चयसे उसका निषेध सम्यक् है। ऐसी ही जिन नीति है। व्यवहारके अनेक भंग-भेद है, जिसका हेय-उपादेयके दृष्टिकोणसे विचार कर्त्तव्य है। कहीं पर भी एकांत कर्त्तव्य नहीं है। तथापि धर्मात्माका सम्यक् एकांत कि जो निज परमपदकी प्राप्तिके हेतुभूत है, वह तीनोंकाल वंदनीय है। उनकी आराधना जयवंत वर्तो। (१८२८)

✻

अहो ! ज्ञानीका विवेक ! जिन्हे अपने उपकारी मुमुक्षुके प्रति भी विनय-नम्रता सहज उत्पन्न होते है; जो नम्रता ही स्वयं उनकी महानता है। ज़रा सी भी अपने गुणोंकी मुख्यता नहीं होती। यहाँ पर इतना विनयभाव है कि, निमित्तकी मुख्यतामें उपादान गौण हो जाता है, तो भी अवगुण उत्पन्न नहीं होता ! कैसी अगम-निगमकी घटना है !! मुमुक्षुजीवको भी आत्माकी निर्मलता हेतु उपकारी श्रीगुरुके प्रति परम भक्तिभाव उत्पन्न हो आता है, तब निमित्तकी मुख्यता होती है, जब कि वास्तवमें आत्माकी मुख्यता है, ऐसा समझने योग्य है। (१८२९)

✻

उदासीनता, वैराग्य, नीरसता भूमिका अनुसार होते है। जिसकी यथार्थ प्रकारसे शुरूआत

है। लब्धि है वह ज्ञानकी ऋद्धि है, जिसका कारण आचरण - संयम आदि होते है। ज्ञानकी स्वरूप ग्रहण शक्ति, वह ज्ञानकी सिद्धि है। (१८३३)

※

द्रव्यानुयोग और अध्यात्मकी चाहे कितनी भी स्पष्ट समझ हो, परन्तु अंतरंगमें उस भावोंके अनुभवपूर्वक (अगर) भावभासन हो, तो ही उसकी यथार्थता है, वरना ओघसंज्ञा या परलक्षी ज्ञानकी स्पष्टताकी कोई सार्थकता नहीं है। वैसी समझमें अन्यथा परिणमन होनेकी संभावना है। (जबकि) अनुभवयुक्त समझ परमार्थको साधती है। (१८३४)

※

आत्मस्वरूपके अभेद अनुभवमें, भेदाभेदका ज्ञान सम्यक् प्रकारसे हो जाता है, अर्थात् अभेदका अवलंबन लेनेमें आता है और भेदोंका ज्ञान सहज होता है। इसके पहले शास्त्र सिद्धांतसे भेदाभेदस्वरूप वस्तुको बराबर समझने पर भी, उस समझके कालमें विकल्प और विकल्पका एकत्व उत्पन्न हो जाता है, जिस विकल्परूप खुदका अनुभवन और भेदका अवलंबन लेनेमें आ जाता है। यहाँ पर अवलंबनकी और अनुभवकी - दोनों भूल है, इसलिए वह ज्ञान मिथ्या है - अपरिपक्व भी है। इसीलिए ज्ञानियोंने अनुभवपद्धतिकी मुख्यतासे बोध दिया है।

स्वरूपका भावभासन होने पर भेद और विकल्प गौण हो जाते है और अभेद स्वरूपके लक्षसे पुरुषार्थकी गति और भेदज्ञानकी प्रक्रिया सहज भावसे वर्तती है। जिससे विकल्पका एकत्व और अध्यास निवृत्त होकर अभेद स्वरूपके अनुभवको साधनेमें आता है। (१८३५)

※

तीर्थप्रवृत्तिकी शुरूआत भगवान श्री ऋषभदेवस्वामी द्वारा व्रतादि विधिसे हुई, और मुक्तिगामी ऐसे श्री श्रेयांसकुमार द्वारा दान-विधिसे हुई। जिसकी परम्परा वर्तमानमें चालू है। व्रत - संयमकी उपासना करते हुए उदासीनताकी प्राप्ति होकर, आत्ममार्ग-अध्यात्ममार्ग सुगम होता है अर्थात् आसक्तिका अवरोध दूर होता है।

दान = प्राप्त संयोगोंका स्वामित्व छूटनेसे उत्पन्न हुआ स्वस्वरूपमें स्वामित्वभाव। - इस प्रकार दोनोंका सुमेल धर्म और धर्म प्रभावनामें परिणमित होता है। (१८३६)

※

जिसे जीवका स्वरूप समझमें आया, उसे किसी भी व्यक्तिके प्रति द्वेषबुद्धिपूर्वक द्वेष नहीं आता, संसारीको दुःखी देखकर करुणा आती है, मोक्षमार्गी या मार्गेच्छावानको देखकर प्रेम - वात्सल्य आता है, परमेष्ठिपद प्राप्त जीवके प्रति पूज्य भाव आता है। - यथार्थतामें ऐसा सहज

है, और जिसके कारण आज भी एकावतारी हो सकते है, इस संभावनाको जानकर सुपात्र जीवको तथाप्रकारकी प्रेरणा और वीर्योल्लासका कारण है। ऐसा बलवान निमित्तत्व जिस वचनयोगमे रहा है, वह निश्चितरूपसे पूजनीय है, अभिवंदनीय है। (१८४२)

※

बाह्यदृष्टिवान जीव अनुभवको नही समझता, उसे अनुभवकी महिमा - अधिकता नही आती, इसलिए वह वेष (त्याग) को, क्रियाको, भाषाको, क्षयोपशम ज्ञानको, तर्कको, व्यक्तित्वको - ऐसे-ऐसे बाह्य द्रव्य-भावोंको नमन करता है, उसकी महिमा और अधिकता करता है, इसलिए ज्ञानीपुरुषकी पहचान नहीं होती। बाह्यदृष्टि जीवको अंतरदृष्टिसे दूर ले जाती है, यह विस्मरण करने योग्य नही है। (१८४३)

※

अज्ञानदशामें जीव उपवास करता है, मोहकंदको मजबूत करता है, परन्तु वहाँ जीव कषायरस पीता है। जब कि ज्ञानी उपवास या आहारमें आत्मरस-ज्ञानरस, कि जो अकषायरस है, उसको पीते है। (१८४४)

※

जिज्ञासा :- सम्यक्त्व प्राप्त करनेके लिए त्याग करना आवश्यक है ? मुमुक्षुकी भूमिकामें त्यागका महत्त्व कितना समझना ?

समाधान :- मात्र त्याग करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। वास्तविक अंशत: त्याग तो मोक्षमार्गीको पाँचवे गुणस्थानसे रागका आंशिकरूपसे अभाव होता है, तदनुसार शुरू होता है। मुमुक्षुकी भूमिका त्यागकी भूमिका नहीं है, परन्तु उदय प्रसंगमें नीरसता - उदासीनता वृद्धिगत करनेकी है, जिसमें कोई मुमुक्षु अच्छी योग्यताके कारण प्राप्त संयोगोंके बीच भी उदास रहता है। परन्तु जिसकी हीन योग्यता है, उसे जहाँ-जहाँ, जिस-जिस उदयमें रस बढ़ता हो, उस-उस प्रकारमें रस विरुद्ध प्रयोग करके; मोहको - रसको समझकर मंद करना चाहिए। उसमें अनुभवी जीवका मार्गदर्शन सत्संगके योगसे मिलने पर, यथार्थ प्रयोग हो सके अथवा भूल न रहे उसकी दरकार रखनेके लिए सत्संगमें खुले मनसे परिणामकी चर्चा उस विषयमें करने योग्य है। जिससे नीरसता वृद्धिगत हो।

परन्तु त्यागकी भूमिका नहीं है, ऐसा पकड़कर पररुचिका अनुमोदन नहीं होना चाहिए और प्रयोगका निषेध नहीं होना चाहिए।

आत्मार्थीको आत्मभावनाकी परिणति होनी चाहिए, जिससे सहज उदासीनता रहे। (१८४५)

※

आत्मज्ञ पुरुष, मुमुक्षुको अधिक उपकारी ? दोनोंकी भक्तिका भाव होता है, तो उसमें अधिक लाभदायक कौनसा भाव ?

समाधान :- मुमुक्षुजीवको तिरनेके लिए निमित्तत्व दोनोंके वचनोंमें एकसा है। तथापि परोक्ष वचनकी असरसे, प्रत्यक्ष वचन स्वरूपके प्रतिकी चेष्टा सहित होनेसे अधिक असर करते है। अत: जिसे अपने आत्मा पर असर आती है, उसे सच्ची उपकारबुद्धि उत्पन्न होती है और प्रत्यक्ष योगका महत्त्व समझमें आता है। इस प्रकारकी असरके अनुभवसे प्रत्यक्ष - परोक्षका भेद समझमें आना चाहिए। पुन: परोक्ष महापुरुषकी भक्तिसे प्रत्यक्ष सद्गुरुके सान्निध्यसे उपरोक्त असरके कारण भक्ति - बहुमानका तारतम्य वृद्धिगत होनेसे दर्शनमोह विशेष प्रमाणमें गलता है। वह भी अनुभवसे ही समझना चाहिए। (१८५१)

❋

काललब्धिकी यथार्थ समझ, जिसकी काललब्धि पक गई हो और परमार्थ साधनेमें वीर्योल्लास वर्तता हो, ऐसे जीवको होती है। इसके पहले उसकी समझसे प्राय: विपरिणाम आता है। अर्थात् जिस जीवका पुरुषार्थ उठता नही है वह जीव काललब्धिका अवलंबन लेकर अटक जाता है। इस प्रकार काललब्धिके अयथार्थ ज्ञानसे नुकसान होता है। (१८५२)

❋

कुदरतकी कला अंदाज़ नहीं लगा सके इतनी गंभीर है, ऐसा समझने योग्य है। जिसकी अनेक घटनाएं दृष्टांतरूपसे देखने मिलती है। जैसे कि अनेक महात्माएं अन्य मतमें जन्म पानेके बावजूद भी आखिरमें मूलमार्गको प्राप्त करते है, तो कोई महान साधक जीव; साधनाको गौण करे तो भी उनके निमित्तसे - उनके बाह्य परिणमनके निमित्तसे शासन पर - जगत पर अनुपम उपकार हो जाता है। जिसका दृष्टांत श्रीमद् विश्नुकुमार मुनिराज प्रसिद्ध है। जिनके विकल्पके निमित्तसे सातसो भावलिंगी मुनियोंका उपसर्ग दूर हो गया !! दूसरा दृष्टांत श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेवका है। उन्हे ध्यानमें निर्विकल्पता छुटकर विकल्प (?) / भावना हुई, 'साक्षात् तीर्थंकरदेवके दर्शन व दिव्यध्वनि - श्रवणकी,' तो इस उत्कृष्ट पुण्यभावका फल भी तुरंत ही आया। महाविदेहकी यात्रा हुई, दर्शन - श्रवण प्राप्त हुआ और मुमुक्षु जगतको समयसारजी आदि चौराशी पाहुड (भेंट) की प्राप्ति हुई, जिसके निमित्तसे अनेक धर्मात्माओंकी उत्पत्तिकी परम्परा चली। परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र देव - दोनों युगपुरुष श्री समयसारजीसे उपकृत हुए है। महात्माओंके विकल्प हमेशा जगतके लिए कल्याणकारी हुए है; ऐसे महान् आत्माओंकी साधनाका माहात्म्य गानेकी शक्ति वाणीमें नहीं है। उनकी निष्कारण करुणाकी स्तुति भी मोहका क्षय करके आत्मस्वभावको प्रगट

जिज्ञासा :- मुमुक्षुकी भूमिकामें पात्रतावान जीवको ज्ञानकी निर्मलता होना, माने क्या? ऐसी निर्मलताका स्वरूप कैसा है ?

समाधान :- आत्मकल्याणकी भावनासे, स्वलक्षसे खुदको वर्तमान योग्यतामें लागू होता हो, उस उपदेशका अवधारण किया हो - तद्‌अनुसार अमलीकरण और प्रयोग होनेसे ज्ञानमें निर्मलता आती है। जिससे ज्ञान निज हितरूप प्रयोजन साधनेमें सूक्ष्म व तीक्ष्ण होता है, और विशेष सूक्ष्मरूपसे प्रयोजन सधता है, ज्ञानमें निजहित सम्बन्धित विवेक / सूझ वर्धमान होती है। ज्ञानकी निर्मलतासे प्रयोजन सधे वैसा दृष्टिकोण साध्य होता है। अत्यंत / परिपूर्ण निर्मल ऐसा प्रयोजनभूत आत्मस्वरूप जिस निर्मल ज्ञानमें भास्यमान होवे, ऐसी निर्मलताकी शुरूआत उपरोक्त प्रकारसे होती है और वृद्धिंगत होती है। - इस प्रकार ज्ञानकी निर्मलतासे परम प्रयोजनभूत निज परमेश्वर पदकी प्राप्ति होती है। (१८५८)

※

उपयोग स्वरूप लक्षपूर्वक स्वसंवेदनके प्रति नहीं जाकर, बाहर ज्ञेयके प्रति खींचता है, उसमें लाभ-नुकसानकी बुद्धि, सुखबुद्धि अथवा परमें अपनत्वकी बुद्धिरूप विपरीत अभिप्राय होता है। जिसके कारण जीवको अंतर्मुख होनेमें अवरोध रहता है। अंतर्मुख होनेके इच्छुक मुमुक्षुको इसीलिए स्वरूप महिमापूर्वक उदासीनता अपेक्षित है। ज्ञानदशामें तो पूर्व संस्कारित अस्थिरताके कारण उपयोग बाहर जाता है। उतना मोक्षमार्ग रोधक भाव ज्ञानियोंने सम्मत किया है। परसत्ताका आंशिक अवलंबन मोक्षमार्ग नहीं है। इसलिए निषिद्ध है। (१८५९)

※

जिज्ञासा :- परिणाममें रसकी उत्पत्ति होनेका विज्ञान क्या है ? परमार्थकी अपेक्षा रस कैसा होता है ?

समाधान :- रस विभाव परिणाममें भी होता है और स्वभाव परिणाममें भी होता है। परिणमनमें विभाव शुभाशुभ भावके साथ तीव्र और मंद ऐसे दो प्रकारसे परिणमन करता है, जो कि कर्मके अनुभाग बंधका निमित्त है। - यह अनात्मरस है, जो कि तत्त्वदृष्टिसे बंध तत्त्व है। रसका विज्ञान समझने जैसा है। ज्ञान जो भी ज्ञेयमें लीन-एकाग्र हो, वह यहाँ तक कि :- अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं हो, - उसे रसभाव समझने योग्य है। वह ज्ञानपूर्वक लीनता है। जीवको जिसमें रस होता है उसकी मुख्यता होती है, उसकी रुचि होती है, उसका वजन होता है। जिसको खुदके परिणामका अवलोकन चलता है उसे रस पकड़में आता है - प्रायः अभिप्रायपूर्वक होते भावोंमें रस उत्पन्न होता है और वही उस परिणामकी शक्ति है। आत्मरसमें आत्मशक्ति प्रगट होती है। अतः आत्मरसके कारण आत्मामें एकाग्रता होकर जीव मुक्त होता

अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, जिसे टालनेके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए, ऐसा बलवान मोह है, और वर्तमान स्थिति बहुत हानिकारक नही है - ऐसी भ्रांति है। बहुभाग मुमुक्षुकी यह दशा है, वैसे जीवोंके लिए कृपालुदेवका यह महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन है, जिसे ज़रा सा भी गौण करने योग्य नहीं है। (१८६४)

✻

शाश्वत निज स्वरूपकी प्रतीति जिन्हें रहती है, उनके लिए जीवन और मृत्यु समान होते हैं, देहके संयोग-वियोगका हर्ष-शोक नही होता, दोनों ज्ञानके ज्ञेय रहते हैं। जिनको जीवन-मृत्युमें साम्यता है, उन्हें दूसरे किसी भी प्रकारके संयोग-वियोगरूप उदय-प्रसंगमें विषमभाव नहीं होता। और इसके उपरांत शाश्वत स्वरूपके अवलंबनसे अन्य द्रव्यकी आधारबुद्धिका नाश होता है और चिंता, शंका, भयके कारण जो आकुलता होती है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। सर्व प्रकारके भयका अभाव होता है, ध्रुवतत्त्वके प्रबल अवलंबनके कारण दीनता नहीं आती। जीवका पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्वका नाश, निज शाश्वत पदके अवलंबनके अलावा अन्य प्रकारसे नहीं होता। स्वरूपके अनन्त सामर्थ्यका स्वीकार ध्रुवतत्त्वके स्वीकारसे आता है। यह एक गंभीर विषयको समझने जैसा है। (१८६५)

✻

मार्च - १९९९

ज्ञानीपुरुषका मार्ग मोहका नाश करनेका है, उस विषयके वे अनुभवी है। मोहके कारण ही संसार है। जो जीव मोहभावको नही समझ सकता, वह अन्यथा उपायमें लगता है। प्रायः संप्रदाय ऐसे अन्यथा (उपायमें) चलते है। मोहके कारण पदार्थका स्वरूप इष्ट-अनिष्ट भासित होता है अथवा अपने नहीं ऐसे अन्य पदार्थमें अपनत्व होता है, और उसमेंसे असंख्य प्रकारके दोष पनपते है। दोषके फलमें दुःखकी उत्पत्ति है। (१८६६)

✻

जिज्ञासा :- प्रमाद व अधीरज कर्तव्य नहीं है। धीरजसे स्वकार्य करना है - ऐसा उपदेश है। तो मुमुक्षुकी भूमिकामें प्रमादका लक्षण व धीरजका स्वरूप क्या ?

समाधान :- स्वकार्यकी रुचिकी मंदताके कारण शिथिलता आती है। अतः मंदकषायकी प्रवृत्ति - शास्त्रोंका वांचन, पूजा-भक्तिमें समय व्यतीत होता है, वर्तमान स्थितिका सूक्ष्मरूपसे संतोष भी लेनेमें आता है, जिसके कारण विकल्पमें दुःख नहीं लगता। - यह जीवका प्रमाद है। कोई जीव भावुकतामें आकर बाहरसे त्यागादि करता है, जब कि कोई हठसे करता है। खुदकी दशा - शक्तिका नाप समझे बिना उतावलीसे (हड़बड़ीमें) प्राप्त करनेकी रीतको

ज्ञानीको रागरस रहित, उदासीनतापूर्वक संसार प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर सर्वसंग परित्यागकी भावना होनेसे, संसारी जीवोंके संगमें व्यवहार निभाते वक्त संगवासीओंको ज्ञानीका नीरस वर्तन नही सुहाता। प्रारब्धयोग व संपूर्ण वीतरागताका अभाव, अन्य जीवोंके प्रति अनुकम्पा, फिर भी अंतर्मुखताका पुरुषार्थ - सब साथमें होता है। प्रारब्धयोगसे साथमें रहनेवाले, ज्ञानीको खुदके समान जानकर इनसे अनेक अपेक्षाएं रखते है। जिसकी पूर्ति नही होनेसे क्लेश उत्पन्न होनेके अनेक प्रसंग बनते है, वैसे प्रसंगमें उदयसे भिन्न रहकर आत्मिक पुरुषार्थमें वृद्धि करना, यह ज्ञानीकी गुप्त आचरणा है। वह (ज्ञानीका) अंतर चारित्र्य वंदनीय है। अहो ! ज्ञानीका पारमार्थिक गांभीर्य !! अहो ! अहो ! (१८७२)

⁂

ज्ञान सर्व अन्य द्रव्य - भावसे सर्वथा भिन्न है, ऐसी जो भिन्नता है, वह स्वयंकी पूर्ण व बेहद शुद्धताको प्रसिद्ध करती है। - इस प्रकार प्रथम न्याय, आगम और युक्तिसे समझमें आता है, परन्तु वह समझ अनुभवको स्पर्श करती हुई परिपक्व होनी चाहिए। इसकी विधि पारमार्थिक है। वह इस प्रकार कि - ज्ञानकी उत्पत्ति, ज्ञेय निरपेक्ष, स्वयमेव हो रही है, उसे अंतरंगमें देखने पर अपनेमें देखे तो स्पष्ट अनुभवमें आयेगा कि किसीकी भी सहाय बिना ज्ञान (स्वतः) हो रहा है। ऐसा ज्ञानका स्वतंत्ररुपसे हमेशा होना - ऐसा जो अनुभव, वह स्वयंकी संपूर्ण भिन्नता व शुद्धताके अनंत सामर्थ्यकी प्रतीति उत्पन्न करता है। - इस प्रकार प्रतीति सहितका ज्ञान वही यथार्थ ज्ञान है, जो कि सुखका कारण है अथवा प्रयोजनका साधक है। (१८७३)

⁂

परिणामकी भूमिका जितनी कमजोर होती है, उतना कार्यका सधना असुगम - मुश्किलभरा होता है। उस दृष्टिकोणसे परिणामोंकी उत्तरोत्तर श्रेणीका विचार कर्त्तव्य है। जैसे कि जिस जीवको अधिक संसाररस हो अथवा विपरीत बलवान अभिनिवेश (अभिप्राय) हो, उसे ज्यादा क्षयोपशम होने पर भी तत्त्वज्ञान समझनेमें बहुत परिश्रम व समय लगता है। परन्तु किसी जीवको भले ही क्षयोपशम कम हो, परन्तु सरल मति हो तो तत्त्वको समझना सुगम पड़ता है। उसमें भी उल्लासित वीर्यवानको तत्त्व पाना सुगम है, जो हीनवीर्य जीव है उसे कार्य कठिन लगता है, अथवा आत्मरुचिसे सरल और अरुचिवालेको कठिन लगता है। उसी प्रकार जिसका पुरुषार्थधर्म उग्र होता है, वह मार्गको सुगमतासे सहज साधता है, (जब कि) मंद पुरुषार्थ हो तो आगे बढ़नेमें प्रस्वेद उत्पन्न होता है। - यह नियम प्रत्येक भूमिका (गुणस्थान) के साधकको लागू पड़ता है। (१८७४)

लगता। (१८७८)

※

टिप्पणी :

(निम्न वचनामृत, पीछेसे मिली पूज्य भाईश्रीकी पुरानी डायरीमेंसे प्रकाशित किये गये है। जिनमेंसे कुछएक वचनामृत शुरूआतमें आ चुके हैं।)

संवत - २०१२

'दूसरे जीवोंको दुःखी करनेका कारण आत्मा बने तो सहज इसकी चिंता करे।' - श्रीमद्जी (१८७९)

※

शास्त्र श्रवण और वीतराग वचनामृतका परिणमन आये तो भावश्रुत वरना द्रव्यश्रुत - जिसका कोई अर्थ नही (निरर्थक) है। मुमुक्षुजीवको खुदको योग्यता प्राप्त हो, वैसी विचारणा करनी चाहिए। जिसका मुख्य साधन आत्मलक्ष (स्वलक्ष) पूर्वक सत्संग (है)। (१८८०)

※

जीवने महापुरुषकी वाणी - सत्‌शास्त्रोंका पठन कईबार किया है। उन शास्त्रोंमें बतलाया हुआ मार्ग सत्य है, परन्तु उसकी समझ अभी तक असत् (मिथ्या) है और इसीलिए अभी तक परिभ्रमण अटका नही। गुरुगमसे अगर इसकी समझ आये तो निश्चितरुपसे भवभ्रमण अटक जाये, यह निःसंशय है। पहलेकी मिथ्या समझ (कल्पना) भूलकर, 'सत्' ऐसे गुरुसे यदि 'सत्'का श्रवण हुआ, तो ही भव-अंत है, वरना नहीं। (१८८१)

※

समाधिमरण समाधि जीवनके कारण ही होता है। जो समाधि जीवन जीता है वही समाधि मरण प्राप्त करता है, दूसरा नहीं। और जिसका समाधिमरण हुआ, उन्हें वापिस समाधि जीवन प्राप्त होता है, यह निःशंक है। वरना तो क्षण-क्षण (प्रतिक्षण) अत्यंत भयंकर भावमरण ही है। (१८८२)

※

पुण्य और पाप सम्बन्धित विचार : आत्मज्ञानके बिना पुण्य भी पापका हेतु बनता है। जैसे कि पुण्यभावके फलमें लौकिक सुख-साधनका योग होने पर, उसकी प्रीति होने पर पाप ही बँधता है। ज्ञानी कभी लौकिक सुखकी आशा नहीं करते। पूर्व पुण्यके योगमें उदयके प्रति उदासीन है, पूर्व पापके उदयमें खेद नहीं करते हुए, पुरुषार्थ बढ़ाते हैं। (१८८३)

※

असत्यका आग्रह करायें, वैसी है। (श्रीमद्‌जी) (१८९२)

ॐ

भेदज्ञानका प्रयोग : जीवको पूर्वकर्मके उदय अनुसार प्रतिक्षण शुभ या अशुभ प्रसंग होता है, उन शुभाशुभ कर्मोदयसे मै - आत्मा भिन्न हूँ। जड़ उदयकी क्रिया चैतन्यको स्पर्श नहीं करती, इस प्रकार समभावसे 'स्व-का वेदन करना' - प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक प्रसंगमें यह अभ्यास (इस अभ्यासमें अंतर्मुखताका प्रयत्न है) कर्त्तव्य है। जिससे 'ज्ञान'की घड़ाई होवे। यही एक सन्मार्ग है। जो 'सत्संग' से सुगम होता है। (१८९३)

(स्वमें) अनअवकाशरूपसे आत्मत्व जाने बिना, ऐसी स्थिति बिना, अन्य सर्व क्लेशरूप है। (श्रीमद्‌जी) (१८९४)

आत्मारूप आत्मा रहे वही लक्ष है। (श्रीमद्‌जी) (१८९५)

जागृति : ज्ञानी स्वरूपमें सतत जागृत हैं। आत्मार्थी जीवको भी प्रथम जागृति आती है, बादमें ज्ञानदशा आती है। 'में ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी भावरूप सावधानी - वह जागृति है, जिससे अन्यभाव सहज बंद होते है और गुण प्रगट होनेका अवकाश होता है। जीवको यदि उपरोक्त जागृति न रही तो, सन्मार्गके अनुकूल जो भी योग बना हो, वह वृथा है। सब प्रमादमय है। काल गवाँना हो जाता है। (१८९६)

जिस कुलमें जन्म हुआ है और जिसके सहवासमे जीव रहा है, वहाँ अज्ञानी ऐसा यह जीव ममत्व करता है और उसमे निमग्न (ओतप्रोत) रहा करता है। (जो कि परिभ्रमणका कारण है।) (श्रीमद्‌जी) (१८९७)

ज्ञानीकी प्रवृत्ति पूर्व उपार्जित कर्मके कारणसे है, जब कि दूसरोकी प्रवृत्तिमें भावि संसारका हेतु है। इसलिए (दूसरोंसे) ज्ञानीका प्रारब्ध अलग पड़ता है। (वर्तमानमें) ज्ञानीको प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध (उदय होने पर) भी ज्ञानदशा होती है। जो कि प्रायः जीवोंको अंदेशाका हेतु बनता है। तथापि योग्यतावश वह दशा किसीको स्पष्ट जाननेमे आये तो, वह प्रवृत्तिरूप उदय उसको अंदेशाका हेतु नहीं बनता (बल्कि उपकारमें निमित्त पड़ता है)। (श्रीमद्‌जी) (१८९८)

कमजोर करके, सुशील सहित सुश्रुतका अध्ययन करके निवृत्तिमें आत्मभावका पोषण किजीयेगा। (श्रीमद्जी) (१९०६)

※

आत्माके सहज सुखका अनुभव - स्वसंवेदन - आस्वाद ही जीवकी विषयसुखकी तृष्णाके रोगको शांत करता है। (१९०७)

※

चल पदार्थोंकी प्रतीति उपयोगको निरंतर चलरूप करती है परन्तु एकरूप रहने नहीं देती। अचल पदार्थकी सम्यक्प्रतीति उपयोगको अचल करके वास्तविक शांतताका अनुभव प्राप्त कराती है। प्रतीति अन्यथा होनेसे ज्ञान (दशा) भी निरंतर चित्र-विचित्र प्रकारसे भटकता रहता है, अर्थात् स्व-उपयोगको अशांति और दुःखका ही अनुभव कराती है। (जैसी) प्रतीति वैसा ज्ञान और जैसा ज्ञान वैसा चरण (प्रवृत्ति); इस प्रतीतिको सम्यक् होनेका उपाय भी ज्ञानकी सम्यक् आराधना है। अविनाशी परम निःश्रेयस पदके अभिलाषी जीवोंके लिए योग्य है कि :- वे सतत ज्ञान आराधनाका प्रीतिपूर्वक आराधन करें, क्योंकि ज्ञान ही जीवका वास्तविक मूल स्वभाव है। - 'आत्मानुशासन' (१९०८)

※

आत्माका वास्तव्य विश्वास और अनुभव, आत्माके परिचयी होने पर ही होता है। - 'आत्मानुशासन' (१९०९)

※

संवत - २०१३

सत्संग अफलवान होनेके कारणोंमें; मिथ्याआग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रिय विषयकी उपेक्षा नहीं की हो तो सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा और अपूर्वभक्तिका जितने अंशमें अभाव उतना सत्संगका अफलवानपना होता है। [भावार्थ आगे बोल नं - २०१५में] - श्रीमद्जी (१९१०)

※

मन शंकाशील हो, तब द्रव्यानुयोगका विचार करना।
मन प्रमादी हो, तब चरणानुयोगका विचार करना।
मन कषायी हो, तब धर्मकथानुयोगका विचार करना।
मन जड़ (जैसा) हो, तब करणानुयोगका विचार करना। (१९११)

※

जीवका सहज स्वरूप माने कर्म रहितपने मात्र एक आत्मत्वरूप जो स्वरूप है, वह ऐश्वर्यता है; जिसमें ज्ञानादि ऐश्वर्य है, यह ऐश्वर्यता आत्माका सहज स्वरूप है, जो स्वरूप 'कर्म प्रसंगमें' मालूम नहीं पड़ता, परन्तु उसे अन्य स्वरूप जानकर जब दृष्टि आत्माकी ओर होती है, तभी सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य आत्मामें मालूम पड़ते है। - तब आत्माकी वास्तविक महिमा - ध्येयरूप परमात्मस्वरूपकी दृष्टि - ज्ञान होता है और सहज स्वरूप ज्ञानानंद चैतन्यमूर्तिका बार-बार अवलंबन लेकर - स्थिर होकर शुद्धताको प्राप्त होता है। (१९१७)

※

अहो ! महान् संत मुनिश्वरोंने जंगलमें रहकर आत्मस्वभावके अमृत बहाये है। आचार्यदेव धर्मके स्तंभ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्मको टिकाये रखा है। गजबका कार्य किया है। साधकदशामें स्वरूपकी शांतिको वेदते-वेदते परिषहको जीतते हुए परम सत्यको जीवंत रखा है। आचार्यदेवके कथनमें केवलज्ञानकी भनक सुनाई पड़ती है। ऐसे महान शास्त्रोंकी रचना करके आचार्योंने अनेक जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो ! पद-पदमें कितना गंभीर रहस्य है ! यह तो सत्यकी प्रसिद्धि है, और इसके संस्कार कोई अपूर्व चीज़ है। और यह समझ तो मुक्तिसे विवाह होनेके शकुन है। जो समझेगा उसका मोक्ष (निश्चित) ही है। (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी) (१९१८)

※

आत्मपरिणामसे जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिन 'त्याग' कहते है। (श्रीमद्‌जी) (१९१९)

※

स्वभाव सन्मुखता, और उसकी दृढ़ इच्छा भी देहके छूटने सम्बन्धित हर्ष-विषाद (शोक) को मिटाती है। (श्रीमद्‌जी) (१९२०)

※

संवत - २०१५

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्षके विकल्प रहित मेरा सहज स्वरूप एकाकार है, इतना निःशंक होने पर - बादमें विकल्प हो तो भी, वह आगे जायेगा, विकल्पको तोड़ेगा और स्वभावमें जायेगा। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९२१)

※

उक्त (सर्व) ज्ञानमें साक्षात् मोक्षका मूल, निज परमात्म तत्त्वमें स्थित ऐसा एक सहज ज्ञान ही है। इसके उपरांत सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभावके कारण, भव्यका परम स्वभाव

ज्ञानमें परद्रव्यका प्रतिभासन होने पर भी, आत्माको स्वद्रव्यरूप अवलोकन करनेमें ज्ञानी निपुण (प्रविण) होते है, इसलिए ज्ञानी विशुद्ध ज्ञानपूर्वक पूर्ण होकर (जीवन) जीते हैं, अर्थात् ज्ञान (स्वयं) नाशका अनुभव नही करके पूर्णता होनेके लिए बढ़ता जाता है। (समयसार-कलश -२५२ परसे) (१९३१)

※

ज्ञानस्वभावके बारंबार अभ्यास द्वारा विकारीभावका एकत्व छूट सकता है। ज्ञानीको तो विकार - पररूवरूप - ज्ञानमें भासित होता है, यानी कि विकारका ज्ञान भूतार्थ स्वभाव आश्रित होनेसे, ज्ञान स्वयं विकाररूप नहीं होता। ज्ञानका स्वभाव सहजरूपसे परसे उदासीन रहनेका है। (१९३२)

※

स्वरूपकी तीव्र सावधानी आये बिना परसे भिन्न पड़ना संभवित नहीं है। - अतः आत्मार्थीको इस प्रकारका सर्व उद्यम 'खास' कर्त्तव्य है। (१९३३)

※

जिज्ञासु जीवको सत्यके स्वीकार हेतु, अंतर विचारके स्थानमें सत्यको समझनेका अवकाश अवश्य रखना चाहिए। (पूज्य गुरुदेवश्री) (१९३४)

※

संवत -२०१६

जैसा स्वरूप ज्ञानमें भासित हुआ 'वैसा ही मै हूँ' - ऐसा स्वरूपका अंतरंग - अंतर्मुखी - निर्णय होनेके पश्चात्, महिमाकी वजहसे उस तरफी झुकाव परिणतिमें चालू रहे - घुटता रहे - ऐसी जो स्वरूपकी लय लगी है उसमे सम्यक् सन्मुखता है। तथाप्रकारका अंतर अभ्यास चालू रहनेसे, उसमें लयलीन रहनेसे, वह निर्विकल्प होनेका कारण बनता है। इस निर्णयमें स्वरूपका मूल्यांकन अर्थात् महिमा ऐसी है कि 'जगत इष्ट नहीं आत्मसे' - ऐसा आत्माका इष्टपना भासित हुआ है कि जिसके आगे सर्व जगत (जगतके किसी भी विषयके प्रतिका झुकाव) अनिष्ट है, (और) दुःखमय लगता है। सर्व उद्यमसे खुदके लिए इष्ट हो, इसकी सहज सावधानी - वह सत्य पुरुषार्थ है। (१९३५)

※

साधकको परद्रव्य सम्बन्धित प्रवृत्ति और विकल्प होने पर भी उसमें अत्यंत नीरसता होती है, उसका कारण बाह्य संयोगोंसे भिन्नता वेदनमें है, और स्वरूपके ध्येयमें परिणति स्वरूपरसपूर्वक - अभेदभावपूर्वक लगी हुई है। (१९३६)

अंतर स्वरूप अनादिसे गुप्त है। अंतरशोधन द्वारा उसे श्रद्धान - ज्ञानमें लिया जाता है। स्वरूपकी ही जिसे तीव्र जिज्ञासा है, जो सर्व प्रयत्नसे उसे ही खोजता है, उसे वह जरूर मिलता है। सत्पुरुषोंके वचनोंका अंतर-मिलान करके सत्यका - स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वह भी अपूर्व है। (१९४३)

※

स्वभावके प्रति जोर रहित जानकारी - यथार्थ जानकारी नहीं होनेसे - उसके फलमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न नहीं होती। (१९४४)

※

स्व-तत्त्वका निर्णय, ज्ञान स्वसन्मुख हुए बिना वास्तविकरूपसे नहीं हो सकता। (१९४५)

※

स्वानुभवके प्रयत्नवानको, विकल्पके अस्तित्वका लक्ष्य छोड़कर, स्वभावकी ओर लक्ष्यमे उग्रतामें आना उचित है। (१९४६)

※

अंतर अभ्यास : आत्मा स्वयं खुदको पहचानकर अंतर्मुख (झुकावमें आये), एकाग्र होनेका प्रयत्न हो, वह अंतरका अभ्यास है। (१९४७)

※

अहो ! वीतराग परमदेव ! आप हमारे हृदयमें बिराजमान हैं। (१९४८)

※

आत्मभावना : यह आत्मा प्रगट परमशुद्ध निरावरण चैतन्य सामान्य ज्ञानका निबिड़ पिंड, सदा विज्ञानघन स्वभावी है। सर्वसे सर्व प्रकारसे, सदा असंग, निरपेक्ष, निरालंब स्वभावी, परमात्मपद, परम उपादेय स्वरूप है। निरंतर परमात्म भावना कर्त्तव्य है, अर्थात् आत्मत्वका दृढ़ भावसे एकाग्र चित्तसे घोलन होने योग्य है। यह जिनेश्वरका बोध है।

'आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।' (१९४९)

※

अरे ! आत्मा ! अंतरमें नज़र करके देख तो सही ! कि तू कौन है ? तू सर्वसे भिन्न एक आत्मा हो ! सिवा कुछ नहीं। तो फिर विचार कर कि, यह क्या खेल-तमाशा लगा रखा है ? और किस लिये लगा रखा है ? कब तक ऐसा करते रहना है ? क्या अभी भी तुझे इन व्यर्थ मिथ्याभावोंसे थकान नहीं लगी ? इस अग्निज्वाला (विकल्पोंकी परंपरा) में शांतिका अनुभव हो रहा है ? जलनमेंसे शांति या शीतलता प्राप्त हो सकती

स्त्रीका समागम वह अनुकूल जोग है, कि जो आत्मदृष्टिको महा प्रतिकूल है, विशेष (स्त्री) संगके योगसे असंग ऐसा आत्म-स्वरूप भास्यमान नही होता, इसलिए ज्ञान निवृत्तिको चाहता है। (श्रीमद्जी) (१९५७)

※

जो अनित्य है, असार है और अशरणरूप है, वह इस जीवको प्रीतिका कारण क्यों होता है ? यह बात रात्रि-दिन विचार करने योग्य है। (श्रीमद्जी) (१९५८)

※

जीव सर्वत्र अकेला ही है, अकेला जन्म लेता है, अकेला ही निज परिणाममें सुख-दुःख भोगता है, अकेला ही मरता है, स्वभावको प्राप्त करके सिद्धिमें भी अकेला ही जाता है। (१९५९)

※

अंतर्मुख-केवल अंतर्मुख उपयोग कर्त्तव्य है, कि जहाँ चैतन्यरत्न चमकता है। अहो ! जगतको जिसने स्व-से (अपनेसे) खाली देखा, ऐसे जगतमें खुद क्यों स्थिति करेगा ? आत्मामे ही थम जायेगा। (१९६०)

※

दुर्लभ योग जीवको प्राप्त हुआ है, तो फिर थोड़ासा प्रमाद छोड़ देनेमें जीवको घबरानेकी जरूरत नहीं है, निराश होने जैसा नहीं है। - श्रीमद्जी (१९६१)

※

मै सर्वसे सर्व प्रकारसे भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप, परम उत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र, एकांत शुद्ध अनुभवरूप मै हूँ। शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध, परम शांत चैतन्य, मै मात्र निर्विकल्प हूँ। (श्रीमद्जी) (१९६२)

※

ज्ञानलक्षणसे, लक्षित हुआ पूर्ण भगवान निजपद, उसीकी मुख्यता रहे, वह अन्य सर्वसे उपेक्षिभूत होनेका मूल साधन - उपाय है।

आत्मस्वरूपसे विपरीत - शुभाशुभ भावोंमें अटकना वह प्रमाद है।

ज्ञानस्वरूपमें अत्यंत रुचिभावपूर्वक अटकना (स्थिर होना) वह अप्रमाद, वही पुरुषार्थ है। (१९६३)

※

आत्मस्वरूप महामहिमावान, अचिंत्य दिव्य रत्न है, उसकी सँभाल नहीं लेना, और

विकल्पका भी कर्तृत्व नहीं रहता - विरामको प्राप्त होता है, तो ऐसेमें परमें - संयोगमें तो कर्तृत्व होवे ही कैसे ? (१९७०)

※

भाई रे ! देख तो सही तेरा अखण्ड शुद्ध स्वरूप कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं ! पूर्णानंदसे भरे चैतन्यको निहार तो सही ! उसमें तू विकार कर सके, ऐसा अवकाश ही कहाँ है ? कि तू विकार कर सके । अहो ! निर्विकार चैतन्यके अलावा कुछ अपना दिखता ही नहीं है। (१९७१)

※

आध्यात्मिक विषयमें रस पड़नेके बाद भी जो इससे बाह्य प्रतिष्ठा चाहता है - ऐसी रुचि जिसको हुई है, उसे आत्माकी रुचि नहीं है (सही - यथार्थ अध्यात्मरस भी नहीं है); परन्तु संयोगकी ही रुचि है, पैसेके लालचीकी तरह। (१९७२)

※

एक स्वरूप-रसमें सर्व प्रकारके विभावरस फीके ही पड़ जाते है। ऐसी परम निजरसकी सर्वोपरिता है। (१९७३)

※

अहो ! जिस आत्मस्वरूपके भासन मात्रसे, विकारका विलय (वाष्पीकरणकी माफिक) होने लगता है - विभावकी जड़ कटने लगती है, तो साक्षात् प्रत्यक्ष अभेद अनुभवके प्रकाशमें तो मुक्ति अनन्य भावसे ही हो !! उसमें कौनसा आश्चर्य है ? (१९७४)

※

अहो ! मै तो चैतन्यमूर्ति हूँ। उसे भूलकर कैसे सो सकता हूँ ? (आराम ले सकता हूँ क्या ?) आरामधामको छोड़कर आराम मिल सकता है क्या ? उसे भूलकर कैसे खाना खा सकता हूँ ? (तृप्ति-शांति कैसे होगी ?) उसमें तो सिर्फ आकुलता ही वेदनमें आयेगी। उसे भूलकर अन्य मित्रसे-संगसे हूँफका (राहतका) अनुभव कैसे हो सकता है ? (आकुलतामय रसकी भ्रांतिमें हूँफ (राहत) मानी है।) (१९७५)

※

सम्यक्ज्ञानमें दूसरे जीव-मात्र चैतन्यमूर्ति-(द्रव्यदृष्टि होनेसे) मालूम पड़नेसे पुद्गल इतने गौण हो जाते है कि मानो जैसे दिखते ही नहीं ! जिससे संयोगकी मीठास उत्पन्न नहीं होती। (१९७६)

※

'मैं परम निर्दोषतामय द्रव्य - स्वभावसे हूँ' - ऐसे अंतर अवलोकनमें 'विकारांशरूप दोष एक अंश मात्र भी मेरेमें उत्पन्न होनेका अवकाश ही नहीं दिखता' - तब वह विकारांश पर्यायमें होते हुए भी अंतर्मुखताके ध्येयमें - अस्तित्वमें - विकारके कर्तृत्वका या उसे मिटानेका अभिप्राय नहीं रहता। नष्ट होता हुआ विकार ज्ञानमें परज्ञेयरूप प्रतिभासित होता है। (१९८४)

✻

जगतके जीवोंको अज्ञानभावसे पर जीव, पुद्गलोंकी चित्र-विचित्र अवस्थाएं मालूम होने पर - राग-द्वेषके कारणरूप मालूम पड़ते है, जब कि सम्यक्ज्ञानमें, अंतर्मुखका ध्येय रहता होनेसे, उन-उन परद्रव्यकी पर्यायें सिर्फ ज्ञेयरूप प्रतिभासित होती है; ज्ञान तटस्थ भावरूप है। इसके अलावा ध्येयकी मुख्यतामें वे सभी ज्ञेय अत्यंत गौणरूप मालूम पड़ते है। ऐसी जो वीतरागी ज्ञानकला - ऐसी अबंधभावपूर्वक ज्ञानकी चाल (गति) होनी, ऐसा ही जिसका मूल स्वभाव है, वह अनन्तगुण मूर्ति पूर्ण पवित्रधाम निज सिद्धपदको अभेदभावसे नमस्कार !! (१९८५)

✻

साधकजीवको पर्यायकी अत्यंत गौणता होनेसे, पर्यायमें होनेवाले विकारांशको टालनेकी आकुलता मुख्यरूपसे नहीं होती। क्योंकि स्वरूपकी अत्यंत उपादेयता रहती है, उसमें जो अंतर्मुखताका वेग है उसके कारण विकार अपने आप टलता हुआ मालूम पड़ता है। - इस प्रकार कार्यसिद्धि है। (१९८६)

✻

अंतर्मुख होकर, स्वपदका परमेश्वररूप अवलोकन करनेसे, वर्तमानमें ही खुद परमेश्वररूप है !! अहो ! अवलोकन मात्रसे परमेश्वर हो जाये ! ऐसी अवलोकना न करे तो, खुदका निधान खुद लूटाकर दरिद्री होकर भटकता है ! और भव विपत्तिको खुद ही मोड़ लेता है। 'अनुभवप्रकाश' (१९८७)

✻

संवत : २०२२

परपदार्थके प्रति सावधानी भाव बहिर्मुखताका लक्षण है। आत्मस्वरूपकी सावधानीरूप भाव अंतर्मुखताका लक्षण है। परकी सावधानीरूप भाव, स्वमे एकत्व नहीं होने देता। स्वकी सावधानी परमें एकत्व होने नहीं देती। 'सत्' का श्रवण होने पर भी, परकी सावधानीमें फर्क नहीं पड़े तो श्रवण हुआ ही नहीं है। और वैसा भावश्रवण हुए बिना आत्मभावका घोलन स्वरूप-लक्ष्यवाला नहीं होता, जिसके कारण जीवको आत्मप्राप्तिकी इच्छा होते हुए भी बेकार जाती है अर्थात् निरर्थक जाती है। मुमुक्षुजीवको यह बारंबार विचार करने योग्य है, जिससे आत्मार्थीता

* लक्षण लक्षसे अभेद है। लक्ष = स्वभाव

लक्षकी मुख्यतामें पूरी वस्तु टिकती हुई परिणमन करती मालूम पड़ती है। आत्मसन्मुखतामें आत्मस्वरूप प्रगटरूपसे दिखता है - मालूम पड़ता है। 'यह मै प्रत्यक्ष ऐसा (सिद्ध समान) हूँ' - ऐसा ज्ञानमें प्रगटरूपसे मालूम पड़ना - वह आत्मवीर्यकी स्फुरणाका अनन्य कारण है। ज्यों-ज्यों ज्ञान सुस्पष्टरूपसे स्वरूपका ग्रहण (भावभासन) करता है, त्यों-त्यों आत्माके गुण खिलते जाते है और आत्म-आश्रयका बल बढ़ता जाता है। जितना बल अधिक इतनी निर्दोषता (शुद्धि) अधिक - यह नियम है। अहो (!) स्वरूप अद्भुत, अनुपम व अवर्णनीय है। (१९९१)

⁂

केवलज्ञानमें विस्मयका अभाव है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान एक समयमें सर्वको तीनकाल सहित जानते है, इसलिए यह स्थिति (पर्याय) ऐसी क्यों ? ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होता - उस प्रकार सम्यक्दृष्टि, कि जिन्होंने केवलज्ञान - स्वभावको श्रद्धा-ज्ञानमे वर्तमानमें अवधारण किया है, उनके श्रुतज्ञानमें तीनकाल-तीनलोकको व्यवस्थितरूपसे - परोक्षतासे जाननेकी शक्ति होनेसे उनके अभिप्रायमें विस्मय या ऐसा क्यों ? ऐसा भाव नहीं होता - अतः ज्ञानीको सहज स्थिरता - अचंचलता रहती है। (१९९२)

⁂

जिन्होंने आत्माको जाना है, उन्हें दूसरे 'आत्मा' के प्रति वेरबुद्धि नहीं होती - यह नियमबद्ध है, सम्यक्ज्ञानमें दूसरा अज्ञानी जीव (उपसर्गकर्ता) सामान्य स्वरूपकी मुख्यतापूर्वक मालूम पड़ता होनेसे, उसकी दोषित पर्याय भी गौण हो जाती है। (१९९३)

⁂

जो लोग संयोगी प्रतिकूलतासे डरते है, भयभीत है, वे संयोगकी अनुकूलताके इच्छुक हैं। जैसे कि मानहानिका जिसे भय है, वह जरूर बाह्य प्रतिष्ठाका कामी है, वैसे ही सर्व प्रकारसे बाह्य संयोगोंमें मान्यता होनेसे, जीव संयोगोंमें फेरफार करनेकी वृत्तिमे सदा प्रवृत्त रहता है, परन्तु उस बाह्य सुख-दुःखका कारण पूर्वके शुभाशुभ परिणाम हैं; जो परमार्थसे दुःखरूप है। जिसके नाशका उपाय विचारवान जीव करता है, जो वास्तविक दीर्घ दृष्टि है अथवा सही दृष्टि है। संयोगकी दृष्टिवाला जीव बाह्यवृत्तिको नहीं छोड़ सकता। (१९९४)

⁂

वर्तमान पर्यायमें विकारांश होने पर भी, वर्तमानमें ही मूल स्वरूपको अर्थात् निश्चयस्वरूपको लक्ष्यमें लेना वह सम्यक् है। सम्यक्दृष्टिके बल बिना ऐसा नहीं हो सकता। 'वर्तमानमें ही परिपूर्ण हूँ।'

बोधकला : निज शुद्ध जीवास्तिकायमें अहंबुद्धि होनी, ऐसा निरंतर अभ्यास रहना -(कि) जिसके बलसे निजस्वरूपका उपयोग हो। (२०००)

※

संवत : २०२३

'ज्ञानीको ज्ञानी ही पहचानते हैं', इसके अलावा 'मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।' इस तरह दो प्रकारसे सत्पुरुषकी प्रसिद्धि होती है। दर्दी और वैद्यके दृष्टांत अनुसार : जिस प्रकार रोगके निदानसे दर्दी वैद्यके ज्ञानकी सत्यताको पहचानता है, वैसे मुमुक्षु, ज्ञानीगुरुको भवरोगके निदानसे, उनका तत्सम्बन्धित ज्ञान सत्य है, ऐसा पहचान सकता है। जैसे वैद्य होकर खुद दूसरे वैद्यके तद्‌विषयक ज्ञानके आधारसे मिलान करके पहचान लेता है, वैसे ज्ञानी स्वसंवेदनके बलसे, अनुभववाणीको पहचान लेते है। (२००१)

※

आत्मभावना - 'सर्वोत्कृष्ट, परम शांतरसमय, समरस स्वभावी, अनन्त सुखधाम, केवल अंतर्मुख, स्वयं अभेद अनुभवरूप हूँ।' (इसलिए सर्व परमें उपेक्षा सहज है।) (२००२)

※

संवत - २०२४

सर्व परपदार्थमेंसे आकर्षण छूट जाये और स्वरूपमें ही खिंचाव हो, वैसा ही अनन्त महिमावंत आत्मस्वरूप है। अरे ! पूर्ण केवल ज्ञानादि पर्यायकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है, वैसा परम निरपेक्ष आत्मस्वरूप है। ऐसे स्वरूपकी दृष्टिके अभावमें ही अन्य द्रव्य-भावमें मुख्यता होती है। स्वरूप दृष्टिमें तो 'स्वरूप' के अलावा 'अन्य कुछ है ही नहीं।' (२००३)

※

संवत - २०२६

आत्मस्वरूप प्रगट - प्रत्यक्ष है, ऐसा जाननेवाले पर्यायभावमें परोक्षताका सहज अभाव होता है / हो जाता है, अर्थात् जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता पर्यायमें प्रवर्तमान है, वही आत्मभावका प्रगटपना है। आत्मरस - निजरससे वह उत्पन्न होता है।

अहो ! अनन्त शांत सुधासागरका परम आदरभाव यही महाविवेक है। उसमें उल्लासित वीर्यसे दर्शन है। (२००४)

※

संवत - २०२७

कारणशुद्धपर्यायका स्वरूप : पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचनमेंसे,

पनेका अभ्यासरूप भ्रम है; इसलिए 'स्व-लक्ष्यसे' उठा हुआ जीव ही 'यथार्थता' में आता है, जो सत्यके अंगभूत है। (२००९)

※

संवत - २०२९

लौकिक समाजकी नही, अपितु धार्मिक समाजकी, प्रतिष्ठा मिले तो अच्छा - 'ऐसा आत्मा नहीं है', अरे ! जिनकी दृष्टि अपनी विकसित होती हुई अवस्था पर भी नहीं है (ठीकपना नहीं है,) उन्हें दूसरोंकी अपेक्षा कैसे हो सकती है !! (२०१०)

※

भव उदासीपना यह ज्ञानीका एक लक्षण है। पूरा भव, यह औदयिक भावोंका समूह है, अतः वर्तमान भवके तमाम प्रसंगोंके प्रति स्वयं उदास है - निरपेक्ष है। इसलिए वर्तमान उदयमें भी सहज उपेक्षा है। हर्ष-शोकमें तन्मय नहीं हैं। मनुष्यगति और मनुष्यगतिके लायक सर्व द्रव्य-भाव, यह सब (मेरा स्वरूप नहीं है) परवस्तुरूप है, इसलिए हेय है। इस तरह परकी - उदयकी उपाधि रहित होनेसे (वे) सुखी हैं। अपना सुख अपनेमें अनुभवरूप होनेसे बाहरकी खिँचावरूप आकुलता नहीं होती। (२०११)

※

खुदके स्वरूप अवलोकनमें अखण्ड रसधारा बरसती है, वह शांत चैतन्य रसधारा अथवा अमृतरसधारा है। एकदेश अवलोकन ऐसा है। - इसके आंशिक आनंदके आगे इन्द्रादि संपदा विकाररूप भासित होती है। - अनुभवप्रकाश (२०१२)

※

ज्ञानस्वभाव निश्चित हुए बिना (पहचान हुए बिना) विभावका स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता, और इसीलिए मिथ्यादृष्टि जीव किसी न किसी विभाव (कषायकी मंदता अथवा परलक्षीज्ञानका क्षयोपशम) में स्वभावके भ्रमका सेवन करते रहते है। (२०१३)

※

परिणमनमें सहज स्वरूपकी सहज अंतर सावधानी न रही, तो सन्मार्गके अनुकूल जीवका ढलन है ही नहीं। और अन्य भावमें परकी सावधानी होनेसे, वही प्रमादका असल स्वरूप है। (२०१४)

※

सत्संग अफल होनेके कारण :-

(१) मिथ्या आग्रह :- 'मै ज्ञान स्वरूप हूँ' ऐसी अंतर सावधानीके अभावमें, विपरीत भाव

संवत - २०३१

इसकालमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हेतु सत्पुरुषों द्वारा (जैसे मानो) अभूतपूर्व स्पष्टता हुई है, परन्तु जीवकी योग्यताकी कमी है। यथायोग्य स्वलक्ष्य हो तो, क्षणमात्रमें हित हो जाये ऐसा है। (२०१८)

※

पूर्ण निर्दोषताका अभिलाषी - सच्चा इच्छुक ही आत्मार्थी है। ऐसे आत्मार्थीका प्रयोजन सिर्फ निर्दोषताका ही होनेसे, कहीं पर भी अयथार्थता नहीं होती। सर्व न्याय आदि प्रयोजनके लक्ष्यसे ही समझनेकी पद्धति होनेसे वह (अंततः) सम्यक्ज्ञानमें परिणमित होता है। (२०१९)

※

संवत - २०३८

अंतर अभ्यास : प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा प्रत्यक्षताका प्रतीतिके बलसे बार-बार उग्र होना, जोर आना, वह स्वसंवेदनका अंतर अभ्यास है; जो सहजरूपसे होने योग्य है। (२०२०)

※

द्रव्यदृष्टिपूर्वक दूसरे जीव सिद्ध - स्वरूप मालूम पड़ते होनेसे ज्ञानीको, शिरश्छेद करनेवाले (तीव्र विरोधी) के प्रति भी व्यक्तिगत् द्वेष नहीं आता; सिर्फ असत् ऐसी दोषित वृत्तिका निषेध आता है, परन्तु (वह भी) द्रव्यकी मुख्यता सहित। (२०२१)

※

देवलाली, चैत्र-वदि-११

स्वयं जिस स्वभाव स्वरूप है, उस स्वरूपका भान होना - रहना, वह प्रगट सम्यक्दशा है; जो कि अपूर्व स्वचैतन्यरसके निर्विकल्प वेदनस्वरूप है; और शुद्धोपयोगपूर्वक उत्पन्न होता है। (२०२२)

※

संवत-२०३९ मार्गशीर्ष-वदि-८

स्वयंके अस्तित्वका वेदन ज्ञानमयरूप सहज रहना, वह सहज भेदज्ञान है अथवा निजज्ञान है। (२०२३)

※

संवत-२०४० वैशाख-सुदी-१०

'पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत' - यह सूत्र ध्येय अर्थात् साध्यके दृढ़ निश्चयका / एकमात्र साध्यका निर्देश करता है। अतः किसी भी शुरुआत करनेवाले जीवको - इस प्रकारके साध्यके

ज्ञानपर्यायमें ज्ञानका ही वेदन चलता रहता है, परन्तु परप्रवेशका अभावभाव अर्थात् परप्रवेशरूप अनुभव (अध्यास) भावका अभाव हो तब स्वसंवेदन - ज्ञानका ज्ञानको वेदन - उसरूप निजज्ञान होवे अथवा उपयोगमें ज्ञानरूप वस्तुको अनन्त महिमा सहित जाने।

※

(२०२९)

सदा उपयोगधारी, आनंदस्वरूप खुद स्वयमेव यत्न बिना ही है, हूँ और है; खुदका काम खुदको निहारना, इतना ही है। इतना ही कर्त्तव्य है। जो है, उसे निहारना है - कुछ बनाना या (नया) करना नहीं है।

※

(२०३०)

'मेरे दर्शन ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठ रहा है।' - 'अनुभव प्रकाश' ऐसा अवलोकनसे जाने। परन्तु उपरोक्त वचनको सिर्फ विकल्प - विचारकी मर्यादामें न रखें। ऐसे अवलोकनके प्रयोगसे स्वभावकी सत्ता जाननेमें आती है। बारंबार स्व-पदके अवलोकनका भाव (परसे विमुख होकर) कर्त्तव्य है।

※

(२०३१)

जैसे ज़हर खानेसे मृत्यु होती ही है, वैसे रुचिपूर्वक परके सेवनसे संसार दुःख होता है, होता है और होता ही है।

※

(२०३२)

भादों-वदि-१

स्वानुभवमें सर्व (पूर्ण) ज्ञानके प्रतीति भावका वेदन होने पर ज्ञान शुद्ध - निर्मल होता है - इस प्रकार ज्ञानकी निर्मलताको उपरोक्त प्रतीतिभाव कारण है। यहाँ पर ज्ञानने सर्वज्ञशक्तिका स्व-रूपमें अनुभव किया, इसलिए वह सर्वज्ञशक्तिको प्रगट करेगा।

※

(२०३३)

संवत:२०४१, पौष-सुदि-१०

स्वयंके परमेश्वरपदका समीपतासे अवलोकन करने योग्य है। समीपतासे अर्थात् स्वरूपमें जो सहज प्रत्यक्षता है, उसकी मुख्यता होने पर परोक्षताका विलय सधता है; और आत्मवीर्यकी स्फुरणा सतेज होती है। इसीलिए कहा है कि :

'अपने परमेश्वरपदका दूर अवलोकन न कर; अपनेको ही प्रभु स्थाप।' (अनुभव प्रकाश - पत्रा -२६)

अर्थात् स्वरूपमें रही हुई गुप्त चैतन्य शक्तिको व्यक्तरूपसे भानेसे वह व्यक्त होती है।

पौष-वदि-४

स्वरूपनिवास परिणाम (उपयोग) करता है। परिणाम वस्तुका वेदन करके स्वरूपलाभ लेते हैं अर्थात् स्वरूप अस्तित्वको - निज ज्ञायकताको ग्रहण करता है। अतः निज ज्ञायकताका उपयोग द्वारा ग्रहण करके उसमें आचरण - विश्राम कर्त्तव्य है। परिणाम शुद्ध करनेके पीछे इतना ही कार्य है।

'उवओगमओ जीवो' इति वचनात्। (२०३९)

※

पौष-वदि-५

ज्ञान सभी गुणोंमें मुख्य गुण है। ज्ञान बिना वस्तुस्वरूपका निश्चय नहीं होता; इसलिए ज्ञान प्रधान है। वस्तुके प्रसिद्ध लक्षणके कारण भी ज्ञान प्राधान्य धारण करता है। इतना ही नहीं ये ज्ञान स्वसंवेदनमें रहकर जानता है। उसमें स्व-पर परस्पर अपेक्षित है अर्थात् विवक्षासे वस्तुसिद्धि है और ज्ञानसे स्वरूपानुभव है। (२०४०)

※

पौष-वदि-११

प्रयोगाभ्यासमें निज अस्तित्वको ज्ञान द्वारा ग्रहण करनेका है, तब वहाँ 'ज्ञानमात्र' मैं ऐसा विकल्प नहीं, परन्तु ज्ञानकी प्रत्यक्षता - वेदकतासे सत्ताके अनुभव - अवलोकनसे सिद्ध होता है। तब कुछ भी 'करना' - यह विकल्प बाधक होता है। अवलोकन है वह प्रयास-प्रयोगरूप भाव है; जो कि विकल्पसे निरपेक्ष है। (२०४१)

※

पौष-वदि-१२

जो जीव धर्मध्यान - निर्विकल्प समाधि चाहता है, उसे प्रथम इष्ट-अनिष्टपना मिटाना आवश्यक है, जो कि स्व-पर पदार्थको मात्र ज्ञान-ज्ञेयके स्थानमें रखनेसे सहज प्राप्त होता है। इष्ट-अनिष्टपना नहीं होनेसे राग-द्वेष मिटते है, राग-द्वेष मिटनेसे - अन्य विकल्प (जाल) मिटते है; विकल्प - जालरूप चिंता मिटनेसे प्रथम धर्मध्यान होता है। जिसमें निजानंद उत्पन्न होता है। वीतरागी ज्ञानभाव होता है तब स्वरूपमें समाधि उत्पन्न होती है। - स्वरूपमें मन लीन होता है तब इन्द्रादि संपदा रोगवत् भासित होती है; क्योंकि उदयमान संयोगोके अवलंबन से रस बढनेसे प्रत्यक्ष नुकसान है। दुःखका अनुभव होता है। (२०४२)

※

(५) ध्येयके पीछे पूरी लगनसे लगनेवाला। (C)

(६) ध्येयके लिए पूरी उत्कंठासे आगे बढ़नेवाला। (C)

(७) उपरोक्त कारणसे निज प्रयोजनमें सहज तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टिपूर्वक प्रवर्तन करनेवाला। (G)

(८) उच्चकोटिके स्वभाव सम्बन्धित शुभ विकल्प होने पर भी, अनुभूतिका अभाव होनेसे अंदरमें खटक रहा करे। (C)

(९) (लेश्या) परिणतिमें रागरससे रंजितपना कम होनेसे, मुमुक्षुके योग्य ज्ञानकी भूमिकामे, सत्पुरुषोंके वचन - शास्त्रादिकी समझमें यथार्थता, रुचि - आदि (B,C,G)

(१०) स्वकार्यकी लगन (C)

(११) उदय - संसारके कार्य बोझरूप लगे, प्रवृत्तिमें थकान - त्रास लगे, अरुचिके कारण उदयजनित परिणामबल कम होने लगे। (B,C)

(१२) प्रयोजनभूत विषयमें रस बढ़े। (C)

(१३) तत्त्वज्ञानके अभ्यासकी प्रवृत्ति, अंतर संशोधनपूर्वक होवे। (G)

(१४) एक आत्माके अलावा, जगतमें दूसरी कोई अपेक्षा नही हो, वैसी दृढ़ वृत्तिवाला। (C)

(१५) यथार्थ समझको शीघ्र प्रयोगात्मक अभ्यासमें उतारनेवाला। (C)

फागुन सुदी-९

(१६) उदय सम्बन्धित प्रवृत्तिमें समय देना पड़े, उस व्यर्थ समयको गँवाना नहीं पोसाता - परिणतिमें ऐसा झुकाव हो जाये। (G,C)

(१७) पूर्णताका लक्ष होनेसे चलते हुए परिणमनमें - विकासमें संतुष्ट नहीं हो जाता। (C)

(१८) गुणकी महिमा - मुख्यताके दृष्टिकोणवाला। (G,C)

(१९) सत्की गहरी जिज्ञासा वश उदयप्रसंगमें नीरसता हो जाये। (G,C)

(२०) गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषयको सूक्ष्म उपयोगसे पकड़नेवाला। (B,G)

(२१) आत्मिकरुचिको पुष्टि मिले उस प्रकारसे गहरा मंथन करके मूल वस्तुस्वरूपको समझनेवाला। (B,G)

(२२) पारमार्थिक रहस्यसे भरपूर सत्पुरुषोके वचनोंका गहन चिंतन करके मूलमार्गको - अंतर्मुख होनेकी रीतको खोजनेवाला। (G)

(२३) समग्रप्रकारसे गहराईसे-जोर व उल्लासपूर्वक प्रयत्न करनेवाला-पुरुषार्थवंत। (C)

पड़ती हो। (B,G)

* साथ ही साथ निम्न प्रतिबंधोंका अभाव होता है। नास्ति -

(४३) (A) जगतके किसी भी पदार्थमें सूक्ष्मरूपसे सुखकी कल्पना रह जाना। (C)

(B) शाताके परिणमनमें अथवा शुभ परिणाममें आश्रयबुद्धि रहना। (C)

(C) इन्द्रिय विषयोंकी उपेक्षा नहीं होना - अपेक्षाका परिणतिमें रहा करना। (C)

फागुन सुदी-११

(४४) स्वच्छंद : (A) मैं समझता हूँ - ऐसे परलक्ष्यी शास्त्रज्ञानमें अहंभाव। (G)

(B) स्व-परके दोषका पक्षपात होना। (C)

(C) ज्ञानीके वचनमें शंका। (B)

(D) ज्ञानीके वचनमेंसे भूल ढूँढनेकी वृत्ति। (C)

(E) मानवृद्धि - स्थान बनाये रखनेके (सामाजिक) लिए अनैतिक साधनका ग्रहण। (C)

(F) सत्पुरुषके उपकारके प्रति कृतघ्नी। (C)

(G) ज्ञानीके वचनके प्रति अचल प्रेमका अभाव। (C)

(H) सत्पुरुषके प्रति परम विनयका अभाव। (C)

(I) सत्पुरुषके प्रति अपने समान कल्पना रहा करे। (C,B)

(J) शास्त्रज्ञानका क्षयोपशम होने पर भी अंतरमें मार्गकी सूझ नहीं पड़े। (C)

(K) सत्पुरुषके आचरणमें चारित्रमोहके दोषको मुख्य करना। (G,C)

(४५) हठाग्रह, असरलता, जिद्द इत्यादि प्रकारके परिणामोंकी तीव्रता। (C)

(४६) (A) लोकभय - समाजभय - अपकीर्तिभयके कारण सत्पुरुषसे विमुख होना। (C)

(B) ज्ञानीके वचनका कल्पित अर्थघटन करना (स्वच्छंद)। (G)

(C) क्षयोपशमकी विशेषता दिखाकर मान प्राप्तिकी इच्छा रहा करे। (G)

(D) परम्परा व क्रियाकांडका आग्रह रहा करे। (C)

(४७) प्रमाद = स्वकार्यमें उल्लासित वीर्यका अभाव। (C)

(४८) अपरिपक्व विचारदशा, अधूरा निश्चय, इससे विकल्पवृद्धि, शंका, विभ्रम आदि दोषोंका सद्भाव। (G)

(४९) अभिनिवेश : (१) लौकिक (२) शास्त्रीय (C)

(१) लोकमें जिस-जिस वस्तु और बातोंका महत्त्व गिना जाता है, उसकी माहात्म्यबुद्धि। (G,C)

(२) (A) आत्मार्थके अलावा शास्त्रकी मान्यता, शास्त्र पठन मात्रसे संतोष - अप्रयोजनभूत

ज्ञानबलसे ज्ञानमयपने व्याप्य-व्यापकभावसे अपना अनुभव करनेसे रागकी उत्पत्ति तब बंद हो जाती है। राग पर लक्ष नहीं होनेसे स्वरूपकी महिमाका राग भी नहीं बढ़ता। अत: मुमुक्षुको आत्मस्वरूपकी पहचान बिना ओघे-ओघे आत्माकी महिमा आये, वह कार्यकारी नहीं है, उसमे सिर्फ प्रशस्त रागवृद्धि होती है, परन्तु राग - विकल्पमें आगे बढ़कर निर्विकल्प / वीतराग नहीं हुआ जाता। (२०४८)

असाढ़ सुदी-१४

नौ तत्त्वका श्रद्धान यथार्थ कब ? कि विपरीत अभिनिवेश रहित हो तो।

शास्त्रज्ञान यथार्थ कब ? कि आत्माके लक्ष्य पूर्वकका शास्त्र अध्ययन किया जाये तो।

सत्पुरुषके प्रति यथार्थ श्रद्धा - विनय कब ? कि असत्पुरुषके प्रति श्रद्धा - विनय न हो तब। (२०४९)

❋

प्रथम श्रावण वदि-७

पात्र मुमुक्षुजीवके लक्षण :

(१) जिसको सिर्फ अपने स्वरूपकी ही प्राप्ति करनी है, और इसके अलावा इस जगतमेंसे जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह खास प्रकारकी पात्रतावाला जीव है, और इसलिए वह स्वानुभूति - विभूषित महापुरुषके चरणका इच्छुक है। एकनिष्ठासे उनकी आज्ञा जिसको शिरोधार्य है, वह अवश्य वर्तमान पात्र है।

(२) स्वरूप चिंतवन - स्वरूप विचारणा होने पर भी अनुभवके अभावकी खटक / असंतोष रहा करे।

(३) अनेक प्रकारके मोहयुक्त परिणामके वक्त उलझनका अनुभव होता हो।

(४) गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी रुचिवाला।

(५) उदयभावो परसे वजन छूट गया हो - कहीं भी सुहाता नहीं हो।

(६) समझमें आये उसका शीघ्र प्रयोग करनेवाला।

(७) दर्शनमोहकी मंदतावाला।

प्रथम श्रावण वदि-१२

(८) शास्त्रके क्षयोपशम सहित उच्च व्यवहारके परिणाम होने पर भी उसके प्रति उपेक्षाभाव - अरस परिणामसे परिणमन करनेवाला - उसमें संतुष्ट नहीं होता।

(९) इन्द्रियज्ञान और जगतके मोटाईवाले प्रसंग व वस्तुओंकी महिमा - रुचि न आती हो।

काम करता है। दृष्टांतरूपसे किसी भी तत्त्वज्ञानीका समागम 'वे आत्मज्ञानी हैं' - ऐसा जानकर किया जाये तो, और इस अभिप्रायके बजाय सिर्फ विद्धता समझकर परिचय किया जाये, इन दोनों प्रकारमें बहुत फर्क पड़ता है। इसीलिए आत्मज्ञानीकी किसी अन्य आत्मज्ञानीके द्वारा पहचान मिले - तो ऐसी ओघसंज्ञारूप पहचान भी समागमके कालमें 'परमहितरूप' समझकर जीव लक्षगत् कर सकता है, वरना तथारूप वज़न नहीं जाता और ऐसा प्राप्त हुआ समागम प्रायः अयोगरूप हो जाता है। अतः ज्ञानीको पहचाननेकी क्षमता नहीं हो ऐसे बहुभाग जनसमुदायमें, प्रसिद्ध महापुरुष द्वारा निर्देश होने पर - धर्मबुद्धिवान - आत्मार्थीजीवोंको वह परम उपकारभूत हो जाता है। ऐसे महापुरुषका बोध तो अनन्त उपकारी है (ही) परन्तु यह और एक अधिक उपकार है। ऐसा प्रकार वर्तमानमें पूज्य गुरुदेवश्रीने (पूज्य कानजीस्वामी) पूज्य बहिनश्री (चंपाबहिन) के प्रति किया हुआ निर्देश है। (२०५२)

※

दूसरा श्रावण वदि-३

आत्मिकगुण परस्पर निमित्तरूप या किसी एक स्तर पर अविनाभावीरूपसे, सुमेलपूर्वक परिणमन करते है, परन्तु प्रत्येक गुणकी स्वतंत्रता अबाधित है। ऐसा वस्तुस्वरूप है। दृष्टांतरूपसे प्रत्येक साधक जीवको 'धर्मका मूल' ऐसा सम्यक्‌दर्शन और उसका आश्रयभूत स्वतत्त्व एक सरीखा होने पर भी, सबका पुरुषार्थ एक सरीखा नहीं होता। जीवको खास करके पुरुषार्थकी स्वतंत्रताका गहराईसे गहन अभ्यास कर्त्तव्य है। (२०५३)

※

दूसरा श्रावण वदि-४

मुमुक्षुजीवको शुद्धताका ध्येय है - उसे हासिल करनेके लिए - पहुँचनेसे पहले बीचमें शुभ हो जाता है। इसलिए उसे शुभका आग्रह नहीं होता, तथापि शुभमें अटकना भी नहीं है। अंतर संशोधन करते हुए उत्पन्न हुआ शुभ, भावना प्रधान होनेसे हृदयको भीगा हुआ रखता है। पापसे तो भयभीत हो जाता है। (२०५४)

※

दूसरा श्रावण वदि-६

ज्ञानीके वचन अटल होते है - यानी कि लक्षका बोध होनेमें 'अचुक' निमित्त पड़ते हैं। जीवकी तैयारी होनी चाहिए। अहो! वीतराग स्वभावके (अवलंबनके) ज़ोरमें से प्रगट हुई वाणी !! अमोघ ही हो ना ! (२०५५)

※

का कथन पहचानपूर्वक समझमें आता है। मार्गकी विधि ज्ञानियोंके वचनमें आती है, फिर भी विधिको खुद पकड़ नहीं सकता क्योंकि स्वयंकी खोज वहाँ नहीं होनेसे उसकी पहचान भी नहीं होती। (२०६०)

※

कार्तिक वदि-१२

आत्माका ज्ञान आगम द्वारा - द्रव्य, गुण, पर्यायसे, प्रमाण-नय द्वारा किया जाता है। उसमें जानकारी वस्तु-व्यवस्थाकी होती है। परन्तु अनादि भेदवासित बुद्धिका प्रायः उक्त भेदोंमें फँसना हो जाता है। नौ तत्त्वोंमें छीपी हुई चैतन्य ज्योतिको अलग करना - वह परमार्थ है, और उस परमार्थकी प्राप्ति होनेमें - गुप्त और प्रगट अर्थात् व्यक्तता और अव्यक्तता भेदरूप होनेसे विकल्पका कारण बनता है, दोनों प्रकारके भेदको गौण करके एकरस चेतना स्वरूप मै हूँ - वैसे चेतना सामान्यमें अस्तित्वका ग्रहण होना, यह स्वरूप है। चेतना सामान्यमें द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा नहीं है - वह निश्चय निरपेक्षता है। (२

※

मार्गशीर्ष

स्वरूपमहिमा उत्पन्न होने पर पुरुषार्थ सहज है - स्वरूपकी महिमा, (अगर) स्वरूप तत्त्व - परमभाव - ज्ञानमें निजरूपमें आये, तो उत्पन्न होती है - आनी सहज है। इस तरह ज्ञान ही मूलमें रुचि और पुरुषार्थका कारण बिना प्राप्ति नहीं है - यह सिद्धांत है।

※

दर्शनमोहकी वृद्धि-हानिके कारण :-

(A) दर्शनमोहकी वृद्धिके कारण :-

(१) वीतराग सर्वज्ञके अलावा अन्य देवका स्वीकार होना।

(२) निर्ग्रंथ भावलिंगी संतके अलावा अन्य गुरुका, गुरुके रूपमें

(३) वीतरागी - देव, गुरु और सम्यक्दृष्टि सत्पुरुष द्वारा उपदिष्ट अस्वीकार होना, अथवा कुदेव, कुगुरुके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रका

(४) सत्पुरुषसे विमुख होना अथवा उपेक्षा करना।

(५) शुभभाव और शुभक्रियाकी रुचि बढ़ना।

(६) पुण्यके फलकी वांच्छा हो - रहे, तद्उपरांत अनुकूल संयोग जुटानेके प्रयत्नमें रस - उत्साह होना - बढ़ना।

# શ્રી વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

## ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

| | ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ | મૂલ્ય |
|---|---|---|
| ૧. | શ્રી ગુરુગુણ સભારણા<br>પૂ. બહિનશ્રી ચપાબહેનના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ | ૫.૦૦ |
| ૨. | શ્રી જિણસાસણ સવ્વ<br>જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સકલન | ૮.૦૦ |
| ૩. | શ્રી દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા – (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત) | ૨.૦૦ |
| ૪. | શ્રી દ્રવ્યદૃષ્ટિપ્રકાશ (ભાગ-૩) પૂ. શ્રી નિહાલચદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્ચા | ૪.૦૦ |
| ૫. | શ્રી દશલક્ષણ ધર્મ - ઉત્તમ ક્ષમાદિ દશ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન | ૬.૦૦ |
| ૬. | શ્રી ધન્ય આરાધના - પ. કૃ. દેવ શ્રીમદ્ રાજચદ્રજીની અંતરગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર<br>પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન | ૧૦.૦૦ |
| ૭. | શ્રી નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ - લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ | ૧૦-૦૦ |
| ૮. | શ્રી પરમાત્મપ્રકાશ – શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત | ૧૫.૦૦ |
| ૯. | શ્રી પરમાગમસાર – પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત | ૧૧.૨૫ |
| ૧૦. | શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો | અનઉપલબ્ધ |
| ૧૧. | શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો | ૨૫.૦૦ |
| ૧૨. | શ્રી પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) પૂ. ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ખાસ પ્રવચનો | ૩૫.૦૦ |
| ૧૩. | શ્રી પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧-૨) શ્રી પચાસ્તિકાય સંગ્રહ પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો | ૬૫.૦૦ |
| ૧૪. | શ્રી પથપ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સકલન) | ૬.૦૦ |
| ૧૫. | શ્રી પ્રયોજન સિદ્ધિ – લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ | ૩.૦૦ |
| ૧૬. | શ્રી વિધિ વિજ્ઞાન – વિધિ વિષયક વચનામૃતોનુ સકલન | ૭.૦૦ |
| ૧૭. | શ્રી ભગવાન આત્મા – દ્રવ્યદૃષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનુ સકલન | ૭.૦૦ |
| ૧૮. | શ્રી સમ્યક્જ્ઞાન દીપિકા – લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક | ૧૫.૦૦ |
| ૧૯. | શ્રી તત્ત્વાનુશીલન (ભાગ ૧ થી ૩) લે. પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈ | ૨૦.૦૦ |
| ૨૦. | શ્રી આધ્યાત્મિક પત્ર – પૂ. શ્રી નિહાલચદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો | ૨.૦૦ |
| ૨૧. | શ્રી અધ્યાત્મ સદેશ – પૂ. ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો | પ્રેસમા |
| ૨૨. | શ્રી જ્ઞાનામૃત – શ્રીમદ્ રાજચદ્ર ગ્રથમાથી ચૂટેલા વચનામૃત | ૬.૦૦ |
| ૨૩. | બીજુ કાઈ શોધ મા – પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનુ સકલન | ૬.૦૦ |
| ૨૪. | મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ – શ્રીમદ્ રાજચદ્ર - પત્રાક - ૨૫૪ પર<br>પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો | ૧૫-૦૦ |
| ૨૫. | સમ્યગ્દર્શનના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો અમૃત પત્ર<br>શ્રીમદ્ રાજચદ્ર પત્રાક - ૪૯૩ પર પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો | ૨૦.૦૦ |
| ૨૬. | આત્મયોગ – શ્રીમદ્ રાજચદ્ર પત્રાક - ૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર<br>પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો | ૨૦.૦૦ |
| ૨૭. | પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન – શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાક - ૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર<br>પૂ. ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો | ૨૦.૦૦ |
| ૨૮. | અનુભવ સજીવની | ૧૫૦.૦૦ |

## 'अनुभव संजीवनी' गुजराती / हिन्दी प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

| | |
|---|---|
| श्रीमती विमलादेवी हीरालाल जैन, | ६६,६६६/- |
| श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंदभाई वोरा, | ५१,०००/- |
| स्व. श्री धीसालालजी कोठारी, हैद्राबाद | ३५,०००/- |
| श्रीमती नंदिनीबहन जैन, भावनगर | २५,०००/- |
| एक मुमुक्षु, ह. निलेषभाई, भावनगर | २५,०००/- |
| श्री श्यामसुंदर चवाणावाले, अहमदाबाद | १५,०००/- |
| श्रीमति अनीताबहन जैन, हैद्राबाद | ११,०००/- |
| श्री कनुभाई लक्ष्मीचंद शाह, अमदावाद | ११,०००/- |
| श्री परिचंद घोषाल, भावनगर | ११,०००/- |
| श्रीमती वंदनाबहन घोषाल, भावनगर | ११,०००/- |
| श्री सुमतिभाई जैन, अहमदाबाद | ११,०००/- |
| श्री हसमुखभाई अजमेरा, कलकत्ता | ११,०००/- |
| श्री झवेरीभाई सावला, दादर-मुंबई | ११,०००/- |
| श्री नगीनदास भायाणी, कलकत्ता | ११,०००/- |
| श्रीमती सुनिताबहन जैन, कलकत्ता | ११,०००/- |
| श्री महेन्द्रकुमारजी जैन, आग्रा | १०,०००/- |
| श्री चंद्रप्रकाशजी जैन, उदेपुर | ७,०००/- |
| श्री शांतिलालजी जैन, कलकत्ता | ५,०००/- |
| श्रीमति निशाबहन शाह, कोईम्बतुर | ५,०००/- |
| कु. रींकु कोठारी, कलकत्ता | ५,०००/- |
| श्रीमती भारतीबहन गांधी, कलकत्ता | ५,०००/- |
| श्री हसमुखभाई कापडीया, भावनगर | ५,०००/- |
| श्री जयेन्द्रभाई कापडीया, भावनगर | ५,०००/- |
| श्री महेन्द्रभाई शेठ, कलकत्ता | ५,०००/- |
| श्री खीमजीभाई गंगर, मुंबई | ५,०००/- |
| श्रीमती प्रेमलताबहन गंगवाल, भावनगर | ५,०००/- |
| श्री न्यालचंदभाई वोरा, भावनगर | ४,०००/- |
| श्री किशोरभाई वोरा, भावनगर | ४,०००/- |
| श्रीमती नलिनीबहेन वोरा, भावनगर | ४,०००/- |
| श्री निरवभाई वोरा, भावनगर | ४,०००/- |
| श्रीमती केतकीबहन वोरा, भावनगर | ४,०००/- |
| पल्लवी गंगवाल, भावनगर | ३,०००/- |
| श्रीमती कनकबाई, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती रीता जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती मीता जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती गीता जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती नीनु जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती सविता जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती रेणु जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती कुसुम जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती कविता जैन, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्रीमती बदामीबहन कोठारी, हैद्राबाद | ३,०००/- |
| श्री अभिषेक गंगवाल, भावनगर | २,०००/- |
| श्रीमती सकुन कोठारी, हैद्राबाद | १,५००/- |
| श्रीमती शोभा कोठारी, हैद्राबाद | १,५००/- |
| श्री वसंतभाई अजमेरा, भावनगर | १,१००/- |
| श्रीमती कंचनबाई, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती कविता जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती कुसुमबहन जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती रेणु जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती सविता जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती मीनु जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती गीता जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती मीता जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती रीता जैन, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्रीमती कंचनबाई, हैद्राबाद | १,०००/- |
| श्री विपुल जैन, आग्रा | १,०००/- |
| श्रीमती नीरु नितीन जैन, आग्रा | ६,००/- |
| श्रीमती अनिता जैन, हैद्राबाद | ६,००/- |

## पाठकोंकी नोंधके लिये